संस्कृत साहित्य का इतिहास

(लौकिक खंड)

डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल

संस्कृत साहित्य का इतिहास

(लौकिक खण्ड)

डॉ.प्रीतिप्रभा गोयल

राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर

प्राक्कथन

मेरी एक पुस्तक "संस्कृत साहित्य का इतिहास" 1987 में प्रकाशित हुई थी। सम्पूर्ण भारत, विशेषतः उत्तर भारत में वह पुस्तक छात्रों और अध्यापकों में एक सी लोकप्रिय हुई और एक वर्ष में ही अप्राप्य भी हो गई। तब से प्राध्यापकों, छात्रों और सुधी पाठकों का निरन्तर आग्रह रहा कि वह पुस्तक पुनः प्रकाशित हो। अपनी एक अन्य पुस्तक की व्यस्तता के कारण मैं इस ओर ध्यान ही न दे सकी। पहली पुस्तक में अनेक सहयोगियों ने विभिन्न नए स्थल जोड़ने तथा विस्तार करने के भी सुझाव दिए थे। अतः मैंने उस पुस्तक को सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत करने की दृष्टि से इसके दो खण्ड कर लिए—वैदिक एवं लौकिक। ये दोनों खण्ड संस्कृत साहित्य की विभिन्न विधाओं का सर्वांगीण एवं आलोचनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करने के कारण लोकप्रिय भी हुए एवं उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान के विविधा पुरस्कार (सन् 2001) से सम्मानित भी हुए। दोनों पुस्तकें प्रकाशक के पास शीघ्र ही समाप्त हो गई।

अब संस्कृत साहित्य के इतिहास के लौकिक खण्ड का यह द्वितीय संस्करण आप सबके सम्मुख है। प्रत्येक कवि की काव्यकला की विस्तृत एवं सोदाहरण समीक्षा इस पुस्तक का वैशिष्ट्य है। 'उपमा कालिदासस्य', 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' आदि प्रसिद्ध सूक्तियों का मर्मभेदन सुधी पाठकों को अवश्य सन्तुष्ट करेगा। 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते'—सूक्ति के वास्तविक स्वरूप का आकलन प्रथम बार इसी पुस्तक में किया गया है।

गत लगभग सौ वर्षों में अनेक स्वनामधन्य लेखकों ने इस विषय पर विद्वत्ता पूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। उन लेखकों के विचारों का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव मेरी पुस्तक पर अवश्य हुआ होगा। उस सभी के प्रति मेरा हार्दिक आभार। पुस्तक के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन के लिए राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, के संचालक श्री राजेन्द्र सिंघवी धन्यवाद एवं बधाई के पात्र है। आशा है, संस्कृत साहित्य के इतिहास का वह लौकिक खण्ड सभी पाठकों की अपेक्षा के अनुरूप होगा। कृपया मेरी त्रुटियों तथा पुस्तक की न्यूनताओं से अवश्य अवगत कराएँ।

इति शम्

'आशीर्वाद'
प्रीति प्रभा गोयल
पावटा 'बी' रोड,
जोधपुर-342010

विषय-सूची

❑❑❑

विषय प्रवेश

आत्मा यथा शरीरेषु तथा भाषासु संस्कृतम्।
वर्तते लोकभाषाणां तत्समवायिकारणम्॥

संस्कृत—यह शब्द स्वयं में एक अपूर्व भावात्मक शब्द है। अनेक संस्कारों के भावों को अन्तर्निहित किए हुए यही शब्द संस्कृति का बोध कराता है। सम् उपसर्ग पूर्व कृ धातु से क्त प्रत्यय जोड़ कर यह शब्द निष्पन्न होता है और भाषा के रूप में सदैव से ही परिमार्जित एवं शिष्ट भाषा के स्वरूप को स्पष्ट करता है। विभिन्न आचार्यों एवं भाषाशास्त्रियों ने इस मूल अर्थ को सुरक्षित रख कर भी भिन्न-भिन्न प्रकार से संस्कृत भाषा की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है—

1. प्रकृति प्रत्यय विभागेन संस्कारगता या सा संस्कृत भाषा।
2. संस्कृतं परिमार्जितरूपं धारयति वा सा संस्कृत भाषा।
3. संस्करोति शुद्धिं प्रापयति भावान् या सा संस्कृत भाषा।
4. वाक्यविश्लेषणरूपेण तत् तत् तत्त्वानां समीक्षणेन संस्कारं गता या भाषा सा संस्कृत भाषा। आदि

इन विभिन्न व्युत्पत्तियों से संस्कृत भाषा का सम्पूर्ण स्वरूप ही उद्भासित हो जाता है। संस्कृत वह भाषा है जो प्रकृति-प्रत्यय के विश्लेषण के द्वारा अर्थतत्त्वों को सरल, सुगम और भाव प्रकाशनक्षम बना कर भावशुद्धि करती है और वक्ता की परिमार्जित रुचि का भी परिचय देती हुई समाज को ग्राम्य दोष से मुक्त करती है।

संस्कृत भाषा हमारे भारत राष्ट्र की अनुपमेय अमूल्य निधि है। भारतीयों के लिए तो संस्कृत भाषा वस्तुत: प्राणवाहिनी धारा है। भारतीय मनीषा का समस्त चिन्तन, मनन, गवेषण तथा लौकिक-अलौकिक सभी अनुभूति इसी संस्कृत भाषा में समाहित हैं। इस अपूर्व भाषा के दिगन्तव्यापी महत्त्व को निम्नाङ्कित बिन्दुओं के द्वारा किञ्चिन्मात्र उन्मेषित किया जा सकता है—

1. प्राचीनता—संस्कृत भाषा विश्व की समस्त परिष्कृत भाषाओं में प्राचीनतम है। इस भाषा का इतिहास कम से कम पाँच सहस्र वर्षों का है। तब से आज तक भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक जीवन को यह भाषा निरन्तर

अनुप्राणित करती आई है। विश्व साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ—ऋग्वेद—संस्कृत भाषा के गौरव की महनीय गाथा है।

2. बहुल विविध प्रयोग—भारत में चतुर्दिश आज भी संस्कृत का बहुल एवं विविध प्रयोग पाया जाता है। संस्कृति तथा सभ्यता के उषःकाल मे सप्तसिन्धु के तट पर मानव जीवन में विभिन्न संस्कारों को प्रतिष्ठापित करते हुए भारतीय आर्यों ने जिन मन्त्रों का उद्घोष किया था, ऋग्वेद के उन ही मन्त्रों से आज भी पूरे भारत में विभिन्न संस्कार सम्पन्न किए जाते हैं। चाहे कश्मीर से कन्याकुमारी का विस्तार हो और या फिर बंगाल की शस्यश्माला उर्मिला से राजस्थान तक की विस्तृत शुष्क मरुस्थली—सर्वत्र ही जातकर्म, उपनयन, विवाह, आदि अवशिष्ट संस्कारों को प्रतिपादित करते समय उन्हीं अभिन्न (एक से ही) मन्त्रों की पुण्य स्वर लहरी मानसतन्त्री को अनायास झङ्कृत कर देती है।

3. भारतीय भाषाओं की जननी—सभी भारतीय प्रान्त-भाषाओं की जननी संस्कृत है। उत्तर भारतीय हिन्दी आदि भाषाएँ तो संस्कृत की साक्षात् पौत्रियाँ हैं ही, दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। किसी किसी दक्षिण भारतीय भाषा में तो पचास प्रतिशत से भी अधिक शब्द संस्कृत के तत्सम रूप ही हैं। इस रूप में संस्कृत भाषा भारत की सांस्कृतिक एकता की अन्र्वाहिनी मूलधारा है।

4. भारतीय विधिशास्त्र की उपकारक—आधुनिक काल में भारतीय विधिशास्त्र के विभिन्न नियम-उपनियम समग्रतया स्मृति ग्रन्थों पर ही आधारित हैं। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति को ही अधिकांशतया सन्दर्भ बनाकर वर्तमान भारतीय विधिशास्त्र मान्य हुआ है।

5. भाषाविज्ञान की मूलाधार—पाश्चात्य जगत् में संस्कृत भाषा का ज्ञान और प्रचार बढ़ने के बाद ही भाषाविज्ञान नामक विषय समुचित रूप से स्थापित हो सका। भाषाविज्ञान शास्त्रियों ने विश्व की समग्र भाषाओं को मूलतया दो खण्डों में विभाजित किया था—आर्यभाषा खण्ड एवं सेमेटिक भाषा खण्ड। आर्यभाषा खण्ड में सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्ध भाषा संस्कृत ही है।

6. नैतिकता पोषक—वर्तमान काल में मानव के सम्मुख सबसे बड़ा संकट नैतिकता के लोप का है। विश्व भर में सर्वत्र नैतिक मूल्यों के ह्रास ही नहीं, सम्पूर्ण लोप की सी स्थिति उपस्थित हो गई है। संस्कृत भाषा ने सदैव ही आदर्शवाद, आध्यत्मिकता एवं उच्च नैतिकता का जो मानदण्ड प्रस्तुत किया, वह आज की संकटापन्न स्थिति में भी परम उपयोगी है।

7. सर्वाधिक वैज्ञानिक स्वरूप—आधुनिक युग विज्ञानवादी है। भौतिक उन्नति के लिए किए जाने वाले नित्य नवीन आविष्कारों एवं अनुसन्धानों ने कम्प्यूटर को जन्म दिया जिसमें कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक सूचनाएं भरी जा सकें। वैज्ञानिक निरन्तर एक ऐसी भाषा की खोज कर रहे हैं जो कम्प्यूटर में उपयोगी हो सके। संस्कृत भाषा का शब्द वर्गीकरण तथा विश्लेषण सभी भाषाओं की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। यही कारण है कि विश्व के वैज्ञानिकों ने यह स्वीकार किया है कि कम से कम शब्दों में

अधिक से अधिक सम्प्रेषण की क्षमता के कारण संस्कृत भाषा कम्प्यूटर प्रणाली में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

अपने प्रारम्भिक समय से लेकर आज तक संस्कृत भाषा के विकास के दो रूप उपलब्ध होते हैं—वैदिक भाषा एवं लौकिक भाषा। वैदिक संस्कृत भाषा में वेदों की रचना हुई है और लौकिक संस्कृत भाषा में रामायण, महाभारत तथा परवर्ती विपुल साहित्य रचा गया है। वैदिक भाषा तथा लौकिक भाषा के मध्य की कड़ी ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा है, जिसमें शब्दों के कुछ प्रयोग संहिताओं के समान हैं तो अन्य कतिपय प्रयोग लौकिक संस्कृत भाषा के भी हैं। महर्षि यास्क के निरुक्त, आरण्यकों और उपनिषदों में भी यही मध्यकालिक भाषा है।

वैदिक काल में संस्कृत भाषा धार्मिक कार्य तथा दैनन्दिन वार्तालाप— दोनों में समान रूप से प्रयुक्त होती थी। वार्तालाप में प्रयुक्त होने के कारण कण्ठभेद, स्वरभेद आदि अनेक भिन्नताओं से भाषा में अनेक परिवर्तन आते गए। भाषा में इस परिवर्तनगत अव्यवस्था को रोकने के लिए वैयाकरणों ने अनेक नियमों की रचना की। किन्तु सतत परिवर्तनशील भाषा को एक नितान्त व्याकरण सम्मत रूप देने का श्रेय महात्मा पाणिनि को ही है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने पाणिनि पर यह आरोप लगाया है कि व्याकरण के कठोर नियमों में भाषा को सर्वथा जकड़ कर पाणिनि ने संस्कृत को क्रमशः प्राणहीन कर दिया, किन्तु एक महत्त्वपूर्ण तथ्य वे पाश्चात्य विद्वान् विस्मृत कर गए। यदि पाणिनि न होते तो आज संस्कृत भाषा न होती। न होने का अभिप्राय यही है कि क्रमशः परिवर्तित होती हुई वह विभिन्न भारतीय भाषाओं में रूपान्तरित मात्र रह जाती। ईसापूर्व पाँचवीं शती की संस्कृत भाषा आज तक—ढाई सहस्र वर्ष उपरान्त भी—यथावत् ही लिखी और समझी जाती है; आज भी उसी भाषा में रचनाएँ होती है और कदाचित् किसी किसी विद्वत् सम्मेलन में संस्कृत भाषा में ही समस्त कार्य व्यापार भी होता है—यह चमत्कार उस ऋषि पाणिनि की व्याकरण से ही सम्भव हो सका है।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी ग्रन्थ की रचना की और भाषा के लिए निश्चित नियमों का विधान कर दिया। कात्यायन (वररुचि) ने अष्टाध्यायी के सूत्रों पर वार्तिक रचे और पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा वार्तिक पर महाभाष्य की रचना की। वररुचि तथा पतञ्जलि ने आवश्यक संशोधन एवं परिवर्तन करके पाणिनि के नियमों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की थी। इसीलिए संस्कृत के व्याकरण शास्त्र में पाणिनि, वररुचि एवं पतञ्जलि मुनित्रय नाम से विख्यात हैं। व्याकरण रचना का यही वह समय था जब इस भाषा ने संस्कृत नाम प्राप्त किया। जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है, संस्कृत शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही यही है—परिष्कृत, निर्दोष, शुद्ध, अलङ्कृत। आचार्य दण्डी (सप्तमशती) ने उस समय सर्वसाधारण में प्रचलित प्राकृत भाषा से भेद स्पष्ट करने के लिए संस्कृत शब्द का प्रयोग भाषा के लिए स्पष्टतः किया है— संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः (काव्यादर्श 1/33) अर्थात् (पाणिनि आदि) महर्षियों के द्वारा अनुशासित देवभाषा को संस्कृत कहते हैं। इस प्रकार संस्कृत भाषा वैदिक भाषा के व्यावहारिक रूप का परिष्कृत संस्करण ही

है। भारतीयों ने जिस भाषा को अशुद्धि, अपभ्रंश, अपशब्द तथा व्यवहारजन्य दोषों से पृथक करके परिष्कृत रूप में व्यवहृत किया, उसी को संस्कृत भाषा की संज्ञा प्रदान की गई। इसी संस्कृत भाषा को देवभाषा, देववाणी, गीर्वाणवाणी, गीर्वाणगीः आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। विद्वांसो हि देवाः—विद्वानों को देवता कहते हैं; इसी आधार पर संस्कृत भाषा को देवभाषा कहा गया। रामायणोत्तर काल में संस्कृत भाषा की क्रमशः बहुत उन्नति हुई। धार्मिक किंवा लौकिक सभी प्रकार के विषयों का इसमें पर्याप्त विवेचन हुआ। काव्यकला तथा दार्शनिक अभिव्यक्ति का अत्यन्त सुन्दर समन्वय इस भाषा में दीख पड़ता है। ज्ञान तथा विज्ञान का कोई अथवा अंग ऐसा नहीं है जो इस भाषा से अछूता छूट गया हो। समृद्ध भाषाओं में संस्कृत भाषा अन्यतम है।

पाणिनि आदि ऋषियों के द्वारा व्याकरणसम्मत बनाई गई संस्कृत भाषा का उपयोग दैनन्दिन वार्तालाप में होता था या नहीं? संस्कृत केवल विद्वद्वर्ग की भाषा थी अथवा जनसाधारण भी इसका प्रयोग करता था?—इन प्रश्नों को लेकर पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों में अनेक ऊहापोह चलते रहे हैं। किन्त वस्तुतः तो उन प्रश्नों का उठना ही निराधार था। यह निर्विवाद ही है कि प्राचीन युग में संस्कृत भाषा जनसामान्य में व्यवहृत भाषा थी; इसका प्रयोग दैनन्दिन प्रयोग में किया जाता था। इसके समर्थन में अनेकानेक तथ्य उपलब्ध होते हैं। यास्क (लगभग 700 ईसा पूर्व) ने संस्कृत को भाषा (सामान्य बोलचाल का माध्यम) कहा है और वैदिक संस्कृत से उसको पृथक् कहा है।[1] पाणिनि (लगभग पाँचवीं शती ईसा पूर्व) ने दूर से पुकारते समय अन्तिम स्वर के प्लुत किए जाने का विधान किया है।[2] इसी प्रकार प्रणाम अथवा अभिवादन करने पर गुरुजन जो आशीर्वाद देते हैं उसमें भी पाणिनि ने प्लुतविधान किया है।[3] प्लुत प्रयोग के नियम की सार्थकता ही तब सिद्ध होती है जब वह भाषा वस्तुतः बोली जाती हो। ग्रन्थ मात्र में प्रयुक्त होने वाली भाषा में पाणिनि जैसे मनीषी वैयाकरण प्लुत का विधान न करते। पाणिनि ने वैदिक भाषा को छन्दस् तथा लोक प्रचलित भाषा के लिए भाषा शब्द का प्रयोग करके दोनों के अन्तर को स्पष्ट कर दिया है।[4] सामान्य बोलचाल के भी अनेक मुहावरे पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में दिए हैं यथा—हस्ताहस्ति (हाथापाई), केशाकेशि (एक दूसरे के केश खींच कर लड़ना), दण्डादण्डि (लाठी लाठा) आदि। वररुचि (चौथी शती ईसा पूर्व) ने अपने वार्तिकों से भी यह स्पष्ट कर दिया कि लोकप्रचलित भाषा को आधार मान कर ही व्याकरण की रचना हुई।[5] पतञ्जलि (दूसरी शती ईसा पूर्व) के महाभाष्य में अनेक ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं,

1. निरुक्त 1/2—'न' इति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्। उभयम् अन्वध्यायम् च।
2. अष्टाध्यायी 8/2/84—दूराद्धूते च।
3. अष्टाध्यायी 8/2/83 प्रत्यभिवादेऽशूद्रे।
4. अष्टाध्यायी 2/4/39 बहुलं छन्दसि।
   अष्टाध्यायी 3/2/108 भाषायां सदवसश्रुवः।
5. महाभाष्य—प्रथम आह्निक—लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः।

जिनसे उपर्युक्त मत की ही पुष्टि होती है। पाणिनि से पतञ्जलि तक के समय में आए हुए अनेक नवीन शब्दों की प्रक्रिया भी महाभाष्य में स्पष्ट की गई है। समान अर्थ प्रगट करने वाले भिन्न-भिन्न शब्दों का भिन्न-भिन्न जनपदों में नियत प्रयोग ऐसा ही उदाहरण है।[6] पतञ्जलि ने एक रोचक संवाद का भी उल्लेख किया है, जिससे सिद्ध होता है कि एक वैयाकरण की अपेक्षा एक रथ हाँकने वाले सूत जैसे सामान्य व्यक्ति को प्रचलित शब्दों की व्युत्पत्ति और सही प्रयोग का अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक ज्ञान था।[7] संस्कृत वैयाकरणों के इस क्रमिक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय संस्कृत सामान्य जन के बोलचाल की ही भाषा थी। किन्तु भाषागत अनिवार्य परिवर्तनों के फलस्वरूप संस्कृत शनैः शनैः केवल शिष्ट वर्ग की भाषा बनती गई और जनसामान्य उसके परिवर्तित रूप प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि का प्रयोग करने लगे। पाश्चात्य विद्वान् भी इस विषय पर एकमत हैं कि रामायण के समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी किन्तु उसका प्रयोग अधिकांशतया द्विजवर्ग ही किया करता था। वाल्मीकि रामायण में हनुमान जब अशोक वाटिका में सीता को खोज लेते हैं, तो इसी ऊहापोह में पड़ जाते हैं कि वे किस भाषा में सीता से वार्तालाप करें। यदि ब्राह्मणों की भाँति संस्कृत भाषा का प्रयोग करें तो कहीं उन्हें छद्मवेषधारी रावण समझ कर सीता भयभीत न हो जाएँ।[8] अन्ततोगत्वा अनेक सोच विचार के पश्चात् हनुमान संस्कृत भाषा में वार्तालाप करने का ही निश्चय करते हैं।[9] प्रथम शती ईस्वी में अश्वघोष नामक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक एवं कवि हुए। बौद्ध धर्म के अधिकांश ग्रन्थ पाली भाषा में हैं। किन्तु अश्वघोष ने बौद्ध धर्म एवं दर्शन के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए जिन महाकाव्यों का प्रणयन किया, उनमें प्राकृत भाषा का अवलम्बन न करके संस्कृत भाषा का ही प्रयोग किया; जिससे सामान्यजन एवं शिष्टवर्ग सभी में उन सिद्धान्तों का एक-सा-प्रचार-प्रसार हो सके। संस्कृत कथा के अनुपम रत्न पंचतन्त्र का प्रणयन मूर्ख राजकुमारों को बुद्धिमान बनाने के लिए किया गया था और इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत में हुई है। इससे स्पष्ट है कि कम से कम उच्च वर्ग में शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा न होकर संस्कृत ही थी। संस्कृत के नाट्यों में आचार्यों ने भाषा सम्बन्धी जो विधान प्रस्तुत

---

6. महाभाष्य—प्रथम आह्निक—ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते।
तद्यथा—शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति.........हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रहतिः प्राच्यमध्यमेषु, गमिमेवत्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।

7. अष्टाध्यायी 2/4/56 पर महाभाष्य—एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह—'कोऽस्य प्रवेता' इति। सूत आह—'अहमायुष्मन् अस्य रथस्य प्राजिता' इति। वैयाकरण आह अपशब्द इति। सूत आह—प्राज्ञिमो देवानां प्रियः, न तु इष्टिज्ञः। इष्यत् एतद् रूपमिति। वैयाकरण आह—'अहो खल्वेतेन दुरुतेन बाध्यामहे' सूत आह—न खलु वेत्रः सूतः सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्याः दुःसूतेनेति वक्तव्यम्।

8. वाल्मीकि रामायण, 5/5/14—यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥

9. वाल्मीकि रामायण, 5/30/17—वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।

किया है वह भी इस मत का ही समर्थक है। नाट्यगत भाषाविधान के अन्तर्गत उत्तम पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं, किन्तु अन्य पात्र विभिन्न प्रकार की प्राकृत बोलते हैं। किन्तु सभी पात्र संस्कृत एवं प्राकृत दोनों को ही भली भाँति समझते हैं। दर्शकवृन्द भी सरल किंवा कठिन सभी प्रकार से प्रयुक्त संस्कृत भाषा को समझने में पूर्णतया समर्थ थे, तभी नाट्य देखकर उन्हें रसग्रहण हो पाता था। यदि संस्कृत बोलचाल की भाषा न होती तो सामान्य दर्शक नाट्य में भी संस्कृत भाषा न समझ पाता और नाट्य की ओर प्रवृत्त ही न होता। तब नाट्यरचना अथवा भाषाविधान का प्रयोजन ही ध्वस्त हो जाता। प्रोफेसर मैक्डॉनल ने भी उपर्युक्त मत का ही समर्थन किया है।[10]

इस समग्र विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक समय भारतीय जनता संस्कृत भाषा में ही अपने भावों को प्रकट करती थी। क्रमशः भाषागत परिवर्तनों से प्राकृत का उदय एवं प्रसार होने से संस्कृत का व्यवहार क्षेत्र बोलचाल के माध्यम के रूप में कम होता गया। किन्तु ईस्वी शती के प्रारम्भ तक शिष्टजनों में संस्कृत का प्रचलन एवं व्यवहार अक्षुण्ण बना रहा। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर मैक्डॉनपल का मत दृष्टव्य है। उनका कथन है—'लौकिक संस्कृत प्रारम्भ से ही एक साहित्यिक, अथवा यों कहिए एक कृत्रिम नियमबद्ध भाषा क्यों न रही हो, वह लोकव्यवहार की भाषा नहीं थी'—यह उक्ति सर्वथा प्रमादपूर्ण है। पूर्व में हम कह आए है कि संस्कृत आज भी भारतवर्ष में विद्वान ब्राह्मणों के द्वारा बोली जाती है और दैनिक व्यवहार में लिखी भी जाती है।[11]

वर्तमान युग मे पाश्चात्य सभ्यता के अन्ध पोषक संस्कृत को मृतभाषा उद्घोषित करते हैं। किन्तु यह आरोप सर्वथा निराधार है। अनेक संस्कृतविद् आलोचकों ने विभिन्न तथ्यों की उपस्थापना के द्वारा इस कथन का खण्डन किया है। भले ही सम्पूर्ण भारतवर्ष के विविध प्रान्तों में भिन्न-भिन्न भाषाएँ हो गई हों, सभी का साहित्य भी नितान्त समृद्ध हो गया हो, तथापि वर्तमान काल में भी संस्कृत का प्रयोग जीवित भाषा के रूप में निरन्तर हो रहा है। धार्मिक पूजन की सभी विधियाँ आज भी संस्कृत में ही सम्पन्न होती हैं। आज भी संस्कृत में उत्तमोत्तम साहित्य की रचना हो रही है जिसमें गद्य, पद्य, नाटक, खण्डकाव्य, महाकाव्य तथा कथाएँ आदि सभी सम्मिलित हैं। संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों की टीकाएँ तथा खण्डनमण्डनात्मक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही आज भी लिखे जा रहे हैं। आज भी अनेक नए-पुराने नाटकों का संस्कृत में अभिनय होता है। पूरे भारतवर्ष में अनेक साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक तथा त्रैमासिक पत्र पत्रिकाएँ संस्कृत भाषा में प्रकाशित हो रही हैं। इन सब पुष्ट प्रमाणों के होते हुए संस्कृत भाषा को मृतभाषा कहना हास्यापद ही है।

संस्कृत भाषा का साहित्य अत्यन्त विस्तृत एवं समृद्ध है। यों तो साहित्य शब्द का अर्थ है—शब्द और अर्थ का मञ्जुल समन्वय—'साहितयोः शब्दार्थयोः भावं साहित्यम्।' व्यापक अर्थ में साहित्य में अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जो किसी भाषा विशेष में रचे गए हों। आंग्ल भाषा में 'लिटरेचर' शब्द से भी यही अर्थ ग्रहण किया जाता है किन्तु किञ्चित्

10. मैकडॉनल, संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), पृ. 19
11. मैक्डॉनल—संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद)—पृ. 20

संकुचित अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्यादि के लिए भी किया जाता है। यहाँ यही अर्थ अभिप्रेत है। काव्य आदि मनोरञ्जन के साधन मात्र नहीं है। मानव समाज एवं जीवन के लिए काव्य की बहुत उपादेयता है। काव्य मनुष्य को रससमुद्र में तो निमग्न कराता ही है, साथ ही कान्तासम्मित उपदेश के रूप में मानव जीवन को सुमार्ग की ओर प्रेरित भी करता है। इसीलिए भर्तृहरि ने तो साहित्य-काव्यादि से विहीन व्यक्ति को मनुष्य ही न मानकर पशु कहा था—'साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।'

साहित्य समाज को प्रतिफलित करता है। तत्कालीन साहित्य से किसी भी समाज के सुख, विषाद, कृपणता, औदार्य, उन्नति अथवा अवनति को निश्चितरूपेण जाना जा सकता है। साहित्य ही संस्कृति का भी वाहन और धारक हैं। भौतिक अथवा आध्यात्मिक संस्कृति के रूप को यथावत् उजागर कर देने वाला भी साहित्य ही होता है। "साहित्य सामाजिक भावना तथा सामाजिक विचार की विशुद्ध अभिव्यक्ति होने के कारण यदि समाज का मुकुर है तो सांस्कृतिक आचार तथा विचार का विपुल प्रचारक तथा प्रसारक होने के हेतु, संस्कृति के सन्देश को जनता के हृदय तक पहुँचाने के कारण, साहित्य संस्कृति का वाहन होता है।"[12] विश्व की अन्य भाषाओं के साहित्य की भाँति संस्कृत साहित्य भी इन सभी विशेषताओं से युक्त है। किन्तु संस्कृत के साहित्य की अपनी भी कुछ भूयसी विशिष्टताएँ हैं जो इसको अन्य साहित्यों से विशिष्टतर बना देती हैं। प्राचीनता, व्यापकता, विशालता, धार्मिकता, सांस्कतिक-तत्त्व तथा रसोन्मेषकारिणी कला—सभी दृष्टियों से संस्कृत साहित्य अनुपमेय रहा है। प्राचीनता की दृष्टि से देखें तो पाश्चात्य किंवा पौरस्त्य—सारा ही विद्वद्जगत् 'ऋग्वेद' को विश्व का सर्वप्राचीन ग्रन्थ स्वीकार करता है। 'विश्व के किसी और साहित्यिक ग्रन्थ की अपेक्षा यह (ऋग्वेद) मानव जाति की प्रारम्भिक धारणा एवं धार्मिक विचारों के विकास का स्पष्ट चित्र उपस्थित करता है।' तब से आज तक संस्कृत भाषा में साहित्य की वह मन्दाकिनी अजस्रतया प्रवाहित है। सामान्यतया संस्कृत साहित्य में धार्मिक ग्रन्थों का बाहुल्य माना जाता है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। हमारे ऋषि-मुनियों तथा कवि-लेखकों ने जीवन के किसी भी पक्ष को अपनी लेखनी से अछूता नहीं रहने दिया। मनुष्य के प्राप्तव्य चारों लक्ष्यों—धर्म, अर्थ, काम मोक्ष—का सुन्दर समन्वित विकास संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है। धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों से सम्बद्ध ग्रन्थों से तो सब सुपरिचित हैं किन्तु अर्थ और काम पुरुषार्थों का भी सम्यक् विवेचन इस साहित्य में किया गया है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और वात्स्यायन का 'कामसूत्र' अपने अपने क्षेत्र में अपूर्व ग्रन्थ तो हैं ही, साथ ही तत्सम्बद्ध ग्रन्थों की एक सम्पूर्ण परम्परा के भी पोषक तथा जनक हैं। गणित, विज्ञान, ज्योतिष आदि के विभिन्न प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में प्रस्तुत किए गए सिद्धान्तों की खरी वैज्ञानिकता एवं प्रामाणिकता को आज सारा संसार स्वीकार कर चुका है। इनसे स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य जीवन के केवल आध्यात्मिक पक्ष का ही चित्रण नहीं करता, अपितु लौकिक अथवा भौतिक पक्ष को भी समान रूप से चित्रित करता है। लौकिक सुख प्रदान करने वाली विधाओं के

---

12. बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास—पृ. 1

वर्णन से सम्पन्न प्रेय: शास्त्र तथा मोक्षोपयोगी विषयविवेचन से सम्पन्न श्रेय: शास्त्र—दोनों की ओर समान प्रवृत्ति इस साहित्य में परिलक्षित होती है। संस्कृत साहित्य में सत्यं, शिवं और सुन्दरं का अद्‌भुत एवं प्रीतिकर समन्वय एवं सामञ्जस्य उपलब्ध होता है। भारतवर्ष की प्रकृति में सांसारिक जीवन के निर्वाह के साधनों की पर्याप्त प्रचुरता रही। अत: जीवन के प्राणलेवा संघर्ष से अपने को पृथक् रख कर संस्कृत मनीषा ने शाश्वत आनन्द की अनुभूति और उपलब्धि को ही अपना चरम उद्देश्य माना। काव्य-रस आनन्दरूप है, ब्रह्मस्वादसहोदर है, और इस रस की निष्पत्ति करा देने में समर्थ वाक्य ही काव्य है—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। इस रूप में संस्कृत साहित्य ने औचित्य तथा आनन्द को एक साथ प्रतिष्ठित किया।

अनेक पाश्चत्य विद्वानों ने संस्कृत साहित्य पर प्राय: यह आरोप लगाया है कि संस्कृत काव्य अधिकांशतया अलंकार बहुल तथा पाण्डित्य पूर्ण होने के कारण कृत्रिम है। किन्तु यह आरोप पक्षपातपूर्ण है। कालिदास, भवभूति, हर्ष, जयदेव आदि कवियों तथा नाट्यकारों की रसमाधुरी से आबालवृद्ध सभी जन आप्लावित हुए हैं। संस्कृत आचार्यों ने माधुर्य एवं प्रासाद गुण को काव्य का प्राण कहा है। महाकवि भारवि एवं माघ के पश्चात् रचे गए काव्यों में अवश्य पाण्डित्य का आधिक्य है, किन्तु उस कारण सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य पर कृत्रिमता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। संस्कृत साहित्य की मौलिकता की प्रशंसा तो सभी ने एक स्वर से की है। इन्हीं समग्र विशेषताओं से चमत्कृत होकर प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् एम.विण्टरनित्स ने कहा है—'भारतीय साहित्य की प्राचीनता, भूगोल तथा विकास की दृष्टि से व्यापकता, उसकी आन्तरिक सम्भूति एवं कमनीयता और मानव संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से उसका मूल्य—ये सब चीजें हैं जो पाश्चात्य जगत् को इसकी महत्ता, मौलिकता तथा प्राचीनता की ओर बरबस आकृष्ट कर लेती हैं।.......सच बात तो यह है कि भारत का यह प्राचीन साहित्य ही था, जिसके द्वारा विश्व के इतिहास में एक युगान्तर आया और परिणामत: अब हम पूर्व और पश्चिम के बिसरे, प्रागैतिहासिक सम्बन्धों को कुछ कुछ समझने लगे है।[13]

वस्तुत: संस्कृत साहित्य का इतिहास केवल भाषा का ही इतिहास नहीं है वरन् यह साहित्य प्राचीन भारत के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक—सभी प्रकार के जीवन का सर्वांगीण चित्रण है। यह मानव जाति की वह प्राचीन सम्पत्ति (रिक्थ) है जिसमें भारतीयों की भाषाएँ, धार्मिक एवं बौद्धिक जीवन तथा विचार अथवा यों कहिए, समग्र सभ्यता का मूल ही परिनिष्ठित है। आज जब भौतिकता की अन्धी दौड़ में मानवशक्ति सम्पूर्ण एवं चरम विनाश के कगार पर खड़ी है तब समस्त विश्व के मनीषी इस आसन्न विनाश से बचने के लिए विश्वप्रेम, विश्वबुन्धत्व की बारंबार चर्चा करने लगे हैं। इस विश्वप्रेम, विश्वबन्धुत्व तथा विश्वसंस्कृति की समीक्षा, परीक्षा, अन्वीक्षा तथा सम्यक् पालन हेतु भी संस्कृत साहित्य की परम उपादेयता है।

13. विंटरनित्स—प्राचीन भारतीय साहित्य (हिन्दी अनुवाद)—पृ. 5

इतने प्राचीन, व्यापक तथा विशाल संस्कृत साहित्य को स्वरूप तथा समय आदि की दृष्टि के आपाततः दो भागों में विभाजित किया गया है—(1) वैदिक साहित्य एवं (2) लौकिक साहित्य। वैदिक साहित्य में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदांग ग्रहण किए जाते हैं तथा लौकिक साहित्य में काव्य, नाटक, गद्य, कथा, गीति तथा चम्पू ग्रंथों को ग्रहण किया जाता है। साहित्य के विस्तृत अर्थ में तो व्याकरण, गणित, ज्योतिष, दर्शन, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र, आयुर्वेद, वास्तुकला, छन्द शास्त्र आदि सभी का ग्रहण हो जाता है; किन्तु यहाँ हमें साहित्य का एकदेशीय अर्थ ही अभिप्रेत है जिससे काव्यादि का बोध होता है। संस्कृत साहित्य के ये दोनों भाग—वैदिक और लौकिक—भाषा, व्याकरण, छन्द, प्रतिपाद्य वस्तु, स्वर आदि की दृष्टि से परस्पर पर्याप्त भिन्न है। दोनों का पृथक् विस्तार इतना अधिक है कि दोनों भागों के इतिहास पर विद्वानों ने भिन्न-भिन्न वृहत्काय ग्रन्थों की रचना की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'काव्य' शब्द में समाहित समस्त विधाओं के उद्गम और विकास का विवेचनात्मक स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। संस्कृत के लौकिक साहित्य का आदिकाव्य रामायण है, अतः रामायण के विवेचन से ही यह ग्रन्थ प्रारम्भ है। रामायण और महाभारत—इन दो पावन ग्रन्थों के रचना समय के सम्बन्ध में जो विभिन्न मतमतान्तर प्रचलित रहे हैं, उन सभी की निष्पक्ष विवेचना की गई है। इन दोनों धार्मिक एवं ऐतिहासिक क्रम से प्रस्तुतीकरण किया गया है।

काव्य एवं अलंकार शास्त्र परस्पर घनिष्ट तथा सम्बद्ध हैं, अतः विभिन्न काव्य परम्पराओं के अनुक्रमिक साहित्य विवेचन के साथ ही संस्कृत अलंकार शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास भी प्रस्तुत किया गया है।

1

आर्ष काव्य

वैदिक साहित्य के पश्चात् लौकिक साहित्य का उदय होता है। संस्कृत का यह लौकिक साहित्य भाषा, भाव तथा विषय—तीनों ही दृष्टियों से नितान्त महत्त्वपूर्ण है। किन्तु वैदिक साहित्य और लौकिक साहित्य के मध्यवर्ती युग में दो ऐसे विपुलकाय आर्ष महाकाव्य उपलब्ध होते हैं, जो वस्तुतः इन दोनों युगों को स्पष्टतया पृथक् कर देते हैं। ये दोनों महाकाव्य रामायण और महाभारत हैं जो परवर्ती सम्पूर्ण लौकिक संस्कृत साहित्य के लिय उपजीव्य बन गए। अवान्तरकालीन कवियों ने इन दोनों मर्मस्पर्शी काव्यों से स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण करके साहित्य की विभिन्न विधाओं को विविधरंगी काव्यपुष्पों से अलंकृत कर दिया। व्यापक प्रभाव सम्पन्न होने के कारण ही रामायण और महाभारत आर्षकाव्य के साथ-साथ उपजीव्य काव्य भी कहलाते हैं।

रामायण और महाभारत—इन दोनों काव्यों के विकास का इतिहास उस काल से सम्बद्ध है, जब श्रौत कर्मकाण्ड का अत्यधिक महत्त्व था। विभिन्न यज्ञादिक सम्पन्न होने के उपरान्त एकत्रित जनसमूह के समक्ष पुरोहितों एवं ऋषिवर्गों के द्वारा नैतिक प्रवचन आदि दिए जाने की परिपाटी अत्यन्त प्राचीनकालिक एवं सहज है। वैदिक सुपर्णाख्यान आदि इसी प्रकार व्यहृत हुए होगें। शनैः शनैः मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम तथा योगिराज श्रीकृष्ण की कथाओं का प्रचलन होने लगा। 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्'—यह उपदेश न जाने कब से सर्वजनसंवेद्य रहा है। विविधात्मक एवं सरस होने के कारण राम-कृष्ण की ये कथाएँ क्रमशः विकसित होने लगीं और वाल्मीकि तथा व्यास की चमत्कारिणी मेधा का संस्पर्श पाकर अत्यन्त विस्तृत एवं रसपेशल आकर-ग्रन्थ बन गईं। अपने रचनाकाल से ही ये दोनों ग्रन्थ—रामायण एवं महाभारत—महाकाव्य होकर भी धर्मग्रन्थ के रूप में सुपूजित हुए।

रामायण

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरं।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥
कवीन्दुं नौमि वाल्मीकिं यस्य रामायणीं कथाम्।
चन्द्रिकामिव चिन्वन्ति चकोरा इव साधवः॥

भारतीय धर्मप्राण जनमानस मे कर्म, आदर्श और धर्म की समन्वित त्रिवेणी प्रवाहित कर देने वाली 'रामायण' सम्पूर्ण लौकिक संस्कृत साहित्य की आदिकाव्य कही जाती है और उसके रचयिता वाल्मीकि आदिकवि के रूप में समादृत हैं। वाल्मीकि की यह अद्‌भुत रचना वस्तुतः राष्ट्रीय काव्य है। धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों की अमिट स्थापना करता हुआ यह काव्य वस्तुतः एक महत्त्वपूर्ण मानवीय समाजशास्त्र भी है, जो न जाने कितने सहस्र वर्षों पूर्व भारतभूमि में निवास करने वाले व्यक्तियों की सुचारू जीवन-पद्धति का एक सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत करता है। उस पुरातन काल की परम्पराओं, धारणाओं, आकांक्षाओं तथा आचार-विचारों का जीवन्त चित्रण करने के कारण यह वाल्मीकि रामायण प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति की एक अमूल्य निधि है। ''उसकी उपमा एक ऐसे पर्वत से दी जा सकती है, जिसकी चोटी से हम प्राचीन आर्यों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं कला सम्बन्धी क्रिया कलाप का सम्यक् दर्शन कर सकते हैं। तत्कालीन भारतीय समाज के अनेक अस्पष्ट पक्षों पर वाल्मीकि के काव्य से जैसा प्रकाश पड़ता है, वैसा अन्य किसी स्रोत से नहीं। उत्तर-वैदिक भारत के सामाजिक इतिहास की शोध में रामायण का योग और भी महत्त्वपूर्ण इसलिए हो जाता है कि वह आज भी करोड़ों भारतीयों के धार्मिक विश्वासों के साथ अविच्छिन्न रूप गुंथी हुई है। वाल्मीकि हमारे राष्ट्रीय आदर्शों के आदि विधाता हैं; धर्म और सत्य रूपी महावृक्षों के जो अमर बीज उन्होंने बोए, वे आज भी फल फूल रहे हैं।''[1]

वाल्मीकि के लिए आदिकवि अभिधान नितान्त सार्थक तथा प्रयोजन पूर्ण है। वाल्मीकि से पूर्व भी पद्यबद्ध रचनाएँ हो रहीं थीं, किन्तु वे केवल धर्म, उपासना, देवतास्तुति से ही सम्बद्ध थीं। साधरण जनजीवन और उसकी समस्याओं से इन रचनाओं का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं था। वाल्मीकि के प्रगतिशील मानस ने साहित्य की इस अपूर्णता को परखा और धर्मप्रधान साहित्य को कर्मप्रधान बना देने के लिए उन्होंने 'रामायण' की रचना की। सौभाग्य से उन्हें अपने काव्य के लिए राम जैसे जननायक का अनुपम चरित्र भी उपलब्ध हो गया। वाल्मीकि ने रामायण में मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के सम्पूर्ण जीवन का अत्यन्त काव्यमय वर्णन किया है। परवर्ती युग में इस काव्य को जनता ने वेद के समकक्ष ही अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान दिया। स्वयं वाल्मीकि ने भी अपने ग्रन्थ रामायण को काव्य[2], गीता[3], आख्यान[4], तथा संहिता[5],—ये विभिन्न नाम दिए हैं।

इस विलक्षण ऋषिकवि के सम्बन्ध में अनेक जनकथाएँ अत्यन्त प्रचलित रही हैं, जिनको संक्षिप्त रूप में यहाँ देना अप्रासंगिक नहीं होगा। एक कथा के अनुसार वाल्मीकि मूलतः रत्नाकर नाम डाकू थे। गहन वन से निकलने वाले यात्रियों को लूट लेना ही उनका

---

1. व्यास, शान्तिकुमार नानूराम—रामायण कालीन समाज—पृष्ठ 1
2. रामायण, बालकाण्ड 2/41; युद्धकाण्ड 128/105
3. रामायण, बालकाण्ड 4/27
4. रामायण, बालकाण्ड 4/32; युद्धकाण्ड 128/118
5. रामायण, बालकाण्ड 128/120

व्यवसाय तथा आजीविका का साधन था। कदाचित् उस मार्ग से सप्तर्षि निकले। रत्नाकर के इस पाप आचरण को देखकर सप्तर्षियों ने विभिन्न उपदेश दिए और पापकृत्य के परिणाम के सम्बन्ध में रत्नाकर को सचेत किया। रत्नाकार के मन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। सप्तर्षियों से धार्मिक जीवन की दीक्षा लेकर रत्नाकर ने साधना प्रारम्भ की। समाधि के लम्बे समय तक चलने के कारण दीमकों ने उनके चारों ओर वल्मीक (बाँबी) बना ली। ज्ञान प्राप्ति हो जाने पर जब वे उस वल्मीक से बाहर निकले, तभी से उसका नाम वाल्मीकि हुआ। वाल्मीकि ने दृढ़ संयम, तीव्र मेधा तथा आर्ष प्रतिभा के बल पर कुलपति एवं ऋषि का पद प्राप्त किया। एक बार ऋषि वाल्मीकि स्नान करने के लिए तमसा नदी के तट पर गए। तट पर एक क्रौञ्च युगल प्रेमासक्त था। वाल्मीकि के समक्ष ही एक व्याध ने बाण मान कर नर क्रौञ्च को मार डाला। तब क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन को सुनकर वाल्मीकि का हृदय द्रवित हो गया। करुणा विगलित वाल्मीकि के मुख से स्वत: ही एक पद्य शाप रूप में निकल पड़ा—

मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥[6]

अर्थात् 'हे निषाद! तुमने काममुग्ध इस क्रौञ्च पक्षी को मार डाला, अतएव तुम कभी भी प्रतिष्ठा प्राप्त न करो।' वाल्मीकि की इस कल्याणमयी श्लोकात्मक वाणी के उच्चरित होते ही स्वयं भूतभावन पद्मयोनि ब्रह्मा उस स्थल पर प्रगट हुए और वाल्मीकि को इसी पद्यात्मक शैली में रामचरित लिखने का आदेश दिया। ब्रह्मा ने वाल्मीकि को आर्षचक्षु होने का वरदान भी दिया, जिससे वे अपने कथानायक के भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् जीवन को सम्पूर्णत: हस्तामलकवत् देख सकें।

वाल्मीकि के सम्बन्ध में प्रचलित इस कथा के उत्तरार्ध भाग का भवभूति आदि अनेक कवियों ने अपने काव्यों-नाटकों में उल्लेख किया है।[7] इस जनकथा से एक तथ्य स्पष्टतया उभर कर आता है कि वाल्मीकि के समय में रामकथा के अनेक रूप सूतों और मागधों के गीतों में प्रचलित अवश्य थे। राम का ऐतिहासिक चरित्र सामान्य जन की कथाओं में पर्याप्त चर्चित भी अवश्य था। वाल्मीकि ने उस चर्चित एवं प्रचलित कथा का सांगोपांग अनुशीलन करके उसे एक विस्तृत एवं सुन्दर काव्य का स्वरूप दे दिया।

भारतीय परम्परा में वाल्मीकि एवं उनके कथानायक श्रीराम को समकालीन माना गया है। अनेक इतिहासविद् भी इस परम्परा के अनुसार दोनों को समकालीन मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों का इस विषय में मतवैभिन्य है; किन्तु दोनों की समकालीनता के अनेक प्रसंग स्वयं रामायण में ही उपलब्ध होते हैं। रामायण के प्रारम्भ में ही वाल्मीकि के प्रश्न करने पर नारदमुनि जब राम[8] का तथा रामराज्य[9] का वर्णन करते हैं, तब वे निरन्तर

6. रामायण, बालकाण्ड 2/15
7. उत्तर रामचरितम्—द्वितीय अङ्क
8. रामायण, बालकाण्ड 1/8---20
9. रामायण, बालकाण्ड 1/91---96

वर्तमान काल अथवा भविष्यत्काल का ही प्रयोग करते हैं। राम के राज्यारूढ़ होने के कुछ ही वर्षों बाद रामायण की रचना की गई थी।[10] अयोध्याकाण्ड के अनुसार राम, लक्ष्मण और सीता ने चित्रकूट के समीप वाल्मीकि से भेंट की थी और वाल्मीकि ने प्रसन्नचित्त होकर उनका स्वागत किया था।[11] रामायण के उत्तरकाण्ड में जनापवाद से क्षुब्ध राजा राम ने जब परिपूर्णगर्भा जानकी को राज्य से निर्वासित कर दिया था, तब ऋषि वाल्मीकि ने ही दुःखावेग से व्यथित जानकी को अपने तपोवन में आश्रय दिया था।[12] वहीं लव-कुश का जन्म हुआ था। ऋषि वाल्मीकि ने ही सीता के दोनों पुत्रों कुश एवं लव को समुचित शिक्षा-दीक्षा दी थी[13], और स्वरचित रामायण का गान भी सिखाया था। रामायण गान सुन कर जब राम ने सीता को राजसभा में बुला भेजा था, तब वाल्मीकि भी सीता के साथ गए थे और सम्पूर्ण राजसभा के सम्मुख सीता के सतीत्व की साक्षी दी थी।[14] उत्तरकाण्ड के अनुसार वाल्मीकि दशरथ के परम सखा थे।[15] इस प्रकार ये सारे ही प्रसंग वाल्मीकि एवं राम को समकालीन ही सिद्ध करते हैं। आधुनिक अन्वेषक वाल्मीकि को राम का समकालीन नहीं मानते। फिर भी यह सर्वमान्य ही है कि रचनाकाल की दृष्टि से वाल्मीकि-रामायण राम के सर्वाधिक निकट है। रामराज्य का चित्रण करने के लिए वाल्मीकि को तत्कालीन अनुश्रुतियों, आख्यानों तथा लोकपरम्पराओं का जो एक बहुमूल्य स्रोत उपलब्ध रहा होगा; उसी के कारण इस रचना में ऐतिहासिकता का यह निश्चित स्वर झंकृत हो सका है।

ग्रन्थ परिचय—वाल्मीकि रामायण में सात काण्ड हैं तथा 24000 श्लोक हैं, अतः इसको 'चतुर्विंशति साहस्री संहिता' कहा जाता है।[16] विद्वानों की मान्यता हैं कि रामायण के प्रत्येक हज़ारवें श्लोक का प्रथम अक्षर गायत्री मन्त्र के क्रमिक अक्षर से प्रारम्भ होता है। किन्तु वर्तमान किसी भी संस्करण में यह मान्यता सही नही उतरती। रामायण के सात काण्डों में प्रत्येक काण्ड के अनुसार रामायण की कथा संक्षेप में इस

---

10. रामायण बालकाण्ड 4/1—प्राप्तराजस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत्॥

11. रामायण, अयोध्याकाण्ड 56/16-17–इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन्॥
तान् महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित्।
आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तं निवेद्य च॥

12. रामायण, उत्तरकाण्ड 49/10---23

13. रामायण, उत्तरकाण्ड 60/1---11, 71/14---23, 93/5---19

14. रामायण, उत्तरकाण्ड 96/15---24

15. रामायण, उत्तरकाण्ड 47/16-17—राज्ञो दशरथस्यैव पितुर्मे मुनिपुंगवः।
सखा परमेको विप्रो वाल्मीकिः सुमहायशाः॥

16. रामायण, बालकाण्ड 4/2—चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः।
तथा सर्गशतान् पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम्॥

प्रकार है। **प्रथम बालकाण्ड** में 77 सर्ग हैं; इसमें रामजन्म, कैशोर्य एवं कौमार अवस्थाएँ, राम लक्ष्मण का विश्वामित्र के साथ जाकर वन में राक्षस वध एवं यज्ञ रक्षा, जनकपुरी में शिवधनुष भंग करके जनकतनया सीता के साथ राम का विवाह तथा अन्य तीनों भाइयों का जनक की अन्य पुत्रियों के साथ विवाह वर्णित है। **द्वितीय अयोध्याकाण्ड** में 119 सर्ग हैं। इनमें रामराज्याभिषेक का आयोजन, ईर्ष्यादग्ध एवं क्रुद्ध कैकेयी के द्वारा विघ्न, राजा दशरथ की वचनपूर्ति के लिए राम का सीता एवं लक्ष्मण सहित वन गमन, दशरथ की मृत्यु, ननिहाल से लौटने पर सारा वृतान्त जानकर भरत का सेना सहित चित्रकूट प्रयाण, राम को अयोध्या लौटाने का असफल प्रयत्न, भरत का अयोध्या लौट कर नन्दिग्राम में निवास करना आदि प्रमुख घटनाएँ वर्णित है। **तृतीय आरण्यकाण्ड** में 75 सर्ग हैं। इसमें राम का सीता एवं लक्ष्मण के साथ दण्डकवननिवास, राक्षसों से संघर्ष का सूत्रपात, खर-दूषण आदि चौदह हजार राक्षसों का वध, रावण द्वारा कपटयोजना से सीता का अपहरण तथा राम की व्याकुलता, विलाप एवं सीता की खोज का वर्णन है। **चतुर्थ किष्किन्धाकाण्ड** में 67 सर्ग हैं। इसमें सीतान्वेषण में तत्पर राम की सुग्रीवादि से मैत्री, बालिवध, हनुमान का अन्य वानरों सहित सीता की खोज में जाना तथा समुद्रतट पर पहुँच कर हनुमान का समुद्र लाँघने के लिए उत्साह प्रगट करना आदि प्रमुख घटनाएँ हैं। **पञ्चम सुन्दरकाण्ड** में 68 सर्ग हैं। इसमें हनुमान् का समुद्रसन्तरण करके लंका पहुँचना, रावण का विपुल ऐश्वर्य, हनुमान् एवं सीता की भेंट, लंका दहन तथा सीता की चूड़ामणि एवं सन्देश सहित हनुमान् का वापस किष्किन्धा नगरी में आकर राम से मिलना आदि घटनाएँ वर्णित हैं। **छठे युद्धकाण्ड** में 128 सर्ग हैं। यह सबसे बड़ा काण्ड है। इसमें राम के द्वारा रावण का वध मुख्यतम घटना है। इस काण्ड में राम एवं लक्ष्मण अपने सैन्य की सहायता से रावण एवं उसके समस्त परिजनों का संहार कर देते हैं। लंका में विभीषण का राज्यभिषेक होता है। राम के सन्देह निराकरण के लिए सीता अग्निप्रवेश के द्वारा अपने पातिव्रत्य का प्रमाण देती हैं वनवास की चौदह वर्ष की अवधि पूर्ण हो जाने के कारण सीता लक्ष्मण सहित प्रसन्न राम अन्य प्रमुख वानरों तथा राक्षसों के साथ पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते हैं। अयोध्या में सारे भाइयों के मिलन एवं श्रीराम के राज्यभिषेक के साथ यह काण्ड समाप्त हो जाता है। **सातवें उत्तरकाण्ड** में 111 सर्ग हैं। इसमें अवान्तर कथाएँ बहुत अधिक हैं। प्रारम्भिक पैंतीस सर्गों में तो अगस्त्य मुनि राम को रावण के वंश, जन्म, पराक्रम, वर प्राप्ति आदि का ही विस्तृत इतिहास सुनाते हैं। तदनन्तर सीता विषयक जनापवाद सुन कर राम द्वारा सीता का निर्वासन, वाल्मीकि आश्रम में सीता को आश्रय, वहीं कुश लव का जन्म, राम का अश्वमेधयज्ञ, कुश लव का रामायण गान, राजसभा में अपने शुद्ध चरित्र का प्रमाण देती हुई सीता का रसातल प्रवेश तथा अन्त में राम की जलसमाधि आदि घटनाएँ वर्णित हैं।

पाठ भेद—रामकथा के समग्र रूप को प्रस्तुत करती हुई यह रामायण ऐतिहासिक महाकाव्य के साथ-साथ सरस, मधुर एवं अलङ्कृत काव्य का रूप भी प्रस्तुत करती है। संसार की समस्त रचनाओं में यह सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई है तथा अपने रचनाकाल

से लेकर आज तक यह श्रोताओं, पाठकों एवं लेखकों के हृदय में एक अपूर्व तथा अद्‌भुत रोमाञ्च एवं रसोन्मेष का संचार करती आ रही है। रसोन्मेष की इसी सामर्थ्य के कारण भारत के विभिन्न प्रदेशों में रामायण के स्वरूप में तनिक परिवर्तन भी आया। भिन्न भिन्न प्रदेशों के सूत और गायक जिन पाठों, प्रक्षेपों और श्लोकों के क्रम को जिस रूप में गाकर जन मानस को अनुरञ्जित किया करते थे; उसी रूप में उन प्रदेशों में रामायण लिपिबद्ध भी हुई। फलतः भारतभूमि के भिन्न-भिन्न भागों में रामायण के पृथक् पृथक् पाठ प्रचलित हो गए। गत डेढ़ सौ वर्षों में इन्हीं विभिन्न पाठों को आधार बनाकर वाल्मीकि रामायण के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए। ''सबसे पहले सन् 1806 में सिरामपुर के डॉ. विलियम कैरी और डॉ. जोशुआ मार्शमैन नाम के दो पादरियों ने रामायण के दो प्रथम काण्ड अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित किए। उनका आधार रामायण का पश्चिमोत्तरीय पाठ था। 1829 में जर्मन विद्वान् श्लीगल ने प्रथम दो काण्ड लैटिन अनुवाद, भूमिका और टिप्पणी सहित प्रकाशित किए। सम्पूर्ण रामायण का सर्वप्रथम मुद्रित संस्करण राजा चार्ल्स अल्बर्ट के व्यय से इटली के विद्वान् गोरेशियों ने 1843 से 1867 के बीच प्रकाशित किया। यह संस्करण बंगाल में प्रचलित पाठ पर आधारित था। तत्पश्चात् उत्तर भारत के प्रचलित देवनागरी पाठ के आधार पर सन् 1888 में निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ने रामायण का संस्करण छापा तथा 1912-20 में गुजराती प्रेस, बम्बई ने तीन टीकाओं सहित सात जिल्दों में एक संस्करण निकाला। बम्बई में छपे इन संस्करणों का पाठ कुम्भकोणम् (1905), श्रीरंगम् (1917-18) तथा मद्रास (1933) के संस्करणों के समान ही है, जिनमें दाक्षिणात्य पाठ का अनुसरण किया गया है। पश्चिमोत्तरीय पाठ के आधार पर रामायण का लाहौर संस्करण 1923-47 में पं. भगवद्दत, पं. रामलभाया और पं. विश्वबन्धु ने सम्पादित करके प्रकाशित किया।''[17] इस प्रकार आजकल वाल्मीकि रामायण के जितने संस्करण उपलब्ध हैं, उनमें चार संस्करण प्रमुख माने जाते हैं—

1. बम्बई तथा देवनागरी संस्करण—यह संस्करण उत्तरी भारत में विशेषतया प्रचलित है। इसका प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से 1902 ईस्वी में हुआ। इसमें प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट के द्वारा अपने आश्रयदाता राजा 'राम' के नाम से लिखी गई 'तिलक' नामक प्रसिद्ध टीका तथा 'शिरोमणि' एवं भूषण—ये दो अन्य टीकाएँ भी हैं।

2. बंगाल संस्करण—यह संस्करण प्रसिद्ध 'लोकनाथ' टीका सहित कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। डॉ. गोरेशियों ने अनेक उपयोगी टिप्पणियों सहित इस संस्करण का प्रकाशन किया था तथा इतालवी भाषा में इसका अनुवाद भी किया था। इसी को गौडीय संस्करण भी कहा जाता है।

3. कश्मीर संस्करण—यह संस्कारण लाहौर से 1923 में प्रकाशित हुआ था। लाहौर के डी.ए.वी. कॉलेज के रिसर्च विभाग ने पर्याप्त परिश्रमपूर्वक इसको प्रकाशित किया था। उत्तर-पश्चिमी भारत के इस संस्करण का विशेष प्रचलन होने के कारण इसे पश्चिमोत्तरीय संस्करण भी कहा जाता है। इसके सम्पादकों का नाम दिया ही जा चुका है।

---

17. व्यास, शान्तिकुमार नानूराम—रामायण कालीन समाज—पृष्ठ 7-8

4. दक्षिण भारत संस्करण—ऊपर इनका कथन किया ही जा चुका है।

उपर्युक्त चार संस्करणों में से तीन संस्करणों मे परस्पर पर्याप्त पाठभेद है। पाठभेद का मुख्य कारण रामायण वाचन की मौखिक परम्परा रही है। बम्बई संस्करण एवं दक्षिण भारत संस्करण में विशेष भेद नहीं है। यह भी निश्चय नहीं किया जा सकता कि इनमें से किस संस्करण में वाल्मीकि काव्य अधिक मौलिक तथा प्रामाणिक रूप में सुरक्षित है। विभिन्न विद्वान् बम्बई अथवा बंगाल संस्करण की प्राचीनता एवं विशुद्धता के लिए भिन्न भिन्न प्रमाण देते हैं; किन्तु इन सभी संस्करणों तथा टीकाओं के विशद एवं सूक्ष्म अनुशीलन के अभाव में किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में डॉ. बलदेव उपाध्याय का मन्तव्य द्रष्टव्य है—''इन पाठों की समीक्षा करने से गौडीय एवं पश्चिमोत्तरीय पाठ अपेक्षाकृत बहुत निकट प्रतीत होते हैं। इन दोनों पाठों में दाक्षिणात्य पाठ के आर्ष प्रयोग एक समान ही सुधारे गए हैं। फलतः दाक्षिणात्य पाठ अपेक्षाकृत मौलिक एवं प्राचीन माना जाना चाहिए। प्रतीत होता है कि ईस्वी पूर्व की शताब्दियों में आदि रामायण के दो पाठ धीरे धीरे भिन्न होने लगे थे—उदीच्य पाठ तथा दाक्षिणात्य पाठ। गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों में विभिन्नता होने पर भी मूलतः समानता है। अतः इन दोनों का सामान्य पाठ उदीच्य पाठ का प्रतिनिधि माना जाए, तो किसी प्रकार की विमति नहीं होनी चाहिए। भारत के पश्चिमोत्तर तथा पूर्वी अंचल में प्रचलित होने से मूलतः एक होने वाला उदीच्य पाठ भी दो प्रकारों में विकसित हो गया। डॉ. लेवि का अनुमान है कि कम से कम 500 ईस्वी से ये दोनों पाठ भिन्न होने लगे थे।''[18]

रामायण में प्रक्षेप—वाल्मीकि रामायण मे कितना अंश मौलिक है तथा कहाँ कहाँ कितने प्रक्षेप जुड़ गए हैं—इस विषय को लेकर भी साहित्य जगत् में पर्याप्त विवाद रहा है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. याकोबी ने सर्वप्रथम रामायण में इस प्रकार के प्रक्षिप्तांशों का कथन किया। तदनन्तर प्रोफेसर वेबर एवं विण्टरनित्स प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों और अनेक भारतीय विद्वानों ने भी डॉ. याकोबी के अनुसरण करते हुए अपना पक्ष प्रस्तुत किया। इन विद्वानों के अुनसार वर्तमान वाल्मीकि रामायण के सात काण्डों मे बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त हैं। उनका मत है कि ये दोनों काण्ड तथा बीच-बीच में आने वाले अनेक पौराणिक उपाख्यान कुशीलवों के द्वारा अथवा अन्य कवियों के द्वारा जनता की अभिरुचि के अनुसार परवर्ती समय में जोड़ दिए गए। इन विद्वानों ने अपने कथन के पक्ष में सामान्यतया निम्नलिखित विचारबिन्दु प्रस्तुत किए—

1. बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड में पुनरुक्ति दोष बहुत अधिक है, जो मध्य के अन्य पाँच काण्डों मे नहीं पाया जाता।

2. इन दो काण्डों में प्रासंगिक कथाओं तथा आख्यानों की बहुलता है और इनका अधिकांश भाग रामकथा से नितान्त असम्बद्ध है। ऋष्यश्रृंग, विश्वमित्र, हनुमान, अहल्या, गंगावतरण, इन्द्र द्वारा वृत्रवध, उर्वशी चरित आदि अनेक कथाएँ स्पष्टतया बाद में जोड़ी गई सी प्रतीत होती हैं। इसी कारण मध्यवर्ती पाँच काण्डों में राम की कथा का जो

18. उपाध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास–पृष्ठ 25

अविच्छिन्न प्रवाह है, वह इन दो काण्डों में दृष्टिगोचर नहीं होता। उपाख्यानों की अधिकता से मुख्य कथा का प्रवाह अनेक बार टूट गया है।

3. बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड मे राम का चरित्रचित्रण मध्यवर्ती काण्डों में प्राप्त चरित्रचित्रण से नितान्त भिन्न दीख पड़ता है। मध्यवर्ती काण्डों में राम एक आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम मानव के रूप में चित्रित हैं, किन्तु प्रथम तथा सप्तम काण्ड में राम विष्णु के अवतार रूप में दिखाई देते हैं।

4. बालकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड की भाषा शैली भी अन्य पाँचों काण्डों की अपेक्षा भिन्न एवं किञ्चित् निम्नस्तर की है। इसीलिए इन दोनों काण्डों का साहित्यिक सौन्दर्य भी न्यून हो गया है।

6. रामायण के कुछ संस्करणों में युद्धकाण्ड के उपरान्त फलश्रुति प्राप्त होती है। शास्त्रों के अनुसार फलश्रुति का विधान ग्रन्थ की समाप्ति पर ही किया जाता है। अत: इन स्तुतिश्लोकों से युद्धकाण्ड के साथ ही कथा एवं ग्रन्थसमाप्ति भी सूचित होती है।

डॉ. याकोबी एवं उनके समर्थक अन्य विद्वानों ने रामायण के प्रक्षिप्तांश के सम्बन्ध में जो मन्तव्य प्रगट किया उसका विरोध भी विद्वानों ने अनेक प्रकार से किया। ये अन्य विद्वान् वाल्मीकि को ही सातों काण्डों से युक्त रामायण का रचयिता घोषित करते हैं। इनका कथन है कि रामायण के जितने भी संस्करण मिलते हैं, सभी में सात काण्ड हैं। प्रसिद्ध टीकाकारों ने भी सातों काण्डों पर ही टीकाएँ लिखी हैं। यदि बालकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड पूर्णतया प्रक्षिप्त होते तो किसी न किसी संस्करण में इन्हें अवश्य छोड़ दिया गया होता। यह कहना भी नितान्त असंगत है कि बालकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड का अधिकांश भाग रामकथा से असम्बद्ध है। इन दो काण्डों में प्रासांगिक कथाएँ अपेक्षाकृत अधिक अवश्य हैं किन्तु रामकथा का प्रारम्भ तथा अन्त तो इन्हीं दो काण्डों में है। ये प्रासंगिक कथाएँ प्रक्षिप्त हो सकती हैं किन्तु रामकथा से साक्षात् सम्बद्ध अंश तो मौलिक ही हैं। प्रक्षेपांशों का उत्तरदायित्व उन सूतों, गायकों और कुशीलवों पर है जिन्होंने रामकथा के हृदयावर्जक अंशों का श्रोताओं पर अधिक प्रभाव पड़ता देख कर उन प्रसंगों को विस्तृत भी कर दिया और अवान्तर कथाएँ भी जोड़ दी। रामायण का उत्तरकाण्ड तो परवर्ती युग में अनेक काव्यों और नाटकों की कथा का उपजीव्य बना। अत: बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड वाल्मीकि की मौलिक रचना हो अथवा प्रक्षेप, किन्तु ये दोनों काण्ड भी वाल्मीकि रामायण में ईसा की अनेक शती पूर्व ही सम्मिलित अवश्य हो चुके थे। बौद्ध जातक कथाओं का समय तृतीय शती ईसा पूर्व माना जाता है और बौद्धों के 'दशरथ जातक' में उत्तरकाण्ड सहित सम्पूर्ण वाल्मीकि रामायण की संक्षिप्त कथा उपलब्ध होती है। अत: उक्त शतक से पूर्व ही रामायण अपना वर्तमान स्वरूप अवश्य प्राप्त कर चुकी थी।

पाश्चात्य विद्वानों ने रामायण के दो स्वरूप—अप्रक्षिप्त तथा प्रक्षिप्त—मानकर उनके भिन्न भिन्न रचनाकालों के निर्धारण का भी प्रयास किया है, और दोनों स्वरूपों के बीच कई शताब्दियों का अन्तर माना है। किन्तु भारतीय आस्था मूल रामायण तथा प्रचलित रामायण आदि रूपों में रामायण के स्वरूप को विभक्त नहीं करती। यदि शुष्क वितण्डावाद

के द्वारा ही निर्णय मान्य होता हो, तो सम्पूर्ण रामायण के सभी प्रक्षिप्त अंशों को हटा कर ही समय निर्धारण किया जाना चाहिए। केवल बालकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त कह देने से निर्णय नहीं हो सकता।

समय—रामायण का रचनाकाल निरन्तर ही विवादास्पद विषय रहा है। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने रामायण के रचनाकाल को निर्धारित करने का पर्याप्त प्रयत्न किया, किन्तु किसी एक समय को मानने में सभी एकमत नहीं हो सके हैं। अन्तरङ्ग अथवा वाह्य साक्ष्य को प्रस्तुत करते हुए भी ये सारे विभिन्न मत अधिकांशतया अनुमान पर ही आधारित हैं। रामायण की रचना की पूर्वसीमा का निर्धारण कोई नहीं करता; सारे ही विभिन्न मत रामायण के समय की अपर सीमा को निर्धारित करते हैं। भारतीय जनमानस में यह परम्परागत विश्वास है कि आदिकवि वाल्मीकि श्रीराम के समकालीन थे। रामायण का अन्तरङ्ग साक्ष्य भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। किन्तु इस तथ्य से भी कोई साहाय्य प्राप्त नहीं होता। राम एवं वाल्मीकि दोनों का समय ही ज्ञात नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् तो राम की ऐतिहासिकता में ही सन्देह करते हैं। उनकी दृष्टि में राम नितान्त काल्पनिक चरित्र है।

ऐसी विषम परिस्थिति में वाल्मीकि रामायण का समय निर्धारण करने में तथागत बुद्ध का समय एवं रामायण में चित्रित भारत की राजनैतिक एवं भौगोलिक स्थिति ही मुख्य आधार बनती है। पाश्चात्य तथा भारतीय सभी विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि रामायण में बौद्धधर्म का कोई उल्लेख नहीं है। श्रीराम सभी धर्मों में समान भाव से मर्यादा पुरुष के रूप में पूजनीय हैं। बौद्ध साहित्य एवं जैन साहित्य में रामकथा का स्पष्ट कथन है, किन्तु रामायण में इन धर्मों के विषय में इंगित भी प्राप्त नहीं होता। अयोध्याकाण्ड के जिस एक सन्दर्भ[19] में बुद्ध का उल्लेख आया है, उसे सभी आलोचक एक स्वर से प्रक्षिप्तांश मानते हैं। इसके अतिरिक्त बुद्ध के समय में कोसल की राजधानी श्रावस्ती थी जिस पर राजा प्रसेनजित राज्य करते थे। यह श्रावस्ती नगरी राम के पुत्र लव ने बसाई थी।[20] दशरथ एवं राम के समय में तो कोसल की राजधानी अयोध्या थी।[21] बुद्ध के समय में इस नगरी का नाम अयोध्या न होकर साकेत प्रचलित था। इन दोनों प्रमाणों के आधार पर रामायण की रचना बुद्ध से पूर्व ही हो चुकी थी।

बौद्ध साहित्य एवं जैन साहित्य के प्रमाणों के अतिरिक्त पाँचवी शती ईस्वी पूर्व अथवा उसके लगभग ही ख्याति प्राप्त कौटिल्य, पाणिनि, भास आदि सभी वाल्मीकि रामायण से भली भाँति परिचित दीख पड़ते हैं। इन सभी ने रामायण के साथ अपने गाढ़ परिचय का अनेकशः संकेत किया है। भास के अनेक नाटकों की कथा का आधार रामायण ही है। अतः रामायण का रचना समय इन सबसे पूर्व होना चाहिए।

---

19. रामायण, अयोध्याकाण्ड 109/34 यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागत नास्तिकमत्र विद्धि।
20. रामायण, उत्तरकाण्ड 108/5-श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य च।
21. रामायण, बालकाण्ड 5/5-6—कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्॥
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।

रामायण के अनुशीलन से तत्कालीन भारत की राजनीतिक अवस्था का जो परिचय प्राप्त होता है, वह भी रामायण के कालनिर्धारण में सहायक है। रामायण में कोसल देश की राजधानी का नाम अयोध्या है, किन्तु बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में इसका नाम साकेत दिया गया है। बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु (491 ईस्वी पूर्व से 459 ईस्वी पूर्व) ने गंगा एवं सोन नद के संगम पर पाटलिग्राम का विस्तार करके पाटलिपुत्र नगर की स्थापना की थी, जो अपने ऐश्वर्य आदि के कारण प्रारम्भ से ही पर्याप्त चर्चित एवं प्रसिद्ध हुआ। वनवास को जाते समय राम गंगा एवं शोण के संगम को पार करके जाते हैं, किन्तु पाटलिपुत्र का नामोल्लेख रामायण में नहीं है। बुद्ध के समय में वैशाली एक प्रसिद्ध गणतन्त्र था जो पहले के विशाला एवं मिथिला राज्यों से मिलकर बना था। रामायण में विशाला एवं मिथिला—इन दोनों पृथक् राज्यों का वर्णन है वैशाली गणतन्त्र का नहीं है। रामायण में सम्पूर्ण उत्तरी भारत कोसल, अंग, मगध, मिथिला, कान्यकुब्ज आदि छोटे छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। भारतं की ऐसी राजनैतिक स्थिति बुद्ध के समय से पूर्व रही थी।

रामायण का सामाजिक चित्रण 5वीं शती ईस्वी पूर्व का है। तत्कालीन भारतीय समाज के आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन का सुन्दर चित्र रामायण में उपलब्ध होता है।

इस समस्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि परम्परागत विश्वासों से परे यदि हम तार्किक बुद्धि का भी आश्रय लें, तो रामायण का वर्तमान परिनिष्ठित स्वरूप ईसा पूर्व पाँचवी शती तक स्थिर हो चुकने के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। अतः बुद्ध के जन्म से पूर्व वाल्मीकि रामायण का वर्तमान रूप स्थिर हो चुका था, यही मान्यता सर्वाधिक तर्कसम्मत दीख पड़ती है। डॉ. याकोबी, प्रो. मेकडॉनल, डॉ. कामिल बुल्के, काशीप्रसाद जायसवाल, जयचन्द्र विद्यालकार प्रभृति विद्वानों ने भी रामायण का यही समय निर्धारित किया है।[22]

रामायण की टीकाएँ—पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि वाल्मीकि का यह आर्षकाव्य सम्पूर्ण भारत में परम सम्माननीय धर्मग्रन्थ की भाँति मान्य एवं सुपूजित रहा है। इस काव्य किंवा धर्मग्रन्थ की लोकप्रियता का अनुमान इसकी टीका सम्पति से स्वतः हो जाता है। रामायण पर उपलब्ध विभिन्न टीकाएँ अधिकांशतः मध्ययुग में लिखी गईं। अनुमानतः इन टीकाओं की संख्या 30 है। सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं मुख्य टीकाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हैं—

1. रामायण दीपिका—लगभग 1500 ई. में वैद्यनाथ दीक्षित ने इसकी रचना की थी। इन्होंने अपनी इस टीका में पूर्ववर्ती रामानुजीय एवं सर्वार्थसार टीकाओं का भी

---

22. रामायण के रचनाकाल के समय में कतिपय अन्य विद्वानों के मत इस प्रकार हैं—
    (i) डॉ. कीथ रामायण की मूल रचना चौथी शती ईसा पूर्व में रखते हैं।
    (ii) डॉ. विण्टरनित्स के अनुसार रामायण का रचनाकाल तृतीय शती ईसा पूर्व है।
    (iii) डॉ. भण्डारकर आचार्य पाणिनि के बाद रामायण का समय मानते है।
    (iv) श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य मूल या प्राचीन रामायण का समय छठी शती ईसा पूर्व एवं वर्तमान प्रचलित रामायण का समय ईसा पूर्व द्वितीय शती स्वीकार करते हैं।

उल्लेख किया है।

2. मनोहरा—बंगदेशीय लोकनाथ ने इस टीका का प्रणयन किया था। ये महाप्रभु चैतन्य के समसामयिक थे। अत: इनका समय 16वीं शती है। यह टीका अल्पक्षरा है जो टिप्पणी अधिक जान पड़ती है।

3. रामायण तत्त्वदीपिका—महेश्वर तीर्थ ने इस टीका को लिखा था अत: उनके नाम के आधार पर इस टीका को 'तीर्थीय' भी कहा जाता है। इसका रचना समय 1700 ई. के लगभग माना जाता है। रामायण-पाठों कें संशोधन तथा पदों की सुनिश्चित व्याख्या की दृष्टि से यह टीका अत्यधिक प्रामाणिक है। परवर्ती टीकाकारों ने अनेक स्थलों पर इसी टीका के अर्थों को सादर ग्रहण किया है।

4. रामायण भूषण—गोविन्दराज ने इसकी रचना की थी तथा इसका समय 18 वीं शती का प्रारम्भ माना जाता है। गोविन्दराज श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे, अत: इस सम्प्रदाय में यह टीका नितान्त प्रामाणिक मानी जाती है।

5. वाल्मीकि हृदय—18वीं शती के प्रारम्भ में अहोबल ने इस टीका की रचना की। इस टीका में रामायण भूषण को अनेकश: उद्धृत किया गया है।

6. अमृतकतक—माधवयोगी ने 18वीं शती के पूर्वार्ध में इसकी रचना की। यह टीका अनेक कारणों से प्रसिद्ध हुई। रामायण के विभिन्न क्षेपकों का विचार, विषम स्थलों की विवेचना तथा रामायण के प्रत्येक सर्ग में श्लोकों को की संख्या का निर्धारण करना इस टीका की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

7. रामायण तिलक—18वीं शती के उत्तरार्ध में राजा रामवर्मा ने इस टीका का प्रणयन किया। यह रामायण की लोकप्रिय टीकाओं में एक है क्योंकि यह टीका रामायण के विभिन्न पाठ भेदों की समीक्षा भी करती है और मूल पाठ को समझने में भी परम उपादेय है।

रामायण की काव्यकला—वाल्मीकि का यह महाकाव्य देशातीत तथा सीमातीत महनीय काव्य है जो सभी समयावधियों में सम्पूर्ण विश्व का मनोरञ्जन तथा कल्याण एक साथ ही कर सकने में समर्थ है। महान् कला वही है जो "मानव सौख्य की अभिवृद्धि, दीन-आर्त जनों का उद्धार, परस्पर में सहानुभूति का प्रसार, हमारे और संसार के बीच सम्बन्ध के विषय में नवीन या प्राचीन सत्यों का अनुसन्धान, जिससे इस भूतल पर हमारा जीवन उदात्त तथा ओजस्वी बन जाए या ईश्वर की महिमा झलके।"[23] वाल्मीकि रामायण इस महान् कला के मानक पर जैसी खरी उतरती है वैसा अन्य कोई काव्य ग्रन्थ है ही नहीं। काव्य के सभी प्रमुख तत्त्व इसमें जितनी उदात्तता से सहज रूप में चित्रित हुए हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है।

कथावस्तु—वाल्मीकि ने अपने समकालीन राम की कथा को काव्य का विषय बनाया अथवा लोक परम्परा से प्राप्त किसी महनीय कथापुरुष के जीवन चरित को ग्रहण किया—रामकथा सर्वविदित ही है। वाल्मीकि का काव्यकौशल उस कथा के अपेक्षित

23. उपाध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास—पृष्ठ 31-32 पर उद्धत।

विस्तार; अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं और पञ्च सन्धियों के सुन्दर संयोजन आदि में स्पष्ट प्रगट हुआ है। यह वाल्मीकि काव्य की कथा का ही चमत्कार था, जो सहस्रों वर्षों से निरन्तर सभी रसिक जनों को निरन्तर चमत्कृत करती आ रही है।

चरित्रचित्रण—कथा के संयोजन के सदृश ही वाल्मीकि अपने पात्रों का चरित्रचित्रण करने में भी अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी सिद्ध हुए हैं। राम, सीता जैसे प्रमुख चरित्रों से लेकर मन्थरा, निषाद, शबरी आदि गौण पात्रों तक के चरित्र जिस सहजता और तीव्रता से अंकित हुए हैं, उससे वाल्मीकि के मनोवैज्ञानिक दृष्टि का स्वभावतः ही ज्ञान हो जाता है।

राम—रामायण के सर्वाधिक उदात्त पात्र हैं श्रीराम-जो इस काव्य ग्रन्थ में वाल्मीकि की महनीय कला से मण्डित होकर पहले मर्यादा पुरुषोत्तम हुए और समय के क्रम में शनैःशनैः भारतीयों के परम पूजनीय आराध्यदेव बन गए। आज कोई भी भारतवासी श्रीराम से रहित भारत की कल्पना भी नहीं कर सकता—वाल्मीकि के चरित्रचित्रण की सफलता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा।

रामायण में स्थल स्थल पर राम के शारीरिक सौन्दर्य तथा प्रियदर्शन स्वरूप का कथन हुआ है। राम का शरीर कितना लावण्यमय एवं शुभलक्षण सम्पन्न है, इसका किञ्चित् आभास रामायण के प्रारम्भ में ही नारद ने दे दिया है।[24] राम का शरीर जितना मनमोहक एवं भव्य है, उतना ही उनका चरित्र भी शील एवं उदात्त गुणों से विभूषित है। भारतीय संस्कृति में जिन सत्यनिष्ठ जीवनमूल्यों का विकास हुआ, उन सभी का मूर्तिमान् विग्रह रामचरित्र है। राम सदैव दान ही करते हैं, किसी से प्रतिग्रह नहीं लेते; वे कदापि अप्रिय भाषण नहीं करते। जीवनसंकट उपस्थित होने पर श्री राम सदैव सत्यवादी एवं पराक्रमी ही हैं।[25] विवेकशील राम भली भाँति परामर्श करके ही कोई वचन कहते हैं और एक बार कहा हुआ वचन अमिट है क्योंकि 'रामो द्विर्नाभिभाषते।' विभिन्न संकटों को पार कर सकने तथा राक्षसों के वध करने से राम का पराक्रम एवं शूरवीरता तो जगत्प्रसिद्ध ही है; किन्तु द्रष्टव्य है राम के हृदय की गम्भीर विशालता—जो शुत्र के मरते ही समस्त शत्रुता को तत्क्षण त्याग देती है। रावण की मृत्यु हो जाने पर श्रीराम विभीषण को समझाते हैं—

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥ (6/109/25)

अर्थात् 'हे विभीषण! वैर केवल मृत्यु पर्यन्त होता है। मेरा प्रयोजन पूर्ण हो चुका है। अब इस का मृतक संस्कार आदि करो। यह जैसे तुम्हारा स्नेह पात्र अथवा आत्मीय है, वैसे

---

24. रामायण बालकाण्ड 1/9-11-विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥
समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षो विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः।

25. रामायण सुन्दरकाण्ड 5/33/25- दद्यान्न प्रतिगृह्णीयान्न ब्रूयात् किञ्चिदप्रियम्।
अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रमः।

ही मेरा भी।' हृदय के इसी विशाल औदार्य के कारण राम मर्यादा पुरुषोत्तम बन सके।

प्रिया सीता के प्रति राम का वियोग विलाप रामायण में अनेक स्थलों पर चित्रित हुआ है। पत्नी के लिए सन्तप्त होना सहज मानवीय आचरण ही है, किन्तु राम अन्य बन्धु जनों की विपत्ति से भी उतने ही व्याकुल एवं व्यथित होते हैं। मेघनाद की शरवर्षा से अचेत पड़े लक्ष्मण के लिए राम का विलाप भातृ प्रेम का सुन्दर निदर्शन है।[26] उसी प्रकार रावण की शक्ति से विद्ध होकर मूर्च्छित लक्ष्मण को देखकर राम का कथन भातृ प्रेम के लिए सूक्ति ही बन गया है—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥ (6/101/15)

मृदु स्वभाव, शान्तचित्त, शरणागतवत्सल राम के चरित्र की विशेषताएँ अनन्त ही हैं। वाल्मीकि ने अयोध्याकाण्ड के प्रथम सर्ग में राम के चरित्र वैशिष्ट्य को बहुत मर्मस्पर्शी रूप में प्रस्तुत किया है।[27] डॉ. बलदेव उपाध्याय ने वाल्मीकि के रामचरित्र के चित्रण वैशिष्ट्य से उच्छ्वसित होकर सत्य ही लिखा—"यह मानवजीवन रामदर्शन के बिना निरर्थक है—'रामदर्शन' उभय अर्थ में—राम कर्तृक दर्शन (राम के द्वारा देखा जाना) तथा राम कर्मक दर्शन (राम को देखना)। राम जिसको नहीं देखते, वह लोक में निन्दित है और जो व्यक्ति राम को नहीं देखता, उसका भी जीवन निन्दित है। उसका अन्तःकरण स्वयं उसकी निन्दा करने लगता है"[28] —

यश्च रामं न पशयेत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥ (2/17/14)

सीता—वाल्मीकि ने रामायण में अपनी तूलिका से जनकनन्दिनी वैदही का जो मञ्जुल, सतीत्वमण्डित एवं कोमल-मधुर चित्र उकेरा, वह आने वाले अनन्त समय में सम्पूर्ण स्त्रीजाति के लिए प्राप्तव्य आदर्श बन गया। 'सीता'—यह नामोच्चारण करते ही भारतीय स्त्री की जो एक दैवी छवि मानस नेत्रों के समक्ष उभरती है, वह वाल्मीकि की चरित्र चित्रण कला का ही कौशल है। विनम्र, मधुरभाषिणी, चतुर, पवित्र, स्थिरचित्त, बुद्धिमती तथा मर्यादाशीला सीता का पतिव्रत्य तेज अन्य सभी सतियों के तेज को आक्रान्त करके स्थित है। वैभवशाली, दुर्धर्ष रावण का प्रणयामन्त्रण, लोभकथन, कटूक्तियाँ, मरणभय आदि कुछ भी सीता को उनके पातिव्रत्य से डिगाने में समर्थ नहीं होता। पति के साथ वनगमन के लिए उद्यत जो जानकी स्वर्गलोक को भी तुच्छ समझती है[29], वही सीता देवद्वेषी रावण की सुरक्षित अशोकवाटिका में विवश होकर भी रावण को निरन्तर तिरस्कृत करने का साहस भी रखती हैं[30] तथा निरन्तर श्रीराम के पराक्रम में विश्वस्त रहकर अपने

26. रामायण, युद्धकाण्ड 49/5-30
27. रामायण, अयोध्याकाण्ड 1/9-34
28. उपाध्याय, बल्देव—संस्कृत साहित्य का इतिहास—पृष्ठ 43
29. रामायण, अयोध्याकाण्ड 27 एवं 29 सर्ग
30. रामायण, सुन्दरकाण्ड 21 एवं 22 सर्ग

पतिमिलन की प्रतीक्षा करती हैं।[31] जिस रावण को सीता ने अपने बाएँ चरण से भी स्पर्श करने योग्य नहीं माना था[32], उसी रावण की मृत्यु के अनन्तर समस्त वानरों और रीछों के समक्ष प्रिय पति की अपने चरित्र के सम्बन्ध में अपवाद अथवा लोकनिन्दा से पूर्ण वचनों को सुनकर वैदेही ने जिस प्रकार राम के वचनों के अनौचित्य को सिद्ध किया है, वह सीता के चरित्र की तेजस्विता तथा विवेकशीलता का हृदयग्राही परिचायक है—

यदहं गात्रसंस्पर्शं गतास्मि विवशा प्रभो।
कामकारो न मे तत्र दैवं तत्रापराध्यति॥
मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरी॥ (6/116/8-9)

'हे राम! रावण के साथ जो कुछ मेरा शरीर स्पर्श हुआ, उसमें तो मैं परवश थी। मैने स्वयं अपनी कामना से वह स्पर्श नहीं किया था। मेरे वश में तो मेरा हृदय है और वह हृदय सदैव आपमें ही स्थित (अनुरक्त) है।'—सीता केवल अपने प्रगाढ़ प्रेम का ही कथन नहीं करतीं, अपितु राम के इनके ओछे विचारों के लिए उन्हें वाग्बाणों से आहत भी करती हैं—

त्वया तु नृपशार्दूल रोषमेवानुवर्तता।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्॥ (6/116/14)
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम्॥ (6/116/16)

'हे श्रेष्ठ राजन्! क्रोधावेश में आपने एक ओछे मनुष्य की भाँति केवल मेरे स्त्रीत्व अंश को ही सबके सामने रखा। बाल्यावस्था में ही परिणय विधि में ग्रहण किए गए मेरे हाथ को भी प्रमाण नहीं माना और मेरी समस्त पतिभक्ति एवं सदाचरण को आपने पीछे ही ढकेल दिया।'

जानकी के चरित्र के इसी महिमा मण्डित वैशिष्ट्य के कारण ही स्वयं अग्निदेव को प्रगट होकर सीता की पवित्रता को प्रमाणित करना पड़ा था। पति एवं प्रजा के द्वारा निष्कारण अपमान से आहत एवं व्यथित सीता के पवित्र आचरण और शुचि व्यवहार से ही विवश होकर स्वयं भूतधात्री धरित्री ने सिंहासन सहित प्रगट होकर सीता को अपने अंक में सादर स्थान दिया था।[33] इससे बढ़ कर स्त्री की चरित्र विशुद्धि का उत्कर्ष और क्या हो सकता है।

वांल्मीकि ने अपने काव्य में प्रतिनायक रावण के चरित्र चित्रण में भी विशिष्ट कौशल प्रदर्शित किया है। जनकतनया के अपहरण के एकमात्र गर्हित कृत्य के अतिरिक्त अन्यत्र सर्वत्र ही रावण का चरित्र उत्तमकोटिक ही है। वाल्मीकि ने रावण को भी विरूप अथवा विद्रूप पात्र नहीं बनने दिया है। इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त पुत्रवत्सल किन्तु पत्नी

31. रामायण, सुन्दरकाण्ड 67 एवं 68 सर्ग
32. रामायण, सुन्दरकाण्ड 26/8
33. रामायण, उत्तरकाण्ड 97 सर्ग

भीरु दशरथ, सपत्नी द्वेष से जर्जरित कैकेयी, पति एवं पुत्र के मोहाकर्षण की दुविधा में ग्रस्त किन्तु कर्तव्यपरायण कौशल्या, ओजस्वी लक्ष्मण, भ्रातृभक्ति के आदर्श भरत, पिता का अन्धभक्त परम पराक्रमी मेघनाद एवं अन्य सभी पात्र वाल्मीकि के चरित्र चित्रण कौशल के कारण जीवन्त हो उठे हैं।

रस—वाल्मीकि के इस काव्य में सभी रसों का समुचित निर्वाह हुआ है। रामायण का प्रमुख रस करुण है। क्रौञ्च वध से व्यथित शोकार्त वाल्मीकि के मुख से जो सरस्वती निष्यन्द हुआ, वह शोक ही मानों श्लोक रूप में परिणत होकर काव्य की भूमिका बन गया। अन्त में भी निष्पापा साध्वी सीता के पृथिवी में विलीन हो जाने से पति पत्नी के आत्यन्तिक वियोग में परिणत होकर यह काव्य करुण रस में ही पर्यवसित हो गया। वाल्मीकि ने करुण को अंगी रस बना कर भी संयोग एवं वियोग शृंगार रस, वीर रस, रौद्र रस आदि को रुचिरतया प्रस्तुत किया है।

''संस्कृत की आलोचना परम्परा में रामायण सिद्धरस प्रबन्ध कहा जाता है। कथावस्तु की विवेचना के अवसर पर आनन्दवर्धन का यह प्रख्यात श्लोक है (पृष्ठ 148)

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी॥

अभिनवगुप्त की व्याख्या से 'सिद्धरस' का अर्थ स्पष्ट झलकता है—सिद्धः आस्वाद-मात्रशेषः, न तु भावनीयो रसो यस्मिन्—अर्थात् जिसमें रस की भावना नहीं करनी पड़ती, प्रत्युत रस आस्वाद के रूप में ही परिणत हो गया रहता है, वह काव्य सिद्धरस कहलाता है जैसे रामायण।''[34]

प्रकृति चित्रण—वाल्मीकि मनस्तत्त्व के निरूपण के साथ साथ वाह्य प्रकृति के असाधारण सुन्दर चित्रण में भी निष्णात सिद्ध हुए हैं। रामायण में प्रकृति चित्रण के विभिन्न प्रसंगों में नगर, ग्राम, वन, पर्वत, सरिताएँ, सरोवर, ऋतुचक्र, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदि का सरस एवं सजीव वर्णन है।[35] कथानक के प्रवाह में आए हुए इन प्रसंगों में प्रकृति का यह चित्रण सहज रूप में अनायास ही अवतरित होता गया है।

कलापक्ष—संस्कृत वाङ्मय के इस महनीय काव्य में सुन्दर चरित्र चित्रण, रसपेशलता तथा अद्भुत कथा संयोजन का ही चमत्कार नहीं है, अपितु काव्य की भाषा-शैली भी अत्यन्त हृदयावर्जक है। प्रायः समास रहित अथवा अल्पसमास युक्त वैदर्भी रीति के इस काव्य में सरल तथा सरस शब्दों के द्वारा भावाभिव्यक्ति हुई है। वाल्मीकि ने अपने काव्य में कलापक्ष को भी कहीं तिरस्कृत नहीं होने दिया है। भाषा पर वाल्मीकि का

34. उपाध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास—पृष्ठ 32
35. रामायण, बालकाण्ड, सर्ग 5—अयोध्यानगरी; अयोध्याकाण्ड, सर्ग 94—चित्रकूट पर्वत; अयोध्याकाण्ड सर्ग 95—मन्दाकिनी शोभा; अरण्यकाण्ड सर्ग 16—हेमन्त ऋतु शोभा; किष्किन्धाकाण्ड सर्ग 1—पम्पा सरोवर; किष्किन्धाकाण्ड सर्ग 28—वर्षा ऋतुः किष्किन्धाकाण्ड सर्ग 30—शरद ऋतुः सुन्दरकाण्ड सर्ग 2—लंकापुरी एवं चन्द्रोदय; सुन्दरकाण्ड सर्ग 14—अशोक वाटिका; आदि

असामान्य अधिकार है। प्रसंगानुरूप भावों की सुन्दर अभिव्यञ्जना में वाल्मीकि किसी भी परवर्ती महाकवि से न्यून नहीं हैं। सरल शब्दों में हृद्गत मार्मिक भावों के निरूपण के लिए एक उद्धरण ही पार्यप्त होगा। अशोकवाटिका में राक्षसियों से घिरी जनकसुता को पहचान कर वृक्ष पर छिपे बैठे हनुमान पत्नी विरहित राम का चिन्तन कर रहे हैं कि 'ये वे ही सीता हैं जिनके लिए श्रीराम इस संसार में करुणा, दया, शोक और प्रेम—इन चार भावों से सन्तप्त होते रहते हैं।'[36]

स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यत:।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च॥ (5/15/50)

'स्त्री रक्षणीया है, किन्तु स्त्री (सीता) नष्ट हो गई, अत: राम करुणा से व्याप्त रहते हैं; वह (सीता) मेरी आश्रिता थी—यह सोच कर वे दया से द्रवित हो जाते है; मेरी पत्नी—सहधर्मचारिणी ही मुझसे वियुक्त हो गई इस कारण राम शोक से व्याकुल हो उठते हैं और अपनी प्रिया के नाश से वे प्रेम की वेदना से परिपूर्ण हो जाते है।'

वाल्मीकि की भाषा एवं शैली की रुचिरता अलंकारों के सहज प्रयोग से और भी रमणीय हो गई है। वाल्मीकि ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का यथास्थान समुचित प्रयोग किया है। वाल्मीकि के काव्य में विभिन्न अलङ्कार अत्यन्त स्वाभाविक रूप में स्वत: ही उपन्यस्त हो गए हैं। कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि कवि उनका सायास प्रयोग कर रहा हो। अशोकवाटिका में बैठी सीता के सम्बन्ध में प्रयुक्त उपमाएँ अत्यन्त सार्थक एवं मनोहारिणी हैं (सुन्दरकाण्ड, पन्द्रहवाँ सर्ग)

काव्य के सभी कलात्मक एवं भावात्मक तत्त्वों के माधुर्य को समेटे हुए वाल्मीकि रामायण मार्गग्रन्थ सिद्ध हुई। इसी ग्रन्थ का आश्रय लेकर संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं में समय समय पर अनेक रामायण रची जाती रहीं जिनमें अध्यात्म रामायण, अद्भुत रामायण, आनन्द रामायण, भुशुण्डि आदि प्रमुख हैं।

रामायण का महत्त्व—वाल्मीकि रामायण संस्कृत साहित्य का आदिकाव्य है। यह केवल रसोन्मेषकारी काव्य ही नहीं, अपने आदर्श प्रतिपालन के कारण धर्मशास्त्र के रूप में भी सम्पूर्ण भारत में सुप्रतिष्ठित है। साथ ही यह ऐतिहासिक महाकाव्य एवं वीरकाव्य भी कहा जाता है। वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी स्वरूप उपनिषदों ने अध्यात्म दृष्टि पर अत्यधिक बल देकर वानप्रस्थ एवं संन्यास आचरण को ही मनुष्य के लिए आदर्श के रूप में स्थापित किया था। वाल्मीकि रामायण की रचना मानों इस क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में हुई। इस काव्य ने भारतीय संस्कृति की चतुराश्रम परिकल्पना में से गृहस्थ-आश्रम की सर्वश्रेष्ठता का उद्घोष किया और इस आश्रम की उपादेयता, सम्पूर्ण उदात्तता एव चरम महत्त्व को अत्यन्त मानवीय संवेदना से परिनिष्ठित करके प्रस्तुत किया। मानव समाज और व्यक्ति के सर्वाङ्गीण एवं सम्पूर्ण सौख्य के लिए चरम आदर्श का चित्र रामायण ने ही उकेरा। राजा, प्रजा, पिता, पुत्र, पति, पत्नी, भाई, मन्त्री, मित्र, दास—आदि विभिन्न

---

36. रामायण, सुन्दरकाण्ड 15/49 इयं यत्कृते रामश्चतुर्भिरिह तप्यते।
कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च॥

मानव रूपों के ऐसे आदर्शात्मक किन्तु यथार्थ चित्र रामायण ने प्रस्तुत किए, जो साहित्य तो क्या, सम्पूर्ण विश्वसाहित्य में खोजने से भी नहीं मिल पाते। यही कारण है कि भारतीय आर्यों में इस ग्रन्थ की प्रतिष्ठा आचारग्रन्थ के रूप में भी है।

भारतीय संस्कृति का अत्यन्त उदात्त, समुज्ज्वल, सुन्दर और सहज रूप इस महाकाव्य में अंकित हुआ है। वाल्मीकि की यह अनुपम रामकथा भारतीय जनमानस की धार्मिक आस्था की मुख्य आधारभित्ति तो है ही, साथ ही यह रामायण तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक परिस्थितियों पर भी विशद प्रकाश डालती है। भारतवर्ष के राष्ट्रीय जीवन के निर्माण में रामायण का बहुत बड़ा योगदान है। धार्मिक दृष्टि से तत्कालीन विविध आचरण, सत्य पालन, विविध यज्ञ, व्रत, नैतिकता, कर्तव्यनिष्ठा, ईश्वर भक्ति आदि का पूर्ण इतिहास रामायण में प्राप्त हो जाता है। राजा के कर्तव्य, अधिकार, प्रजापालन, दायविधान, नागरिकता, सैन्यसंचालन आदि राजनीतिक विषयों का यह कोशरूप है। राज्य की जो सुन्दर परिकल्पना यथार्थ रूप में वाल्मीकि रामायण ने प्रस्तुत की, उसी से 'रामराज्य' यह शब्द ही पवित्र एवं आदर्श राज्य के लिए प्रस्तुत होने लगा। रामायण के समय में स्त्रियों की दशा, भोजन-पान, वेषभूषा, विवाह प्रकार एवं विवाह विधि, मनोरञ्जन के प्रकार एवं साधन आदि सामाजिक विषय भी इस काव्यग्रन्थ के अनुशीलन से सम्यग्तया ज्ञात हो जाते हैं। "वाल्मीकि रामायण भारत का राष्ट्रीय आदिकाव्य है। धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों का भंडार होने के साथ-साथ वह एक महत्त्वपूर्ण मानवीय समाजशास्त्र भी है जो शताब्दियों पूर्व के भारतीयों के जीवनयापन का रोचक वृत्तान्त उपस्थित करता है। एक पुरातन युग की जीवित परम्पराओं, धारणाओं, चिन्ताओं, आकांक्षाओं और भावनाओं का चित्रण करने के कारण वह प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति की एक बहुमूल्य निधि है।"

रामायण की लोकप्रियता में उसकी सहज शैली, असाधारण वर्णन शक्ति एवं जीवन्त चरित्र चित्रण का भी पर्याप्त योगदान है। परवर्ती युग में महाकाव्य के जिन लक्षणों का विधान शास्त्रकारों ने किया, प्राय: वे सभी लक्षण रामायण पर सटीक बैठते हैं। इस महाकाव्य में सभी रस प्राप्त होते हैं, जिनमें करुण तो अंगी रस है ही, किन्तु वीर एवं शृंगार भी प्रमुखतया चित्रित हुए हैं।अन्य सारे रस भी समुचित स्थानों पर अंग रूप में प्रयुक्त हुए हैं। वस्तुत: इस महाकाव्य का प्रारम्भ ही क्रौञ्चवध से उत्पन्न शोक से हुआ था। रामायण में मानव की अन्त:प्रकृति के सहज, सूक्ष्म और सुन्दर विश्लेषण के साथ ही वाह्य प्रकृति के भीषण किंवा कोमल—सभी दृश्यों का सजीव चित्रण प्राप्त होता है। नगर, ग्राम, पर्वत, नद, नदी, कान्तार, सेना शिविर, युद्ध, चन्द्रोदय, विभिन्न ऋतु आदि वर्णन अत्यन्त भावपूर्ण एवं सरस हैं। काव्य की दृष्टि से रामायण की भाषा सरल, ललित, प्रांजल एवं परिष्कृत है। प्रसाद एवं माधुर्यगुण से सम्पन्न वैदर्भी रीति का सुन्दर रूप रामायण में प्राप्त होता है। वाल्मीकि ने रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का विशेष प्रयोग किया है। लौकिक छन्द का प्रथम अवतरण भी रामायण महाकाव्य में ही हुआ। इससे पूर्व केवल वैदिक छन्द विद्यमान थे, जिनमें केवल अक्षरसंख्या का महत्त्व था; लघु एवं गुरु

वर्णों के विन्यास का कोई निश्चित क्रम नहीं था। वाल्मीकि का प्रिय छन्द अनुष्टुप् है। रामायण अधिकतया अनुष्टुप् छन्द में ही लिखी गई है, किन्तु कई स्थलों पर इन्द्रवज्रा तथा उपजाति छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। ऐसे प्रसंग अधिकतर सर्ग के अन्त में हैं। वाल्मीकि की अनुपम काव्यकला एवं अपूर्व चरित्र चित्रण के सम्बन्ध में डॉ. सूर्यकान्त के उद्गार अत्यन्त मर्मस्पर्शी है—"यदि ये घटनाएँ पौराणिक हैं तो वाल्मीकि जैसा प्रतिभावान् कवि नही जन्मा और रामायण जैसी सुन्दर, रोचक और जीवनप्रद रचना नहीं बनी।.....यदि रामायण की घटनाएँ सत्य हैं तो राम जैसा चरितनायक धरती पर नहीं उतरा; और यदि रामायण-कथा पौराणिक है तो वाल्मीकि जैसा महाकवि आज तक नहीं जन्मा।"

वाल्मीकि रामायण का प्रचार केवल भारत वर्ष तक ही सीमित नहीं रहा। भारतभूमि की सीमाओं को पार करके इसने समीपवर्ती सभी देशों को अपने अपूर्व लालित्य से मुग्ध कर लिया। भारतीय यात्री, नाविक, विद्वान् तथा श्रमण आदि जिन जिन देशों में भी जाते रहे, वहीं वहीं इस आकर्षक, उदात्त एवं अत्यन्त उपदेशप्रद रामकथा का प्रचार होता गया। उन देशों की संस्कृति के अनुरूप ढल कर वाल्मीकि रामायण की कथा का स्वरूप भी तनिक भिन्न भिन्न प्राप्त होता है। भारत के समीपस्थ कुछ देश तो रामकथा को विदेशी मानते ही नहीं; अपने ही देश के भौगोलिक क्षेत्र की मानते हैं। सम्पूर्ण भारत में लोकप्रिय बनी हुई यह रामायण ईसा की प्रारम्भिक शतियों से ही चीन, तिब्बत, खोतान, जावा, सुमात्रा, बाली, स्याम आदि देशों तक धार्मिक ग्रन्थ एवं वीरकाव्य के रूप में प्रचलित हो गई और इस प्रकार भारत देश के विभिन्न प्रान्तों और वृहत्तर भारत में भी एकता के अपूर्व सूत्र के रूप में पूज्य बन गई। पन्द्रहवीं शती के उपरान्त तो यह कथा यूरोप के विभिन्न देशों में भली प्रकार प्रचलित हो गई।

वाल्मीकि रामायण का भारत के परवर्ती साहित्य पर अतुलनीय प्रभाव पड़ा। सम्पूर्ण भारतीय जन जीवन को प्रभावित कर देने वाली यह रामायण उपजीव्य काव्य के रूप में इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई कि सहस्रशः संस्कृत लेखकों ने रामकथा के आधार पर ही अपनी रचनाएँ लिखी। अनेक प्रसिद्ध कवियों, नाटककारों तथा चम्पू काव्य रचियताओं ने अपनी अपनी रुचि के अनुकूल सम्पूर्ण रामकथा अथवा रामायण के विभिन्न अंशमात्रों को ग्रहण किया। उन सभी रचनाओं को जान सकना अथवा उल्लेख करना सम्भव नहीं है, किन्तु रामायण से कथानक ग्रहण करने वाली कतिपय प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार है—

महाकाव्य—रघुवंश (कालिदास); सेतुबन्ध (प्रवरसेन); जानकी हरण (कुमारदास); रावणवध (भट्टि); रामायण मञ्जरी (क्षेमेन्द्र); रामचरित (अभिनन्द); राघवपांडवीय (धनञ्जय), रघुनाथाभ्युदय (वामनभट्ट बाण); रामपालचरित (संध्याकर नन्दिन) आदि।

नाटक—अभिषेक नाटक तथा प्रतिमा नाटक (भास); महावीर चरित तथा उत्तररामचरित (भवभूति); अनर्घराघव (मुरारि); उदात्तराघव (मायुराज); आश्चर्यचूडामणि (शक्तिभद्र); हनुमन्नाटक अथवा महानाटक (दामोदर मिश्र); बालरामायण (राजशेखर); कुन्दमाला (दिङ्नाग); प्रसन्नराघव (जयदेव); उन्मत्त राघव (भास्कर भट्ट); अद्भुत दर्पण (महादेव); जानकी परिणय (रामचन्द्र अथवा रामभद्र दीक्षित); आदि।

चम्पूकाव्य—रामायण चम्पू (भोजराज); अमोघराघव चम्पू (दिवाकर); उत्तर चम्पू (वेंकटाध्वरि); रामचन्द्र चम्पू (विश्वनाथ सिंह) आदि।

संस्कृत की इन रचनाओं के अतिरिक्त अन्य सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में वाल्मीकि रामायण को आधार बना कर अनेक रामकथा ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें तुलसीदास रचित रामचरितमानस (अवधी), कृत्तिवास रामायण (बंगला), कम्ब रामायण (तमिल), एकनाथ रामायण (मराठी), माधव कंदली रामायण (असमिया) तथा रंगनाथ रामायणम् (तेलगू) प्रसिद्ध रही हैं।

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण विशेषताओं के कारण ही भारतीय काव्यों में रामायण का तथा कवियों में वाल्मीकि का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। यही कारण है कि रामायण एवं वाल्मीकि की प्रशंसा में सभी प्रमुख संस्कृत कवियों ने अपनी-अपनी पुष्पाञ्जलि श्लोकों के रूप में अवश्य प्रस्तुत की है, तथा वाल्मीकि को पुनः पुनः नमन किया है।

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणकथा॥
यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावत् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

महाभारत

श्रवणाञ्जलिपुटपेयं विरचितवान् भारताख्यममृतं यः।
तमहमरागमतृष्णं कृष्णद्वैपायनं वन्दे॥

विश्व के सम्पर्णू साहित्य में महाभारत सर्वाधिक दीर्घकलेवरात्मक रचना है। यह इतिहासात्मक महाकाव्य वाल्मीकि रामायण से चार गुणा और होमर की दोनों रचनाओं—इलियड एवं ओडेसी के संयुक्त स्वरूप से लगभग आठ गुणा पृथुल है। भारत देश की राष्ट्रीय ज्ञानसंहिता के रूप में महाभारत वस्तुतः विश्वकोष है जो महाकाव्य भी है, इतिहास भी है और धर्मग्रन्थ भी है। वाल्मीकि रामायण ने अपने कथानायक राम के आचरण के द्वारा भारतीय जनमानस में कर्तव्यपालन और धर्म की प्रवृत्ति को दृढ़ता से प्रतिष्ठापित किया था; महाभारत ने अधर्म के नाशपूर्वक धर्म की विजय प्रदर्शित करते हुए कर्म के जिस महामन्त्र का उच्च उद्घोष किया, वह भारतीय संस्कृति और भारतीयता का एक निजी वैशिष्ट्य ही बन गया। यह भारतीय साहित्य का एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें तत्कालीन सभी साहित्यिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक आदि विषयों का एकत्र समावेश है। अपने कतिपय पर्वों (अध्यायों) के बल पर महाभारत एक अत्यन्त श्रेष्ठ आचारसंहिता का भी निदर्शन उपस्थित करता है। सम्पूर्ण वैदिक मन्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न मनीषी ग्रन्थकार ने महाभारत में वेद और लोक का अपूर्व समन्वय प्रस्तुत किया। अपने विस्तार तथा महत्त्व के कारण ही 'महाभारत' को पञ्चम वेद का अभिधान प्राप्त हुआ।

महाभारत के रचयिता परम्परा से व्यासमुनि माने जाते रहे हैं। इनका पूरा नाम कृष्ण द्वैपायन व्यास था। ये शरीर का वर्ण काना होने के कारण कृष्ण तथा द्वीप में उत्पत्ति होने

के कारण द्वैपायन थे। पराशर मुनि के पुत्र होने के कारण इन्हें पाराशर्य कहा जाता है, तथा बदरिकाश्रम में ज्ञानप्राप्ति के कारण ये बादरायण मुनि नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

संपूर्ण वेदमन्त्र समूह को इन्होंने यज्ञ के उपयोग की दृष्टि से चार संहिताओं से विभक्त कर दिया था।[37] अत: ये व्यास कहलाए। भारतीय विश्वास के अनुसार व्यास कौरवों तथा पाण्डवों के समकालीन ही नहीं थे, प्रत्युत् धृतराष्ट्र, पाण्डु एवं विदुर के नियुक्त जन्मदाता भी थे। सत्यवती एवं भीष्म के निर्देश पर व्यास ने विचित्रवीर्य की पत्नियों से नियोग के द्वारा पुत्र उत्पन्न किए थे। महाभारत के अन्त:साक्ष्य से ही प्रमाणित है कि व्यास कौरवों तथा पाण्डवों के जीवन की सभी प्रमुख घटनाओं से साक्षात् परिचित रहे। कौरवों को अन्याय एव अधर्म का मार्ग त्याग देने तथा युद्ध से विरत करने के लिए व्यास ने अनेक प्रयत्न किए थे। सम्पूर्ण कुरुवंश से नितान्त सुपरिचित व्यास मुनि से बढ़ कर इस भारतीय युद्ध के वर्णन का अधिकारी और कौन हो सकता था? तीन वर्षों के सतत अथक परिश्रम से व्यास ने इस ग्रन्थ की रचना की थी[38] और युद्ध वर्णन आदि के साथ साथ तत्कालीन उल्लेखनीय सभी विषयों का इसमें संग्रह कर दिया था, तभी तो वे सगर्व उद्घोषणा कर सके थे—"हे श्रेष्ठ भरतपुत्र! धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों से सम्बद्ध समस्त सार इस ग्रन्थ में उपनिबद्ध है। जो कुछ (विषय) इसमें प्राप्त नहीं है, वह फिर अन्यत्र भी कहीं नहीं है।"[39]

वर्तमान महाभारत में एक लाख श्लोक प्राप्त होते हैं, इसी कारण इसका नाम 'शतसाहस्री संहिता' है। किन्तु इस ग्रन्थ को यह वृहत्स्वरूप एकबारगी ही प्राप्त नहीं हुआ। प्रारम्भ में इसका स्वरूप संक्षिप्त एवं लघु था। समय समय पर इसमें परिवर्तन एवं परिवर्धन होते रहे और क्रमश: विस्तृत होते होते इसने वर्तमान वृहत्काय रूप धारण कर लिया। पाश्चात्य एवं भारतीय सभी विद्वान् इस ग्रन्थ के विकासक्रम के तीन सोपान स्थिर करते हैं—जय, भारत एवं महाभारत। समय की निरन्तरता में क्रमश: तीन वक्ताओं और तीन ही प्रकार के भिन्न भिन्न श्रोता समूह में यह ग्रन्थ जय से महाभारत तक की अवस्था में पहुँच गया।

1. जय—महाभारत का यह प्रथम मौलिक रूप 'जय' नाम से विख्यात था।[40] व्यास मुनि ने यह कथा अपने शिष्य वैशम्पायन को सुनाई थी। कौरवों पर पाण्डवों की विजय घोषित करने के लिए सम्भवत: इसका नामकरण 'जय' हुआ। इसकी श्लोक संख्या

---

37. महाभारत, आदिपर्व 64/130—विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्मात् व्यास इति स्मृत:
38. महाभारत, आदिपर्व 56/32— त्रिभिर्वर्षै: सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनि:।
    महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्॥
39. महाभारत, आदिपर्व 62/53— धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
    यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥
40. महाभारत, आदिपर्व 62/20— नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
    देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥
    महाभारत आदिपर्व 62/22— जयनामेतिहासोऽयम् श्रोतव्यो विजिगीषुणा।

8800 थी।

2. **भारत**—इस ग्रन्थ के विकासक्रम का यह दूसरा चरण था। अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय (अर्जुन—अभिमन्यु—परीक्षित—जनमेजय) ने जो सर्पयज्ञ किया था, उसमें वैशम्पायन ने इस कथा को सुनाया। इस चरण में भी इस कथा में युद्ध वर्णन ही प्रमुख विषय था तथा इसमें विभिन्न उपाख्यान समाविष्ट नहीं हुए थे।[41] इस समय इस ग्रन्थ की श्लोक संख्या 24000 हो गई।

3. **महाभारत**—सर्पयज्ञ मे लोमहर्षण के पुत्र सौति ने वैशम्पायन से भारत कथा सुनी थी। इन्हीं सौति ने शौनक ऋषि के यज्ञ में ऋषियों के आग्रह करने पर यह कथा सुनाई। इस अवस्था में विभिन्न प्रश्नोत्तरों, समाधानों तथा आख्यानों के जुड़ जाने के कारण इस ग्रन्थ के कलेवर में अत्यधिक वृद्धि हुई। सौति ने 'हरिवंश' नामक एक वृहत् परिशिष्ट भी इसमें जोड़ दिया तथा इसकी श्लोक संख्या एक लाख हो गई। भारवृद्धि तथा विपुल महत्त्ववृद्धि हो जाने कारण अब यह महाभारत कहलाया।[42]

महाभारत का गम्भीर अनुशीलन करने वाले प्रसिद्ध विद्वान श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य तथा अन्य कपिलदेव द्विवेदी प्रभृति विद्वानों ने महाभारत की प्रगति के दो ही चरण माने हैं—भारत तथा महाभारत। ये विद्वान् 'जय' नामक किसी ग्रन्थ को महाभारत के प्रथम चरण के रूप में स्वीकार नहीं करते। इन विद्वानों का सबसे प्रबल तर्क यह है कि 'जय' तथा 'भारत' में कहीं भी अन्तर नहीं किया गया है। आश्लायन गृह्यसूत्र[43] आदि में 'भारत' और 'महाभारत' का तो पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है, किन्तु प्रसंग आने पर भी 'भारत' से पृथक् 'जय' का उल्लेख नहीं किया। जब कि ग्रन्थ की प्रथम मौलिक अवस्था होने के कारण 'जय' का सर्वप्रथम उल्लेख अवश्य मिलना चाहिए था। इसके अतिरिक्त 'जय' नामक अवस्था में इस ग्रन्थ में 8800 श्लोक थे, यह भी किसी भाँति प्रमाणित नहीं होता। विद्वानों ने बिना किसी आधार के ही 8800 श्लोकों का सम्बन्ध 'जय' से जोड़ दिया। वस्तुत: श्लोकों की संख्या (8800) उन कूट पद्यों (गूढार्थ श्लोकों) की है, जो महाभारत में स्थल स्थल पर उपलब्ध होते हैं। महाभारत के लेखन को लेकर व्यास तथा गणेश के पारस्परिक संवाद की जनश्रुति से भी यही संकेत मिलता है कि व्यास ने अपने ग्रन्थ के बीच-बीच में कूट पद्यों की रचना की थी।[44] अत: महाभारत की रचना-प्रगति के वस्तुत: दो ही चरण माने जाने चाहिएँ। प्रथम चरण 'भारत' था, जिसमें ग्रन्थ की श्लोक संख्या 24000 थी और उसमें विभिन्न उपाख्यान नहीं थे। दूसरा चरण

---

41. महाभारत, आदिपर्व 1/78— चतुर्विंशतिसाहस्त्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
 उपाख्यानैर्विना तावत् भारतं प्रोच्यते बुधै:॥

42. महाभारत, आदिपर्व 1/300—महत्त्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते।

43. आश्वलायन गृह्यसूत्र 3/4/4— सुमन्त-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्रभाष्य-भारत-महाभारत-धर्माचार्य:।

44. महाभारत—अष्टौ श्लोकसहस्त्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
 अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥

'महाभारत' हुआ, जिसमें ग्रन्थ की श्लोक संख्या एक लाख हो गई। श्लोकों की यह वृद्धि विभिन्न दीर्घ उपाख्यानों तथा हरिवंश परिशिष्ट जुड़ जाने के कारण हुई।

पाठ सम्प्रदाय एवं संस्करण—महाभारत ग्रन्थ के दो प्रधान पाठ सम्प्रदाय प्राप्त होते हैं—उत्तरी पाठ तथा दक्षिणी पाठ। दोनों पाठ सम्प्रदायों के अध्यायों का क्रम, श्लोकों की संख्या, आख्यानों का सन्निवेश—सभी में पर्याप्त अन्तर है। उत्तरी पाठ सम्प्रदाय के सभी प्रकाशित संस्करणों (कलकत्ता तथा बम्बई) में नीलकण्ठ की टीका भी साथ ही दी गई है। किन्तु दक्षिणी पाठ के प्रकाशित संस्करण (मद्रास) में नीलकण्ठ की सम्पूर्ण टीका नहीं है, केवल उसके उद्धरण मात्र स्थल स्थल पर मिलते हैं। सम्प्रति, महाभारत का सर्वाधिक वैज्ञानिक, आलोचनात्मक एवं प्रामाणिक संस्करण भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन संस्थान, पूना से चौबीस बड़ी जिल्दों में प्रकाशित हुआ है। इसे डॉ. सुकथनकर के प्रमुख सम्पादकत्व में अत्यन्त सुयोग्य एवं विज्ञ सम्पादक मण्डल ने महाभारत की सारी ही उपलब्ध पाण्डुलिपियों तथा प्रकाशित संस्करणों के आधार पर तैयार किया।

ग्रन्थ परिचय—विश्व साहित्य की इस सर्वाधिक पृथुल रचना-महाभारत में अठारह भाग या खण्ड हैं जिन्हें 'पर्व' कहा गया है। उन्नीसवाँ भाग हरिवंश है जो परिशिष्ट रूप में जुड़ा हुआ है। परिमाण अथवा विस्तार की दृष्टि से महाभारत के पर्वों में समरूपता नहीं है। वे एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं। बारहवाँ (शान्ति) पर्व श्लोक संख्या (लगभग चौदह हज़ार) की दृष्टि से सबसे लम्बा है और सत्रहवाँ (महाप्रस्थानिक) पर्व लगभग तीन सौ श्लोकात्मक होकर सबसे छोटा पर्व है। महाभारत की पर्वानुसार कथा संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है—

1. आदि पर्व—इसमें भूमिका, जनमेजय के सर्पयज्ञ, समुद्रमन्थन, आस्तीक कथा, दुष्यन्त-शकुन्तला कथा, कच-देवयानी-शर्मिष्ठा कथा, नलोपाख्यान, रामोपाख्यान, सावित्री सत्यवान् कथा आदि के पश्चात् चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास और कौरवों तथा पाण्डवों के जन्म का वर्णन है। लाक्षागृह, द्रौपदी स्वयंवर तथा विवाह के पश्चात् पाण्डव हस्तिनापुर आ जाते हैं तथा आधा राज्य प्राप्त करके इन्द्रप्रस्थ को राजधानी बनाते हैं।

2. सभा पर्व—इसमें मय नामक असुर द्वारा निर्मित नगर में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ, जरासन्धवध एवं शिशुपालवध तथा कौरवों के द्वारा द्यूतक्रीड़ा के आयोजन का वर्णन है। इसी पर्व में द्रौपदी चीरहरण तथा पाण्डवों का वनवास होता है।

3. वन पर्व—इस पर्व में पाण्डवों का बारह वर्ष का वनवास, अर्जुन के द्वारा शिव की उग्र तपस्या करके पाशुपतास्त्र प्राप्ति, दुर्योधन की घोषयात्रा आदि घटनाएँ वर्णित हैं। महाभारत के अनेक प्रसिद्ध आख्यान इसी पर्व में हैं।

4. विराट पर्व—इस पर्व में पाण्डवों के द्वारा विविध छद्म वेशों में राजा विराट की नगरी में अज्ञातवास, सैरिन्ध्री का रूप बनाकर रहती हुई द्रौपदी पर आसक्त कीचक का वध, दुर्योधन आदि के द्वारा राजा विराट के गोधन का अपहरण, युद्ध, अर्जुनपुत्र अभिमन्यु एवं विराटपुत्री उत्तरा के विवाह आदि का वर्णन है।

5. उद्योग पर्व—इसमें पाण्डवों को आधा राज्य दिलाने के लिए श्रीकृष्ण का दूत

बनकर कौरवों की राजसभा में जाना और दुर्योधन के द्वारा—'सूच्यग्रमपि न दास्यामि विना युद्धेन केशव'— घोषणा करने पर दोनों ही पक्षों में युद्ध की विभिन्न तैयारियों का वर्णन है। शिखण्डी के जन्म की कथा इसी पर्व में है।

6. **भीष्म पर्व**—युद्धारम्भ, शत्रुपक्ष में गुरुजनों तथा स्वजनों को देखकर अर्जुन की विकलता, गीता का उपदेश, सेनापति भीष्म का भयंकर युद्ध और युद्ध के दसवें दिन आहत भीष्म का शरशय्या—शयन आदि प्रमुख घटनाएँ इस पर्व में वर्णित है।

7. **द्रोण पर्व**—इस पर्व में द्रोण का सेनापतित्व, चक्रव्यूह में सात कौरव वीरों के द्वारा अभिमन्यु की हत्या, शोकविह्वल अर्जुन द्वारा जयद्रथ वध, कौरवों द्वारा घटोत्कच वध एवं अन्ततः पुत्रवध की आशंका से त्रस्त, शस्त्रत्यागी द्रोणाचार्य के वध का वर्णन है।

8. **कर्ण पर्व**—कर्ण का सेनापति रूप में अभिषेक, युद्ध और वध इसी पर्व में वर्णित है।

9. **शल्य पर्व**—इस पर्व में शल्य के सेनापतित्त्व, पराक्रम और मरण का वर्णन है। इस पर्व के अन्त में भीम और दुर्योधन में भयंकर गदायुद्ध होता है जिसमें भीम के गदा-प्रहार से जंघा टूट जाने पर दुर्योधन मरणासन्न हो जाता है।

10. **सौप्तिक पर्व**—इस पर्व में कौरवों के प्रमुख वीरों की मृत्यु से व्याकुल तथा चिन्तित दुर्योधन को सान्त्वना देने के लिए द्रोणपुत्र अश्वत्थामा रात्रि में पाण्डव शिविर में घुस कर सोते हुए पाण्डवपुत्रों की हत्या कर देता है और अश्वत्थामा के पराक्रम से प्रसन्न दुर्योधन भी प्राणत्याग करता है।

11. **स्त्री पर्व**—मरे हुए वीरों के लिए शोककुल स्त्रियों का विलाप इस पर्व की मुख्य घटना है।

12. **शान्ति पर्व**—इस पर्व में शरशय्या पर लेटे हुए भीष्मपितामह से युधिष्ठिर राजधर्म तथा मोक्ष सम्बन्धी सैकड़ों प्रश्न पूछते हैं; तथा भीष्म उन सभी प्रश्नों का उचित समाधान करते हुए विभिन्न उपदेश देते हैं। यह महाभारत का सबसे बड़ा पर्व है तथा नैतिक उपदेशों एवं राजधर्म विषयक शिक्षा का अमूल्य भण्डार भी।

13. **अनुशासन पर्व**—इस पर्व में भीष्म युधिष्ठिर को धर्म, दर्शन तथा नीति आदि की अनेक उपदेशात्मक कथाएँ सुनाते हैं और सूर्य के उत्तरायण हो जाने पर अपने क्षत-विक्षत शरीर का त्याग करके स्वर्गारोहण करते हैं।

14. **आश्मेधिक पर्व**—इस पर्व में युधिष्ठिर के राज्याभिषेक तथा अवश्मेध यज्ञ के अनुष्ठान का वर्णन हैं जिसमें स्वर्ण नकुल की कथा एवं वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी आचार तथा वैष्णवधर्म आदि का विवेचन है।

15. **आश्रमवासिक पर्व**—इस पर्व में धृतराष्ट्र, गान्धारी आदि वानप्रस्थ ग्रहण करके वन में चले जाते हैं जहाँ कालान्तर में एक प्रचण्ड दावाग्नि में वे सब नष्ट हो जाते हैं।

16. **मौसल पर्व**—मदोन्मत्त यादवों का पारस्परिक संघर्ष में विनाश तथा व्याध के बाण के आहत होकर कृष्ण की मृत्यु—ये घटनाएँ मुख्यतया इस पर्व में वर्णित हैं।

17. महाप्रस्थानिक पर्व—युद्ध की विभीषिका तथा वंश नाश से व्यथित पाँचों पाण्डव अर्जुन के पौत्र (अभिमन्यु-उत्तरा पुत्र) परीक्षित को राज्यभार सौंप देते हैं और द्रौपदी के साथ हिमालय यात्रा को निकल पड़ते हैं।

18. स्वर्गारोहण पर्व—इस पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है। स्वर्ग में नारद और युधिष्ठिर वार्तालाप होता है और वहीं सभी कौरवों एवं पाण्डवों का परस्पर मिलन भी होता है।

इन अठारह पर्वों के अतिरिक्त 'हरिवंश' को महाभारत का खिलपर्व कहा जाता है। 'भारत' से 'महाभारत' बनने की प्रक्रिया में सौति ने इसको जोड़ा था और यह महाभारत का ही एक अंश है। वस्तुत: इसकी स्थिति एक परिशिष्ट जैसी है। इसमें तीन पर्व तथा सोलह हज़ार से अधिक श्लोक हैं जिनमें यादवों तथा श्रीकृष्ण की कथा विस्तृत रूप में वर्णित है।

1. हरिवंश पर्व—इसी प्रथम पर्व के आधार पर सम्पूर्ण ग्रन्थ का नाम 'हरिवंश' हुआ है। इसमें श्रीकृष्ण (हरि) के वृष्णि अन्धक वंश का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त मरणोपरान्त अन्त्येष्टि एवं श्राद्ध का भी अनेक अध्यायों में वर्णन है। सूर्यवंश के राजाओं के वर्णन में विश्वामित्र वसिष्ठ आख्यान मिलता है और चन्द्रवंशीय राजाओं के वर्णन में पुरुरवा उर्वशी का वैदिक आख्यान भी प्राप्त होता है जिसकी भाषा एवं शैली अत्यन्त प्राचीन हैं। इस पर्व में विष्णु की अनेक स्तुतियाँ हैं जो प्रकारान्तर से कृष्ण के दैवी स्वरूप को स्पष्ट करती हैं।

2. विष्णु पर्व—इस पर्व में कृष्ण की मधुर बाललीलाओं सहित अन्य विविध लीलाओं का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। कृष्ण के विभिन्न विवाहों, पुत्रों, पौत्रादि के वर्णन सहित यह पर्व 'हरिवंश' के तीनों पर्वों में सर्वाधिक विस्तृत तथा कृष्ण चरित की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके 184 वें अध्याय में प्राप्त 'हरिहरात्मक स्तव' बहुत प्रसिद्ध रहा है जिसमें विष्णु एवं शिव की एक ही अभिन्न देव के रूप में स्तुति प्राप्त होती है।

3. भविष्य पर्व—इस पर्व में कलियुग के प्रभाव का विस्तृत वर्णन है। यह सम्पूर्ण पर्व 'विविध वृत्तों का पौराणिक शैली में परस्पर असम्बद्ध संकलन है।' इसमें विष्णु के कतिपय अवतारों के साथ साथ विष्णु एवं शिव की पूजा के समन्वय सम्बन्धी मार्गनिर्देश भी प्राप्त होते हैं। वस्तुत: यह पर्व समय की दृष्टि से सबसे अन्त में निर्मित हुआ जान पड़ता है और 'हरिवंश' का भी परिशिष्ट सा प्रतीत होता है।

महाभारत का खिलाध्याय होने पर भी हरिवंश को पुराण नाम से भी अभिहित किया जाता है। सम्भवत: पुराणों के पञ्च लक्षणों से युक्त होने के कारण ही 'हरिवंश' पुराण कहलाया; अन्यथा महापुराणों अथवा उपपुराणों में कहीं भी इसकी गणना नहीं की जाती। धार्मिक दृष्टि से हरिवंश पुराण का महत्त्व प्रसिद्ध रहा है।

उपाख्यान योजना—महाभारत के विभिन्न पर्वों के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि इसकी कथा-वस्तु कौरवों और पाण्डवों की राज्यलालसा तथा युद्ध से सम्बद्ध है।

किन्तु लक्षश्लोकात्मक इस ग्रन्थ में सहस्रशः प्रासंगिक कथाएँ भी है जो रोचक भी हैं और नीतिप्रद भी। कतिपय कथाएँ काव्यसौन्दर्य से ओतप्रोत है, तो अन्य कथाओं में भारतीय संस्कृति का समुज्ज्वल स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण महाभारत को आख्यान काव्य भी कहा जाता है। इन आख्यानों में प्राचीन एवं तत्कालीन महापुरुषों के साथ साथ विभिन्न देवों के चरित भी वर्णित हुए है। शान्तिपर्व में ग्रन्थकार ने स्वयं ही इन आख्यानों के उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है।[45] डॉ. रामजी उपाध्याय के शब्दों में "महाभारत का आख्यान तत्त्व अपनी गुत्थमगुत्था के लिए प्रसिद्ध है। कौरव पाण्डवों की मूलकथा के आख्यान रूपी महावृक्ष के सहारे असंख्य उपाख्यान लतिकाएँ पसरी हुई हैं। कहीं कहीं इन्हीं लतिकाओं के घने प्रसार के कारण महावृक्ष का अदर्शन सा हो गया है। निस्सन्देह महाभारत आख्यान प्रधान ग्रन्थ है। इन्हीं आख्यानों के माध्यम से महाभारत धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी चर्चाओं का महासागर बना है।.......इन आख्यानों में पारस्परिक व्यवहार, संलाप और सच्चरित्रता का विस्तारपूर्वक विवेचन करना मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। इन्हीं को यथातथ्य विधि से अपनाते हुए एक शिष्ट समाज के निर्माण की सम्भावना महाभारतकार ने देखी है।"[46]

महाभारत के अनेक आख्यान परवर्ती युग के कवियों और लेखकों में अत्यन्त प्रिय हुए। ऐसे कतिपय प्रमुख आख्यान निम्नलिखित हैं—

शकुन्तलोपाख्यान—यह कथा महाभारत के आदिपर्व में प्राप्त होती है। दुष्यन्त एवं शकुन्तला के पारस्परिक प्रणयाकर्षण से युक्त इसी आख्यान में परिवर्तन एवं परिबृंहण करके महाकवि कालिदास ने अभिज्ञाशाकुन्तल जैसे अपूर्व नाटक की रचना की।

मत्स्योपाख्यान—यह महाभारत के वनपर्व में है। प्रलयकाल के समय एक विशाल मत्स्य के द्वारा मनु की रक्षा की जाने की यह कथा मूलतः शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होती है। विश्व के अनेक अन्य देशों के इतिहास में भी इसी प्रकार के जलप्लावन की कथाएँ मिलती है।

रामोपाख्यान—राम रावण युद्ध की यह कथा भी वनपर्व में है। वस्तुतः यह रामोपाख्यान वाल्मीकि रामायण की कथा का संक्षेप मात्र है। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में उपलब्ध गंगावतरण की कथा भी इस आख्यान में वर्णित है।

नलोपाख्यान—राजा नल और विदर्भ राजपुत्री दमयन्ती के प्रेम तथा विवाह की यह कथा भी वन पर्व में है। द्यूत में पराजित होकर वन में रहने वाले युधिष्ठिर को सान्त्वना देने के लिए बृहदश्व ने यह नलोपाख्यान सुनाया था। महाकवि श्रीहर्ष ने इसी उपाख्यान को आधार बना कर नैषधीयचरित महाकाव्य की रचना की।

सावित्री उपाख्यान—सर्वोत्तम आदर्श स्त्रीचरितों में प्रसिद्ध यह कथा भी महाभारत के वनपर्व में ही उपलब्ध होती है। सत्यवान् सावित्री की यह कथा पातिव्रत्य धर्म के

---

45. महाभारत, शान्तिपर्व 258/25—लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम्॥

46. उपाध्याय, रामजी—संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृष्ठ 97-98

निकष रूप में स्थित है जिसमें सावित्री ने स्थिर निश्चय, दृढ़ साहस और संकट में भी अचञ्चल बुद्धि चातुर्य के द्वारा यमराज से अपना पति पुनः प्राप्त कर लिया था।

शिवि उपाख्यान—अपने प्राण देकर भी शरणागत कपोत की रक्षा करने का आदर्श प्रस्तुत करने वाला राजा शिवि का यह उपाख्यान भी वनपर्व में ही है। बौद्ध जातक कथाओं में भी ऐसी कथा प्राप्त होती है।

इन प्रसिद्ध उपाख्यानों के अतिरिक्त भी महाभारत में नहुष, शिशुपाल, ययाति-शर्मिष्ठा-देवयानी, अर्जुन शिव संग्राम, कीचक वध, तिलोत्तमा सृष्टि, ऋष्यश्रृंग प्रसंग, कद्रू-विनता स्पर्धा आदि अनेकानेक रोचक कथाएँ हैं जो परवर्ती संस्कृत साहित्य ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय साहित्य मे निरन्तर प्रतिफलित होती रही हैं।

महाभारत की टीकाएँ—महाभारत का टीका साहित्य[47] भी पर्याप्त विपुल है। डॉ. सुकथनकर ने महाभारत के टीकाकारों के रूप में बाईस नाम गिनाए हैं, जिनमें अर्जुन मिश्र, नीलकण्ठ तथा सर्वज्ञ नारायण आदि की टीकाएँ सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। किन्तु उन बाईस टीकाकारों के अतिरिक्त भी महाभारत की अनेक पूर्ण अथवा आंशिक टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। वस्तुतः 'महाभारत के टीकाकारों की एक दीर्घ परम्परा है जिसके अन्तर्गत बड़े विद्वानों तथा अध्यात्मवेत्ता संन्यासियों की गणना है।' कुछ टीकाकारों का संक्षिप्त निर्देश इस प्रकार है—

देवबोध अथवा देवस्वामी—इनका समय लगभग बारहवीं शती है। इन्होंने महाभारत पर **ज्ञानदीपिका** नामक अत्यन्त प्रामाणिक टीका लिखी, जो कतिपय अंशों में प्रकाशित भी हो चुकी है। परवर्ती टीकाकारों पर इस टीका का पर्याप्त प्रभाव रहा है।

विमलबोध—इनका समय भी बारहवीं शती है। विमलबोध ने महाभारत के अठारहों पर्वों पर **विषमश्लोकी** अथवा **दुर्बोधपदभंजिनी** नामक टीका लिखी, जिसके अंश प्रकाशित हो चुके हैं।

सर्वज्ञ नारायण—इन्हें नारायण सर्वज्ञ अथवा केवल नारायण नाम से भी जाना जाता है। इनका समय बारहवीं से चौदहवीं शती के मध्य माना जाता है। सर्वज्ञ नारायण की **भारतार्थ प्रकाश** नामक टीका अत्यन्त प्रख्यात हुई तथा अन्य टीकाकारों पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा। 'इस टीका के विस्तार का ठीक ठीक पता नहीं चलता है कि वह कितने पर्वों के ऊपर है।'

अर्जुन मिश्र—इनका समय चौदहवीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। महाभारत पर इनकी टीका **भारतार्थदीपिका** अल्पाक्षर होने पर भी अत्यन्त सारगर्भित है। इन्होंने हरिवंश को महाभारत का अविभाज्य अंग मान कर उस पर भी टीका लिखी है।

नीलकण्ठ—इनका समय सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध है। ये महाराष्ट्र के निवासी थे किन्तु काशी आकर इन्होंने महाभारत के अठारहों पर्वों पर **भारत-भाव-भावदीप** नामक प्रख्यात टीका लिखी। यह टीका अनेकशः प्रकाशित हुई है तथा अपने मूल नाम की अपेक्षा **नीलकण्ठी** टीका नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

---

47. द्रष्टव्य—उपाध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास—प्रथम खण्ड —पृष्ठ 66-70

समय—रामायण की भाँति ही महाभारत का रचनाकाल भी अत्यन्त विवादास्पद विषय रहा है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, इस ग्रन्थ के विकास के अनेक चरण रहे। वर्तमान रूप तक पहुँचने में महाभारत को सम्भवत: सैकड़ों वर्ष लगे होंगे। महाभारत के उन सभी विभिन्न रूपों के लिए किसी एक समय का निर्धारण करना असंगत होगा। अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने महाभारत के वर्तमान उपलब्ध लक्षश्लोकात्मक स्वरूप के रचनाकाल का निर्धारण करने का पर्याप्त प्रयत्न किया है। महाभारत के रचनाकाल को जानने में निम्नलिखित तथ्य सहायक होते हैं।

महाभारत के रचनाकाल की अपर सीमा को निश्चित करने की दृष्टि से हमें ईस्वी शताब्दियों में क्रमश: पीछे की ओर लौटना होगा। क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शती ईस्वी) ने भारतमञ्जरी नामक अपने ग्रन्थ में महाभारत की कथा को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। क्षेमेन्द्र की यह कृति वर्तमान उपलब्ध महाभारत से अधिक भिन्न नहीं है। शंकराचार्य (आठवीं शती ईस्वी) ने महाभारत को प्राय: एक स्मृति (धर्मशास्त्र) के रूप में उदधृत किया और स्पष्ट कहा कि वेदाध्ययन की अनधिकारी जातियों को धार्मिक शिक्षा देना ही महाभारत का उद्देश्य है। प्रसिद्ध दार्शनिक कुमारिल भट्ट (नवीं शती ईस्वी का प्रारम्भ) ने महाभारत को एक विशाल स्मृतिग्रन्थ का नाम दिया, जिसका लक्ष्य चारों वर्णों को उनके कर्तव्य की शिक्षा देना था। कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थ तन्त्रवार्तिक में महाभारत के प्राय: सभी पर्वों से उद्धरण दिए हैं। सुबन्धु तथा बाण (7वीं शती ईस्वी) ने महाभारत का अनेकश: उल्लेख किया है। इस समय तक भारत के बाहर भी महाभारत का पर्याप्त प्रचार एवं प्रसार हो चुका था। हरिवंश सहित सम्पूर्ण महाभारत छठी शती में बाली तथा जावा द्वीपों में विद्यमान थी। कम्बोडिया में प्राप्त 600 ईस्वी के एक शिलालेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वहाँ भी महाभारत अत्यन्त लोकप्रिय थी और कम्बोडिया के अनेक मन्दिरों में प्रतिदिन महाभारत का कथावाचन करने के प्रबन्ध किए गए थे। गुप्तकालीन एक शिलालेख (442 ई.) में महाभारत का उल्लेख 'शत साहस्री संहिता' के रूप में हुआ है। राजा कनिष्क (78 ईस्वी) के सभापण्डित प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक एवं कवि अश्वघोष ने अपने 'वज्रसूची उपनिषद्' में महाभारत के शान्तिपर्व तथा हरिवंश से उद्धरण दिए हैं। हरिवंश से श्लोक उदधृत करने का अर्थ यही निकलता है कि अश्वघोष के समय तक महाभारत का लक्षश्लोकात्मक स्वरूप स्थिर हो चुका था। दक्षिण के पाण्ड्य देश में प्रथम शती ईस्वी में डायो क्रायसोस्टोम नामक एक यूनानी लेखक आया था। डॉ. वेबर ने अपने ग्रन्थ—'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' में इस यूनानी लेखक का उल्लेख किया है। इस यूनानी लेखक ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि 'भारतवर्ष में एक लाख श्लोकों वाला 'इलियड' प्रचलित है।' सभी विद्वान् इस सम्बन्ध में एकमत है कि यूनानी लेखक के 'इलियड' का अभिप्राय महाभारत से ही है। इस प्रकार वर्तमान उपलब्ध एक लाख श्लोक वाले महाभारत की अपर सीमा प्रथम शती ईस्वी ठहरती है।

महाभारत के समय की पूर्व सीमा की दृष्टि से यदि देखा जाए तो वैदिक साहित्य में महाभारत के पात्रों या घटनाओं का संकेत अवश्य प्राप्त होता है। किन्तु महाभारत ग्रन्थ का

उल्लेख नहीं मिलता। ग्रन्थ की दृष्टि से आश्वलायन गृह्यसूत्र में (3/4/4) भारत तथा महाभारत दोनों का अलग अलग स्पष्ट उल्लेख है। महाभारत के आदिपर्व (78/10) में वर्णित ययाति की कथा का एक श्लोक बौधायन धर्मसूत्र (2/2/26) में यथावत् प्राप्त होता है। बौधायन गृह्यसूत्र (2/22/9) मे गीता का एक श्लोक उदधृत किया गया है।[48] इन गृह्यसूत्रों का समय 400 ईसा पूर्व माना जाता है। महाकवि भास (450 ईसा पूर्व) के अनेक रूपकों—उरुभंग, दूतवाक्य, पञ्चरात्र, दूतघटोत्कच, कर्णभार तथा मध्यमव्यायोग—की कथा महाभारत से ग्रहण की गई है। पाणिनि (450 ईसा पूर्व) ने महाभारत के अनेक पात्रों—युधिष्ठिर, भीम, विदुर आदि—के नामों की व्युत्पत्ति सिद्ध की है।[49] महाभारत में विष्णु के जो दस अवतार गिनाए गए हैं, उनमें बुद्ध का नाम प्राप्त नहीं होता।[50]

उपर्युक्त समस्त साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर वैदिक युग में महाभारत का मूल कथानक प्रचलित था। ईसा पूर्व पाँचवी शती में भी यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय था किन्तु इसका एक लाख श्लोक वाला स्वरूप तब तक स्थिर नहीं हुआ था। अनेक परिवर्तनों और परिवर्धनों के साथ साथ महाभारत में श्लोकों की संख्या बढ़ती रही और उसका वर्तमान उपलब्ध लक्षश्लोकात्मक स्वरूप प्रथम शती ईस्वी तक स्थिर हो गया।

महाभारत की काव्यकला—साधारणत: महाभारत को इतिहास के रूप में मान्यता प्राप्त हुई है।[51] किन्तु स्वरूप की दृष्टि से यह एक महाकाव्य भी है। स्वयं महाभारत में ही इसको पुराण, संहिता, आख्यान तथा इतिहास के साथ-साथ काव्य भी कहा गया है।[52] महाभारत के आदिपर्व में ही इस ग्रन्थ में अलंकारों, शुभ भाषा, उपयुक्त छन्दों आदि के विधान का कथन किया गया है,[53] जो महाभारत की काव्यकोटि को स्पष्ट करता है। स्वयं वेदव्यास एवं ब्रह्मा ने महाभारत को काव्य संज्ञा से अभिहित किया है।[54] अत: महाभारत के काव्य स्वरूप का किंचित दिग्दर्शन प्रसंगोपात्त ही है। काव्यस्वरूप का अनुशीलन करते समय हमें यह तथ्य निरन्तर ध्यान में रखना होगा कि महाभारत एक कवि की रचना नहीं है और सहस्राब्दियों तक यह निरन्तर परिवर्धित होता रहा है।

---

48. श्रीमद्भगवद्गीता 9/26—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
    तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन:।
49. अष्टाध्यायी—3/2/162; 6/2/38; 8/3/95
50. महाभारत—शान्तिपर्व 261/17
51. महाभारत—आदिपर्व 1/266
52. महाभारत—आदिपर्व 1/17,19; 1/61/72; 2/235
53. महाभारत—आदिपर्व 1/28— अलंकृतं शुभै: शब्दै: समयैर्दिव्यमानुषै:।
    छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्॥
54. महाभारत—आदिपर्व- 1/61,72
    उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
    कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम॥
    ...त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात्काव्यं भविष्येति॥

चरित्रचित्रण—महाभारत अत्यन्त वृहत्काय काव्य है और पात्रों की संख्या भी तदनुरूप बहुत अधिक है। प्रासंगिक आख्यानों को छोड़ कर यदि केवल मुख्य कथा के पात्रों को ही देखे, तो भी उनका संख्या बहुत अधिक है। फिर भी सभी पात्रों का चरित्र अत्यन्त सहज एवं प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। महाभारत के सभी पात्र नितान्त मानव हैं। योगिराज कृष्ण को यदि छोड़ दे तो अन्य पात्रों में सामान्य मनुष्य के सभी सुख, दुख, राग, द्वेष, घृणा, दम्भ, अभिमान, कपट, चञ्चलता, विवेक, सहनशीलता, साहस, उदारता आदि भाव अत्यन्त सहजतया प्रस्फुटित हुए हैं।

एक ओर राजा धृतराष्ट्र हैं जो जन्मान्ध तो थे ही, पुत्रप्रेम में अपने विवेक चक्षु भी खो बैठे; बाह्य रूप से पाण्डवों के प्रति स्नेह प्रदर्शित करते हुए भी हार्दिक रूप में निरन्तर उनकी मृत्यु की योजनाओं में सहभागी बनते रहे। धृतराष्ट्र का यह चरित्र मन में वितृष्णा भले ही उत्पन्न करे, किन्तु एक अन्धे वृद्ध पिता की विवश मानसिकता को भी भली प्रकार उजागर अवश्य कर देता है। अपनी इस चरित्रगत दुर्बलता को स्वयं धृतराष्ट्र ने स्वीकारा है—

सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान् प्रति मे सदा।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते॥ (महाभारत–उद्योगपर्व 40/29)

दूसरी ओर कुन्ती का सहज गम्भीर एवं औदार्ययुक्त चरित्र है जिसने आजीवन मानसिक कष्ट ही सहा। पति की मृत्यु होने पर जो कुन्ती पुत्रों की हितकामना से सती नहीं हुई, वही कुन्ती एक विषम परिस्थिति में ब्राह्मणपुत्र की रक्षा के लिए अपने पुत्र भीम को राक्षस के पास भेज देती है। पुत्रप्रेम के विषय में धृतराष्ट्र एवं कुन्ती के ये विरोधी चरित्र स्वयं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक अन्य तेजस्वी नारी चरित्र द्रौपदी का है जिसकी मनस्विता प्रत्येक संकट में द्विगुणित होती रही। भारतीय मर्यादा में स्त्री का एक ही पति होता है, किन्तु गुरुजनों की आज्ञा से पञ्चपतिका होकर भी द्रौपदी ने अपनी मनस्विता, तेजस्विता एवं श्रेष्ठ आचरण से परम पतिव्रता पद प्राप्त किया।

नाम से युधिष्ठिर होकर भी युद्धभीरु, किन्तु कामक्रोधादि शत्रुओं को जीत लेने वाले अजातशत्रु ज्येष्ठ पाण्डव (युधिष्ठिर); साहस तथा औदार्य की प्रतिमूर्ति एवं श्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन; अतुलित बलशाली होने पर भी सरल स्वभाव भीम; कपट एवं दुष्कर्म में ही प्रवृत्त दुर्योधन; परम अस्त्रकौशल सम्पन्न एवं भयंकर प्रतिज्ञा का निर्वाह करने वाले इच्छामृत्यु भीष्म; परमदानी एवं महारथी कर्ण—महाभारत के सभी पात्रों का चरित्र अत्यन्त कुशलता पूर्वक उपन्यस्त हुआ है।

रस—महाभारत जितना वृहत्काय ग्रन्थ है, उसमें विभिन्न स्थलों पर सभी विभिन्न रसों का निर्वाह प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। किन्तु अन्य रसों की अपेक्षा इस काव्य में वीर, अद्भुत एवं शान्त रस का वैशिष्ट्य अधिक दृष्टिगोचर होता है। कौरवों एवं पाण्डवों के पारस्परिक कलह एवं युद्ध की घटना मुख्य होने के कारण अनेक पर्वों में वीर रस का चरम अतिरेक द्रष्टव्य है जिसमें विभिन्न वीरों के रोमाञ्चक युद्ध ने अद्भुत रस की अद्भुत सृष्टि की है। शृंगार, हास्य आदि भी यथास्थान प्राप्त होते ही हैं। किन्तु सम्पूर्ण दृष्टि से

देखने पर महाभारत का प्रतिपाद्य रस प्रधानतया शान्त ही ज्ञात होता है। आनन्दवर्धन ने अपनी गीता की व्याख्या में यही प्रतिपादित किया है कि 'द्वैपायन मुनि ने यह जो लक्षश्लोकात्मक ग्रन्थ रचा, उसका साध्य मोक्ष है तथा ग्रन्थ के विभिन्न धर्म कथन उसी मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं।'[55] महाभारत एक विशाल वृक्ष है जिसका महनीय फल शान्तिपर्व है। सम्पूर्ण महाभारत में प्रकारान्तर से पुनःपुनः यही उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को सांसारिक भोगविलास का परित्याग करके स्वकर्म में ही संलग्न रहना चाहिये। 'इस लोक का कामसुख तथा परलोक का दिव्यसुख—यह सब सुख सम्मिलित रूप में भी तृष्णा के क्षय से उत्पन्न सुख की सोलहवी कला की भी समता नहीं कर सकतें'—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

अतः साधन रूप धर्म एवं साध्य रूप मोक्ष के प्रतिपादन के कारण महाभारत का अंगी रस शान्त माना जाना ही उचित है।[56]

प्रकृति वर्णन—परवर्ती काव्य शास्त्रकारों ने महाकाव्य में प्रकृति वर्णन किए जाने का विधान किया था। कुछ कवियों ने अपने महाकाव्यों में प्रकृति वर्णन को इतना विस्तृत कर दिया कि उस विस्तार के कारण कथातत्त्व एवं पात्र के चरित्र भी कहीं कहीं लुप्तप्राय हो गए। महाभारत में द्वीप, समुद्र, वन, उपवन, आश्रम, नगर, पर्वत आदि के वर्णन यथास्थान प्राप्त होते है[57] किन्तु कहीं भी इन वर्णनों का प्रपञ्चात्मक विस्तार नहीं किया गया है। ये सारे प्रकृति चित्रण कथा के सहज प्रवाह में सम्मिलित होकर मानों मूल कथा के ही अंग बन गए है।

कलापक्ष—महाभारत के कलापक्ष का एक अद्वितीय गुण है—इस ग्रन्थ की सुबोध भाषा। काव्य का प्रसाद गुण महाभारत की भाषा में चरितार्थ हो उठा है क्योंकि पढ़ते ही अर्थ सहजता से चित्त में प्रविष्ट हो जाता है। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी के शब्दों में "महाभारत एक प्रौढ़ आकर ग्रन्थ है। इसकी भाषा और शैली में रामायण सा परिष्कार अवश्य नहीं है, परन्तु इसमें उत्तुंग-तरंग-तरंगिता तरंगिणी के तुल्य वह प्रवाह, प्रसाद और प्रवेग है, जो

---

55. द्वैपायनेन मुनिना यदिदं व्यधायि, शास्त्रं सहस्रशतसम्मितमत्र मोक्षः।
प्रधान्यतः फलतया प्रथितस्तदन्यधर्मादि तस्य परिपोषयितुं प्रणीतम्॥

56. आनन्दवर्धन— ध्वन्यालोक - चतुर्थ उद्योत — महाभारतेऽपि.....महामुनिना वैराग्यजननं तात्पर्य प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन।

57. महाभारत—आदिपर्व 146/25 सपक्षमिव नृत्यन्तं पार्श्वलग्नैः पयोधरैः।
मुक्ताहारैरिव चित्तं प्रच्युतैः प्रस्रवणोदकैः॥

महाभारत—वनपर्व 107/8,9— मयूरैः शतपत्रैश्च कोकिलैर्जीवजीवकैः।
चकोरैरसितापांगैस्तथा पुत्रप्रियैरपि॥
जलस्थानेषु रम्येषु पद्मिनीभिश्च संकुलम्।
सारसानां च मधुरैर्व्याहृतैः समलंकृतम्॥

अपनी प्रबल प्रवाहधारा में बहाकर अहृदय को सहृदय, नीरस को सरस, अबोध को सुबोध, अज्ञ को विज्ञ, अकुशल को कुशल, अनीतिज्ञ को नीतिज्ञ, अव्यवहार पटु को व्यवहार पटु, पापात्मा को पुण्यात्मा और अन्ततः नर को नारायण बना देता है।''[58]

प्रकृति वर्णन के सदृश ही महाभारत में अलंकार भी शैली के प्रवाह में स्वतः ही प्रयुक्त होते गए हैं। उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, अनुप्रास आदि अलंकारों का प्रयोग कहीं भी कृत्रिम नहीं दिखाई देता। अनुप्रास का सहज प्रयोग देखिए

केशपक्षं वरारोहा गृह्य वामेन पाणिना।
पद्माक्षी पुण्डरीकाक्षमुपेत्य गजगामिनी।
अश्रुपूर्णेक्षणा कृष्णा कृष्णं वचनमब्रवीत्॥

प्रसिद्ध धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र होने के कारण महाभारत में अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रचुर प्रयोग हुआ है। महाभारत में प्रयुक्त अनेक कथन भारतवर्ष में सूक्तियों की भाँति प्रचलित रहे है यथा—

वृतं यत्नेन संरक्षेत् वित्तमेति याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥ (उद्योग पर्व 36/30)
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ (उद्योग पर्व 37/15)
मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्। (उद्योग पर्व 133/15)
धनात् कुलं प्रभवति धनाद् धर्मः प्रवर्धते।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम॥ (शान्तिपर्व 8/22)
न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च॥ (शान्ति पर्व 57/17)

महाभारत का महत्त्व—सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में महाभारत का वैशिष्ट्य स्वयंमेव उद्भासित है। भारतीय संस्कृति , सभ्यता तथा हिन्दूधर्म का जैसा विविध तथा पूर्ण चित्रण महाभारत में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं हो सका। चारों वर्णों, चारों आश्रमों, राजाओं, गृहस्थों, यतियों, मुमुक्षुओं—सभी के कर्तव्यों, नीतियों तथा आचारों का समुचित दिग्दर्शक होने के कारण धर्मशास्त्र के रूप में महाभारत की सर्वोच्च प्रतिष्ठा हुई। आद्य शंकराचार्य ने स्पष्ट व्यवस्था दी कि 'जो (स्त्रियाँ तथा शूद्र) वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं हैं, उनकी धर्मशिक्षा के लिए स्मृति के स्थान पर महाभारत है।' धर्म भारतीय संस्कृति का प्राण तत्त्व है। धर्म पालन से ही मनुष्य, समाज तथा देश की उन्नति होती है और अधर्माचरण से ही सर्वात्मना नाश होता है। सम्पूर्ण महाभारत में धर्म की सर्वश्रेष्ठता का यही सन्देश मुखरित हुआ है।'[59] मानव जीवन का कोई भी पक्ष अथवा क्षेत्र ऐसा नहीं बचा है जिसके सुन्दर समन्वयन के लिए महाभारत में कोई न कोई शिक्षा अथवा उपदेश उपलब्ध न हो जाता हो।

58. द्विवेदी, कपिलदेव—संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास—पष्ठ 123
59. महाभारत—ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न कश्चित् श्रृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

महाभारत का स्वरूप एक ऐसे विश्वकोश का सा है, जिसमें प्राचीन भारत की ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक—सभी प्रकार की अमूल्य निधि सुरक्षित है। तत्कालीन युग तक ज्ञान की जो धरोहर भारतवर्ष में सञ्चित होती रही थी और नितान्त संरक्षण के योग्य थी, वह सारी ही ज्ञानराशि इस महाभारत में एकत्रित हो गई है। स्वयं महाभारत के आदिपर्व में ही इस ग्रन्थ के विश्वकोशात्मक स्वरूप का कथन किया गया है—

ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया।
सांगोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया॥
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत्।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधिं कालसंज्ञितम्॥
जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयः।
विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम्॥
चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः।
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः॥
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह।
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च॥
न्यायशिक्षाचिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा।
हेतुनैव समं जन्म दिव्यामनुषसंज्ञितम्॥
तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्तनम्।
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च॥
पुराणं चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम्।
वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः॥
यश्चापि सवर्गं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम्।

—(आदिपर्व 1/62-70)

विषयों की दीर्घ सूची से स्वतः स्पष्ट होता है कि महाभारत में कितना विविध एवं गम्भीर ज्ञान सन्निहित है। भारतीयों के लिए तो यह धर्मग्रन्थ है ही, पाश्चात्य जन भी इस ग्रन्थ के स्वरूप वैशिष्ट्य पर मुग्ध हुए बिना न रह सके।[60]

महाभारत के भीष्म पर्व में प्राप्त सुप्रसिद्ध भगवद्गीता इस ग्रन्थ का एक ऐसा अंश है, जो स्वतन्त्र धर्मग्रन्थ तथा गम्भीर दर्शनग्रन्थ के रूप में सर्वत्र समादृत है। यह गीता महामुनि

---

60. विण्टरनित्स-हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग-1—पृष्ठ 321.
We find, then, in this the most remarkable of all literary produc-tions, side by side and intermingled, warlike heroic songs with highly coloured descriptions of bloody battle scenes; pions priestly poefry, with dissertations, which are often tedious enough, upon philosophy, religion and law; and mild ascetic poetry full of edifying wisdom and full love of overflowing towards man and beast.

व्यास के निष्कलंक वचनकमल की सर्वव्यापि उत्कट सुगन्ध है—

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटम्।

आर्यधर्म का विश्वासी कोई भी व्यक्ति गीता की प्रमाणिकता पर रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं करता। युद्ध से पूर्व उभय पक्ष की सेनाओं के मध्य व्याकुल एवं हतज्ञान अर्जुन को उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण ने अठारह अध्यायों में जीवात्मा, परमात्मा, प्रकृतिस्वरूप, मनुष्य के कर्तव्य, भौतिक एवं आत्मिक उन्नति, ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग का विस्तृत विवेचन किया। गीता की विशद प्रतिपादन शैली एवं गूढ़ दर्शन के सरल उद्घाटन पर सम्पूर्ण विद्वद्समाज मुग्ध रहा है। इसीलिए 'प्रस्थानत्रयी' में **गीता** को **उपनिषदों** और **ब्रह्मसूत्र** के साथ स्थान दिया गया। अपने अपने युग के पाँच प्रसिद्ध दार्शनिकों—शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभ—ने गीता पर स्वतन्त्र भाष्य लिखे और अपनी व्याख्याओं के आधार पर क्रमशः अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत तथा शुद्धाद्वैत दर्शन सम्प्रदायों की स्थापना की। आधुनिक युग में भी तिलक, विवेकानन्द, अरविन्द, विनोबा भावे, डॉ. राधाकृष्णन् प्रभृति विद्वानों ने गीता के दर्शन पर गम्भीर चिन्तन मनन किया और आधुनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अहिंसा, साम्यवाद, समाजवाद आदि अनेक सिद्धान्तों का गीता के आधार पर प्रतिपादन किया। भारतीय परम्परा पुनःपुनः गीता का अध्ययन करने का इसीलिए बल देती है। गीता के सम्मुख अन्य समस्त शास्त्र व्यर्थ हैं। जलस्नान से शरीर का बाह्य मल भले ही नष्ट हो जाता हो किन्तु गीता जल में स्नान कर लेने पर यह संसार रूपी मल ही नष्ट हो जाता है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिसृता।।
मलनिर्मोचनं स्नानं संसारमलनाशनम्।।

महाभारत का शान्तिपर्व एवं अनुशासन पर्व नीति शास्त्र एवं कर्तव्य शिक्षा के अनूठे उपदेशों से भरा पड़ा है। हिन्दूधर्म के पंचरत्न रूप ग्रन्थ—**गजेन्द्र मोक्ष, भीष्मराजस्तव, विष्णुसहस्रनाम, गीता** तथा **अनुगीता**—इसी महाभारत के अंशरूप है।

वाल्मीकि रामायण की भाँति ही महाभारत का प्रचार एवं प्रसार भारतवर्ष की सीमाओं का भी अतिक्रमण कर गया। भारतीय विद्वान्, यात्री, संन्यासी तथा व्यापारी जिन जिन देशों में जाते रहे, वहीं महाभारत की कथा का विस्तार होता गया। अतः भारतीय संस्कृति के प्रचार की दृष्टि से भी महाभारत का बहुत महत्त्व है। ईसा की प्रारम्भिक शतियों में ही कम्बोडिया, बाली, जावा, सुमात्रा, स्याम आदि देशों तक महाभारत के माध्यम से भारतीय संस्कृति का विस्तार हो चुका था।

डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने महाभारत के महत्त्व का अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया है। 'महाभारत एक नहीं, अनेक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें विभिन्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण, राष्ट्रीय भावना का उदय, आसुरी प्रवृत्तियों के दमन का प्रयास, भौगोलिक अनेकता में एकता, जीवन दर्शन की व्यावहारिक दृष्टि से व्याख्या, अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता, महिलाओं में अबलात्व के परित्याग की प्रवृत्ति, राजनीति-कूटनीति-छद्मनीति

और अनीति का व्यावहारिक प्रदर्शन, राजधर्म का सर्वांगीण निरूपण, आख्यान साहित्य का अक्षय कोष, नीतिशास्त्र की बहुमूल्य निधि एवं चतुर्वर्ग की सभी समस्याओं का समाधान है।.....इसमें विरूपता में एकरूपता, अनेकता में एकता, विश्रृंखलता में समन्वय, व्यवहार में आदर्श, अशान्ति में शान्ति, प्रेय में श्रेय और धर्मार्थ में मोक्ष का समन्वय है।''

उपजीव्य काव्य के रूप में भी महाभारत बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसकी रोचकता तथा कथावस्तु की घात प्रतिघातपूर्ण जटिलता ने परवर्ती कवियों तथा लेखकों को भी बहुत अधिक प्रभावित किया। महाभारत के कथा ग्रहण करने वाले काव्यग्रन्थों की विस्तृत सूची है। स्वयं महाभारतकार ने अपने ग्रन्थ की उपजीव्यता का उद्घोष करते हुए भविष्यकथन किया था कि 'सभी कवियों के द्वारा महाभारत का आश्रयण वैसे ही किया जाएगा, जैसे उन्नति कामना करने वाले सेवक कुलीन स्वामी का आश्रय लेते हैं'—

इदं सर्वैः कविवरैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥ (आदिपर्व 2/390)

व्यास की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हुई। महाभारत के कथांशों को लेकर रचे गए कुछ प्रमुख काव्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

महाकाव्य—किरातार्जुनीय (भारवि); शिशुपालवध (माघ); नैषधीयचरित (श्रीहर्ष); युधिष्ठिर विजय (वासुदेव); सहृदयानन्द (कृष्णानन्द); बालभारत (अगस्त्य); नलोदय (वासुदेव); नलाभ्युदय (वामनभट्ट बाण); भारतसंग्रह (रामवर्मा) आदि।

नाटक—पंचरात्र, दूतवाक्य, मध्य व्यायोग, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभंग (भास); अभिज्ञानशाकुन्तल (कालिदास); वेणीसंहार (भट्टनारायण); सुभद्राधनञ्जय (कुलशेखर वर्मन्) बालभारत (राजशेखर); नैषधानन्द (क्षेमीश्वर); चित्रभारत (क्षेमेन्द्र); धनञ्जयविजय (कंचनाचार्य); नलविलास एवं निर्भयभीम (रामचन्द्र); हरकेलि नाटक (विग्रहराजदेव); किरातार्जुनीय (वत्सराज); ययातिचरित (रुद्रदेव); सौगन्धिकाहरण (विश्वनाथ) आदि।

चम्पूकाव्य—नलचम्पू (त्रिविक्रमभट्ट); भारतचम्पू (अनन्तभट्ट); रुक्मिणीपरिणय-चम्पू (अहोबलसूरि); द्रौपदी परिणय चम्पू (चक्रकवि); भारतचम्पू (राजचूडामणि दीक्षित); पांचाली स्वयंवर चम्पू (नारायण भट्ट) आदि।

वाल्मीकि के उपरान्त व्यास ही श्रेष्ठ कवि हुए। युद्ध की घटना को केन्द्र बना कर व्यास ने अपने ग्रन्थ की कथावस्तु का आलजाल प्रपञ्चित किया था, किन्तु उनका वास्तविक अभिप्राय इस नाना प्रपञ्चात्मक संसार की निःसारता प्रदर्शित करना ही था, जिससे मनुष्य में वैराग्य प्रवृत्ति जागृत हो और वह मोक्ष के लिए प्रयत्नशील हो। इस लौकिक जीवन के विविध भागों को निर्लिप्त भाव से भोगता हुआ प्रत्येक प्राणी उस चरम सत्यरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहे—यही महाभारत की अमूल्य शिक्षा है। यही कारण है कि महाभारत की कथा को सुन कर अन्य कोई भी कथा उसी प्रकार अच्छी नहीं लगती जैसे कोयल की मधुर तान के बाद कौए की कर्कशा वाणी अच्छी नहीं लगती—

श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रुक्षा ध्वांक्षस्य वागिव॥ (आदि पर्व 2/84)

ऋषि व्यास ने महाभारत की व्यापकता के सम्बन्ध में जो उद्घोषणा की थी—**यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्**—वह उन्होंने अक्षरशः पूरी कर दिखाई। व्यास ने आगामी अनन्त समय के लिए एक ऐसा उपजीव्य ग्रन्थ प्रस्तुत कर दिया, जिसके कथांश या चरित्र या नीति वर्णन या किसी भी एक रूप को ग्रहण करके असंख्य कवि सरस्वती के कोष को समृद्ध कर सकते हैं। यही कारण है कि व्यास को प्रणाम करके अपनी वाणी को पवित्र कर सकने की कामना प्रत्येक कवि में बनी रही—

नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कविवेधसे।
चक्रे पुण्यसरस्वत्या यो वर्ष मिव भारतम्॥

रामायण और महाभारत की तुलनात्मक समीक्षा

रामायण और महाभारत—ये दोनों आर्ष काव्य भारतवर्ष के ऐसे पौराणिक ग्रन्थ हैं, जिनका इस देश के विविध जीवन तथा विचारों पर एवं साहित्य की विभिन्न विधाओं पर अतुलनीय प्रभाव पड़ा है। दोनों ही काव्यों के वीर पुरुष एवं नारियाँ भारतीय जनमानस में ऐतिहासिक व्यक्तित्त्व के रूप में स्थित हैं। राम एवं कृष्ण की भक्ति ने भारतभूमि के विस्तृत एवं सुदूर प्रान्तों तक बसे हुए करोड़ों नर नारियों को धर्म एव संस्कृति की एकता के दृढ़ सूत्र में आबद्ध कर दिया है। हिन्दी को सुप्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में "भारतीय एकता की सेवा भी सबसे अधिक इन्हीं दो महाकाव्यों ने की। लंका, पंपापुर और अयोध्या, देश के इन तीन भू भागों की कथाओं को एक ही राष्ट्रीय महाकाव्य में गूँथकर वाल्मीकि ने भारत की संस्कृतिक एकता ही नहीं, भौगोलिक एकता को भी अक्षय तत्त्व बना दिया। इसी प्रकार महाभारत ने भी देश के विभिन्न भागों में फैली हुई विचारधाराओं एवं संस्कृतियों को एक स्थान पर लाकर इस प्रकार गुम्फित कर दिया कि महाभारत सारे देश की जनता का कण्ठहार हो गया।"[61] "वाल्मीकि और व्यास भारतीय साहित्याकाश के दो प्रोज्वल नक्षत्र, साहित्यसाधना के इस अनन्त राजमार्ग के दो अविश्रान्त पथिक, विभिन्न युगों की दो प्रकाशमान् प्रतिभाएँ और सृष्टि के साथ सदाशय-रूप में रात तथा दिन की तरह चलने वाली दो अक्षय विभूतियाँ हैं।"[62] तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर इन दोनों रचनाकारों के ग्रन्थों में अनेक समानताएँ तथा विभिन्न विषमताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इन सभी को विभिन्न दृष्टियों से क्रमबद्ध करके भली प्रकार समझा जा सकता है।

समानता की दृष्टि से डॉ. हापकिन्स ने दोनों ग्रन्थों के अन्तर्गत अनेक प्रसंगों में एकरूपता की खोज कर ली थी। रामायण एवं महाभरात में प्राप्त कुछ समानताएँ इस प्रकार है—

1. दोनों ग्रन्थों की नायिकाओं के जन्म में अलौकिक तत्त्व विद्यमान हैं। सीता का जन्म पृथिवी से हुआ, तो द्रौपदी का जन्म यज्ञकुण्ड से वर्णित है।

2. दोनों का विवाह स्वयंवर रीति से हुआ, किन्तु दोनों ही वीर्यशुल्का बनीं। उनके

---

61. दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय—पृष्ठ 161-162
62. गैरोला, वाचस्पति—संस्कृत का इतिहास—पृष्ठ 269

पिताओं ने जिस विशिष्ट पराक्रम को विवाह की शर्त के रूप में घोषित किया था, उसे पूरा कर देने वाले व्यक्ति से ही उन्हें विवाह करना था।

3. रामायण एवं महाभारत दोनों ग्रन्थों में नायकों को वनवास होता है, यद्यपि वनवास के कारणों में मूलभूत अन्तर है।

4. सीता और द्रौपदी—दोनों का वन में अपहरण होता है।

5. दोनों ग्रन्थों में युद्ध वर्णन तथा उपमाओं आदि में पर्याप्त साम्य हैं।

6. दोनों ग्रन्थ दुखान्त हैं क्योंकि दोनों के ही नायक संसार एवं जीवन की विषमताओं को भोग कर पर्याप्त आयु में स्वयं ही मरण-वरण के लिए तत्पर हो जाते हैं।

7. दोनों काव्यों के रचयिता अपने अपने काव्य के पात्रों के समसामयिक हैं।

8. दोनों ग्रन्थों में इस अटल सत्य को प्रमाणित किया गया है कि कुछ समय के लिए भले ही पाप का उत्कर्ष दीख पड़े, किन्तु अन्तिम विजय पुण्य की ही होती है।

9. दोनों ही ग्रन्थ भारतीय संस्कृति एवं हिन्दूधर्म के महनीय हीरक मणि हैं।

10. दोनों ही ग्रन्थ परवर्ती भारतीय साहित्य के लिए श्रेष्ठ उपजीव्य ग्रन्थ सिद्ध हुए।

11. दोनों ग्रन्थों ने सहस्राधिक वर्षों से भारत एवं भारत के बाहर भी अनेक देशों के जनजीवन को प्रभावित किया और अद्यावधि रामायण और महाभारत का यह प्रभाव अक्षुण्ण बना हुआ है।

किन्तु इन कतिपय समानताओं की अपेक्षा दोनों ग्रन्थों में **परस्पर वैषम्य** भी बहुत अधिक दिखाई पड़ता है।

1. परिमाण—रामायण में चौबीस हजार श्लोक हैं किन्तु महाभारत में एक लाख श्लोक हैं। अर्थात् विस्तार तथा परिणाम की दृष्टि से रामायण महाभारत का चतुर्थांश है। ये दोनों ही ग्रन्थ अपने मूल रचयिता के अनन्तर विकसित होते होते वर्तमान स्वरूप तक पहुँचे हैं। महाभारत में इस विकास को उसका अन्तः साक्ष्य ही प्रमाणित कर देता है, किन्तु रामायण में ऐसा कोई ऐसा इंगित भी प्राप्त नहीं होता।

2. रचयिता—रामायण एक ही कवि वाल्मीकि की रचना है जो सरल किन्तु परिष्कृत काव्यशैली के आद्यप्रणेता थे। किन्तु महाभारत व्यास मुनि के नाम से प्रसिद्ध होकर भी अनेक रचयिताओं के परोक्ष तथा अपरोक्ष श्रम का फल है। अनेक शताब्दियों तक ब्राह्मणों, पुरोहितों, साधु-संन्यासियों, भिक्षुकों, यायावरों, गायकों आदि के साहित्यिक प्रयास से पुष्ट होकर महाभारत अपने वर्तमतान लक्षश्लोकात्मक रूप तक पहुँचा। रामायण के रचयिता के रूप में वाल्मीकि के अतिरिक्त और कोई नाम नहीं मिलता, किन्तु महाभारत के विकास के विभिन्न सोपानों में व्यास, वैशम्पायन तथा सौति—ये तीन वक्ता तो स्पष्टतया प्राप्त होते ही हैं।

3. मुख्य मूल ग्रन्थ भाग—दोनों ग्रन्थ क्षेपकों से परिपूर्ण हैं। दोनों ही काव्यों के मूल अंश को खोज पाना आज कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

4. स्वरूप—रामायण आदिकाव्य है जिसमें काव्यगत चमत्कार ही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है; किन्तु महाभारत इतिहास ग्रन्थ है, जिसमें अनेक प्रसिद्ध राजाओं का इतिवृत्त

वर्णन करना ही मुख्य उद्देश्य है।

5. शैली—रामायण की शैली वैदर्भी रीति का सुन्दर निदर्शन है। वह नितान्त समरूप, परिष्कृत एवं परिमार्जित है। रामायण में एक सुसम्बद्ध कथानक प्राप्त होता है जिसकी रचना एवं विकास में सर्वत्र एकता दीख पड़ती है। भाव, भाषा तथा रचनाशैली की एकरूपता रामायण की विशेषता है। किन्तु महाभारत में कथानक की यह क्रमबद्धता उपलब्ध नहीं होती। महाभारत के समग्र स्वरूप को देख कर ऐसा जान पड़ता है कि विभिन्न वर्ण्य विषयों का एक बृहत् समूह एक स्थल पर एकत्रित कर दिया गया है। महाभारत के भिन्न भिन्न भागों में भाषा और रचनाशैली की विभिन्नता आपाततः ही दीख पड़ती है। वैदिक आर्ष प्रयोग, पौराणिक कथाशैली, अलंकृत काव्यशैली, गद्य, चम्पू, वैदिक त्रिष्टुप तथा लौकिक अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, वंशस्थ—सभी एकत्र रूप में महाभारत में उपलब्ध होते है, और उसको एक बहुरंगी पुष्पगुच्छ का स्वरूप प्रदान करते हैं।

6. पात्र—रामायण में नायक एक है; उसमें आद्यन्त राम के चरित्र का ही प्राधान्य है। किन्तु महाभारत में अनेक नायक हैं जो मुख्यता की दृष्टि से समान हैं। रामायण की भाँति महाभारत एक व्यक्ति की गुणगाथा नहीं है। रामायण के प्रायः सभी पात्र उच्च आदर्शों के रक्षक एवं पालक हैं किन्तु महाभारत के पात्र प्रतिक्रियावादी तथा व्यावहारिक हैं। रामायण का आदर्श भ्रातृप्रेम है, तो महाभारत का आधार ही भ्रातृद्रोह है। रामायण में राम ने अपनी सौतेली माँ के एक इंगित पर साम्राज्य त्याग दिया और भाई भरत ने अनायास मिले हुए उस साम्राज्य को स्वीकार न करके अपने अग्रज के प्रति स्नेह और सम्मान की पराकाष्ठा प्रस्तुत कर दी। किन्तु महाभारत में दुर्योधन ने राज्य प्राप्ति के लिए विभिन्न कुचक्रों तथा छलछद्म का आश्रय लिया और राजा बन जाने के पश्चात् अपने चचेरे भाइयों को सूच्यग्र भूमि भी देने को तत्पर नहीं हुआ 'सूच्यग्रमपि न दास्यामि विना युद्धेन केशव।' इसी की परिणति महाभारत जैसे युद्ध में हुई। रामायण के पात्रों में करुणा, भावुकता, सरलता तथा संयम आदि प्रधान गुण हैं तो महाभारत के पात्रों में दर्प, अहंकार, उग्रता, औद्धत्य, धृष्टता, कुटिलता आदि प्रधानतया स्थित हैं।

7. युद्धविद्या—दोनों ही ग्रन्थों में युद्ध सर्वाधिक प्रमुख घटना है। किन्तु दोनों की युद्धविद्या में पर्याप्त अन्तर दीख पड़ता है। रामायण की अपेक्षा महाभारत के समय में युद्धकला का पर्याप्त विकास हो चुका था। रामायण में युद्ध के विविध अस्त्र धनुष, गदा, तलवार आदि हैं, जबकि महाभारत में विभिन्न दिव्यशस्त्रों का बहुविध प्रयोग है। महाभारत में युद्ध के समय जिन पद्मव्यूह, क्रौञ्चव्यूह, चक्रव्यूह आदि सेनासंनिवेशों का प्रयोग किया गया है, उनका इंगित भी रामायण में नहीं मिलता। रामायण से महाभारत काल तक आते आते धनुर्विद्या का कितना अधिक विकास हो चुका था, इसका प्रमाण सीता एवं द्रौपदी के स्वयंवर में रखी गई वीरता की कसौटी रूप शर्तों के अन्तर से ही प्राप्त हो जाता है। सीता स्वयंवर में शिवधनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा देना मात्र ही वीरत्व की कसौटी थी, किन्तु द्रौपदी स्वयंवर में ऊपर चक्र में निरन्तर घूमती मछली की परछाई नीचे रखे तेल में देखकर उसकी आँख का भेदन करना ही वीरत्व की पराकाष्ठा थी।

8. धर्म—रामायण में साधारणतया ब्राह्मण प्रतिपादित धर्म का स्वरूप प्राप्त होता है किन्तु महाभारत में हिन्दू धर्म का बहुविध स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। महाभारत में एकेश्वरवाद, अध्यात्मवाद, नास्तिकवाद—सभी के एकत्र दर्शन हो जाते हैं।

9. संस्कृति—रामायणकालीन संस्कृति का प्राणतत्त्व धर्म है किन्तु महाभारत में कर्म ही प्रधान है। दोनों ग्रन्थों की नैतिकता, विवाह तथा वैवाहिक जीवन में भी पर्याप्त अन्तर है। राम-सीता का दाम्पत्य, राम का एक-पत्नीव्रत तथा सीता का पातिव्रत्य आज भी स्पृहणीय है।। किन्तु महाभारत के पात्रों में उस उच्च नैतिकता के कहीं दर्शन नहीं होते। महाभारत के प्रमुख स्त्री पात्रों—कुन्ती तथा सत्यवती के कानीन पुत्र हैं। सम्पूर्ण कुरुवंश नियोग प्रथा से उत्पन्न पुत्रों से ही पल्लवित पुष्पित हुआ है। द्रौपदी पञ्चपतिका है। परपुरुष रावण के घर में बन्दिनी रही सीता को अपनी शुद्धता प्रमाणित करने के लिए अग्निपरीक्षा देनी पड़ी; थी किन्तु जयद्रथ के द्वारा अपहरण की गई द्रौपदी यथावत् ही पाण्डवों की पत्नी बनी रही। उसकी शुद्धि का कोई विचार किसी को नहीं आया। रामायण में वर्णव्यवस्था का कठोर पालन प्राप्त होता है।शूद्र के तपस्या करने पर राजा राम उसका शिरच्छेद करते हैं। किन्तु महाभारत में वर्णव्यवस्था शिथिल पड़ गई है। रामायण में नारी की स्थिति अत्यन्त उच्च है, किन्तु महाभारत में नारी की स्थिति में पर्याप्त गिरावट आई है। दुर्योधन भरी सभा में एकवस्त्रा द्रौपदी को नग्न कर देने का प्रयत्न करवाता है, फिर भी कोई गुरुजन उसे नहीं रोकता। युद्ध की नैतिकता एवं आदर्शों में भी दोनों ग्रन्थों में महद् अन्तर है। युद्धक्षेत्र में राम घायल रावण का प्रहार नहीं करते, किन्तु महाभारत में निःशस्त्र द्रोण एवं कर्ण की हत्या कर दी जाती है। सोते हुए पाण्डव-पुत्रों की निर्मम हत्या अश्वत्थामा कर डालता है। राम और रावण का पारस्पिक वार्तालाप क्रोधयुक्त होने पर भी घृणा से नितान्त रहित है किन्तु अर्जुन तथा कर्ण, भीम तथा दुर्योधन आदि का वार्तालाप अत्यन्त कटु एवं घृणापूर्ण है।

10. पारस्पिक पूर्वापरता—स्थितिकाल की दृष्टि से भी दोनों ग्रन्थों की रचना भिन्न-भिन्न समय में हुई। महाभारत के मूलकथा का इंगित भले ही वैदिक समय में प्राप्त होता हो, किन्तु वर्तमान स्वरूप की दृष्टि से महाभारत रामायण से परवर्ती ही है। महाभारत रामायण से प्रभावित दृष्टिगोचर होती है। रामायण में महाभारत का कोई भी उल्लेख नहीं है किन्तु महाभारत के 'रामोपाख्यान' में वाल्मीकि रामायण का संक्षिप्त रूप ही दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त रामायण में प्राप्त होने वाली राजनीतिक अवस्था महाभारत की अपेक्षा पूर्वकालिक है। रामायण में म्लेच्छों (विदेशियों) का कोई सम्पर्क नहीं दीख पड़ता, जबकि महाभारत के समय तक भारतदेश में म्लेच्छों का पर्याप्त प्रसार हो चुका था। दुर्योधन ने पाण्डवों को नष्ट करने के लिए जिस लाक्षागृह का निर्माण कराया था, उसका निर्माता पुरोचन म्लेच्छ ही था। उस समय म्लेच्छ भाषा को भी अनेक लोग बोलने व समझने लगे थे। विदुर ने पाण्डवों को लाक्षागृह की सूचना म्लेच्छ भाषा में दी थी। महाभारत के युद्ध में अनेक म्लेच्छ राजाओं ने भाग लिया था। भारत की भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से भी रामायण पूर्ववर्ती रचना जान पड़ती है। रामायण की रचना के समय

आर्य सभ्यता का प्रसार उत्तरी भारत से विन्ध्याचल पर्वत तक ही था; दक्षिण भारत में अनार्य अथवा अर्धसभ्य जातियों का निवास था। किन्तु महाभारत के समय दक्षिण देश में भी सभ्यता का पर्याप्त प्रसार हो चुका था। राजनीतिक दृष्टि से दक्षिण देश ने भी पर्याप्त प्रगति कर ली थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में दक्षिण भारत के अनेक राजा उपहार लेकर आए थे।

उपर्युक्त विवेचन से रामायण एवं महाभारत का तुलनात्मक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। भारतभूमि और वृहत्तर भारत के सम्पूर्ण विस्तार में रामायण और महाभारत—ये दो ग्रन्थ आज परम श्रद्धास्पद धर्मग्रन्थों के रूप में सुपूजित हैं। दोनों ही ग्रन्थों में विशेष व्यक्तित्व मण्डित एक एक पात्र का चरित्र ऐसा सर्वातिशायी हो गया कि वे दो पात्र—राम और कृष्ण—परमात्मा के रूप में प्रत्येक भारतीय के हृदय और संस्कारों में दृढ़मूल हो गए। दोनों ही विष्णु के अवतारों में परिगणित कर लिए गए। कवि वाल्मीकि और कवि व्यास की चमत्कारिणी एवं कालजयी मेधा का इससे अधिक और क्या सत्कार हो सकता था।

2

संस्कृत महाकाव्य

संस्कृत के साहित्यशास्त्रियों ने ब्रह्मानन्द सहोदर रस को काव्य की आत्मा घोषित किया था। इस दृष्टि से जो भी रचना पाठक, श्रोता अथवा दर्शक के हृदय में रसोन्मेष करा देने में समर्थ हो, वही काव्य हो जाती है। विश्वनाथ की परिभाषा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' इसीलिए इतनी प्रसिद्ध हुई। विभिन्न विधाओं की दृष्टि से काव्य के मुख्यतया दो भेद किए गए—दृश्य तथा श्रव्य; किन्तु इन दोनों के भी अनेक भेदोपभेद हो जाते हैं। संक्षिप्त रूप में उनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—
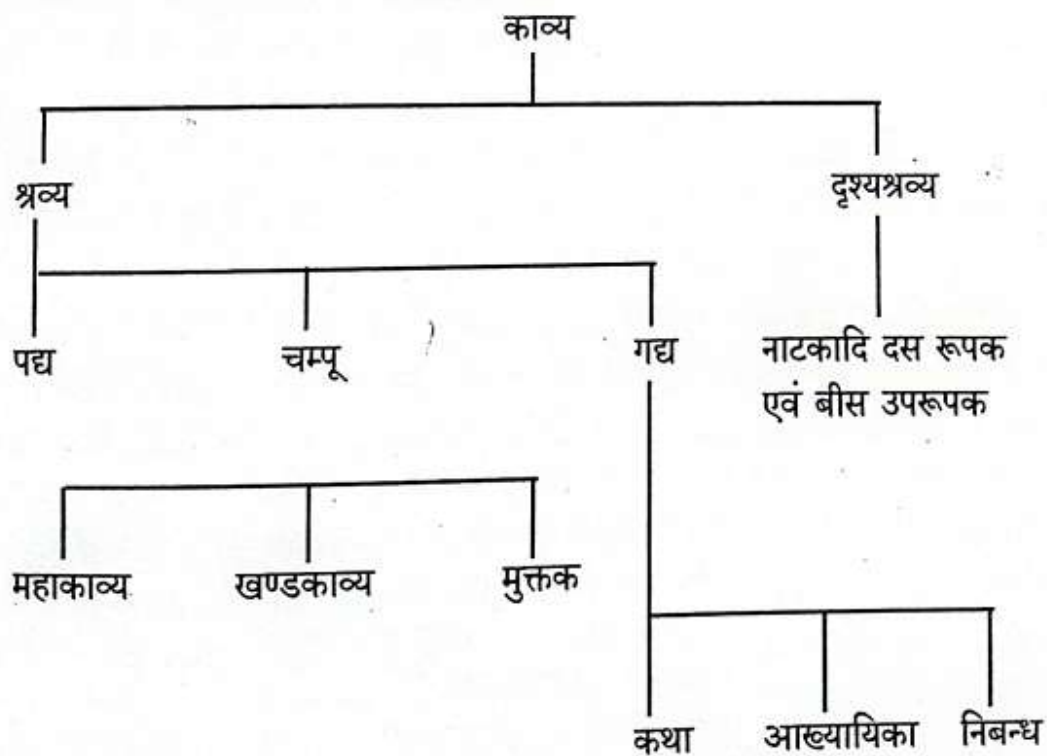
उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत अध्याय का विवेच्य विषय-महाकाव्य-श्रव्य (श्रवणेन्द्रियगोचर) काव्य का ही एक प्रकार है। महाकाव्य किसे कहते है, उसका स्वरूप कैसा है, उसका क्या लक्षण है—इस समाधान के लिए विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों को अपने अपने ग्रन्थों में परिभाषित किया, जिनमें आचार्य भामह अग्रगण्य रहे। किन्तु आचार्य दण्डी की महाकाव्य विषयक परिभाषा

ही सर्वाधिक मान्य हुई।[1] आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण (6/315—325) में महाकाव्य के लक्षण वर्णित किए। किन्तु वास्तविकता यही है कि दण्डी के पश्चात् परवर्ती सभी शास्त्रकारों ने दण्डी की परिभाषा को ही विभिन्न रूपों में स्पष्ट किया।

दण्डी के इन महाकाव्य लक्षणों को नायक, कथावस्तु आदि की दृष्टि से इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

आरम्भ—महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण (नान्दी) का विधान इस प्रकार हो जिससे आशीर्वाद, नमस्कार अथवा कथावस्तु का निर्देश होता हो।

वस्तु—महाकाव्य की कथावस्तु नितान्त काल्पनिक नहीं होनी चाहिए। पौराणिक आख्यान अथवा ऐतिहासिक कथानक को कवि ग्रहण करे, जिसमें सज्जनों का चरित्र चित्रण प्राप्त होता हो।

नायक—देवता अथवा धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न, उच्च कुलोत्पन्न क्षत्रिय इस महाकाव्य में नायक होना चाहिए। नायक एक भी हो सकता है (अथवा एक ही वंश मे उत्पन्न) अनेक भी।

रस—महाकाव्य का अंगी (मुख्य) रस शृंगार अथवा वीर में से एक होना चाहिए। अन्य रसों का प्रयोग गौण रूप में हो। महाकाव्य में मुख-प्रतिमुख आदि पञ्च सन्धियों का भी सन्निवेश होना चाहिए। यथासम्भव अलंकार भी काव्य में हों।

सर्ग—सम्पूर्ण महाकाव्य सर्गों में विभाजित होना चाहिए। ये सर्ग अधिक बड़े अथवा अधिक छोटे न होकर समानुपातिक होने चाहिएँ। (सर्गों की संख्या आठ या आठ से अधिक हो)

छन्द—प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का विधान किया जाए। किन्तु सर्गान्त श्लोकों में छन्द परिवर्तन कर दिया जाना चाहिए।

उद्देश्य—पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से एक अथवा अनेक की प्राप्ति ही महाकाव्य का उद्देश्य होना चाहिए। एतदर्थ इसमें धर्म तथा न्याय की विजय एवं

---

1. काव्यादर्श 1/14-19— सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥
इतिहास कथोद्भूतमितरद् वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्॥
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥
विप्रलम्भैः विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्रदूतप्रयाणजि नायकाभ्युदयैरपि॥
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति।

अधर्म तथा अन्याय का विनाश प्रदर्शित किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त सभी लक्षण महाकाव्यों में सामान्य लक्षण हैं। लक्ष्य ग्रन्थों की रचना के उपरान्त ही लक्षण ग्रन्थ रचे जाते हैं। दण्डी ने भी अपने पूर्ववर्ती वाल्मीकि, अश्वघोष, कालिदास आदि के काव्यों का पर्याप्त अनुशीलन करके महाकाव्य के इन लक्षणों का विधान किया होगा। किन्तु साहित्यरचना करते समय लक्षणों के बन्धन में बँध सकना अथवा परिभाषाओं का अक्षरश: निर्वाह कर सकना रससिद्ध कवि के लिए सम्भव नहीं होता। कवि तो साक्षात् प्रजापति होता है।[2] प्रत्येक कवि की सृष्टि कल्पना के नित्य नूतन प्रयोग के कारण विलक्षण होती हैं। अत: सामान्य दृष्टि से उपुर्यक्त लक्षणों का अभिप्राय यही है कि साधारणतया महाकाव्यों में ये लक्षण पाए जाते हैं, अथवा महाकाव्यकार को इन लक्षणों का ध्यान रखना चाहिए।

महाकाव्य की उत्पत्ति एवं विकास—रामायण एवं महाभारत के प्रणयन के उपरान्त प्राप्त होने वाले विपुल महाकाव्य-साहित्य के बीज वैदिक साहित्य में खोजना व्यर्थ सा ही है। किन्तु हम भारतीयों की परम्परा वेद को ही प्रत्येक शास्त्र, काव्य आदि का उत्पत्ति स्थल मानती रही है। इस दृष्टि से विचार करने पर भारतीय साहित्य के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद के कई मन्त्रों में कवि प्रतिभा के स्पष्ट दर्शन होते हैं। वैदिक ऋषि की सर्वाधिक मनोहर कल्पनाएँ उषस् सूक्तों समस्त काव्यात्मक उन्मेष के साथ में प्रस्फुटित हुई हैं। उषस् सूक्त के अनेक मन्त्र सरल किन्तु मनोरम काव्य के सुन्दर उदाहरण है।[3] देवस्तुति की अतिरिक्त नाराशंसियों में भी काव्यस्वरूप झलकता है।[4] तत्कालीन उदार दानी राजाओं की प्रशंसा में नितान्त अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्तियाँ ही नाराशंसी कहलाती है। अथर्ववेद के प्रेम सम्बन्धी मन्त्रों को शृंगार रस पूर्ण काव्य का प्रारम्भ ही माना जा सकता है।[5] संस्कृत महाकाव्यों ने स्त्री सौन्दर्य के विविध प्रतिमान प्रस्तुत किए थे; उन प्रतिमानों का प्राचीन आदर्श शतपथ ब्राह्मण में वेदिका निर्माण के प्रसंग में प्राप्त होता है।[6] ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पंचिका में 'शुन: शेप आख्यान' एवं अष्टम पंचिका में 'ऐन्द्र महाभिषेक' के अनेक अंश सुन्दर काव्य की छटा बिखेरते हैं। इतिहास-पुराण में 'सुपर्णाध्याय' आख्यान में काव्यतत्त्व प्रचुर मात्रा में हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में काव्य तत्त्वों का अस्तित्त्व तो दृष्टिगोचर होता है, किन्तु महाकाव्य शैली का पूर्ण परिपाक कहीं प्राप्त नहीं होता। संस्कृत महाकाव्य धारा का मूल उद्गम स्थल आदिकाव्य रामायण ही है, जिसमें महाकाव्य की सभी प्रवृत्तियों का सम्यक् दर्शन हो जाता है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य पर इस आदिकाव्य

---

2. काव्यप्रकाश 1/1
3. ऋग्वेद 1/92/4, 10; 1/115/2; 3/61/1 आदि
4. ऋग्वेद 5/61; अथर्ववेद 20/127
5. अथर्ववेद 3/30; चौदहवां काण्ड लगभग सम्पूर्ण
6. शतपथब्राह्मण 1/2/5/16; एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति।
पृथुश्रोणिर्व्विमृष्टान्तरा सा मध्ये संग्राह्येति।

शतपथ ब्राह्मण 3/5/1/11

का दाय प्रत्येक साहित्यनुरागी को विदित ही है और रामायण के काव्यात्मक पक्ष का किञ्चित् उद्घाटन तत्सम्बद्ध अध्याय में किया जा चुका है।

संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों की विकास परम्परा में संस्कृत व्याकरण के मुनित्रय—पाणिनि, वररुचि तथा पतञ्जलि—का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आचार्य रुद्रट कृत 'काव्यालंकारसूत्र' के टीकाकार नमिसाधु ने पाणिनि के द्वारा रचित दो महाकाव्यों 'जाम्बवतीजय' तथा 'पातालविजय' का उल्लेख किया है। विद्वानों का अभिमत है कि दोनों काव्य वस्तुत: एक हैं, नाम भिन्न भिन्न हैं। अष्टाध्यायीकार पाणिनि ही काव्यकार पाणिनि हैं, इस विषय में भी पुरातत्त्ववेत्ताओं में पर्याप्त मतभेद रहा है। गहन अध्ययन एवं एकाग्र शोध के बिना इस मतभेद का तात्त्विक समाधान सम्भव नहीं है। किन्तु यदि लोकपरम्परा से प्रचलित प्रसिद्धि को महत्त्व दिया जाए तो वैयाकरण पाणिनि ही महाकाव्यकार पाणिनि सिद्ध होते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि का दाक्षीपुत्र रूप में उल्लेख किया है[7] और सदुक्तिकर्णामृत ग्रन्थ में सुबन्धु, कालिदास, भारवि, भवभूति आदि रससिद्ध कवियों के साथ साथ दाक्षीपुत्र का भी नामस्मरण किया गया है।[8] राजशेखर ने 'जाम्बवतीजय' नामक महाकाव्य की रचना करने के कारण वैयाकरण पाणिनि को नमस्कार किया है।[9] क्षेमेन्द्र ने अपने छन्दग्रन्थ में पाणिनि के उपजाति छन्द के प्रयोग को अत्यन्त रमणीय एवं 'चमत्कारैकसार' कहा है।[10] सूक्तिग्रन्थों, कोशग्रन्थों तथा अलंकारग्रन्थों में भी पाणिनि के नाम से अनेक सुन्दर कमनीय श्लोक संग्रहीत मिलते हैं।[11]

वररुचि के नाम से भी अनेक सुन्दर श्लोक विभिन्न सुभाषित संग्रहों में उपलब्ध होते हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने कवि वररुचि को अष्टाध्यायी के वार्तिककार वररुचि किंवा कात्यायन से अभिन्न माना है।[12] पतञ्जलि ने वररुचि कृत एक काव्य 'वाररुचं काव्यं' का उल्लेख किया है, किन्तु उसका नाम नहीं दिया। वररुचि कृत महाकाव्य का नाम सम्भवत: 'कण्ठाभरण' था, जिसका उल्लेख राजशेखर ने स्पष्टतया किया है।[13]

---

7. पाणिनि 1/1/20 पर महाभाष्य—सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः
8. सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
   धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
   विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर
   स्तथाप्यन्तमोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥
9. नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
   आदौ व्याकरणमनुजाम्बवतीजयम्॥
10. क्षेमेन्द्र—सुवृत्ततिलक— स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
    चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥
11. उपाध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ 146-149
12. उपाध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ 149
13. यथार्थता कथं नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह।
    व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः॥

पतञ्जलि कृत 'महाभाष्य' के साक्ष्य से महाकाव्य की निरन्तर रचना प्रमाणित हो जाती है। पतञ्जलि भारतकाव्य (महाभारत) से सुपरिचित हैं। पतञ्जलि ने ही 'वाररुच काव्य' का निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त 'महाभाष्य' में ऐसे अनेक (पद्यात्मक किन्तु खण्डित) उद्धरण आए हैं, जिनमें सुन्दर काव्यशैली में प्रेमविषयक, स्तुतिपरक अथवा उपदेशात्मक विषयों का उपनिबन्धन हुआ है। महाकाव्य धारा की निरन्तरता का एक अकाट्य साक्ष्य छन्दः शास्त्र के अध्ययन से भी प्राप्त होता है। छन्दशास्त्रीय अपने विस्तृत ग्रन्थ 'छन्दःसूत्र' में पिंगलमुनि ने अनेक लौकिक छन्दों की परिभाषा एवं उदाहरण दिए हैं। सभी पाश्चात्य एवं भारतीय आलोचक इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि संस्कृत काव्यों में इन छन्दों का प्रयोग ईसा से पूर्व की शतियों में निरन्तर होता रहा था। इन समस्त उपलब्ध साक्ष्यों से यह स्वतः सिद्ध है कि रामायण के उपरान्त पतञ्जलि तक किंवा प्रथम शती के अश्वघोष तक संस्कृत महाकाव्य की परम्परा अक्षुण्ण थी। विभिन्न सरस्वती पुत्रों ने सुन्दर काव्यों की रचना की। किन्तु आक्रामक विदेशियों के कारण अथवा अन्य कारणों से उनमें से कतिपय नाम मात्र अवशिष्ट रहे।

लगभग चार सौ वर्षों के इस अन्धकारमय समय के सम्बन्ध में प्रख्यात पाश्चात्य विद्वान प्रोफेसर मैक्समूलर ने एक मौलिक सिद्धान्त की स्थापना की, जिसका नाम उन्होंने 'संस्कृत साहित्य का पुनर्जागरण' रखा। इस सिद्धान्त में उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि भारत पर विदेशी आक्रमणों के समय कोई भी संस्कृति अथवा साहित्यिक गतिविधियाँ नहीं पनप सकीं, तथा वह ब्राह्मण संस्कृति का नितान्त अन्धकार युग था। प्रोफेसर मैक्समूलर के इस सिद्धान्त ने कुछ समय तक पर्याप्त मान्यता प्राप्त की, किन्तु अनेक अभिलेखों और अन्य साहित्यिक खोजों को प्रस्तुत कर के व्यूहलर, कीलहार्न तथा फ्लीट नामक विद्वानों ने इस सिद्धान्त को भ्रामक सिद्ध कर दिया। इन अभिलेखों से यह स्पष्टतया प्रतिपादित होता है कि संस्कृत पद्य-साहित्य का निरन्तर निर्माण हो रहा था और उन प्रशस्तियों तक के लेखक काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से सम्यक् रुपेण परिचित थे।

संस्कृत के उपलब्ध शिलालेखों में रुद्रदामन के राज्यकाल का शिलालेख (150 ई.) प्राचीनतम है। गुजरात प्रदेश के जूनागढ़ नगर के समीप गिरनार पर्वत की तलहटी में प्राप्त यह शिलालेख जूनागढ़ अथवा गिरनार शिलालेख नाम से प्रसिद्ध है। इस में लेखक का नाम नहीं दिया गया है। यह अभिलेख गद्य मे ंरचित है किन्तु इसकी शैली अत्यन्त रोचक, भावप्रवण तथा हृदयावर्जक काव्यशैली है। इस शिलालेख में महाक्षत्रप रुद्रदामन् द्वारा सुदर्शन झील के बाँध के पुनर्निर्माण का वर्णन है। संस्कृत महाकवियों के विकास की परम्परा को समझने की दृष्टि से यह शिलालेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। छोटे समासों, सरल, अर्थवती तथा प्रवाहमयी भाषा के कारण यह वैदर्भी रीति का सुन्दर निदर्शन है। शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों के समन्वित प्रयोग के कारण यह अभिलेख अलंकृत काव्यशैली का स्वरूप प्रस्तुत करता है। इस शिलालेख की 14वीं पंक्ति '.......स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्द-समयोदारलंकृत-गद्य-पद्य-काव्य विधान प्रवीणेन........' से स्पष्ट ज्ञात होता है कि परवर्ती युग में आचार्य भरत किंवा दण्डी कथित काव्यगुणों और अलंकारों का ईसा

की प्रथम शती तक पर्याप्त विकास हो चुका था। द्वितीय शती का ही सिरी पुलुमायी का नासिक का अभिलेख प्राकृत भाषा में है; किन्तु उससे भी स्पष्ट अवभासित होता है कि लेखक संस्कृत काव्य के आदर्शों से अवश्य सुपरिचित था।

प्रयाग के अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण हरिषेण कृत समुद्रगुप्त प्रशस्ति (350 ई.) भी समृद्ध संस्कृत काव्य का सुन्दर उदाहरण है। इस सम्पूर्ण लेख में 33 पंक्तियाँ हैं। प्रारम्भ की चार पाँच पंक्तियाँ खण्डितप्राय है। शिलालेख के प्रारम्भ में आठ पद्य हैं, तदनन्तर गद्य भाग है और लगभग अन्त में पुन: एक पद्य है। अत: यह प्रशस्ति चम्पूकाव्य का स्वरूप प्रस्तुत करती है। पद्य भाग में समास सहित सरल भाषा प्रयुक्त है तो गद्य भाग में लम्बे समासों का प्रयोग है। अनुप्रास, रूपक, उपमा, यथासंख्य आदि अलंकारों के सुन्दर प्रयोग के कारण हरिषेण कृत यह प्रशस्ति निश्चय ही उत्कृष्ट संस्कृत काव्य का उदाहरण है। महाकाव्यों की विकासधारा में इस शिलालेख का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दिल्ली के समीप मेहरौली का लौह स्तम्भ लेख (सम्भवत: 5वीं शती) सरल एवं सुन्दर संस्कृत काव्य सा जान पड़ता है। इस लौह स्तम्भ लेख में केवल तीन शार्दूल विक्रीडित छन्द है किन्तु सभी तीनों छन्द अलंकारारों और काव्यगुणों से परिपूर्ण हैं।

संस्कृत काव्य साहित्य की स्पृहणीय प्रगति वत्सभट्टि रचित मन्दसौर के पाषाण लेख (473-74 ई.) से भी स्पष्ट है। इस अभिलेख में विभिन्न छन्दों में रचित 44 पद्य है। वत्सभट्टि ने दीर्घसमासों का प्रयोग करते हुए प्राय: गौड़ी रीति का आश्रय लिया है। सूर्यमन्दिर के विषय में लिखे गए इस अभिलेख के श्लोकों से लेखक के गहन काव्यशास्त्रीय अध्ययन एवं तद्गत नियमों के दृढ़तापूर्वक पालन का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है।[14]

शिलालेखों में प्राप्त होने वाले उपर्युक्त समस्त तथ्य प्रोफेसर मैक्समूलर के द्वारा प्रतिपादित अन्धकार युग अथवा काव्य के पुनर्जागरण के सिद्धान्त को सर्वथा ध्वस्त एवं भूमिसात् कर देते है। इस समस्त तथ्यानुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि रामायण से प्रवाहित होने वाली काव्य की धारा अविराम गति से निरन्तर ही प्रवाहशील रही। दुर्भाग्य केवल इतना ही है कि उन शतियों का वह समस्त काव्य साहित्य या तो पूर्णतया नष्ट हो चुका है किंवा प्रकाश में नही आ पाया है।

वैदिक काल के उपरान्त वाल्मीकि रामायण से लेकर आधुनिक युग तक संस्कृत साहित्य की जितनी भी श्रीवृद्धि हुई है, उस समस्त परम्परा को कुछ विद्वानों ने निम्नलिखित कालखण्डों में विभाजित करने का प्रयास किया गया है—

1. वैदिक काल
2. वेदोत्तर काल या पुराण काल

---

14. मन्दसौर शिलालेख श्लोक 10

चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुलोपमानानि गृहाणि यत्र॥
कैलासतुंगशिखरप्रतिमानि चान्यान्याभान्ति दीर्घवलभीनी सवेदकानि।
गान्धर्वशब्दमुखराणि निविष्टचित्रकर्माणि लोलकदली–वनशोभितानि॥

3. महाभारत काल या पुराण काल
4. कालिदास के पूर्व काल
5. कालिदास काव्य काल या सरस काव्य काल
6. कालिदासोत्तरकाल या अलंकृत काव्य काल
7. आधुनिक काल

किन्तु उपर्युक्त विभाजन किसी भी प्रकार युक्तिसंगत नहीं बैठता। रामायण एवं महाभारत के समय परस्पर सम्मिश्रित हैं, भिन्न भिन्न नहीं हैं। इसी प्रकार पुराणों का समय ईसा की अनेक शतियों के पूर्व से लेकर ईसा की छठी सातवीं शती तक के सहस्राधिक वर्षों में व्याप्त है। पुनः उपर्युक्त विवेचन में कालिदास के अनुसार तीन कालखण्ड हैं। किन्तु जब कालिदास का समय ही अभी सुनिश्चित नहीं हो सका है, तो उस आधार पर विभाजन करना भी उचित नहीं है।

महाकाव्य का विकास

डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने महाकाव्यों के विकास के इतिहास को दो रूपों में उपस्थित किया है—'(1) रूपगत विकास, (2) शैलीगत विकास।

(1) रूपगत विकास—इसके तीन स्तर है—**(क) वैदिक काल**—सरल आख्यान, देवस्तुति आदि। इनमें भावप्रधानता है। **(ख) वीर—महाकाव्य-काल**—इसमें रामायण और महाभारत हैं। इनमें भाव और आख्यान तत्वों की प्रधानता है। **(ग) लौकिक-महाकाव्य-काल**—इसमें कालिदास तथा परवर्ती काव्यकार हैं। इनके काव्यों में भाव पक्ष की अपेक्षा कला-तत्त्व अधिक उदात्त है।

(2) शैलीगत विकास—के भी तीन स्तर है—**(क) प्रसादात्मक शैली**—यह रामायण, महाभारत, कालिदास आदि में प्राप्त हैं। इसमें सरलता, सरसता और अर्थगाम्भीर्य पर अधिक बल है। **(ख) अलंकारात्मक शैली**—यह भारवि, माघ, श्री हर्ष आदि के सालंकृत काव्यों में मुख्यतया प्राप्त है। **(ग) श्लेषात्मक शैली**—यह द्वयर्थक और त्र्यर्थक काव्यों में प्राप्य है।'[15]

संस्कृत महाकाव्यों की विकास परम्परा में महाकवि अश्वघोष तथा महाकवि कालिदास के समय की पूर्वापरता आज तक विवादास्पद ही है। अश्वघोष के समय में तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। सम्राट कनिष्क के सभाकवि के रूप में उनका समय प्रथम शती ईस्वी निश्चित ही है। किन्तु कालिदास का समय प्रथम शती ईस्वी से लेकर छठी शती ईस्वी तक भिन्न भिन्न समयों में निर्धारित किया जाता रहा है। विभिन्न शोधकर्ताओं और समीक्षकों ने परिश्रमपूर्वक कालिदास का समय चौथी शती ईस्वी निर्धारित किया है। (कालिदास शीर्षक में विवेचित) अतः महाकाव्यों की विकास परम्परा में अश्वघोष का ही सर्वप्रथम विवेचन करना अनुचित न होगा।

15. द्विवेदी, कपिलदेव—संस्कृत का समीक्षात्मक इतिहास—पृष्ठ 135

अश्वघोष

संस्कृत महाकाव्यों की अजस्र परम्परा में महाकवि अश्वघोष का स्थान विशिष्ट है। वस्तुत: जितने भी बौद्ध कवियों ने संस्कृत भाषा का आश्रय लेकर काव्य रचनाएँ की, उन सभी बौद्ध कवियों में अश्वघोष अग्रगण्य हैं। अश्वघोष का नितान्त प्रामाणिक जीवन परिचय अद्यावधि प्राप्त नहीं है। चीनी परम्परा में अश्वघोष का जो जीवन चरित उपलब्ध होता है, अथवा अनुश्रुतियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे विद्वानों को पूर्णतया सन्तोष नहीं है। चीनी परम्पराएँ महाकवि अश्वघोष को सम्राट कनिष्क से सम्बद्ध मानती हैं और अश्वघोष को कनिष्क (78 ई.) का सभाकवि घोषित करती हैं। इन परम्पराओं के अनुसार सम्राट कनिष्क ने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र पर प्रबल आक्रमण करके उसे पदाक्रान्त किया और दो ही शर्तों पर मगध से हटने का अपना मन्तव्य घोषित किया। मगध नरेश ने कनिष्क की दोनो शर्तों को पूरा करके अपना राज्य बचाया। कनिष्क की वे दो मांगे या शर्तें इस प्रकार थी—एक तो भगवान् बुद्ध के द्वारा व्यवहार में लाए गए भिक्षा पात्र की प्राप्ति और दूसरी थी, राजकवि अश्वघोष को पुरुषपुर भेजने की प्रतिज्ञा। इस चीनी प्रसिद्धि के अनुसार सम्राट कनिष्क से सम्बद्ध होने के कारण अश्वघोष का समय स्वत: ही प्रथम शती ईस्वी सिद्ध हो जाता है। किन्तु इन परम्पराओं के अतिरिक्त भी अश्वघोष के जीवन वृत्त के कतिपय संकेत मिलते हैं। अश्वघोष ने अपने महाकाव्यों के अन्तिम वाक्य—पुष्पिका—में अपना संक्षिप्त सा परिचय दिया है। तदनुसार उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था तथा निवासस्थान साकेत (अयोध्या) था। वे महाकवि होने के साथ महावादी अर्थात् महान तार्किक थे और उन्हें आचार्य भदन्त आदि उपाधियाँ प्राप्त हो चुकी थीं।[16] ऐसी किंवदन्ती है कि अश्वघोष जन्म से ब्राह्मण थे और बाद में बौद्धधर्म में दीक्षित हो गए। अश्वघोष के काव्यों के अन्तरंग परीक्षण से भी ऐसा ही प्रमाणित होता है। वेदों तथा शास्त्रों में प्रतिपादित तत्त्व तथा अनेक पौराणिक संकेत अश्वघोष की कृतियों में बहुलतया प्राप्त होते हैं। इनसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि अश्वघोष एक उच्चकोटि के आचार्य, वैयाकरण, कवि, प्रचारक एवं वाग्मी थे।

अश्वघोष प्रसिद्ध बौद्ध मतावलम्बी एवं दार्शनिक थे। पहले वे सर्वास्तिवाद बौद्ध सम्प्रदाय के अनुयायी थे, किन्तु बाद में महायान के प्रवर्तकों में प्रमुख हो गए। कनिष्क के समय में आयोजित चतुर्थ बौद्ध संगीति का संचालन एवं अध्यक्षता भी अश्वघोष ने की थी। सातवीं शती ईस्वी में भारत में भ्रमण करने वाले प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिंग के साक्ष्यानुसार उस समय अश्वघोष के ग्रन्थ पढ़े जाते थे। अश्वघोष ने कला प्रदर्शन, मनोरञ्जन अथवा काव्य रस के आनन्द की दृष्टि से महाकाव्यों का प्रणयन नहीं किया था; वरन् राग द्वेष में आबद्ध मनुष्यों को सन्मार्ग पर लाकर मोक्ष के प्रति प्रयत्शील कर देना ही अश्वघोष

16. बुद्धचरित, सौन्दरनन्द तथा शारिपुत्रप्रकरण का ग्रन्थान्त वाक्य (पुष्पिका)—
आर्यासुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्य भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिन:कृतिरयम्।

की काव्यसंरचना का लक्ष्य था। इसी दृष्टि से अश्वघोष ने लिखा कि 'रमण की इच्छा ही है तो अध्यात्म में ही मन लगाओ। प्रशान्त एवं दोषरहित आध्यात्मिक आनन्द के सदृश अन्य कोई (सांसारिक) आनन्द नहीं है। उस परमानन्द के लिए न ही वाद्यादि अपेक्षित हैं, न स्त्रियों की आवश्यकता है और न ही आभूषण काम आते हैं। अकेले तुम (मनुष्य) ही कहीं भी उस आध्यात्मिक रति से रमण कर सकते हो।'[17] इस कथन से स्पष्ट है कि अश्वघोष बौद्ध धर्म एवं दर्शन का अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार करने की दृष्टि से ही काव्यरचना में प्रवृत्त हुए थे। सुन्दर कविता मानव के मन को तत्क्षण ही उद्वेलित करने में समर्थ होती है। अत: बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष ने भी धर्म एवं दर्शन के दुरूह, जटिल एवं रूखे तथ्यों एवं सिद्धान्तों को सामान्य जनता तक पहुँचा देने के लिए सरस काव्यरचना का ही आश्रय लिया। स्वयं अश्वघोष ने ही यह स्वीकारोक्ति की है।[18]

अश्वघोष की रचनाओं के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। इनकी कृतियों का उल्लेख इत्सिंग ने भी किया है। विविध सूत्रों के अनुसार इनके ग्रन्थों की संख्या उन्नीस तक पहुँच जाती है। अश्वघोष के नाम से चार दार्शनिक ग्रन्थ कहे जाते हैं—वज्रसूची उपनिषद्, गण्डी स्तोत्रकथा, सूत्रालंकार तथा महायान श्रद्धोत्पादसंग्रह। किन्तु कर्तृत्व की दृष्टि से ये चारों ही ग्रन्थ अद्यावधि विवादास्पद हैं। साहित्य के क्षेत्र में अश्वघोष की तीन कृतियाँ नि:संदिग्ध रूप से स्वीकार की गई है—बुद्धचरित, सौन्दरनन्द तथा शारद्वतीपुत्रप्रकरण अथवा शारिपुत्रप्रकरण।

बुद्धचरित—अश्वघोष के इस महाकाव्य से चीनी यात्री सुपरिचित था। इत्सिंग के समय तक यह सम्पूर्ण—28 सर्गात्मक—उपलब्ध था। पाँचवीं शती में किए गए चीनी अनुवाद तथा सातवीं शतीं में किए गए तिब्बती अनुवाद में भी 28 सर्ग उपलब्ध हैं। किन्तु सम्प्रति इस महाकाव्य का जो संस्कृत रूप प्राप्त होता है उसमें केवल 17 ही सर्ग हैं, जिनमें भी अन्तिम चार सर्गों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। कहा जाता है कि उन्नीसवीं शती के अन्त में अमृतानन्द नामक एक नेपाली पण्डित ने इन अन्तिम चार सर्गों को लिख कर जोड़ा। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने हस्तलिखित पाण्डुलिपि के आधार पर जो संस्करण प्रकाशित किया उसमें भी चौदह सर्ग ही हैं। डॉ. जॉन्स्टन ने बुद्धचरित महाकाव्य के चीनी और तिब्बती अनुवादों को आधार बना कर इसका अंग्रेजी अनुवाद किया है।

'बुद्धचरित' महाकाव्य का आधार 'ललितविस्तर' नामक बौद्धग्रन्थ है। किन्तु 'ललितविस्तर' के अव्यवस्थित वर्ण्यविषय तथा असम्बद्ध वर्णनों के स्थान पर बुद्धचरित

---

17. सौन्दरनन्द 11/34-35 रिरंसा यदि ते तस्मादध्यात्मे धीयतां मन:।
प्रशान्ता चानवद्या च नास्त्यध्यात्मसमारति:॥
न तत्र कार्यं तूर्यैस्ते न स्त्रीभिर्न विभूषणै:।
एकस्त्वं यत्रतत्रस्थास्तया रत्याभिरंस्यसे॥

18. सौन्दरनन्द 18/63— इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृति:
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।
यन्मोक्षात् कृतमन्यत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति॥

की कथावस्तु पूर्णतया व्यवस्थित एवं वर्णन नितान्त प्रसंगानुकूल हैं। इस महाकाव्य के प्रथम पाँच सर्गों में भगवान् बुद्ध के अलौकिक जन्म के वर्णन से लेकर महाभिनिष्क्रमण तक की प्रसिद्ध कथा है। छठे तथा सातवें सर्ग में सिद्धार्थ का तपोवन प्रवेश, आठवें सर्ग में अन्तःपुर की स्त्रियों का विलाप, नवें सर्ग में सिद्धार्थ के अन्वेषण का प्रयास, दसवें सर्ग में सिद्धार्थ का मगध गमन, ग्यारहवें सर्ग में काम की निन्दा, बारहवें सर्ग में बुद्ध का शान्ति प्राप्ति के लिए महर्षि अराड के समीप गमन एवं महर्षि द्वारा धर्मोपदेश, तेरहवें सर्ग में मार (कामदेव) के द्वारा बुद्ध की तपस्या में विघ्न और मार पराजय तथा चौदहवें सर्ग में बुद्धत्व प्राप्ति का वर्णन है। संस्कृत अंश यहीं यह प्रामाणिक माना जाता है।

बुद्धचरित महाकाव्य ही वस्तुतः अश्वघोष की विजयपताका है। इसमें अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के संघर्षमय जीवन की विविध घटनाओं का सजीव एवं कवित्वपूर्ण वर्णन किया है। कथा की उत्कृष्टता एवं उदात्तता के निर्वाह में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। इस महाकाव्य की भाषा प्राञ्जल है। अश्वघोष ने एक ओर तो अलंकारों के अधिक्यदोष से अपने काव्य को बचाए रखा है और दूसरी ओर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सरल अलंकारों के सुन्दर प्रयोग से अपने काव्य को आकर्षक भी बना दिया है। कई स्थलों पर कवि ने अपनी अद्‌भुत वर्णन चातुरी का सुन्दर परिचय दिया है। राजमार्ग पर जाते हुए कुमार सिद्धार्थ को अपने अपने गवाक्षों से निहारती हुई सुन्दर रमणियों का वर्णन तथा मार के विभिन्न प्रलोभनों और युद्ध का वर्णन आदि स्थल अत्यन्त मार्मिक एवं सजीव हैं।

सौन्दरनन्द—अश्वघोष की दूसरी प्रमुख साहित्यिक कृति सौन्दरनन्द है। यह अठारह सर्ग का महाकाव्य है तथा सम्पूर्णतया ही संस्कृत में उपलब्ध है। नेपाल में प्राप्त दो जीर्ण शीर्ण पाण्डुलिपियों के आधार पर सम्पादन कर के महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने 1910 ई. में इसे प्रकाशित कराया था। बाद में इसके अंग्रेजी, बंगाली तथा हिन्दी अनुवाद भी मूल संस्कृत सहित प्रकाशित हुए।

इस महाकाव्य की कथा तथागत बुद्ध के सौतेले भाई नन्द तथा प्रियतमा पत्नी सुन्दरी के पारस्परिक अगाध प्रणय की करुण कथा है। नन्द भोगविलास मे आसक्त एक प्रियदर्शन राजकुमार है और उसकी सुन्दरी नामक पतिव्रता प्रिया पत्नी है। नन्द एवं सुन्दरी परस्पर चकवा-चकवी की भाँति आसक्त थे। इन दोनों के इस असीम प्रेम की आधारभूमि पर बुद्ध नन्द की प्रवज्या का भवन खड़ा करते हैं। इनके प्रणयव्याकुल जीवन को मंगलमय एवं कल्याणोन्मुख कर देने के लिए तथागत बुद्ध नन्द को संसार की अनित्यता समझा कर दीक्षा लेने के लिए बाध्य करते हैं। शान्त बुद्ध के प्रति भक्ति नन्द को प्रवज्या की ओर आकृष्ट करती है तो रूपवती प्रिया पत्नी का अनुराग उसे अपनी ओर खींचता है। अनिश्चय की स्थिति में क्षुब्ध एवं व्याकुल राजपुत्र नन्द तरंग स्थित राजहंस की भाँति न आगे बढ़ सका, न ही पीछे जा सका—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्यान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः॥

(सौन्दरनन्द 4/42)

किन्तु अन्ततोगत्वा विभिन्न उपदेशों तथा अनुभवों के कारण नन्द इस अनित्य संसार के असार सुखों से विरक्त हो जाता है और गुरु के समीप पहुँचकर शान्तचित्त से आशीर्वाद ग्रहण करता है। इस प्रकार नन्द को अमृतत्त्व प्राप्ति होती है।

सौन्दरनन्द में भोगवासना एवं इन्द्रियसंयम के विपुल संघर्ष की नितान्त सरस अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। अश्वघोष एक ओर तो नन्द और सुन्दरी की मूक वेदना के चित्रण में कुशल सिद्ध हुए है, तो दूसरी ओर बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को आकर्षक रूप से प्रस्तुत करने में भी सिद्धहस्त दिखाई देते हैं। बुद्धचरित की अपेक्षा सौन्दरनन्द में अश्वघोष की काव्यकला अधिक प्रस्फुटित हुई है। भाव, भाषा, काव्य सौन्दर्य तथा लालित्य सौन्दरनन्द में उत्कृष्टतर है। अश्वघोष के ये दोनों महाकाव्य यद्यपि भिन्न भिन्न हैं तथापि समीक्षकों ने दोनों को एक दूसरे का पूरक माना है। जिन विषयों एवं भावों का वर्णन एवं चित्रण बुद्धचरित में नहीं हो सका था, उन सभी का सुन्दर चित्रण सौन्दरनन्द में उपलब्ध होता है।

शारिपुत्रप्रकरण—इसका विवेचन नाट्य-अध्याय में किया जाएगा।

काव्यकला—जैसा पहले भी कहा जा चुका है, अश्वघोष के द्वारा काव्यरचना का एक ही उद्देश्य था—रोचक काव्यशैली के द्वारा बौद्ध सिद्धान्त जनता को समझाना और ऐहिक भोगों के त्यागपूर्वक उन्हें पूर्ण वैराग्य की ओर उन्मुख कराना। अश्वघोष के ग्रन्थ निस्सन्देह संस्कृत काव्य के भूषण हैं। अश्वघोष की इन रचनाओं से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि ईसा की प्रथम शती तक संस्कृत महाकाव्य परम्परा इतनी विकसित हो चुकी थी कि अश्वघोष जैसे प्रकाण्ड बौद्ध भी संस्कृत भाषा में रचना करने के लिए बाध्य हुए।

अश्वघोष से पूर्व रामायण, महाभारत आदि के रूप में संस्कृत की एक वृहत् काव्यपरम्परा प्रवहमान थी। अश्वघोष की काव्यकला पर उस परम्परा का प्रभाव होना अत्यन्त सहज है। विशेषतया वाल्मीकि रामायण ने अश्वघोष को पर्याप्त प्रभावित किया। यह भी सम्भव है कि स्वयं साकेतक होने के कारण ही रामायण के पात्रों एवं घटनाओं के प्रति अश्वघोष का विशेष आग्रह रहा हो। इसीलिए अश्वघोष के अनेक वर्णन वाल्मीकि रामायण का स्मरण करा देते हैं। वाल्मीकि की ही भाँति अश्वघोष की काव्यकला में स्वाभाविकता का सहज साम्राज्य है। अश्वघोष सुन्दर, परिमार्जित एवं सरल वैदर्भी रीति के कवि हैं। उनके काव्यों मे वैदर्भी का शुद्ध स्वरूप निखरा है। रामायण एवं महाभारत की भाँति अश्वघोष की शैली में भी प्रसाद एवं माधुर्य गुणों की बहुलता है। उनके वर्णन सहज, यथार्थ एवं प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं। यौवन तथा जीवन की क्षमभंगुरता का वर्णन कवि ने अत्यन्त सहज किन्तु मर्मस्पर्शी रूप में किया है। 'ऋतु बीत जाती है और पुनः लौट आती है; चन्द्रमा क्षीण होकर (अमास्वया तक लुप्त ही होकर) पुनः वृद्धि प्राप्त कर लेता है; किन्तु जिस प्रकार—नदी का जल एक बार बह कर पुनः नहीं लौटता उसी प्रकार मनुष्यों का यौवन भी जाकर फिर वहीं आता'—

ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनम्॥

अश्वघोष ने अत्यन्त गूढ तथा रूक्ष दार्शनिक सिद्धान्तों को मधुर एवं सरल भाषा

में प्रस्तुत करके, अनेक सरल एवं परिचित लौकिक दृष्टान्तों के द्वारा हृदयङ्गम ही करा दिया है। बौद्ध दर्शन में यह जन्म एवं जीवन दुख से ही आवृत्त कहा जाता है। इस दुखवाद के सिद्धान्त को अश्वघोष अत्यन्त सरल भाषा एवं शैली में प्रस्तुत करते हैं—

आकाशयोनिः पवनो यथा हि यथा शमीगर्भशयो हुताशः।
आपो यथान्तर्वसुधाशयशच दुःखं तथा चित्तशरीरयोनि॥
अपां द्रवत्वं कठिनत्वमुर्व्यां वायोश्चलत्वं ध्रुवमौष्ण्यमग्नेः।
यथा स्वभावो हि तथा स्वभावो दुखं शरीरस्य च चेतसश्च॥

(सौन्दरनन्द 16/11-12)

दुःखस्वभावात्मक इस संसार से छूट पाना ही निर्वाण है। दीपक का दृष्टान्त देकर कवि ने बौद्धों के निर्वाणसिद्धान्त को कितनी सहजता से समझा दिया है।

दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचिद्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
एवं कृती निर्वृत्तिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचिद्, क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

(सौन्दरनन्द 16/28-29)

भाषा में प्रसाद गुण के कारण इतना गूढ़ तात्त्विक एवं दार्शनिक विचार भी सरलता से बुद्धि में व्याप्त हो जाता है।

अश्वघोष के उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि अलंकार अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़े हैं। अनुप्रास, यमक और उपमा से युक्त यह श्लोक देखिए—

सा पद्मरागं वसने वसाना पद्मानना पद्मदलायताक्षी।
पद्मा विपद्मा पतितेव लक्ष्मीः शुशोष पद्मस्त्रगिवातपेन॥

(सौन्दरनन्द 6/26)

अश्वघोष ने अपनी अधिकांश उपमाएँ दैनन्दिन जीवन से ही ग्रहण की हैं, पाण्डित्य का सायास भार उन पर नहीं रखा। इसीलिए उन उपमाओं के माध्यम से दिया गया सन्देश अथवा तथ्य तुरन्त ही हृदयङ्गम हो जाता है। मनुष्य शरीर की सारहीनता एवं नश्वरता का एक चित्र द्रष्टव्य है—

यथेक्षुरत्यन्तरसप्रपीडितो भुवि प्रविद्धो दहनाय शुष्यते।
तथा जरायन्त्रनिपीडिता तनुर्निपीतसारा मरणाय तिष्ठते॥

(सौन्दरनन्द 9/31)

अर्थात् जिस प्रकर रस निचोड़ी गई ईख जलाए जाने के लिए पृथिवी पर पड़ी सूखती रहती है, उसी प्रकर वृद्धावस्था रूपी यन्त्र से पीड़ित होकर यह सारहीन शरीर भी मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहता है।

सौन्दरनन्द महाकाव्य का आठवाँ सर्ग तो अर्थान्तरन्यास अलंकार का मानो आकर ही है। इस सर्ग मे बासठ श्लोक हैं, और प्रायः सभी किसी न किसी सुभाषित से अलङ्कृत हैं। इस सर्ग में एक बौद्ध श्रमण नन्द को विभिन्न उपदेश देते हुए स्त्रीमात्र की निन्दा करता

है और स्त्रीप्रसंग से निवृत्ति की प्रेरणा देता है। अश्वघोष ने इस सर्ग में अर्थान्तरन्यास अलंकारों की झड़ी सी लगा दी है जिनमें विविधता, विशेषज्ञता, भावगाम्भीर्य एवं अर्थगौरव विशेषतया दर्शनीय हैं।

अश्वघोष के काव्यों में शान्तरस प्रधान है। शम भाव की स्थिति की पूर्व भूमिका के रूप में अश्वघोष ने शृंगार के दोनों पक्षों संयोग एवं विप्रलम्भ का अत्यन्त मर्यादित एवं सुन्दर चित्रण किया है, जिसमें करुण रस का पुट सहृदयों को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। जिस नन्द एवं सुन्दरी का पारस्परिक प्रणय चक्रवाक एवं चक्रवाकी के सदृश अवर्णनीय था[19], उसी नन्द के काषाय कर लेने पर प्रिय से विरहित सुन्दरी की व्याकुल अवस्था बरबस ही नेत्रों को अश्रुसिक्त कर देती है—

सा रोदनारोषितरक्तदृष्टिः संतापसंक्षोभितगात्रयष्टिः।
पपात शीर्णाकुलहारयष्टिः फलातिभारादिव चूतयष्टिः॥

(सौन्दरनन्द 6/25)

अश्वघोष का भाषा सौष्ठव भी अत्यन्त सन्तुलित है। व्याकरण पर अश्वघोष का अबाध अधिकार था। सौन्दरनन्द के प्रारम्भिक सर्गों में अश्वघोष ने संस्कृत व्याकरण की विशेषताओं का जैसा प्राञ्जल प्रयोग किया है, उपसर्ग की भिन्नता से धात्वर्थ भेद के जैसे सुन्दर श्लोक प्रस्तुत किए हैं[20], उनसे भट्टिकाव्य का सादृश्य उपस्थित हो गया है। एक ही श्लोक में लिट्लकार के बारह रूपों का प्रयोग देखिए; इसमें विरहिणी की व्याकुल, उद्भ्रान्त दशा को इन धातु प्रयोगों ने कितनी तीव्रता से अभिव्यञ्जित कर दिया है—

रुरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ, बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ।
चकार रोषं विचकार माल्यं, चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रम्॥

(सौन्दरनन्द 6/34)

अश्वघोष का छन्दविधान भी विविधात्मक है। अनुष्टुप् एवं उपजाति छन्दों का प्रयोग अश्वघोष ने अधिक मात्रा में किया, किन्तु वंशस्थ, पुष्पिताग्रा, रुचिरा, वसन्ततिलका, मालिनी, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित आदि अनेक छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। 'संगीतात्मकता की दृष्टि से अश्वघरोष के प्रहर्षिणी एवं रुचिरा छंद विशेष सफल हुए हैं।'[21]

इन समस्त विवेचित गुणों के कारण ही अश्वघोष सुन्दर काव्य की रचना करके

---

19. सौन्दरनन्द 4/2—स चक्रवाक्येव हि चक्रवाकस्तया समेतः प्रियया प्रियार्हः।
नाचिन्तयद् वैश्रवणं न शक्रं तत्स्थानहेतोः कुत एवं धर्मः॥

20. सौन्दरनन्द 1/15—यत्र स्म मीयते ब्रह्म, कैश्चित् कैश्चिन्न मीयते।
काले निमीयते सोमो, न चाकाले प्रमीयते॥

मीयते-मा-नापना, चिन्तन करना; मी-हिंसा करना; नि + मा-निचोड़ना; प्र + मा-मारना

सौन्दरनन्द 2/10—प्रणताननुजग्राह विजग्राह कुलद्विषः।
आपन्नान् परिजग्राह विजयग्राहास्थितान् पथि।

21. बुद्धचरित 3/64-65; सौन्दरनन्द 10/64; 11/73 आदि।

बौद्ध धर्म तथा दर्शन के सन्देश को प्रसारित करने में कृतकार्य हुए और महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

कालिदास

महाकवि कालिदास का नाम भारतीय किंवा पाश्चात्य—सम्पूर्ण विश्वसाहित्य में ही अभिनन्दनीय बन गया है। कालिदास के काव्यवैदग्ध्य और रसमाधुरी ने देश तथा काल की समस्त सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए मानव मात्र को अपने आकर्षण पाश में आबद्ध कर ही लिया। ''संस्कृत साहित्याकाश के ग्रहों तथा उपग्रहों की पँक्ति में कालिदास के 'आदित्य' का ज्वलन्त 'विक्रम' अपनी द्युति से सभी की कान्ति को ध्वस्त कर देता है। उसके तेज में वसन्त के आरम्भ में 'कुबेरगुप्ता दिक्' की ओर मुड़ते हुए 'उष्णरश्मि' की प्रातःकालीन सरसता तथा कोमलता है, उसकी कविता के स्पन्दन में 'दक्षिणा दिक्' के बह कर आते हुए 'गन्धवाह' की मानस इन्दीवर को गुदगुदाने की चञ्चलता है, उसकी भावसम्पत्ति तथा कल्पना अनेक अनुगामी कवियों के द्वारा उपजीव्य बनाई जाने पर भी, शकुन्तला की तरह, किसी के द्वारा न सूंघे गए फूल की ताज़गी, किन्ही कठोर कररुहों से अकलुषित किसलय की दीप्त कोमलता, वज्र से बिना बिंधे रत्न का पानिप, किसी भी लोलुप रसना के द्वारा अनास्वादित अभिनव मधु का माधुर्य तथा अखण्ड सौभाग्यशाली पुण्यों के फल का विचित्र समवाय लेकर उपस्थित होती है। सहृदय रसिक भोक्ता के लिए कालिदास में इससे बढ़कर क्या चाहिए?'[22] कालिदास की इसी अपूर्व एवं अभिनव विशेषता के कारण प्रसिद्ध काव्यशास्त्री आनन्दवर्धनाचार्य ने कालिदास की अद्भुत प्रशंसा की है—'इस अत्यन्त विचित्र कविपरम्परा को धारण करने वाले संसार में कालिदास आदि दो, तीन, पाँच महाकवि ही गिने जा सकते हैं।''[23]

किन्तु इस विश्वविख्यात महाकवि के जीवन, स्थितिकाल तथा निवासस्थल आदि के सम्बन्ध में प्रामाणिक दृष्टि से कुछ भी ज्ञात नहीं है। जनश्रुतियों एवं विभिन्न किंवदन्तियों में घिरे हुए कालिदास के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी कह सकना दुष्कर ही है। कालिदास के सम्बन्ध में प्रचलित अधिकांश कथाएँ इतनी असंस्कृत एवं अविश्वसनीय हैं कि वे नितान्त रसपेशल काव्यरचयिता कालिदास के कल्पनाप्रवण व्यक्तित्व से मेल नहीं खातीं। विभिन्न प्रचलित किंवदन्तियों का सार इस प्रकार है। कालिदास बाल्यकाल में अत्यन्त मूर्ख थे और लकड़हारे का कार्य करके जीवनयापन करते थे। राजसभा के पण्डितों के मात्सर्यपूर्ण षड्यन्त्र के फलस्वरूप विद्योत्तमा नामक एक विदुषी एवं बुद्धिगर्विता राजकुमारी से वज्रमूर्ख कालिदास का विवाह हो गया। विवाह के उपरान्त प्रथम रात्रि में ही राजकुमारी को कालिदास की मूर्खता का परिज्ञान हो गया। पत्नी की प्रताड़ना से तिरस्कृत और क्षुब्ध कालिदास ने गृहत्याग किया और भगवती काली की

---

22. व्यास, भोलाशङ्कर—संस्कृत कवि दर्शन—पृष्ठ 71
23. ध्वन्यालोक—अस्मिन्नति विचित्र कवि परम्परावाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।

उपासना से अनुपम वैदुष्य का वरदान प्राप्त किया। अपनी कृतज्ञता एवं भक्ति ज्ञापित करने के लिए ही उन्होंने अपना नाम भी कालिदास रख लिया। इसके पश्चात् वे घर लौटे और विभिन्न काव्यों की रचना की। कवि रूप में अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद कालिदास के अनेक मित्र एवं प्रशंसक बन गए। सिंहल देश के राजा कुमारदास स्वयं कवि थे और कालिदास की रचनाओं के प्रशंसक मित्र भी। कुमारदास के आमन्त्रण पर कालिदास सिंहल देश गए और वहाँ एक धनलोलुप वेश्या के द्वारा छल से मार डाले गए। कालिदास को महामूर्ख बताकर फिर महाकवि का रूप देने में जनश्रुतियों का क्या अभिप्राय रहा होगा—यह नितान्त विवादास्पद है।

स्थान—कालिदास का जन्म भारत के किस प्रदेश में हुआ, यह भी ज्ञात नहीं है। कालिदास के काव्यों में प्राप्त विभिन्न तथ्यों के ग्रहणपूर्वक कश्मीर तथा बंगाल के विद्वान् कालिदास को अपने-अपने प्रदेश का मानने के लिए आग्रहशील हैं। किन्तु कालिदास ने अपने ग्रन्थों में अवन्ती प्रदेश तथा उज्जयिनी नगरी के प्रति अपना विशेष मोह एवं पक्षपात प्रदर्शित किया है। अवन्ती प्रदेश की अत्यन्त सूक्ष्म भौगोलिक विशेषताओं का भी उन्होंने वर्णन किया है। 'मेघदूत' नामक काव्य में विरहिणी पत्नी को संदेश भेजने के लिए एक ओर तो यक्ष इतना अधिक आतुर है कि वह पुनः पुनः मेघ से शीघ्र जाने, मार्ग में शीघ्रगामी होने की प्रार्थना करता है; किन्तु वही यक्ष जब मेघ को अलका नगरी का मार्ग बताता है, उस समय स्वयं ही मेघ से आग्रह करता है 'हे मेघ! भले ही तुम्हारा मार्ग तनिक वक्र हो जाए, पर तुम उज्जयिनी अवश्य जाना।'[24] उज्जयिनी नगरी के प्रासाद, रमणियाँ, महाकाल मन्दिर की सन्ध्याकालीन शिवप्रार्थना, क्षिप्रा नदी—आदि के विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन से कालिदास का उज्जयिनी नगरी के साथ विशिष्ट सम्बन्ध परिलक्षित होता है। अतः अधिकांश विद्वान् कालिदास को उज्जयिनी का निवासी मानते हैं।

समय—जीवनवृत्त एवं निवास स्थल के समान ही कालिदास का समय निर्धारित कर सकना भी एक जटिल समस्या रही है। विभिन्न विद्वानों के शोधपूर्ण मत-मतान्तर प्राप्त होने पर भी इस विवाद में कमी नहीं आई है। इस अनिश्चय के अनेक कारण हैं। प्रथमतः, कालिदास के नाम के साथ जनश्रुतियों और किंवदन्तियों का एक घटाटोप जुड़ गया है। द्वितीयतः, कालिदास के ग्रन्थों में लेखक के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता। तृतीयतः, कालिदास के नाम से अनेक कृत्रिम रचनाएँ सम्बद्ध कर दी गई हैं। चतुर्थतः, कालिदास की काव्यमाधुरी से चमत्कृत संस्कृत साहित्य में परवर्ती काल में कालिदास एक नाम न रह कर एक उपाधि बन गया, फलतः विभिन्न शतियों के भिन्न भिन्न कवि कालिदास नाम से हमारे सम्मुख आते हैं।

कालिदास के समय के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एक तथ्य पर अवश्य सहमत हैं कि कालिदास और राजा विक्रमादित्य का परस्पर दृढ़ सम्बन्ध है। भारतीय जनश्रुति कालिदास

---

24. मेघदूत—पूर्वमेघ 29— वक्रः पन्थाः यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्संग प्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।

को सम्राट विक्रमादित्य के नवरत्नों में परिगणित करती है;[25] कालिदास के एक नाटक का नाम 'विक्रमोर्वशीयम् है;' कालिदास की अनेक उक्तियाँ सम्राट विक्रमादित्य के नाम को व्यंजित करती हैं[26], अत: कालिदास का स्थितिकाल सम्राट विक्रमादित्य के स्थितिकाल से सम्बद्ध अवश्य है।

किन्तु समस्या यही है कि कालिदास से सम्बद्ध विक्रमादित्य का स्थितिकाल ही निश्चित नहीं हैं। प्रथम शती ईस्वी पूर्व से लेकर छठी शती ईस्वी तक तीन विक्रमादित्य राजाओं का ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त होता है। यह सारा समय सात सौ वर्षों का है। अन्य तथ्यों के परीक्षण से भी यही सात सौ वर्षों का समय कालिदास के कालनिर्णय की दृष्टि से सम्मुख आता है। एक ओर कालिदस ने अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक का नायक शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र को बनाया है जिनका समय विक्रमपूर्व द्वितीय शती था। अत: कालिदास अग्निमित्र के बाद ही हुए होंगे। दूसरी ओर राजा हर्षवर्धन के मित्र एवं सभापण्डित महाकवि बाणभट्ट ने कालिदास के काव्य की बहुमुखी प्रशंसा की है और बाणभट्ट का समय 606 ईस्वी से 648 ई. है, अत: कालिदास सातवीं शती ईस्वी से पूर्व हुए होंगे। इस प्रकार कालिदास का स्थितिकाल इन सात सौ वर्षों के बीच ही दोलायमान है। कालिदास के समय के सम्बन्ध में विद्वानों के प्रमुखतया तीन ही मत रहे हैं।

प्रथम—छठी शती ईस्वी का मत—डॉ. फर्ग्यूसन तथा डॉ. हार्नले प्रभृति विद्वानों ने इस मत का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार मालवनरेश यशोधर्मन् ने 544 ई. में हूणवंश के मिहिरकुल को पराजित करके विक्रमादित्य उपाधि धारण की और अपनी विजय को चिरस्मरणीय बनाने के लिए एक नवीन—विक्रम-संवत् प्रचारित किया। इस संवत् पर प्राचीनता का आवरण चढ़ाने की दृष्टि से उसने इसे 600 वर्ष पूर्व से प्रचलित माना। कालिदास इसी यशोधर्मन् के राज्यकाल में थे। डॉ. हार्नले ने प्रतिपादित किया कि एक तो रघुवंश में वर्णित रघु की राज्यसीमा भौगोलिक दृष्टि से यशोधर्मन् की राज्यसीमा के सदृश ही है। दूसरे, हूणों ने भारत पर 500 ईस्वी में आक्रमण किया था और कालिदास के ग्रन्थों में हूण, शक, पह्लव, यवन आदि जो नाम प्राप्त होते हैं, वे कालिदास को 500 ईस्वी से परवर्ती सिद्ध करते हैं।

किन्तु छठी शती इस्वी में कालिदास की स्थिति का यह मत विद्वज्जगत में प्रतिष्ठित नहीं हो सका। इसके विरुद्ध अनेक प्रबल आपत्तियाँ हैं। (1) हूण जाति भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर ईसा की प्रारम्भिक शतियों में ही आ चुकी थी; और रघुंवश काव्य में रघु ने हूणों को भारत के बाहर ही पराजित किया है। (2) अपनी विजय को चिरस्मरणीय बनाने के लिए नवीन संवत् का प्रवर्तन करने वाला राजा स्वयं ही उसे 600 वर्ष प्राचीन

25. ज्योतिर्विदाभरण 22/10—धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंह शंकु वेतालभट्टघटकर्परकालिदासा:।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते: सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥
26. दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।
अनुत्सेक: खलु विक्रमालंकार:।

क्यों प्रचारित करेगा? और जनता भी इसको क्यों कर स्वीकार करेगी? (3) छठी शती से पूर्व भी शिलालेखों में 529 मालव संवत् तथा 430 विक्रम संवत् प्राप्त होते हैं। (4) मन्दसौर में प्राप्त वत्सभट्टि रचित प्रशस्ति का समय 473 ई निश्चित है और इस प्रशस्ति पद्यों में कालिदास के ऋतुसंहार और मेघदूत काव्यों के श्लोकों की झलक स्पष्ट दीख पड़ती है।

इन समस्त तर्कों के आधार पर यशोधर्मन् के द्वारा नवीन संवत् की कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है और कालिदास का समय पाँचवी शती से पूर्व सिद्ध होता है। अत: डॉ. फर्ग्यूसन एवं डॉ. हार्नले का मत खण्डित होकर सर्वथा अमान्य ही हो गया है।

द्वितीय—प्रथम शती ईस्वी का मत—कालिदास की स्थिति प्रथम शती के राजा विक्रमादित्य के समय में मानने वाले विद्वानों में सर विलियम जोन्स, डॉ. पीटर्सन, आचार्य एस. राय, हरप्रसाद शास्त्री, प्रसिद्ध इतिहासकार गौरीशंकर हीराचन्द, आचार्य बलदेव उपाध्याय आदि प्रमुख हैं। सभी ने अपने मत की पुष्टि में भिन्न भिन्न तर्क प्रस्तुत किये हैं। इन समस्त प्रमाणों को बाह्य एवं अन्तरंग—इन दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें बाह्य प्रमाणों का एकत्र स्वरूप इस प्रकार है—

1. भारतीय जनश्रुति में उज्जयिनी के महाराजा विक्रमादित्य अत्यन्त प्रसिद्ध हुए हैं। इन्होंने शकों को उनके प्रथम आक्रमण में ही पराजित करके अपनी विजय के उपलक्ष्य में 57 ईस्वी पूर्व मे एक नया संवत् प्रचलित किया, जिसका नाम उसने अपने गण के नाम पर 'मालवगणस्थिति' रखा।

2. राजा हाल की गाथा सप्तशती (रचना प्रथम शती ईस्वी) में राजा विक्रमादित्य नामक एक उदार तथा पराक्रमी राजा का उल्लेख है। गाथा सप्तशती के टीकाकार गदाधर ने उस राजा को अपने भृत्य को एक लाख रुपये दान में देने वाला बताया है।[27]

3. कथासरित्सागर में भी उज्जयिनी के अत्यन्त प्रतापी एवं पराक्रमी नरेश विक्रमादित्य का उल्लेख आया है। इनके पिता राजा महेन्द्रादित्य थे। विक्रमादित्य ने वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया और उज्जैन में महाकाल मन्दिर का निर्माण कराया। कथासरित्सागर का यह वर्णन प्रामाणिक होना चाहिए, क्योंकि यह ग्रन्थ गुणाढ्य रचित बृहत्कथा पर आधारित है। बृहत्कथा तो अद्यावधि अनुपलब्ध है, किन्तु गणाढ्य का समय प्रथम शती ईस्वी निश्चित माना जाता है।

4. जैसे पहले भी कहा जा चुका है, भारतीय जनश्रुतियों के अनुसार कालिदास इन्हीं विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे।[28]

परीक्षण—प्रथम शती ईसापूर्व के उपर्युक्त राजा विक्रमादित्य से कालिदास का सम्बन्ध जोड़ने वाले विद्वानों के ये सारे आग्रह अधिक दृढ़मूलक नहीं दिखाई देते।

---

27. गाथासप्तशती 5/64— संवाहण–सुहरसतोस्सिएण दन्तेण तुहकरे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिखिअं विस्सा॥

28. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंह शंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासा:।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते: सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।

1. विक्रमादित्य ने जो संवत् प्रचारित किया था, उसका नाम विक्रमसंवत् न होकर 'मालवगणस्थिति' था। पाँचवीं शती में इस संवत् के मूल नाम के साथ साथ इसे विक्रम संवत् भी कहा जाने लगा। छठी शती तक ये दोनों ही नाम प्रचार में रहे। किन्तु छठी शती के बाद इस संवत् का मूल नाम तो लुप्त हो गया और उसके स्थान पर विक्रम संवत् ही रह गया। इस बड़े परिवर्तन के मूल में भी कोई बड़ी घटना ही होनी चाहिए। सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की वीरता, शौर्य आदि से प्रभावित जनमानस ने 'मालवगणस्थिति' के स्थान पर विक्रम संवत् प्रारम्भ एवं स्वीकार किया।

2. गाथा सप्तशती का उल्लेख बहुत प्रामणिक नहीं कहा जा सकता। गाथा सप्तशती का वर्तमान स्वरूप केवल प्रथम शती का नहीं है, क्योंकि उसमे चौथी पाँचवीं शती के कवि राजा प्रवरसेन और आठवीं शती के कवि वाक्पतिराज आदि का उल्लेख भी प्राप्त होता है। गाथा सप्तशती में उल्लिखित विक्रमादित्य की दानशीलता का वर्णन चन्द्रगुप्त द्वितीय पर अधिक सही उतरता है, जिसने लक्षावधि मुद्राएँ दान में दे डाली थी—'लक्षं कोटिमलेखयत् किल कलौ, दाता स गुप्तान्वयः।'

3. कथासरित्सागर के आधार पर विक्रमादित्य का वर्णन ऐतिहासिक सत्य नहीं है। गुणाढ्य की बृहत्कथा तथा सोमदेव का कथासरित्सागर आदि ग्रंथ कथाग्रंथ हैं। उनकी कथाएँ उपजीव्य बनकर भी प्रख्यात (इतिहास आदि) कोटि में स्वीकार नहीं की जाती, उत्पाद्य (काल्पनिक) ही कही जाती हैं।

4. इसी प्रकार केवल जनश्रुतियों के आधार पर कालिदास का समय प्रथम शती निर्धारित नहीं किया जा सकता। जनश्रुतियाँ अनेकशः भ्रामक भी होती हैं। उस श्लोक में विक्रमादित्य के जिन नवरत्नों के नाम परिगणित कराए गए हैं, वे सभी कवि समकालीन नहीं हैं। इनमें वराहमिहिर का समय छठी शती ईस्वी है और अमरकोष के रचयिता अमरसिंह का समय 414 ई. से 642 ई. के मध्य माना जाता है। फिर ऐसी भ्रामक जनश्रुति के आधार पर कालिदास का समय प्रथम शती सिद्ध कर देना कहाँ तक न्यायसंगत है?

प्रथम शती में कालिदास का समय मानने वाले विद्वानों के द्वारा जो बाह्य प्रमाण दिए जाते हैं, उनका परीक्षण तो किया जा चुका। इनके अतिरिक्त भी प्रथम शती में कालिदास की स्थिति के लिए कई ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किए जाते हैं,जो कालिदास के ग्रन्थों के अन्तरंग परीक्षण से उपलब्ध होते हैं।

1. कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक लिख कर अपने आश्रयदाता विक्रमादित्य का नाम अमर करना चाहा है तथा अन्यत्र भी 'विक्रम' शब्द का बहुशः प्रयोग किया है।

2. कालिदास और अश्वघोष के काव्यों में अनेक स्थानों पर पर्याप्त साम्य है। कुमारसम्भव में रतिविलाप तथा सौन्दरनन्द में सुन्दरी-विलाप;रघुवंश में अजविलाप तथा सौन्दरनन्द में नन्दविलाप; रघुवंश में इन्दुमती के साथ लौटे हुए अज के दर्शन हेतु और बुद्धचरित में बुद्ध के दर्शन हेतु स्त्रियों की भीड़ और उनकी विविध चेष्टाओं के वर्णन आदि स्थल ऐसे ही साम्य स्थल हैं। अश्वघोष के अनेक प्रसंगों, कल्पनाओं और शब्दोक्तियों

पर कालिदास का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है।[29]

3. इलाहाबाद के निकट भींटा नामक स्थान में एक मृण्मय पदक प्राप्त हुआ है, जिस पर हरिण का पीछा करने वाले राजा का चित्र बना हुआ है। इस पदक का समय पुरातत्त्ववेत्ताओं ने शुंगकाल (87-73 ईसा पूर्व) निश्चित किया है। यह चित्र कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के प्रथम अंक की एक घटना से बिल्कुल मिलता हुआ है। अत: कालिदास का समय ईसा पूर्व प्रथम शती है।

4. मालवा का सम्राट् विक्रमादित्य शैव था और अपने आश्रयदाता के धर्म के अनुकूल ही कालिदास भी शैव थे। कालिदास की शिवभक्ति उनके ग्रन्थों से स्वत: प्रगट होती है।

5. रघुवंश के इन्दुमती स्वयंवर (सर्ग 6) वर्णन में उरगपुर (प्राकृत शब्द उरय्यूर) राजधानी के राजा पाण्ड्य का भी वर्णन आया है। यह नगर दक्षिण में था और वहाँ पाण्ड्य राजाओं का राज्य प्रथम शती में था। अत: कालिदास प्रथम शती के बाद नहीं हो सकते।

परीक्षण—विद्वानों द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त सारे प्रमाण भी परीक्षण की कसौटी पर खरे एवं निष्पक्ष नहीं सिद्ध होते। 'विक्रमोर्वशीयम्' नाम अथवा विक्रम शब्द का बहुश: प्रयोग केवल प्रथम शती ईसा पूर्व के विक्रमादित्य का सूचक क्यों मान लिया गया? ये प्रयोग तो किसी भी विक्रमादित्य से सम्बद्ध हो सकते हैं। 'विक्रम' शब्द का प्रयोग कालिदास ने सर्वत्र पराक्रम अर्थ में किया है। किसी भी स्थल पर 'विक्रम' शब्द से अन्य कोई संकेत प्राप्त नहीं होता। अश्वघोष एवं कालिदास के काव्यों में कई स्थलों पर अद्भुत साम्य अवश्य है, किन्तु वहाँ भी कालिदास पर अश्वघोष का ऋण मानना अधिक समीचीन है। अश्वघोष मूलत: दार्शनिक थे जो केवल धर्म प्रसार की दृष्टि से काव्यरचना में प्रवृत्त हुए। कालिदास तो कवित्व के चूडान्त निदर्शन हैं। अश्वघोष की शब्दावली की अपेक्षा कालिदास की पदशय्या में अधिक लालित्य एवं माधुर्य है। कालिदास ने अश्वघोष से कल्पना का बीजमात्र अवश्य ग्रहण किया। किन्तु अश्वघोष की रूढ़ कल्पना कालिदास में नितान्त रसपेशल रूप में प्रस्फुटित हुई। इसके अतिरिक्त कालिदास के अश्वघोष से परवर्ती होने का एक प्रबल प्रमाण और है। और यह है 'प्रागेव' शब्द का 'किमुत' अर्थ में दोनों कवियों के द्वारा प्रयोग। अश्वघोष ने अपने काव्यों में सर्वत्र 'प्रागेव' शब्द का प्रयोग 'किमुत' अर्थ में किया है। किन्तु इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग कालिदास की प्रारम्भिक रचना ऋतुसंहार में केवल एक बार प्राप्त होता है। कालिदास ने अश्वघोष से यह शब्द 'किमुत' अर्थ में ग्रहण किया और अपनी प्रथम रचना में उसका प्रयोग कर दिया। किन्तु 'प्रागेव' शब्द का कोषगत अर्थ यह नहीं है, यह तथ्य ध्यान में आ जाने पर कालिदास ने फिर कहीं भी 'प्रागेव' का प्रयोग 'किमुत' अर्थ में नहीं किया है। अत: कालिदास अश्वघोष

29. सौन्दरनन्द 4/642—सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ।
कुमारसम्भव 5/85—शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।
बुद्धचरित 10/4 एवं रघुवंश 2/47 आदि

से परवर्ती ही हैं। भींटा में प्राप्त मिट्टी के सिक्के पर जो चित्र प्राप्त हुआ है, उससे कालिदास का समय निर्धारण करना भ्रामक है। वह चित्र इतना अधिक अस्पष्ट है कि उसके अनेक रूप कल्पित किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त उस समय ऐसे दृश्य चित्रों की परम्परा का भी कोई अन्य उदाहरण नहीं मिलता है। प्रथम शती के विक्रमादित्य के शैव होने के कारण शैव कालिदास का सम्बन्ध उनसे जोड़ देना भी अनौचित्यपूर्ण है। गुप्त वंश के राजा वैष्णव थे, किन्तु उस समय कहीं भी धार्मिक असहिष्णुता नहीं थी। गुप्तवंशीय राजाओं के अनेक आचार्यों के द्वारा शिवलिंगों की प्रतिष्ठा कराए जाने के प्रमाण मिलते हैं। कालिदास शैव अवश्य थे, किन्तु उन्होंने शिव और विष्णु—दोनों पर समान भक्ति प्रदर्शित की है। कालिदास के तीनों ही काव्य इस तथ्य के प्रमाण हैं कि कालिदास की जितनी श्रद्धा शिव पर थी, उतनी ही राम पर भी थी। अतः उदारनीतिवादी एवं धार्मिक सहिष्णु गुप्तवंशी राजाओं के राज्य में कालिदास की स्थिति क्यों नहीं स्वीकार की जा सकती? रघुवंश के इन्दुमती स्वयंवर में पाण्ड्य राजा के उल्लेख से कालिदास का स्थितिकाल खोजना भी पूर्वाग्रह मात्र है। इन्दुमती स्वयंवर में पाण्ड्य राजा की राजधानी उरगपुर कही गई है किन्तु उरगपुर या उरय्यूर किसी भी समय पाण्ड्यों की राजधानी रही हो, यह ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाणित नहीं होता। इसके विपरीत इतिहास से यह अवश्य सिद्ध होता है कि तृतीय शती ईस्वी में पाण्ड्य राजाओं की राजधानी मदुरा थी। तमिल भाषा में मदुरा का अर्थ अलवाय है। अलवाय का अर्थ है नाग और नाग तथा उरग परस्पर पर्यायवाची हैं। इस प्रकार मदुरा को उरगपुर मान लेने पर विद्वानों का यह तर्क कालिदास का समय चतुर्थ शती की ओर ले जाता है। क्योंकि तृतीय शती में होने वाले राजाओं का वर्णन प्रथम शती का कवि नहीं कर सकता; चतुर्थ शती का कवि ही कर सकता है। इस समस्त परीक्षण के आधार पर कालिदास का प्रथम शती ईस्वी पूर्व होना कदापि प्रमाणित नहीं होता है।

तृतीय-गुप्तकालीन मत—भारत के इतिहास में स्वर्णयुग नाम से प्रख्यात गुप्तकाल को कालिदास का समय घोषित करने में अनेक विद्वानों का प्रबल आग्रह रहा है। पाश्चात्य विद्वानों में डॉ. कीथ इसके प्रबलतम समर्थक रहे। उनके अतिरिक्त भी व्यूहलर, कीलहार्न, मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों और डॉ. रामकृष्ण भण्डारकर, साहित्याचार्य पण्डित रामावतार शास्त्री तथा डॉ. सूर्यकान्त आदि भारतीय विद्वानों ने भी इस मत का समर्थन किया है। इस गुप्तकाल में भी प्रोफेसर के.बी. पाठक के मतानुसार कालिदास स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के समय में हुए, जिनका राज्यकाल 455 ईस्वी से 480 ईस्वी तक रहा। किन्तु अन्य समस्त विद्वज्जन कालिदास की स्थिति चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (380 ईस्वी से 413 ईस्वी) के समय में स्वीकार करते हैं। यही मत सर्वाधिक समीचीन भी प्रतीत होता है। इस काल के पक्ष में प्रमुखतया निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं।

1. इतिहास तथा साहित्य में चन्द्रगुप्त द्वितीय की प्रसिद्धि 'शकाराति' रूप में व्याप्त है। इसने 365 ईस्वी के लगभग काठियावाड़ के आसपास के शकों का मूलोच्छेद करके उनका समस्त प्रदेश राज्य में मिला लिया था तथा विक्रमादित्य का विरुद धारण किया था। यह तथ्य तत्कालीन मुद्राओं एवं शिलालेखों से प्रमाणित है। शकारि चन्द्रगुप्त द्वितीय

ने अपनी प्रान्तीय राजधानी भी उज्जयिनी को ही बनाया था, जो कालिदास की प्रिय नगरी है। (द्रष्टव्य—कालिदास का स्थान)

2. चन्द्रगुप्त द्वितीय स्वयं विद्वान् था और कवियों का आश्रयदाता था। काव्यमीमांसा में स्पष्ट उल्लेख है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उज्जयिनी की विद्वत्परिषद् के समक्ष अपनी विद्वत्ता की परीक्षा दी थी। ऐसे गुणी एवं उदार राजा के आश्रय में कालिदास की स्थिति स्वीकार कर लेने पर विभिन्न जनश्रुतियों की संगति भी ठीक बैठ जाती है।

3. कालिदास ने रघुवंश में रघु की दिग्विजय का जो वर्णन किया है, वह चन्द्रगुप्त द्वितीय के पिता समुद्रगुप्त की दिग्विजय पर आधारित है। क्योंकि हरिषेण रचित प्रयाग प्रशस्ति के शिलालेख में समुद्रगुप्त की दिग्विजय का वर्णन भी वैसा ही है।

4. दिग्विजय वर्णन में ऐसा साम्य पाए जाने के कारण कालिदास के 'मालविकाग्नि-मित्रम्' नाटक में वर्णित अश्वमेघ यज्ञ समुद्रगुप्त के द्वारा किए गए अश्वमेघ यज्ञ का ही सूचक हो सकता है।

5. पहले विवेचना की जा चुकी है कि कालिदास की अनेक कल्पनाओं में अश्वघोष से पर्याप्त साम्य है तथा कालिदास अश्वघोष के ऋणी हैं। कालिदास की भाषा शैली अश्वघोष से परवर्ती काल की है।

6. रघुवंश महाकाव्य के इन्दुमती स्वयंवर में मगधराज के लिए जो उपमान या विशेषण (रघुवंश 6/22) प्रयोग किए गए हैं, वे चन्द्रगुप्त की ओर संकेत करते हैं।

7. कालिदास ने अपने काव्यों में गुप् धातु का वहुलतया प्रयोग किया। यद्यपि सर्वत्र इसका अर्थ रक्षा करना ही है तथापि कालिदास ने गुप् धातु की समानार्थक रक्ष्, पा, त्रै, आदि धातुओं का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम किया है। इसमें कवि का कुछ विशिष्ट अभिप्राय ही रहा होगा। अत:, गुप्, गोप्ता, गोप्तरि आदि शब्दों का बारंबार प्रयोग गुप्त समय का ही सूचक है।

8. कालिदास के कुमारसम्भव महाकाव्य की रचना चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म पर की गई प्रतीत होती है।

9. कालिदास ने वात्स्यायन के कामसूत्र का भली भाँति अध्ययन किया था, यह उनके ग्रन्थों से स्पष्ट है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में अपनी पुत्री को पतिगृह भेजते समय कण्व ने उसे जो सुन्दर उपदेश दिया है (शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्ति....) वह श्लोक वात्स्यायन के कामसूत्र के भार्याधिकारिक नामक अधिकरण पर ही आधारित है। वस्तुत: इस श्लोक के आधे से अधिक शब्द भी वही हैं।[30] कामसूत्र में वर्णित राजकीय परिस्थितियों के आधार पर वात्स्यायन का समय तृतीय शती ईस्वी का मध्य भाग माना जाता है। अत: कालिदास का समय वात्स्यायन के पश्चात् चतुर्थ शती मानना समीचीन ही है।

10. वत्सभट्टि रचित मन्दसौर का शिलालेख (473-74 ई.) निश्चय ही कालिदास की काव्यरचना के उपरान्त लिखा गया। उसमें ऋतुसंहार तथा मेघदूत के कितने ही पद्यों की झलक स्पष्ट दीख पड़ती है; अत: कालिदास का समय इससे तनिक ही पूर्व होना चाहिए।

30. वात्स्यायन—कामसूत्र—भार्याधिकारिक अधिकरण, प्रथम तथा द्वितीय अध्याय

उपर्युक्त समस्त तथ्यों से निष्कर्ष यही निकलता है कि महाकवि कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय (380 ई. से 413 ई.) के समय में हुए। इस मत के विरुद्ध सर्वाधिक प्रमुख आपत्ति यह की जाती है कि चन्द्रगुप्त का वास्तविक नाम विक्रमादित्य नहीं था, यह नाम तो उसने उपाधि अथवा विरुद के रूप में धारण किया था। प्रथम शती ईसा पूर्व के राजा विक्रमादित्य का तो वास्तविक नाम यही था। इसीलिए चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ विक्रम संवत् को जोड़ देना आपत्तिजनक है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय तो उनके पितामह के द्वारा प्रवर्तित गुप्त संवत् ही प्रचलित था। पर इस आपत्ति का सम्पूर्ण स्वरूप ही निराधार एवं भ्रामक है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के गुणों और वीरतापूर्ण कार्यों के कारण उसे विक्रमादित्य उपाधि मिली, इसमें सन्देह नहीं है। गुप्त संवत् का प्रचार केवल गुप्त समय तक ही रहा। बाद में गुप्त संवत् और मालव संवत्—दोनों के स्थान पर ही विक्रम संवत् प्रयोग किया जाने लगा। अत: कालिदास भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग में ही हुए थे। यह वही समय था जब जनता की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि, नितान्त लोकनुरञ्जक राजा, ज्ञान, विज्ञान तथा कला की चहुँमुखी उन्नति, धार्मिक सहिष्णुता, सुन्दर राजकीय शासन आदि सभी गुण एक साथ विद्यमान थे। कालिदास के ग्रन्थों में जिस सुखमय तथा शान्तिपूर्ण एवं समृद्ध समाज का चित्रण प्राप्त होता है, वह चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही समय है। ''निश्चयपूर्वक यही कहा जा सकता है कि कालिदास उस युग और प्रदेश में हुए, जहाँ ब्राह्मणोचित तप का संवर्धन हो रहा था, क्षत्रियोचित दिग्विजय की प्रसिद्धि काम्य थी, वैश्यों ने आधिभौतिक विलास की सामग्री प्रदान की थी और शूद्रों ने शिल्पकला से वसुन्धरा को सौन्दर्यशालिनी बनाया था। ये सभी बातें भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग का सङ्केत करती हैं और हम मान सकते हैं कि कालिदास के व्यक्तित्व के निर्माण का श्रेय गुप्तयुग या तत्सम समृद्ध युग को है।''[31]

मेरी सम्मति में कालिदास के गुप्तयुगीन होने के दो प्रबल प्रमाण ऐसे हैं, जिस ओर अभी तक विद्वानों की दृष्टि नहीं गई है। प्रथमत:, किसी भी उत्कृष्ट कवि की रचनाओं के आनन्द मे आकण्ठ निमग्न हो जाने पर जनता के हृदय एवं मस्तिष्क से पूर्ववर्ती कुछ न्यून रचनाएँ लुप्त होने लगती हैं और द्वितीयत:, परवर्ती रचनाकार उस उत्कृष्ट कवि की भाषा-शैली का जाने अनजाने अनुकरण अवश्य कर उठते हैं। गुप्तयुग में कालिदास का समय निर्धारण होने में ये दोनों ही तथ्य सिद्ध हो जाते हैं। प्रोफेसर मैक्समूलर ने ईसा की प्रारम्भिक शतियों को संस्कृत सीहत्य का अन्धकार युग कहते हुए काव्य के पुनर्जागरण सिद्धान्त का जो प्रतिपादन किया था—वह वस्तुत: अन्धकार युग नहीं था। काव्य रचनाएँ तो होती ही रही थीं किन्तु वे कालिदास के रसनिर्भर काव्यों के सम्मुख कालजयी न बन पाईं और विस्मृति के गह्वर में लुप्त हो गईं। इसीलिए कालिदास से दो तीन शती पूर्व तक की कोई काव्य रचना प्राप्त नहीं होती। दूसरी ओर, कालिदास के तुरन्त पश्चात् वत्सभट्टि का शिलालेख न केवल कालिदास की सी भाषा शैली का आश्रय लेता है, अपितु मेघदूत के पद्यों का भाव भी अविकल रूप में ग्रहण कर लेता है। अत: कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में निर्धारित करना ही सर्वाधिक समीचीन है।

31. उपाध्याय, रामजी—संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम भाग पृष्ठ 176

जीवन परिचय—पहले उल्लेख किया ही जा चुका है कि कालिदास का समस्त जीवन विभिन्न भ्रामक जनश्रुतियों से घिरा हुआ है। उनके सम्बन्ध में साक्षातरूपेण कुछ भी ज्ञात नहीं होता। किन्तु कालिदास के ग्रन्थों के आधार पर उनके जीवन की एक रूपरेखा अवश्य निश्चित की जा सकती है।

जाति से कालिदास ब्राह्मण जान पड़ते हैं। इसीलिए उनके काव्यों में यज्ञों, मन्दिरों, तपश्चर्या, तपस्वियों, ऋषियों आदि के चित्र अत्यधिक तन्मयता से प्रस्तुत हुए हैं। वे शैव मतावलम्बी थे। अन्य समस्त देवों के प्रति आदर भाव प्रदर्शित करने पर भी वे परम शैव थे। उनके सारे ही काव्यों एवं नाटकों में शिवभक्ति आद्यन्त दीख पड़ती है। राजपरिवार एवं राज्यसभा से उनका सम्पर्क रहा। स्वयं भी वे पर्याप्त समृद्ध रहे होंगे, क्योंकि दरिद्रता एवं अभाव के चित्र उनके काव्यों में प्राप्त नहीं होते। मेघदूत में तत्कालीन भारत का जैसा सुन्दर, स्वाभाविक एवं क्रमिक भौगोलिक वर्णन हुआ है, उससे स्पष्ट होता है कि कालिदास ने भारत की विस्तृत यात्रा की थी। कालिदास का शास्त्रज्ञान एवं पांडित्य अत्यधिक विविध एवं विस्तृत था। वेद, उपवेद, दर्शन, उपनिषद् विद्या, पुराण, रामायण-महाभारत, व्याकरण, राजनीति, ज्योतिष, कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र, संगीत, चित्रकला आदि का उन्होंने गम्भीर अनुशीलन किया था।

कालिदास के ग्रन्थ—कालिदास के समय निर्धारण अथवा जन्मस्थल की ही भाँति कालिदास रचित वास्तविक रचनाओं का निर्णय कर सकना भी नितान्त दुरूह रहा है। इसका प्रमुखतम कारण यह है कि कालिदास की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर अनेक परवर्ती कवियों ने अपनी कृतियाँ कालिदास के नाम से प्रचारित कर दीं। दसवीं शती के प्रसिद्ध कवि राजशेखर ने तीन कालिदासों का उल्लेख किया है।[32] सम्प्रति लगभग चालीस ग्रन्थ कालिदास के नाम से प्रचलित हैं। किन्तु इनमें से सात रचनाएँ निःसंशय रूप से महाकवि कालिदास रचित ही स्वीकार की गई हैं। ये सातों रचनाएँ काव्य की एक विधा में नहीं हैं अपितु महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक आदि भिन्न भिन्न विधाओं में हैं—

महाकाव्य—कुमारसम्भव तथा रघुवंश

नाटक—मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम्

खण्डकाव्य—ऋतुसंहार तथा मेघदूत

वर्तमान अध्याय महाकाव्य से सम्बद्ध होने कारण इसमें कालिदास के केवल महाकाव्यों का अध्ययन किंवा विवेचन ही प्रासंगिक है।

कुमारसम्भव—यह महाकाव्य कालिदास की उत्कृष्ट काव्यशैली का परिचायक है। हिमालय की पुत्री पार्वती घोर तपस्या करके शिव को पति रूप में प्राप्त करती हैं। इस दिव्य नायक और नायिका के मिलन से कुमार कार्तिकेय का जन्म होता है जो देवताओं के सेनापति बन कर तारकासुर का वध करते है और विश्व के अभूतपूर्व कल्याण के उन्नायक बनते हैं। संक्षिप्त रूप में यही कुमारसम्भव की कथा है। कुमारसम्भव की इस

32. सूक्तिमुक्तावली— एको न जीयते हन्त कालिदासेन केनचित्।
श्रृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥

कथा का प्रमुख उपजीव्य ग्रन्थ महाभारत है। महाभारत के शान्तिपर्व एवं अनुशासन पर्व में शिव एवं पार्वती के विवाह की यह कथा अनेक अध्यायों में वर्णित है। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड में भी शिव पार्वती की यह कथा उपलब्ध होती है, किन्तु कुमारसम्भव की कथावस्तु पर महाभारत का प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर होता है। कालिदास की कल्पनाप्रवणता ने प्रख्यात कथावस्तु में जिस प्रकार के नाटकीय मोड़ दिए हैं, उससे कथा का रूप श्रव्य से बढ़कर दृश्य होने की योग्यता रखता है।

कुमारसम्भव में सत्रह सर्ग हैं। इनमें से प्रथम आठ सर्ग ही कालिदास की मूल कृति माने जाते हैं। विद्वानों की मान्यता है कि अन्य नौ सर्गों को किसी अवर लेखक ने कुमारसम्भव में इसलिए जोड़ दिया, जिससे कालिदास की इस कृति पर महाकाव्य के लक्षण घटित हो सकें। भाषा, भावाभिव्यञ्जना, वर्णना प्रकार , छन्दयोजना—किसी भी दृष्टि से ये अन्तिम नौ सर्ग कालिदास की अन्य रचनाओं से तो क्या, प्रथम आठ सर्गों से ही भिन्न दीखते हैं। मल्लिनाथ की प्रसिद्ध संजीवनी टीका कुमारसम्भव के प्रथम आठ सर्गों पर ही लिखी गई है। प्रथम आठ सर्गों मे ही विषय की दृष्टि से पूर्ण ऐक्य है। कुमारसम्भव के आठवें सर्ग में कालिदास ने शिव एवं पार्वती की रतिक्रीड़ा का अत्यन्त ही उन्मत्त एवं आपत्तिजनक वर्णन किया है; अत: यह सर्ग आलोचकों के तीव्र कटाक्षों का विषय बना। माना जाता है कि इन्हीं कटु आलोचनाओं के कारण कालिदास ने कुमारसम्भव महाकाव्य को अष्टम सर्ग पर ही समाप्त कर दिया। अन्तिम नौ सर्गों को कालिदास की रचना न मानने का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया गया है[33]—

1. परवर्ती सर्गों में वाग्बन्धों की अनेकश: पुनरावृत्ति मिलती है, जो कालिदास के ऋतुसंहार को छोड़कर अन्य किसी काव्य में नहीं है और कुमारसम्भव के प्रथम आठ सर्गों में तो है ही नहीं।

2. परवर्ती सर्गों में प्रादि समासों का बहुल्य है, जो कालिदास के अन्य काव्यों मे नहीं है।

3. पादपूर्ति के लिए अवाञ्छित पदों अलं, सद्य: आदि का प्रयोग इन परवर्ती सर्गों में अधिक है।

4. छन्दसम्बन्धी त्रुटियाँ इनमें प्रायश: मिलती हैं।

5. काव्यशास्त्र के रचयिताओं और टीकाकारों ने परवर्ती सर्गों को स्वीकार नहीं किया है। वे इनसे उदाहरण नहीं देते और इन पर टीकाएँ भी नहीं लिखी गई।

6. परवर्ती सर्गों में अलंकारों का चमत्कार नगण्य है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कुमारसम्भव के सांस्कृतिक सन्देश को स्पष्ट करते हुए कहा है—''कुमारसम्भव में कवि ने अपने जीवनदर्शन को बहुत बड़ी पट भूमिका पर रख कर व्यक्त करने का प्रयास किया है। त्याग के साथ ऐश्वर्य का और तपस्या के साथ प्रेम का मिलन होने पर ही स्त्री और पुरुष का प्रेम धन्य होता है। त्याग और भोग के सामञ्जस्य से ही जीवन चरितार्थ होता है। एकान्त वैराग्य से आसुरी शक्ति का दमन नहीं

33. द्विवेदी, हजारी प्रसाद—कालिदास की लालित्य योजना—पृष्ठ 18

हो सकता। भोग और वैराग्य के यथोचित सामञ्जस्य में ही जीवन की चरितार्थता है। जो प्रेम केवल शारीरिक आकर्षण पर निर्भर होता है, वह क्षणस्थायी होता है। जब तक वह तपस्या की अग्नि में तप कर नहीं निकलता, तब तक वह वन्ध्य है, निष्फल है। पार्वती का जीवन तपस्या और प्रेम का समाञ्जस्य है, शिव का भोग और वैराग्य का। कामदेव जड़ शारीरिक विषयों के आकर्षण का अधिदेवता है। सच्चा प्रेम गहराई में पलता है।''[34]

रघुवंश—संस्कृत मर्मज्ञों ने रघुवंश को कालिदास का सर्वोत्तम काव्य और संस्कृत साहित्य का उत्कृष्ट रत्न स्वीकार किया है। इसमें उन्नीस सर्ग हैं; जिनमें दिलीप से लेकर अग्निमित्र तक सूर्यवंशी राजाओं की उन्नीस पीढियों के राजाओं का चित्रण है। इन उन्नीस राजाओं में प्रारम्भिक छः राजाओं का वर्णन तो विस्तृत है, किन्तु उसके बाद के समस्त राजाओं का चित्रण अत्यन्त ही संक्षिप्त है। डॉ. चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार रघुवंश महाकाव्य के तीन खण्ड किए जा सकते हैं। प्रथम—रघुखण्ड—प्रारम्भ से आठवें सर्ग के अट्ठाइसवें श्लोक तक है। द्वितीय—राम-खण्ड—आठवें सर्ग में दशरथ जन्म से प्रारम्भ होकर पन्द्रहवें सर्ग की समाप्ति तक है। तृतीय—खिल या अन्वय खण्ड—अन्तिम चार सर्गों में परिशिष्ट रूप में है। डॉ. पाण्डेय द्वारा प्रस्तुत किए गए इस विभाजन का कारण बहुत स्पष्ट है। प्रारम्भ के नौ सर्गों में राजा दिलीप से दशरथ तक चार रघुवंशी राजाओं का चित्रण है। दसवें से पन्द्रहवें सर्ग तक कवि ने तन्मयता पूर्वक राम चरित का वर्णन किया है। कथा की उर्ध्वमुखी गति भी इसी सर्ग तक है। अन्तिम चार सर्गों में तो कथा अत्यन्त तीव्र गति से समाप्ति की ओर अग्रसर हुई है। इन चार सर्गों के राजाओं का जीवन एवं चरित्र भी अधिक स्पृहणीय नहीं रहा है। कवि जिस रघुवंश के वर्णन में अग्रसर हुए थे, उसकी विशेषताओं का उल्लेख उन्होंने प्रथम सर्ग में ही कर दिया था।[35] वे रघुवंशीय विशेषताएँ भी राम तक ही दिखाई पड़ती है; अतः रघुवंश महाकाव्य के अन्तिम चार सर्ग परिशिष्ट मात्र ही कहे जाने चाहिएँ।

इस महाकाव्य का नाम रघुवंश क्यों रखा गया, यह स्वयं महाकवि कालिदास ने ही स्पष्ट कर दिया है। राजा दिलीप की सेवा से प्रसन्न होकर नन्दिनी गौ ने जब दिलीप से वर मांगने का आग्रह किया, तब राजा दिलीप ने प्रणामाञ्जलि जोड़ कर अपनी पत्नी सुदक्षिणा में ऐसे पुत्र की याचना की जो वंश को बनाने वाला हो।[36] इसी प्रकार उत्पन्न पुत्र का नामकरण 'रघु' भी 'रघि' धातु के गमनीय अर्थ को समझ कर शास्त्रों के पारदृश्वा होने की कामना से किया गया था।[37]

---

34. द्विवेदी, हजारी प्रसाद—कालिदास की लालित्य योजना—पृष्ठ 25
35. रघुवंश 1/5.......9— सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥
....................रघूणामन्वयं वक्ष्ये।
36. रघुवंश 2/64— ततः समानीय स मनितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे॥
37. रघुवंश 3/21— श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम्।

यह महाकाव्य पौराणिक-प्रख्यात कथा सम्पन्न है। कालिदास ने वाल्मीकि रामायण से कथा ग्रहण करके भी उसमें अनेक परिवर्तन कर दिए हैं। दिलीप के वंशक्रम में कालिदास ने अनेक नाम वाल्मीकि से भिन्न दिए हैं तथा कहीं कहीं क्रम भी भिन्न है। रामकथा के कतिपय प्रसंग भी कालिदास ने भिन्न रूप में वर्णित किए है। कुमारसम्भव की अपेक्षा रघुवंश में कथा का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है; इसीलिए कालिदास की काव्यकला अपनी सम्पूर्ण छटा के साथ इस महाकाव्य में परिलक्षित होती है। आकर्षक चरित्रचित्रण, विशद रुचिर वर्णन, प्रौढ़ प्रतिभा, सुन्दर रसव्यञ्जना तथा सरल अलंकृत शैली—सभी का मणिकाञ्चन संयोग इस महाकाव्य में द्रष्टव्य है। राजा दिलीप के द्वारा नन्दिनी गौ की सेवा (सर्ग 2), कौत्स को दान (सर्ग 5), इन्दुमती स्वयंवर (सर्ग 6), अज विलाप (सर्ग 8), विमान के द्वारा राम सीता आदि का लंका से प्रत्यावर्तन (सर्ग 13), निर्वासिता सीता का सन्देश (सर्ग 14) आदि स्थल अत्यन्त प्रभावशाली एवं मार्मिक हैं। सभी मुख्य रसों का परिपाक इस महाकाव्य में हुआ है। वस्तुतः तो रघुवंश महाकाव्य में अपनी काव्यकला की उत्कृष्टता के कारण ही कालिदास कवियों के लिए आदर्श बने। इस महाकाव्य के सौन्दर्य से चमत्कृत होकर समीक्षकों ने कालिदास को रघुकार नाम ही दे डाला—'क इह रघुकारे न रमते।' इस महाकाव्य की लगभग चालीस टीकाएँ उपलब्ध होती हैं।

कालिदास की काव्यकला एवं वैशिष्ट्य—कालिदास सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके काव्यों में नैतिकता एवं आदर्श का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ है। कुमारसम्भव एवं रघुवंश—ये दोनों ही महाकाव्यत्व के लिए अपेक्षित सभी लक्षणों से सम्पन्न ही नहीं हैं, वरन् प्रत्येक तत्त्व अपनी सम्पूर्ण मनोहारिता एवं रमणीयता के साथ इन दोनों काव्यों में सिद्ध हुआ है। वस्तुतः कालिदास के युग तक काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रणयन की दृष्टि से केवल भरतकृत नाट्यशास्त्र ही था। महाकाव्य का प्रयोजन चतुर्वर्ग की साधना है और कुमारसम्भव तथा रघुवंश दोनों में ही लोकस्वभाव के उदात्त चित्रण के द्वारा चतुर्वर्ग की साधना का अनुपम चित्रण किया गया है। सम्प्रति महाकाव्य के विशिष्ट तत्त्वों की दृष्टि से इन काव्यों के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन उचित ही है।

कथावस्तु—कालिदास के दोनों ही महाकाव्यों की कथावस्तु प्रख्यात है। महाभारत एवं रामायण से अपने काव्यों की कथावस्तु ग्रहण करके कालिदास ने प्रयोजन एवं रसवत्ता की दृष्टि से उसमें अनेक परिवर्तन एवं परिवर्धन कर लिए हैं। सम्पूर्ण कथावस्तु में अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं एवं पञ्चसन्धि तथा सन्ध्यङ्गों का सुन्दर सन्निवेश कालिदास के काव्य कौशल का परिचायक है।

चरित्रचित्रण—कालिदास की चरित्रचित्रण कला की उत्कृष्टता एवं अनुपमेयता इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि कालिदास के काव्यों के पात्र अपने अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं को सँजोए हुए सहस्रों वर्षों के अन्तराल के पश्चात् भी चिर नूतन व सदा सुन्दर हैं। कालिदास की कालजयी लेखनी का स्पर्श पाकर वे सभी पात्र जीवन्त हो उठे हैं। पुरुष पात्र हों अथवा नारी पात्र—सभी के चरित्राङ्कन में कालिदास ने एक सा नैपुण्य प्रदर्शित किया है। शिव की पूजा के लिए तत्पर होती प्रणयव्याकुल पार्वती का मुग्धा

स्वरूप हो[38], अथवा बटुवेशधारी शिव के विभिन्न आरोपों का तर्कपूर्वक उत्तर देती हुई गौरी का तपः कृश, गम्भीर, तेजस्वी रूप हो[39]; अकारण अपमानिता, निर्वासिता सीता का राम को सन्देश भेजते समय तेजोदीप्त रूप प्रस्तुत करना हो[40] अथवा रामाज्ञा से वन में त्याग कर लक्ष्मण के लौट जाने पर कुररी की भाँति करुण विलाप करके सम्पूर्ण विश्व को कातर बना देने वाला सीता का असहाय तथा प्रसववेदना से व्यथित रूप दिखाना हो[41]— सर्वत्र ही कालिदास अनुपमेय हैं। धीरोदात्त नायक के प्रतिमान रूप राम प्रिया सीता के सन्देश को सुनकर धीर, गम्भीर, स्थिरचित्त होते हुए भी हठात् साश्रुनयन हो गए[42]-राम के चरित्र का यह ओस से घिरा पौषचन्द्र सदृश रूप प्रत्येक सहृदय को राम के असहनीय एवं अकथनीय शोक से तदात्म कर देता है।

कालिदास की चरित्र चित्रण कला का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि उन्होंने पात्रों का एकांगी चित्रण न करके सर्वगत चित्रण किया है और इस प्रकार तत्तत् पात्र की योग्यता, सामर्थ्य एवं गुणों के प्रदर्शन के द्वारा उसके चरित्र को समुत्थापित किया है। कुमारसम्भव में नायक शिव परम योगी हैं एवं सदैव तपस्या में निरत रहते हैं।[43] परम ज्योतिस्वरूप शिव की सम्पूर्ण महिमा को ब्रह्मा तथा विष्णु भी नहीं जान पाते।[44] चहुँ ओर कामोन्मत्त उद्दीपक वातारण भी शिव की समाधि में विघ्न नहीं डाल पाता।[45] किन्तु वही शिव जब पार्वती की तपस्या से अभिभूत होकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर लेते हैं तो अत्यन्त कामपरवश सामान्य मनुष्य की भाँति प्रिया समागम के लिए उत्कण्ठित होकर विवाह तक के तीन दिनों को भी अत्यन्त कठिनता से व्यतीत कर पाते हैं—

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः।
कामपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः॥

(कुमारसम्भव 6/95)

पात्रों के चरित्र में भावों और आचरण का वैपरीत्य अत्यन्त सहजता एवं स्वाभाविकता से प्रदर्शित कर देना कालिदास की परम विशेषता है। शिरीष कोमला जो

---

38. कुमारसम्भव 3/52........56
39. कुमारसम्भव 5/74........83
40. रघुवंश 14/61
41. रघुवंश 14/68........मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः॥
42. रघुवंश 14/84 बभूव रामः सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।
    कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदहसुता मनस्तः॥
43. कुमारसम्भव 1/57........स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार।
44. कुमारसम्भव 2/58— स हि देवः पर ज्योतिस्तमः परे व्यवस्थितम्।
    परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिर्न मया न च विष्णुना॥
45. कुमारसम्भव 3/40— श्रुतांप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव।
    आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति॥

पार्वती रात्रि में करवट बदलने पर केशों से टूटे पुष्पों से भी कष्ट पाती थी[46], उसी पार्वती ने नियम धारण करके इतनी उत्कट तपस्या की, जिससे आकृष्ट होकर श्रेष्ठ ऋषिगण भी उसका दर्शन करने तपोवन में पहुँच गए—

कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासंगवतीमधीतिनीम्।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयःसमीक्ष्यते॥

(कुमारसम्भव 5/16)

इसी प्रकार रघुवंश महाकाव्य में दिलीप, रघु, राम आदि के चरित्र चित्रण में भी कालिदास की उत्कृष्ट कला के सुन्दर चित्र प्राप्त होते हैं। राजा दिलीप सर्वाधिक पराक्रमी हैं जिन्होंने अपने तेज से सभी को आक्रान्त कर लिया है[47]; किन्तु वही दिलीप गुरु की आज्ञा मात्र से वन्यवृत्ति होकर अहर्निश गौ सेवा में संलग्न हो जाते हैं।[48] राजा रघु दिग्विजय करके परम यशस्वी एवं शोभासम्पन्न हुए किन्तु विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दान करके भी उनकी शोभा कम नहीं हुई[49], अपितु वे उसी प्रकार अधिक प्रशंसनीय हो गए जिस प्रकार देवताओं के द्वारा क्रमशः अमृत पी लिए जाने पर चन्द्रमा का कलाक्षय उसकी वृद्धि की अपेक्षा अधिक प्रशंसा योग्य होता है—

स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः॥

(रघुवंश 5/16)

कालिदास की चरित्रचिरण कला की एक और विशेषता यह है कि कालिदास ने अपने दिव्य पात्रों में मानवीय गुणों एवं सहज भावों का अभिनिवेश करके उन्हें यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत किया, जिससे वे सहृदय रसिक के हृद्य और प्रिय बन गए। परम योगी एवं परम भोगी के रूप में शिव का उदाहरण दिया जा चुका है। दूसरी ओर कालिदास मानव पात्रों में दिव्य गुणों का आधान करके उन्हें आदर्श का उपमान बना देते है। रघु एवं राम के चरित्र इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

रसपरिपाक—कालिदास नितान्त रससिद्ध कवि हैं। कालिदास ने अपनी रसवादी कला के द्वारा काव्य के सौन्दर्य में जिस अपूर्व चारुता का सम्पादन किया है, उसी के वशीभूत होकर विभिन्न आलोचकों ने उन्हें रसेश्वर, रससिद्ध और रसवादी कवि कहा। कालिदास के महाकाव्यों में मानवीय जीवन के सभी भावों का चित्रण होने के कारण करुण, वीर, अद्भुत, भयानक आदि सभी काव्यरसों का परिपाक यथास्थान हुआ है। किन्तु 'गम्भीर रसों के प्रति कालिदास की उतनी अभिरुचि नहीं दिखाई देती।' कालिदास तो कोमल रसों के सरस चित्रकार हैं, इसीलिए श्रृंगार रस के चित्रण और वर्णन में उनका

---

46. कुमारसम्भव 5/12— महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले॥
47. रघुवंश 1/14
48. रघुवंश 1/94-95
49. रघुवंश 4/26........84; 4/86; 5/15;

मन अधिक रमा है। रसराज शृंगार के सभी विविध पक्षों का कालिदास ने सुन्दर मण्डन किया है, किन्तु पुनः कोमलता एवं सरसता की दृष्टि से कालिदास के काव्य में संयोग शृंगार का ही अधिक चित्रण है। प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि कालिदास ने रघुवंश एवं कुमारसम्भव में संयोग शृंगार के चित्रण के किसी भी अवसर को व्यर्थ नहीं जाने दिया है। कुमारसम्भव का अष्टम सर्ग एवं रघुवंश का उन्नीसवाँ सर्ग तो संयोग शृंगार की कामक्रीड़ाओं के कारण अश्लीलता की परिधि में आ जाता है, किन्तु अन्यत्र शृंगार के अनेक रस भीने चित्र पाठकों को सहजतया आकृष्ट कर लेते है।[50] स्थल स्थल पर शृंगारिक चेष्टाओं, भावों, अनुभावों, संचारी भावों के अनेक सुन्दर दृश्य कालिदास ने प्रस्तुत किए हैं।[51] इन्दुमती स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए आए हुए विभिन्न राजाओं के साभिप्राय शृंगारिक आचरण तो पण्डितमण्डली में प्रसिद्ध ही रहे हैं।[52] अज को देखकर अचानक ही अभिलाषा युक्त हुई इन्दुमती शालीनता के कारण हृद्गत भाव को कह तो न सकी, किन्तु गात्रयष्टि में उत्पन्न हुए रोमांच समूह के रूप में वह अभिलाषा प्रगट हो ही गई—(रघुवंश 6/81)

सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्चलक्ष्मेण स गात्रयष्टिं भित्वा निराक्रामदरालकेश्या॥

स्त्री स्वयं अपने मुख से अपने प्रणय का कथन नहीं कर पाती, किन्तु अपने प्रिय के प्रति उसके हाव-भाव, विभ्रम-विलास आदि ही उसके प्रणय के सूचक होते हैं—स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु। इन्दमती के उपर्युक्त वर्णन में यही तथ्य स्पष्ट होता है। कुमारसम्भव में प्रेमपरवशा पार्वती का ऐसा चित्र भाषा संयोजन तथा भावाभिव्यञ्जन-दोनों ही दृष्टियों से अनुपम रहा है—(कुमारसम्भव 5/85)

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः, शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥

स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वेद, कम्पन आदि सात्विक भावों के सम्यक् चित्रण से मुग्धा पार्वती का यह चित्र पाठक के हृदय में मानों तत्क्षण प्रतिबिम्बित हो उठता है।

शृंगार की मानवोचित चेष्टाओं को प्रकृतिजगत में आरोपित करके कालिदास ने शृंगार के उद्दीपन पक्ष को बहुत सबल बना दिया है। रघुवंश के नवें सर्ग में छहों ऋतुओं के वर्णन में प्रकृतिगत शृंगार के अनेक सुन्दर श्लोक प्राप्त होते हैं।[53] कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में शिवसमाधि भङ्ग करने के लिए तत्पर कामदेव के स्वागत में वसन्त शोभा का वर्णन

50. कुमारसम्भव 3/67,68 हरस्तु किञ्चित्परिलुप्त धैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे विम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।
विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरत्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनानि॥

51. रघुवंश 13/16; 16/57........70; कुभारसम्भव 8/16, 18 आदि।

52. रघुवंश 6/12........19

53. रघुवंश 1/24........47

करते समय संयोग शृंगार के आलम्बन एवं उद्दीपन-दोनों ही पक्ष सुन्दरतया चित्रित हुए हैं। एक ओर तो एक ही पुष्प से मकरन्द पान करते भ्रमरी भ्रमरी; प्रिय स्पर्श से बन्द नेत्र वाली हरिणी के नेत्र को सींग से खुजलाता हुआ हरिण; सूंड में सुगन्धित जल भर कर प्रिय को पिलाती हुई हस्तिनी; आधी खाई कमलनाल प्रिय चकवी को भेंट करता हुआ चकवा आदि कितने ही संयोग शृंगार के प्रकृतिगत उद्दीपन दृश्य हैं[54], तो दूसरी ओर वासन्ती पुष्पों को धारण करके शिव के समीप आती हुई मानो पुष्पगुच्छ भार से किंचित् नमित नवीन पल्लवों वाली लता के सदृश पार्वती का आलम्बन रूप में चित्रण है[55], जिनको देखकर कामदेव के मन में शिव-विजय सिद्ध होने की आशा फिर बलवती हो गई—

तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि हि पदमादधानाम्।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंसे॥

(कुमारसम्भव 3/57)

कालिदास के काव्यों में विप्रलम्भ शृंगार के अवसर कम ही आए हैं। अजविलाप एवं रतिविलाप के प्रसंग करुण रस के हैं, वियोग शृंगार के नहीं। रावणवध करके पुष्पक विमान में प्रिया सीता के साथ लंका से लौटते हुए राम पृथ्वी पर वे सारे स्थल सीता को बताते हैं, जहाँ सीता का वियोग उन्हें असह्य रूप में व्यथित करता था।[56] स्मरण अलंकार के रूप में कथित ये श्लोक विप्रलम्भ शृंगार के सुन्दर उदारहण हैं।

कालिदास के काव्यों में वीर रस का चित्रण भी पर्याप्त रूप में प्राप्त होता है। कुमारसम्भव की कथा में तो वीर रस के लिए स्थान नहीं है किन्तु रघुवंश के अनेक सर्गों में वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। पिता दिलीप के यज्ञीय अश्व की रक्षा के लिए इन्द्र से युद्ध करने वाले रघु का पराक्रम (3/52—61); रघु की दिग्विजय यात्रा एवं अन्य राजाओं से युद्ध (4/26—85); विवाहोपरान्त इन्दुमती को लेकर राजधानी लौटते समय युवराज अज का द्वेषी राजाओं से विकट युद्ध एवं विजय लाभ (7/35—70); राम तथा रावण का युद्ध (12/90—100) आदि प्रसंग कालिदास के वीर रस निष्पत्ति के उत्तम निदर्शन हैं।

महाकाव्य में सभी रसों का अनुयोग होना चाहिए; इस दृष्टि से देखने पर कुमारसम्भव

---

54. कुमारसम्भव 3/36-37— मधुः द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियास्वामनुवर्तमानः।
श्रृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥
ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां सम्भावयामास रथाङ्गनामा॥

55. कुमारसम्भव 3/53,54— अशोक निर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्।
मुक्ताकलापी कृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती॥
आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनाम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव॥

56. रघुवंश 13/23........32

एवं रघुवंश में हास्य, वीभत्स, अद्भुत, रौद्र आदि रसों के प्रसंग भी प्राप्त हो जाते हैं[57], किन्तु ये सब रस अत्यल्प मात्रा में हैं। शृंगार एवं वीर के अतिरिक्त करुण ही एक ऐसा रस है, जिसके एक एक विस्तृत प्रसंग दोनों महाकाव्यों में उपलब्ध हैं।[58] इन दोनों प्रसंगों- रति विलाप एवं अजविलाप में भी कालिदास ने अधिकांशतया पूर्वानुभूत संयोग शृंगार के चित्रों को ही विलाप रूप में प्रस्तुत करके करुण रस की हृदयवेधक तीक्ष्णता को कम कर दिया है।

प्रकृति चित्रण—कालिदास के काव्यों में प्रकृति अपने स्वाभाविक विचित्र विलास के द्वारा स्पन्दित हुई है। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों के रूप-योजनात्मक एवं संश्लिष्ट चित्रण में कालिदास के प्रकृष्ट प्रकृति प्रेम का सहज परिचय प्राप्त हो जाता है। प्राकृतिक सुषमा का यथातथ्य चित्रण करते हुए भी उनमें एक अपूर्ण रमणीयता का समन्वय कर देना कालिदास की कला का ही चमत्कार है। इस महाकवि ने प्रकृति के भव्य, मनोरम, कोमल तथा सौन्दर्य परिपूर्ण स्वरूप के वर्णन का कोई अवसर नहीं छोड़ा है। कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में हिमालय का (1/1—16); तृतीय सर्ग में वसन्त ऋतु का (3/24—33); रघुवंश के प्रथम सर्ग में सामान्य प्रकृति का (1/38—43); द्वितीय सर्ग में पर्वतीय वन सुषमा का; नवम सर्ग में षड् ऋतुओं का; त्रयोदश सर्ग में आश्रमों, तपोवनों, नदियों, पर्वतों आदि के सौन्दर्य का—सर्वत्र ही प्रकृति के चित्रण में कालिदास अनुपमेय हैं। आकाश में विमान से यात्रा करते समय नीचे दूर तक फैले समुद्र तट की सुषमा अवलोकनीय तथा सहृदयजनसंवेद्य है—

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा॥

(रघुवंश 13/15)

अर्थात् 'दूर होने से लोहे के चक्र (पहिए) के किनारे की भाँति बहुत कृश तथा ताड़ और तमाल आदि वृक्षों के कारण नीला दिखाई देने वाला समुद्रतट ऐसे सुशोभित हो रहा है जैसे चक्र की धार पर जंग लग गया हो।'

गंगा एवं युमना के संगम के पवित्र तथा प्राकृतिक स्वरूप का चित्रण (13/54—58) करते समय कालिदास की लेखनी मानो विश्राम ही नहीं लेना चाहती। श्वेत जल वाली गंगा और कृष्ण जल वाली यमुना की लहरों के पारस्परिक सम्मिलन के लिए अत्यन्त सुन्दर उपमानों की झड़ी सी लगा कर कालिदास ने संगम का वह वर्णन किया है।

कालिदास के काव्यों में मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक तादात्म्य का किञ्चित् संकेत किया जा चुका है। कालिदास ने प्रकृति को अत्यधिक संवेदनशील और मानवीय भावनाओं से परिपूर्ण समझा एवं चित्रित किया था। प्रकृति भी मनुष्य के सदृश ही सुख और दुख का अनुभव करती है। अथवा यों कहें कि प्रकृति मनुष्य के सुख एवं दुख में

57. कुमारसम्भव 5/70; रघुवंश 7/50; कुमारसम्भव 5/84; कुमारसम्भव 3/71 आदि।
58. कुमारसम्भव 4/4........38 रतिविलाप; रघुवंश 8/44........69 अजविलाप; रघुवंश 13/24, 25

सहभागी बनती है और उसकी हितकामना में मनुष्यवत् आचरण भी करती है। पञ्चवटी में सीता के अपहृत हो जाने पर जब राम विलाप करते हुए सीता की खोज मे तत्पर हुए, तो लताओं ने कृपापूर्वक अपनी डालियाँ उस ओर झुका कर और हरिणियों ने दक्षिण की ओर पलकें उठाकर सीता के अपहरण की दिशा बताई थी।[59] अग्रज की आज्ञा से लक्ष्मण अपनी पतिव्रता भाभी को वन में छोड़ने के लिए गए तो मार्ग में गंगा थीं। ऊंची-ऊंची लहरों रूपी हाथ को हिला हिला कर गंगा मानों लक्ष्मण को निषेध कर रही थी कि ऐसा मत करो, मत करो—

गुरोर्नियोगाद्वनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन्।
अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात्॥

(रघुवंश 14/51)

इसी प्रकार लक्ष्मण जब सीता को वाल्मीकि आश्रम के पास त्याग कर लौट गए तो असहाय सीता के साथ सारी प्रकृति भी रो उठी—

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि॥

(रघुवंश 14/69)

अर्थात् 'मयूरों ने नृत्य करना बन्द कर दिया, वृक्षों ने पुष्प (रूपी आँसू) गिराए और हरिणियों ने मुँह में भरी दूब का ग्रास गिरा दिया। सीता के दुखी होने पर उसके दुख से दुखी सम्पूर्ण वन भी रोने लगा।'

कलापक्ष—भावपक्ष की भाँति ही कालिदास के काव्यों का कलापक्ष भी अत्यन्त परिष्कृत एवं शोभनीय है। स्त्री के विभिन्न रूपों का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक एवं हृदयग्राही चित्रण कालिदास ने किया है। कन्या का मुग्ध प्रणयविह्वल रूप हो या दाम्पत्य प्रणय का सहज एवं सुन्दर स्वरूप—सभी के रसभीने चित्र कालिदास ने अपने काव्यों में प्रस्तुत किए हैं। प्रिया पत्नी इन्दुमती के आकस्मिक निधन पर अज का करुण विलाप प्रत्येक सहृदय को साश्रुनयन कर देता है (रघुवंश 8/67)।

गृहिणी सचिवः सखी मिथः, प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना, हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥

अज के लिए इन्दुमती केवल गृहिणी नहीं था, वरन् सखी, मन्त्री और ललितकलाविद् प्रिय शिष्या भी थी। मृत्यु ने तो अज का सर्वस्वहरण ही कर लिया। अज के विलाप में दाम्पत्य प्रणय का वह उदात्त स्वरूप है जिसमें शारीरिक सुख को कहीं अवकाश नहीं है।

कालिदास स्त्री सौन्दर्य के कुशल चितेरे हैं। पार्वती के अप्रमित सौन्दर्य ने उसे पुष्पगुच्छों से सुशोभित कमनीय लता का स्वरूप प्रदान कर दिया (कुमारसम्भव 3/54)।

---

59. त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः॥
मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि॥

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥

प्रिय प्राप्ति के लिए समाधि में लीन पार्वती की वर्षाकालीन तपस्या का वर्णन करते हुए कवि ने अनायास ही स्त्री लावण्य की सूक्ष्मताओं को भी सुन्दर रूप में उपस्थित कर दिया है। (कुमारसम्भव 5/24)।

स्थिता: क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधरा: पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिता:।
वलीषु तस्या: स्खलिता: प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दव:॥

किन्तु कवि कालिदास ने नारी को एक सुन्दर वस्तुमात्र के रूप में ही चित्रित नहीं किया है, वरन् स्वाभिमान तथा तेज का अपूर्व समन्वय भी उन्होंने भारतीय नारी में प्रतिष्ठित किया है। नितान्त रामाश्रित, मुग्धा, आसन्नप्रसवा सीता को जब जनापवाद से भयभीत राम ने घर से निकाल दिया और लक्ष्मण वन में असहाय जानकी को एकाकी त्याग कर अयोध्या लौटने लगे, तब सीता ने राम को जो सन्देश भिजवाया है, वह भारतीय नारी की तेजस्विता का अमूल्य उदाहरण है। राम ने लोकानुरञ्जन करके यश प्राप्ति के लिए ही तो अपनी निष्कलंक पत्नी का त्याग किया था, किन्तु राम के इस आचरण से केवल राम का चरित्र ही नहीं, उनका सम्पूर्ण वंश ही क्या कलंकित नहीं हो गया (रघुवंश 14/61)!

वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासी: श्रुतस्य किं तत् सदृशं कुलस्य॥

यह एक श्लोक ही कालिदास को रसनिर्भर कवि घोषित करा देने में पर्याप्त समर्थ है। 'स' तथा 'राजा' में व्यंजित ध्वनि की जितनी भी प्रशंसा की जाए, कम ही है।

अलंकार—विभिन्न अर्थालंकारों एवं शब्दालंकारों के सहज प्रयोग में भी कालिदास परम प्रवीण दृष्टिगोचर होते है। कालिदास का यह अलंकारविधान आयास साध्य न होकर अनायास सिद्ध है। जिन चित्रालंकारों से कवि का केवल वाग्वैचित्र्य एवं पाण्डित्य ही परिलक्षित होता है, उन्हें कालिदास के काव्य में स्थान प्राप्त नहीं हो सका है। कालिदास के दोनों ही महाकाव्य अनुरूप, सरस एवं अपूर्व काव्य-अलंकारों से भरे पड़े हैं। स्त्री-मुख के सौन्दर्य, शोभा, रमणीयता, स्निग्धता एवं कोमलता के लिए कमल अथवा चन्द्र से उपमा दी जाती है; किन्तु पार्वती के मुख सौन्दर्य की अलौकिकता में तो कमल एवं चन्द्र दोनों के गुण एकत्र उपस्थित हो गए—

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते, पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्वि:संश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मी:॥

(कुमारसम्भव 1/43)

व्यतिरेक अलंकार का कैसा सुन्दर उदाहरण है।

कालिदास अपने उपमा वैचित्र्य के लिए नितान्त प्रसिद्ध रहे हैं। उपमा का अर्थ विशिष्ट अलंकार किंवा सभी सादृश्यमूलक अलंकारों से ग्रहण किया जा सकता है। इसीलिए समीक्षकों ने **'उपमा कालिदासस्य'** के साथ **'अर्थान्तरन्यासविन्यासे कलिदासो विशिष्यते'** कह कर अलंकार प्रयोग में कालिदास की निपुणता को भली प्रकार प्रदर्शित

किया है। कालिदास की ये उपमाएँ तत्क्षण ही उपमेय एवं उपमान का समग्र चित्र पाठकों के नेत्रों के सम्मुख प्रस्तुत कर देती हैं। पार्वती के जन्म से हिमवान् भी वैसे ही पवित्र और सुन्दर हो गए जैस प्रकाशमय लौ को पाकर दीपक, मन्दाकिनी को पाकर स्वर्ग का मार्ग तथा व्याकरण से शुद्ध वाणी पाकर विद्वज्जन पवित्र और सुशोभित हो जाते हैं।

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तथा स पूतश्च विभूषितश्च॥

(कुमारसम्भव 1/28)

अपने पिता हिमालय के विस्तृत सुरम्य क्रोड में अपनी बाल्यावस्था को व्यतीत करके उमा क्रमशः युवावस्था में प्रविष्ट हो गई। कालिदास ने प्रस्फुटित होते यौवन की शोभा से सम्पन्न पार्वती का अत्यन्त मर्यादित किन्तु अनुपम वर्णन किया है, जिसमें भाव एवं कला का अपूर्व मणिकाञ्चन संयोग हो गया है—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं, सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥

(कुमारसम्भव 1/32)

अर्थात् 'पार्वती का सुडौल, सर्वाङ्गसुन्दर शरीर नवयौवन के द्वारा उसी प्रकार स्पष्टतया विभक्तावयव हो गया, जिस प्रकार तूलिका के द्वारा चित्र क्रमशः उन्मीलित होता जाता है, अथवा जैसे सूर्य की किरणों से कमल विकसित होता जाता है।'

कालिदास के उपमा प्रयोग से उनकी अद्‌भुत निरीक्षण शक्ति का भी परिज्ञान होता है। रघुवंश में इन्दुमती स्वयंवर में जयमाल लेकर चलती हुई इन्दुमती के लिए प्रयुक्त की गई उपमा के सौन्दर्य से मुग्धचित्त समीक्षकों ने कालिदास को दीपशिखा कालिदास की उपाधि ही दे डाली—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

(रघुवंश 6/67)

इसी प्रकार रघुवंश के चौदहवें सर्ग में आसन्न प्रसवा, शोकमूर्च्छिता एवं निष्कारण निर्वासिता सीता की उपमा चन्द्रमा की अन्तिम कला से देना अलंकार प्रयोग का चरम वैशिष्ट्य है। पतिव्रता, शोककातर एवं पुण्यगर्भ से सम्पन्न सीता का इससे अधिक महनीय और उदात्त वर्णन नहीं किया जा सकता था—

तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमाशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु॥

(रघुवंश 14/80)

अर्थात् 'जैसे अमावस्या जड़ी बूटियों और लतावृक्षों में चन्द्रमा की उस अन्तिम कला को सौंप देती है जिसका अमृत पितरगण पी चुके हैं, उसी प्रकार ऋषि वाल्मीकि ने भी शोकव्याकुल एवं कठोरगर्भा सीता को आश्रम की उन तापसियों को सौंप दिया जो सीता के आगमन से प्रसन्न थीं।'

कालिदास के उपमा प्रयोग में विभिन्न उपमान अत्यन्त व्यापक एवं सर्वाङ्गीण हैं। डॉ. रामजी उपाध्याय के शब्दों में "कालिदास की उपमा का क्षेत्र निःसीम है। अखिल ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च शिखर से, पाताल के निगूढतम गह्वर से, पाठक के घर से और खेतीबारी से भी वे सटीक उपमानों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर अपने काव्य को सजाने में सफल हैं। अन्तिम का उदाहरण है—

कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो,
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति॥

(रघुवंश 9/80)

'पृथ्वी को भले ही अग्नि जला दे, पर उसकी उत्पादन शक्ति का आविर्भाव करती है।' यह उस समय का वर्णन है जब दशरथ को श्रवणकुमार के पिता ने शाप दिया था कि पुत्रवियोग में तुम मरोगे। उपर्युक्त उपमान की अनुसन्धान विशेषता का परिचय पाठक को तभी लग सकता है जब वह स्वयं कोई दूसरा उपमान इतना ही प्रांसगिक, इतना ही उज्ज्वल और शुभ्र ढूँढ़ने का प्रयास करें।"[60]

कालिदास ने काव्यशास्त्र, दर्शन, वेद, व्याकरण, प्रकृति, लोकव्यवहार आदि सभी क्षेत्रों से उपमाएँ प्रस्तुत की हैं। जब राजा दिलीप गुरु के आदेश से नन्दिनी गौ की सेवा-परिचर्या के लिए आश्रम से बाहर निकले तो रानी सुदक्षिणा ने अपने पति दिलीप तथा गौ का वैसे ही अनुसरण किया जैसे स्मृतियाँ श्रुति के अर्थ का ही अनुसरण करती हैं— **'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'** (रघुवंश 2/2)। ब्रह्म सरोवर से सरयू नदी की उत्पत्ति उसी प्रकार शब्द प्रमाण से सिद्ध है, जैसे अव्यक्त मूल प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि तत्त्व—**ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति** (रघुवंश 13/60)। अपने दोनों पुत्रों के साथ राजसभा में राम के पास सीता का जाना वैसे ही था जैसे स्वर और संस्कार से युक्त गायत्री का सूर्य की ओर गमन—**ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं** (रघुवंश 15/76)। रामादि चारों वरों का अपनी वधुओं के साथ मिलन ऐसा हुआ जैसे प्रकृति और प्रत्यय का योग होता है—**'सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः'** (रघुवंश 11/56)। राम ने बालि के सिंहासन पर सुग्रीव को उसी प्रकार स्थापित कर दिया जैसे धातु के स्थान पर आदेश—**'धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं सन्न्यवेशयत्'** (रघुवंश 12/58)।[61] दिन भर वन में सञ्चरण करके नन्दिनी गाय के पीछे पीछे दिलीप जब सायङ्काल के समय आश्रम में लौटे, तो सुदक्षिणा ने गाय का स्वागत किया। उस समय गौरवर्णा सुदक्षिणा तथा श्यामवर्ण दिलीप के बीच में वह कपिलवर्णा गाय ऐसी सुशोभित हुई जैसे दिन और रात के बीच में सन्ध्या हो—**'दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या'** (रघुवंश 2/20)। देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिए कामदेव की वैसे ही आवश्यकता थी जैसे बीज के अङ्कुरण के लिए पानी की आवश्यकता होती है—**'बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः'** (कुमारसम्भव 3/18)।

---

60. उपाध्याय, रामजी—संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ 234
61. व्याकरण क्षेत्र से ग्रहण की गई अन्य उपमाएँ—रघुवंश 15/7 अपवाद इवोत्सर्गं...... रघुवंश 15/9—पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत्। आदि

अर्थालंकारों के साथ शब्दालंकारों का भी अत्यन्त सहज प्रयोग कालिदास के महाकाव्यों में प्राप्त होता है। अनुप्रास, यमक आदि अलंकार अनायास ही उनकी कविता में उपस्थित हो जाते हैं। यथा—

स मानसीं मेरुसखः पितृणां, कन्या कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः।
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे॥

(कुमारसम्भव 1/18)

पुरो भव त्वं न पुरो भवामि,
नाहं पुरोगोऽस्मि पुरःसरस्त्वम्॥

(कुमारसम्भव 13/11)

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषंगो नृपतिर्निषंगादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः॥

(रघुवंश 2/30)

स मृण्मयो वीतहिरण्मयत्वात् पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः।
श्रुतप्रकाशं यशसाः प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः॥

(रघुवंश 5/2)

कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के नवम सर्ग में यमक अलङ्कार का प्रतिश्लोक प्रयोग किया है। इस यमक प्रयोग जैसा सौष्ठव एवं अर्थसुवोधता अन्य कवियों में परिलक्षित नहीं होते। यमक प्रयोग के सौष्ठव में कालिदास के छन्द प्रयोग का चातुर्य भी द्रष्टव्य है। सर्ग के प्रारम्भिक 54 श्लोकों में द्रुतविलम्बित छन्द है और लगभग सभी श्लोकों के चतुर्थ चरण में यमक अलंकार है। छन्द की सुन्दर गति के कारण यमक अलंकार की छटा भी विशेषतया प्रस्फुटित हुई है और अर्थ ग्रहण में भी सफलता हो गई है—

जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः।
क्षितिरभूत्फलवत्यजनन्दने शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे॥ (रघुवंश 9/4)
अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिंगतडिद्गुणसंयुतम।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेसरी॥

(रघुवंश 9/54)

भाषा शैली—कालिदास की विश्व व्याप्त लोकप्रियता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण है उनकी भाषा एवं शैली। कालिदास की भाषा में कही भी पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं है। पदविन्यास अत्यन्त सहज है। पद एवं वाक्य लघु एवं रसपूर्ण हैं। भावानुरूप ही भाषा का प्रयोग हुआ है। शिव के द्वारा कामदेव को जला दिए जाने पर भग्नमनोरथा पार्वती का सन्तप्त एवं ग्लानियुक्त यह चित्रण द्रष्टव्य है जिसमें भाषा एवं शैली की स्वाभाविकता ने समस्त भावों को स्पष्टतया उजागर कर दिया है—

तथा समक्षं दहता मनोभवं, पिनाकिना भग्नामनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती, प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥

(कुमारसम्भव 5/1)

भाषा पर कालिदास का असाधारण अधिकार उनके काव्य को ध्वन्यात्मक बना देता है। पदगत माधुर्य के कारण उनके काव्यों में लयात्मकता एवं संगीतात्मकता के समन्वित दर्शन होते हैं। समय समय पर अनेक समीक्षकों ने कालिदास की वाणी को अत्यन्त हृद्य एवं प्रिय कहा है।[62] गोवर्धनाचार्य भी कालिदास की भाषा की प्रशंसा करते हुए मानो स्वयं गद्‌गद् हो जाते हैं—

साकूतकोमलमधुरविलासिनीकण्ठजितप्राये।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीला कालिदासोक्तिः॥

कालिदास वैदर्भी रीति के सर्वश्रेष्ठ कवि कहे गए हैं—**वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते**। आचार्य दण्डी ने तो वैदर्भी रीति की उद्‌भावना ही कालिदास के द्वारा मानी है।[63] माधुर्यव्यञ्जक वर्ण, ललित रचना, समास का न होना अथवा अत्यल्प होना—ये समग्रतया वैदर्भी रीति की विशेषताएँ हैं।[64] और यह सभी विशेषताएँ कालिदास में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती हैं। इसी कारण प्रसन्नराघव नाटक के रचियता जयदेव ने कालिदास को कविताकामिनी का विलास घोषित किया है, तथा उनकी कविता को अत्यन्त मनोहर कहा है—

.........कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय॥

कालिदास के काव्यों में सर्वत्र ही वैदर्भी रीति का विलास होने के कारण यहाँ उसके उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है।

सूक्तियाँ—कालिदास के काव्य सूक्तियों के तो भाण्डार रूप हैं। जीवन का कितना विशद एवं विविध अनुभव कालिदास ने संचित किया था, मानिसक संवेगो और मस्तिष्क की तरंगों का कितना सूक्ष्म ज्ञान कालिदास को था—इसका पुष्ट प्रमाण ये सूक्तियाँ ही हैं। अर्थान्तरन्यास अलंकार के प्रयोग के द्वारा कवि ने ज्ञान की धारा ही प्रवाहित कर दी है। कालिदास की अनेकानेक सूक्तियाँ सुभाषित के रूप में प्रसिद्ध एवं प्रचलित हो गई हैं। कुमारसम्भव के पश्चम सर्ग में बहुत अधिक सूक्ति कथन प्राप्त होते हैं।[65] विषय की विविधता हो, कलात्मक वैदुष्य हो, विविध शास्त्रों का ज्ञान हो अथवा रमणीयता और मनोहारिता हो—सभी दृष्टियों से ये सूक्तियाँ पठनीय एवं स्मरणीय हैं—

---

62. श्रीकृष्ण कवि— अस्पृष्टदोषा नलिनीव हृष्टा, हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या, न कालिदासादपरस्य वाणी॥

63. दण्डी—अवन्तिसुन्दरी कथा, भूमिका 15— लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भ कालिदासेन शोधितम्॥

64. विश्वनाथ—साहित्यदर्पण 9/2-3— माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥

65. कुमारसम्भव–1/4, 5, 9, 16, 31, 33, 39, 45, 64, 73, 75, 77, 78, 82, 83, 86

1.	एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः	कुमारसम्भव 1/3
2.	क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव	कुमारसम्भव 1/12
3.	शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः	कुमारसम्भव 2/40
4.	आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति	कुमारसम्भव 3/40
5.	प्रमदाः पतिवर्त्मगाः	कुमारसम्भव 4/33
6.	प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता	कुमारसम्भव 5/1
7.	न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते	कुमारसम्भव 5/16
8.	शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्	कुमारसम्भव 5/33
9.	न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्	कुमारसम्भव 5/45
10.	मनोरथानामगतिर्न विद्यते	कुमारसम्भव 5/64
11.	न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते	कुमारसम्भव 5/82
12.	यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते	कुमारसम्भव 6/56
13.	अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता	कुमारसम्भव 6/79
14.	स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः	कुमारसम्भव 7/22 आदि
15.	हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा	रघुवंश 1/10
16.	सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे	रघुवंश 1/69
17.	प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः	रघुवंश 1/79
18.	स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन	रघुवंश 2/56
19.	सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः	रघुवंश 2/58
20.	पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते	रघुवंश 3/62
21.	पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः	रघुवंश 5/16
22.	भिन्नरुचिर्हि लोकः	रघुवंश 6/30
23.	तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते	रघुवंश 11/1
24.	काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः	रघुवंश 12/69
25.	यशोधनानां हि यशो गरीयः	रघुवंश 14/35
26.	वयोरूपविभूतीनां एकैकं मदकारणम्	रघुवंश 17/43
27.	अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते	रघुवंश 17/60 आदि

कालिदास की इन्हीं सूक्तियों से चमत्कृत होकर बाणभट्ट जैसे रसप्रवीण कवि ने भी कालिदास का अभिनन्दन किया था—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥ (हर्षचरित 16)

कालिदास-राष्ट्रीय कवि—कवि को क्रान्तिदर्शी कहा गया है। कवि की रसपेशल कृति आनन्द मात्र से परिपूर्ण होने कारण प्रजापति की सुखदुःखात्मक सृष्टि से भी विलक्षण होती है। कवि आर्ष दृष्टि से युक्त उस सूक्ष्मगामिनी प्रतिभा से मण्डित होता है जो पार्थिव

क्रियाकलापों का सर्वात्मना भेदन करके अन्तर्भूत सत्यों का उद्घाटन कर देती है और नाना-रूपात्मक जगत् की वास्तविकताओं से अतीत, स्वप्न का साक्षात्कार कर लेती है। कालिदास इसी आर्ष दृष्टि से युक्त तथा भारत राष्ट्र की सम्पूर्ण चेतना से समन्वित कवि थे। (इस प्रसंग में हम कालिदास के काव्यों के साथ नाटकों एवं खण्डकाव्यों को भी ग्रहण कर रहे हैं।)

राष्ट्र शब्द की जो परिकल्पना अथवा वास्तविकता आज की बीसवीं शती में उपलब्ध होती है—वही स्वरूप कालिदास के समय में सम्भवतः नहीं रहा होगा; क्योंकि वह युग राजा एवं प्रजा का तथा सामन्ती व्यवस्था का था। भारत एक देश होकर भी अनेक राज्यों में विभाजित था और प्रत्येक राज्य का राजकवि अपने ही राजा को चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में अभिनन्दित और वर्णित करता था। कालिदास ने इस रूप में किसी विशिष्ट राज्य अथवा राजा की कहीं भी प्रशंसा नहीं की है, यद्यपि उनके अधिकांश काव्यचित्र राजसी वैभव की पृष्ठभूमि में ही हैं। कालिदास के समस्त साहित्य के पर्यालोचन से नितान्त स्पष्ट होता है कि वाल्मीकि एवं व्यास के उपरान्त भारतवर्ष की राष्ट्रीय चेतना का स्पष्ट एवं जीवन्त मूर्तिकरण कालिदास में ही हुआ। भारतीय राष्ट्र की चेतना के मूल स्वर—भारतीय संस्कृति—में दीर्घकालीन अनुभव एवं सतत साधना के फलस्वरूप जो महनीय मूल्य प्रतिष्ठित हुए थे, उन समस्त मूल्यों का सुन्दर और सहज दिग्दर्शन कालिदास के साहित्य में प्राप्त होता है। कालिदास ने तत्कालीन समग्र राष्ट्रीय चेतना के विभिन्न पटलों का उन्मीलन एवं प्रतिनिधित्व किया था, अतः कालिदास राष्ट्रीय कवि हैं।

वस्तुतः राष्ट्रीय चेतना से अनुप्रणित होने अथवा राष्ट्रीय कवि होने का अभिप्राय क्या है? इस प्रश्न के समाधान में दो अर्थ प्राप्त होते हैं। प्रथम, राष्ट्र के प्रति अनुराग एवं आस्था की भावना अर्थात् देशप्रेम और द्वितीय, देश का चिरसंचित एवं चिर आचरित मनोमय कोश अर्थात् संस्कृति—ये दोनों ही समन्वित रूप में किसी भी राष्ट्रीय चेतना का निर्धारण करते हैं।

भारत राष्ट्र के प्रति अनुराग एवं आस्था का स्वर कालिदास में अनेक स्थलों पर मुखरित हुआ है। भारतवर्ष एक विशाल देश है। स्थान एवं समय—दोनों ही दृष्टियों से भारत राष्ट्र की विशालता अनुपमेय है। सम्पूर्ण भारत राष्ट्र रूपी भूखण्ड भौगोलिक दृष्टि से एक अविभाज्य इकाई के रूप में स्थित है। इसी भारतवर्ष के हिमकिरीट रूप में सुशोभित हिमालय पर्वत, पृथिवी के मानदण्ड की भाँति, पश्चिम एवं पूर्व दोनों ही समुद्रों को अपनी भुजाओं से स्पर्श करता है। भारत के समग्र विविध जीवन पर छाए हुए हिमालय की इस महत्ता का गान कालिदास ने अपने महाकाव्य के प्रथम श्लोक में ही करके हिमालय के गौरव को सुप्रतिष्ठित किया—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥

(कुमारसम्भव 1/1)

अन्यत्र भी कालिदास ने हिमालय के प्रदशों को देवभूमि कहा है—'पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः' (कुमारसम्भव 5/45)। रघुवंशी राजाओं के शासक रूप का कथन करते हुए

कालिदास ने 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' विशेषण का प्रयोग किया है। इस कल्पना की पृष्ठभूमि में कालिदास ने भारत की अखण्ड एकता का ही स्वप्न देखा था। देवतास्वरूप पर्वताधिराज हिमालय के द्वारा सुरक्षित एवं समुद्र से आवेष्टित भारतभूमि ही वह महान् राष्ट्र है जो अपने सम्पूर्ण आध्यात्मिक गौरव और प्राकृतिक वैभव के साथ कालिदास के काव्यों में प्रगट हुआ है। इस भारत राष्ट्र की विपुल प्राकृतिक सम्पत्ति का सर्वतोमुखी चित्रण कालिदास ने यक्ष के मुख से 'मेघदूत' गीतिकाव्य में बड़ी सुन्दरता से कराया है। मेघ को दूत बनाकर वस्तुत:कालिदास ने अपने राष्ट्रीय कवि होने का सूक्ष्म प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है। वैदिक युग से ही भारत ग्राम प्रधान देश रहा है। भारतीय ग्रामीण के लिए मेघ मित्र भी है और देवता भी। मेघ ही सामान्य कृषक को सम्पन्न अथवा विपन्न बना देता है। वैदिक ऋषि ने भी पर्जन्य सूक्त में मेघ महत्त्व का ही गान किया था। कालिदास ने मेघ के मार्ग के व्याज से रामगिरि पर्वत से लेकर कैलास की गोद में बसी अलका नगरी तक भारत राष्ट्र की विभिन्न नदियों, पर्वतों, जनपदों आदि के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। इसी प्रकार रघुवंश महाकाव्य के त्रयोदश सर्ग में लंकाविजय के उपरान्त श्रीराम जब सीता, लक्ष्मण आदि के साथ पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते हैं, तो भारत के दक्षिणांचल से अयोध्या तक की प्राकृतिक सुषमा का अपूर्व चित्रण कालिदास ने किया है। भारतवर्ष के समग्र जनमानस में पवित्रता की प्रतीकरूपिणी एवं भारतीय संस्कृति की अनवच्छिन्न धारा की भाँति प्रवाहित गंगा और यमुना के पावन संगम का जैसा काव्यात्मक रूप कालिदास के रघुवंश में प्राप्त हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हिलब्राण्ट ने सर्वथा उचित ही प्रतिपादित किया था कि "पर्वतों और तीर्थों से लिपटी हुई पुराणगाथाओं को कवि जानता है तथा अत्यन्त सुकुमार काव्य रेखाओं में भारतीय संसार का वर्णाढ्य चित्र खींचता है।" समग्र भारत के इस अखण्ड रसमग्र चित्रण के कारण कालिदास वस्तुत: राष्ट्रीय कवि हैं।

जैसा पहले इंगित किया जा चुका है, भारत देश की संस्कृति का अविकल एवं सर्वाङ्गीण स्वरूप राष्ट्रीय कवि कालिदास के काव्यों में अत्यन्त ही सुन्दरता से उभरा है। संस्कृति का एक प्रधान अंग है—धर्म। समाज की रक्षा, अभ्युदय और कल्याण के लिए धर्म नितान्त अनिवार्य है। भारत सदा से ही धर्म प्राण देश रहा। कालिदास का समय हिन्दू धर्म का उत्कर्ष काल था। कालिदास ने हिन्दू धर्म एवं भारतीय संस्कृति के उदात्त तत्त्वों तथा उच्च आदर्शों को काव्य रूपी चित्ताकर्षक उपाय के द्वारा प्रस्तुत किया। इस रूप में उन्होंने काव्य के एक प्रमुख प्रयोजन—'कान्तसम्मिततयोपदेशयुजे' को सार्थक कर दिया। भारतीय दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसने सम्पूर्ण सृष्टि में एक ही आत्मतत्त्व का स्पन्दन स्वीकार किया है। यह वैशिष्ट्य भारतीय धर्म में इस प्रकार प्रतिबिम्बित हुआ कि हिन्दू धर्म में सभी देवों को एक समान स्थान तथा सम्मान दिया गया। कालिदास के काव्य इसी उदात्त धारणा को ग्रहण करते है—

एकैव मूर्तिर्बिभिदे द्विधा सा सामान्यमेषा प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरि: कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ॥

(कुमारसम्भव 7/44)

भारतीय संस्कृति की मूलभूत आस्थाओं—कर्मवाद एव पुनर्जन्म पर भी कालिदास ने सम्पूर्ण निष्ठा प्रदर्शित की है। विक्रमोर्वशीय की नायिका उर्वशी को अपने कर्मभोग के लिए ही मृत्युलोक में जन्म लेना पड़ा था। रघुवंश में कर्मफल के सिद्धान्त का अवलम्बन लेकर ही पत्नीशोक में विह्वल राजा अज को वसिष्ठ ने सान्त्वना दी थी—हे राजन्। रोने की बात ही क्या? स्वयं मर कर भी आप इस इन्दुमती को नहीं पा सकेंगे। क्योंकि मरने के पश्चात् जीवों को अपने अपने कर्मों के अनुसार ही भिन्न भिन्न गतियाँ प्राप्त होती हैं—

रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्॥

(रघुवंश 8/85)

भारतीय ऋषियों ने पुरुषार्थचतुष्टय में मोक्ष को चरम साध्य और प्राप्तव्य माना था। आवागमन के चक्र से और गर्भ के असह्य कष्ट से चिरन्तन मुक्ति की कामना भारतीय लोकमानस को सदैव ही अनुप्राणित करती रही है। इसीलिए एक सच्चे भारतीय के रूप में कालिदास शंकर से स्वर्ग की याचना न करके पुनर्जन्म से ही मुक्त कर देने की प्रार्थना करते दिखाई पड़ते हैं।[66]

कालिदास ने भारत राष्ट्र की आत्मा को सम्यक्रूपेण समझा था। भारतीय परम्परा ने ऐहिक लिप्सा, अमर्यादित आचरण तथा यौवनसुलभ प्रणय के अविचारित स्वतंत्र अवलम्बन का कभी भी अनुमोदन नहीं किया। कालिदास ने भी मानव की मूल्ययोजना में प्रेम को कर्त्तव्य में नियन्त्रित एवं मर्यादित किया है। कालिदास के पात्रों से जब भी चञ्चल मनोविकारों के कारण अमर्यादित प्रणय अथवा अन्य आचरण होता है, तब सदैव ही उग्र प्रायश्चित्त एवं व्यथा वेदना सहित उनकी मन:शुद्धि का आयोजन होता है। वस्तुत: तो कालिदास ने सहजात मानसविकारों का उदात्तीकरण कर दिया है। प्रेम को कर्त्तव्य से अनुशासित करने के क्रम में कालिदास की रचनाओं की नारी केवल भोग्या न रह कर गृहिणी, सचिव, सखी और तपस्विनी आदि के शील से मण्डित हो उठी है।[67] रघुवंश के प्रारम्भ में कवि ने अर्धनारीश्वर के रूप में शिव पार्वती की स्तुति के द्वारा सृष्टि में नारी के उच्च महत्त्व को स्पष्टत: प्रतिपादित किया है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगत: पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

(रघुवंश 1/1)

कहने का सारतत्त्व यही है कि कालिदास के लेखनी से भारतवर्ष का महान्, उदात्त और शान्त शोभन रूप मुखरित हुआ है। उन्होंने भारतवर्ष की अन्तरात्मा को वाणी दी है। इस भरतपुत्र ने देश की अपूर्व मनीषा और महान् जीवन मूल्यों को अपने काव्यों और

66. अभिज्ञान शाकुन्तल—7/35 प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिव: सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्। ममापि च क्षपयतु नीललोहित:, पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभू:॥

67. रघुवंश 8/67 गृहिणी सचिव: सखी मिथ: प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।

नाट्यों में रूपायित करके अपनी जन्मभूमि के ऋण को भली प्रकार चुकाया। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "कवि तो बहुत होते है पर ऐसे कवि कम ही होते है जिन्हें राष्ट्र की समग्र सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्ति देने की कला का अधिकार होता है। कालिदास ऐसे ही राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना को मूर्ति देने वाले महान् कवि हैं। भारतवर्ष के ऋषियों, सन्तों, कलाकारों, राजपुरुषों और विचारकों ने जो कुछ उत्तम और महान दिया है, उसके सहस्रों वर्ष के इतिहास का जो कुछ सौन्दर्य है, उसने मनुष्य को पशु-सुलभ धरातल से उठा कर देवत्व में प्रतिष्ठित करने की जितनी विधियों का सन्धान किया है, उसको ललितमोहन और सशक्त वाणी देने का काम कलिदास ने किया है।" कालिदास सही अर्थों में राष्ट्रीय कवि थे। ऐसे कृती कवि के लिए राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा था—

एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्यमन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत्।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्वद् कस्यापि संचरति विश्वकुतूहलीव॥

कालिदास की कविता के सौष्ठव, कल्पनामाधुर्य, सहृदय-हृद्यता, व्यञ्जनाविलास, वर्णनसजीवता और भावानुकूल पदविन्यास से मुग्ध होकर कोई कवि अनायास ही कह उठा—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

महाकवि कालिदास के पश्चात् भी महाकाव्य की धारा निर्बाध गति से आगे बढ़ती रही। किन्तु कालिदास की काव्यकला के दाय को ग्रहण करने वाले कवियों ने उनकी परम्परा को ठीक उसी दिशा में आगे नहीं बढ़ाया। कालिदासोत्तर महाकाव्यपरम्परा में काव्य प्रवृत्ति ने एक नवीन मोड़ ग्रहण किया। इन काव्यों में शृंगार रस के वर्णन की प्रवृत्ति बढ़ती गई। भाषा में सरलता, सहजता तथा अल्पसमासों के स्थान पर क्लिष्ट शब्दों और दीर्घ समासों का प्रचलन बढ़ने लगा। शास्त्रीय तथा व्याकरण सम्मत नियमों का पालन ही कवि नैपुण्य हो गया। वैदग्ध्य प्रदर्शन एवं पाण्डित्य प्रकटीकरण के चक्रव्यूह में फँस कर महाकाव्य रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से अवरकोटिक होते गए। कालिदास ने काव्य के कलापक्ष को भी सँवारा अवश्य था, किन्तु उनका भावपक्ष ही अधिक प्रबल और प्रौढ़ था, किन्तु परवर्ती युग में कलापक्ष को इतना अधिक महत्त्व दिया जाने लगा कि महाकाव्य अलंकारों का घटाटोप बन कर रह गया। भावपक्ष नितान्त उपेक्षित होकर नगण्य ही रह गया। विडम्बना यह रही कि कलापक्ष की प्रौढ़िमात्र से सन्तुष्ट होकर आलोचकों ने उन महाकाव्यों की प्रभूत प्रशंसा की।

इस नवीन प्रवृत्ति का सूत्रपात भारवि ने अपने महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' से किया था। भारवि ने यद्यपि रसोन्मेष में भी कोई न्यूनता नहीं रहने दी है। तथापि जिस चित्रमार्ग किंवा अलंकृत शैली का प्रवर्तन भारवि ने किया था, वहीं शैली परवर्ती कवियों को सर्वाधिक ग्राह्य हुई।

भारवि

महाकाव्यों की परम्परा में समय की दृष्टि से कालिदास के उपरान्त भारवि का नाम लिया जाता है। भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' नामक एक ही काव्य की रचना की, किन्तु यह एक महाकाव्य ही भारवि की कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए पर्याप्त है। कालिदास की ही भाँति भारवि ने भी अपने समय अथवा जीवनवृत्त आदि के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं किया है, अत: अन्तरंग साक्ष्य का नितान्त अभाव ही है। किन्तु कतिपय ऐसे पुष्ट बहिरंग प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे भारवि का समय निर्धारण करने में विशेष कठिनाई नहीं होती।

1. भारविकृत 'किरातार्जुनीय' का उल्लेख दक्षिण भारत के राजा पृथ्वीकोंकण अथव पृथ्वीकोंगणि के दानपत्र में प्राप्त होता हे जिसका समय 698 शक सम्वत् (776 ई.) है।[68] दानपत्र के अनुसार यह राजा पृथ्वीकोंकण अपने वंश के पूर्वज राजा दुर्विनीत की सातवीं पीढ़ी में हुआ था। राजा दुर्विनीत स्वयं बहुत विद्वान् था और उसने किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग पर टीका लिखी थी।[69]

2. वामन और जयादित्य ने 660 ई. के लगभग पाणिनि की अष्टाध्यायी पर काशिका नामक टीका लिखी। इस काशिका टीका में किरातार्जुनीयम् महाकाव्य से एक श्लोक उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है।[70] इससे ज्ञात होता है कि 660 ई. तक भारवि कवि रूप में प्रख्यात हो चुके थे।

3. पुलकेशिन् द्वितीय की प्रशस्ति में रचे गए ऐहोल के शिलालेख 556 शकाब्द अर्थात् (634 ई.) में कालिदास के साथ साथ भारवि का भी नामोल्लेख किया गया है।[71] इससे स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में उस समय तक भारवि की प्रसिद्धि महाकवि के रूप में फैल चुकी थी; इसीलिए उन्हें कालिदास के साथ स्थान दिया गया है।

4. दण्डी की अवन्तिसुन्दरीकथा के आधार पर महाकवि भारवि दक्षिण भारतीय थे तथा पुलकेशिन् द्वितीय के छोटे भाई विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे। विष्णुवर्धन ऐतिहाासिक व्यक्तित्व है। इसी ने सेनापति के रूप में राजा हर्षवर्धन को पराजित किया था। यह युवराज था और 615 ई. में इसने पूर्वी चालुक्य वंश की स्थापना की थी। भारवि की इन्हीं विष्णुवर्धन से मित्रता थी।[72] अत: विष्णुवर्धन के समकालीन होने पर भारवि का

---

68. पृथ्वीकोगणि का दानपत्र—अष्टानवत्युत्तरशतेषु शकवर्षेष्वावर्तितेषु...
69. वही—स्वस्ति जितं भगवता गतघनगगनाभेन पद्मनाभेन...
    श्रीमत्कोंगणमहाराजाधिराजस्य अविनीतनाम्नः पुत्रेण...
    किरातार्जुनीयपञ्चदश-सर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन...
70. काशिका—1/3/23 सूत्र की वृत्ति में किरातार्जुनीयम् 3/14 का उदाहरण
71. येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
    स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥
72. अवन्तिसुन्दरीकथा— यतः कौशिककुमारो (दामोदर)...पुण्यकर्मणि
    विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात्।

समय भी 615 ई. के लगभग होना चाहिए।

उपर्युक्त बहिरंग प्रमाणों के आधार पर भारवि का स्थितिकाल सप्तम शती ईस्वी का पूर्वार्ध निश्चित किया जाता है। इस मत के विरुद्ध कतिपय विद्वान् एक आपत्ति प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार बाणभट्ट (सातवीं शती पूर्वार्ध) ने अपने ग्रन्थ हर्षचरित में पूर्ववर्ती सभी श्रेष्ठ कवियों का उल्लेख किया है किन्तु भारवि का उल्लेख नहीं किया, अत: भारवि का समय सप्तम शती का पूर्वार्ध नहीं हो सकता। किन्तु यह आपत्ति निराधार है। बाणभट्ट के द्वारा भारवि नामोल्लेख न किए जाने के दो कारण आपातत: जान पड़ते हैं—(1) भारवि और बाणभट्ट समकालीन थे। भारवि दक्षिण भारतीय थे और बाणभट्ट उत्तर भारतीय। अत: बाणभट्ट ने जब हर्षचरित की रचना की, उस समय उत्तर भारत में भारवि की कविरूप में प्रसिद्धि नहीं फैल पाई थी। इसीलिए बाणभट्ट भारवि का उल्लेख न कर सके। (2) बाणभट्ट के आश्रयदाता हर्षवर्धन की पुलकेशिन द्वितीय से शत्रुता थी। भारवि के मित्र विष्णुवर्धन ने हर्षवर्धन को पराजित किया। सम्भवत: इसीलिए बाणभट्ट ने अपने शत्रुपक्ष के आश्रित कवि का उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार इस आपत्ति का निराकरण हो जाने पर भारवि का स्थितिकाल सातवीं शती का पूर्वार्ध मानना ही समीचीन है।

ग्रन्थपरिचय—भारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीयम् में 18 सर्ग हैं। इसकी कथा-वस्तु महाभारत के वनपर्व के एक प्रसिद्ध घटनाक्रम पर आधारित है। इसमें कौरवों पर विजय प्राप्त करने के लिए अर्जुन का हिमालय पर्वत पर जाना, तपस्या करना, किरातवेशधारी शिव से युद्ध और प्रसन्न शिव से इच्छित अस्त्र प्राप्त करने का वर्णन है। सर्गानुसार सम्पूर्ण कथा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—कपटद्यूत में पराजित होकर युधिष्ठिर द्वैतवन में रहते थे। वे एक वनेचर को गुप्तचर के रूप में दुर्योधन की शासनप्रणाली को जानने के लिए भेजते हैं और वह गुप्तचर वापस आकर दुर्योधन की सुन्दर शासन व्यवस्था का विस्तृत वर्णन देता है। (यही महाकाव्य का प्रारम्भ है) युधिष्ठिर वनेचर का सारा कथन द्रौपदी एवं भीम को सुना देते हैं। शत्रु के उत्कर्ष से क्षुब्ध द्रौपदी और भीम राजा युधिष्ठिर को दुर्योधन से युद्ध करने के लिए विविध प्रकार से प्रेरित करते हैं। किन्तु युधिष्ठिर अत्यन्त विवेकपूर्वक तर्क सहित उन दोनों को शान्त कर देते हैं और युद्ध के लिए सहमत नहीं होते। तभी वहाँ महर्षि व्यास का आगमन होता है। वेदव्यास के सत्परामर्श से अर्जुन शिव के पाशुपतास्त्र को प्राप्त करने के लिए इन्द्रकील पर्वत पर चले जाते हैं और कठोर तपस्या प्रारम्भ करते हैं। अर्जुन के तप से भयभीत इन्द्र तपस्या भंग करने के लिए अप्सराएँ भेजता है, किन्तु उन सब क्रीड़ाओं और विलास विभ्रमों से भी अर्जुन विचलित नहीं होता तब मुनि के रूप में स्वयं इन्द्र वहाँ आकर अर्जुन को शिवाराधना का उपदेश देते हैं। अर्जुन पुन: कठोर तपस्या करता है। अर्जुन की तपस्या से प्रसन्न होकर स्वयं शिव अर्जुन के शौर्य की परीक्षा लेने को तत्पर होते हैं। वे किरात के रूप में अर्जुन के समीप पहुँचते हैं। एक मायावी वराह पर चलाए गए बाणों के व्याज से किरातवेशधारी शिव और अर्जुन में परस्पर घोर युद्ध होता है। अर्जुन के अदम्य पराक्रम से प्रसन्न होकर शिव अपने स्वरूप में प्रगट हो जाते हैं और अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्रदान करते हैं। इन्द्रादि देवता भी उस स्थल पर आकर अर्जुन को

विभिन्न प्रकार के अस्त्र देते हैं तथा अर्जुन सफल मनोरथ होकर युधिष्ठिर के पास लौट आते हैं। कथा की मुख्य घटना एवं पात्रों के आधार पर काव्य का नाम सार्थक है।

काव्यकला वैशिष्ट्य—भारवि के महाकाव्य में संस्कृत काव्य कला का पूर्ण उत्कर्ष प्राप्त होता है। इस महाकाव्य का संस्कृत साहित्य में विशिष्ट स्थान है। अपने प्रशस्त गुणों के कारण 'किरातार्जुनीय' ने संस्कृत महाकाव्यों की वृहत्त्रयी में प्रमुख स्थान ग्रहण किया है। अपने काव्य का प्रारम्भ भारवि ने 'श्री'- शब्द से किया और प्रत्येक सर्गान्त श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया। इस प्रकार भारवि ने अपने काव्य को आद्यन्त शोभा एवं मंगल से आवेष्टित कर दिया। यह महाकाव्य मानों इस प्रकार रचा गया है, जिससे महाकाव्य के लक्षण इस पर घटित होते जाएँ। किन्तु नियमों की इस अनुपालना से इस काव्य की रसोद्रेक शक्ति में कोई भी अन्तर नहीं आने पाया है। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने इस महाकाव्य के प्रमुख तत्त्वों का अत्यन्त सुन्दर एवं संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया है—

नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजः।
तस्योत्कर्षकृते नु वर्ण्यचरितः दिव्यः किरातः पुनः।
शृंगाररादिसोऽगंमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभो फलम्॥

अर्थात् 'नारायण के अंश से उत्पन्न मध्यम पाण्डव अर्जुन इस महाकाव्य का नायक है; अर्जुन के चरित्र का उत्कर्ष प्रदर्शित करने के लिए शिव को किरात रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रधान रस वीर है और शृंगार आदि अन्य रस गौण रूप में चित्रित हुए हैं। पर्वत आदि अनेक प्रकार के वर्णन हैं तथा अर्जुन के द्वारा दिव्यास्त्रप्राप्ति ही इस महाकाव्य का फल है।'

कथावस्तु—भारवि ने महाभारत के एक अत्यन्त संक्षिप्त कथानक (वनपर्व 27 से 41 अध्याय) को अपने महाकाव्य की कथावस्तु के रूप में ग्रहण किया है। महाभारत में कथा का वह अंश संक्षिप्त होने के साथ साथ नीरस भी है। भारवि ने अपनी प्रतिभा के द्वारा उस कथानक को अत्यन्त सरस एवं विस्तृत बना दिया। विस्तार के इस क्रम में महाभारत की कथा और किरातार्जुनीय की कथावस्तु में अनेक स्थलों पर परस्पर वैषम्य भी दिखाई देता है किन्तु कवि की स्वतन्त्र प्रतिभा एवं कल्पनाप्रवणता के कारण ऐसा अन्तर तो स्वाभाविक ही होता है। भारवि ने अनेक मौलिक परिवर्तन करते हुए महाभारत से ग्रहण की गई संक्षिप्त कथा को ऋतु, पर्वत, स्त्रीविहार, सूर्यास्त, रतिक्रीड़ा आदि विभिन्न वर्णनों से मण्डित करके एक महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया है। काव्य में नाटकीयता का प्रभाव लाने के लिए भारवि ने पात्रों में परस्पर संवादों की भी ललित योजना की है। इन विभिन्न विस्तृत वर्णनों के होते हुए भी किरातार्जुनीय की कथावस्तु में निरन्तर अविच्छिन्नता बनी रही है तथा कथा में मनोहारिता बढ़ गई है।

रस—इस काव्य का प्रमुख रस वीर है तथा शृंगार, रौद्र, भयानक आदि रसों की योजना अंग रूप में की गई है। वीर रस दया, युद्ध, दान, धर्म आदि भेद से विभिन्न प्रकार

का माना जाता है।[73] इनमें से 'किरातार्जुनीय' में युद्ध वीर रस का ही प्रमुख परिपोष हुआ है। धर्मवीर का प्रसंग अर्जुन की तपश्चर्या-प्रसंग में किञ्चित् माना जा सकता है।

वीररस के स्थायी भाव उत्साह का कवि ने अनेक स्थलों पर अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। वराह वेषधारी मूक दानव को देखकर "तपस्या के कारण क्षीण बल होने जाने पर भी निश्चयात्मक बुद्धिसम्पन्न अर्जुन के द्वारा आकृष्ट होकर वह अभंगुर, प्रत्यंचा सम्पन्न, महान् गाण्डीव धनुष मित्र की भाँति झुक गया। उस क्षण गाण्डीव धनुष पर बाण चढ़ते ही प्रत्यंचा के खींचने से उत्पन्न ध्वनि से सारी गुफाएँ गूँज गई। अर्जुन के पद प्रक्षेप के द्वारा पर्वत के झुक जाने से पर्वत निवासियों को अपने अस्तित्त्व की शङ्का होने लगी।"[74] नायक के उत्साह के समकक्ष ही प्रतिनायक शिव के उत्साह का भी अत्यन्त सुन्दर चित्रण इसी स्थल पर हुआ है।[75] वीर रस का चरम परिपाक अर्जुन तथा किरात के युद्ध में प्राप्त होता है। युद्धरत अर्जुन के असंख्य बाणों से आहत एवं व्याकुल शिव सेना कह रही है कि 'क्या इस मुनि (अर्जुन) के गुणों से आकृष्ट होकर भय के कारण देवता अदृश्य रह कर हम पर प्रहार कर रहे हैं? अन्यथा इसके बाण समुद्र की तरंगों की भाँति अनेक कैसे हो गए—

हृता गुणैरस्य भयेन वा मुनेस्तिरोहिताः स्वित् प्रहरन्ति देवाः।
कथं न्वमी सन्ततमस्य सायका भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः॥ (14/61)

शिव के साथ युद्ध करते करते, विभिन्न शस्त्रों के व्यर्थ हो जाने पर अर्जुन अपनी भुजाओं से ही युद्ध करने में तत्पर हो गए—

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः॥ (17/62)

भारवि ने वीररस के सहायक रूप में रौद्र, भयानक एवं बीभत्स रसों का अभिव्यञ्जन भी यथास्थान कराया है; किन्तु 'किरातार्जुनीय' के सभी अंग रसों में शृंगार रस की सर्वाधिक योजना हुई है। इसमें भी सम्भोग शृंगार का प्राधान्य रहा है। आठवें एवं नवें सर्ग में अप्सराएँ एवं गन्धर्व रतिभाव के आलम्बन बने हैं और विभिन्न ऋतुओं, सन्ध्या, रात्रि, चन्द्रोदय आदि का उद्दीपन के रूप में वर्णन हुआ है। इन दोनों सर्गों के विभिन्न शृंगारिक वर्णनों से ज्ञात होता है कि भारवि कामशास्त्र के परम ज्ञाता थे; इसीलिए कहीं कहीं शृंगार रस की ऐन्द्रियता ने मर्यादा का भी उल्लंघन कर दिया है और अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गया है।

चरित्रचित्रण—महाकवि भारवि पात्रों के चरित्रचित्रण में पर्याप्त सक्षम दीख पड़ते हैं। इस काव्य के नायक अर्जुन धीरोदात्त कोटि के हैं, जिनमें आचार्यों द्वारा निरूपित प्रायः

---

73. दशरूपक 4/72— वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्वमोहाविषादनय विस्मय विक्रमाद्यैः।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृति प्रहर्षाः॥
साहित्यदर्पण 3/124— स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्॥
74. किरातार्जुनीय 13/15-16
75. किरातार्जुनीय 13/18, 20

सभी गुण विद्यमान हैं। किरातार्जुनीय में अर्जुन शारीरिक शोभासम्पन्न, स्वाभिमानी, दृढ़प्रतिज्ञ, तपस्या निपुण, धैर्यशाली एवं परम पराक्रमी रूप में चित्रित हुए हैं। अर्जुन के गुणों से अभिभूत एवं स्तब्ध होकर[76] पंचमहाभूत भी अर्जुन की सेवा में संलग्न हो जाते हैं—

मरुतः शिवा नवतृणा जगती, विमलं नभो रजसि वृष्टिरपाम्।
गुणसम्पदानुगुणतां गमितः कुरुतेऽस्य भक्तिमिव भूतगणः॥ (6/33)

अर्जुन के अतिरिक्त भी भारवि-काव्य का प्रत्येक पात्र अपने चरित्र की महनीय विशेषताओं से उद्भासित है। अपमान की ज्वाला में जलती हुई और विविध तर्क युक्त उक्तियों से पति को युद्ध के लिए प्रेरित करती हुई तेजस्विनी द्रौपदी; भाई को पुनःपुनः युद्धोद्यत करते हुए असहनशील भीम; सहनशील, शान्त तथा विपत्ति में भी अचंचल बुद्धि युधिष्ठिर—सारे ही पात्र कवि के स्पर्श से प्राणवान् हो उठे हैं। और तो और, दुर्योधन जैसे अधम धीरोद्धत पात्र को भी भारवि ने अनुसरणीय, प्रजावत्सल एवं मर्यादाशील राजा के रूप में अत्यन्त सफलतया चित्रित कर दिखाया है, जिसकी प्रशंसा शत्रु के गुप्तचर भी करते हैं।

कूटनीति प्रयोग—काव्य के सुकुमार कलेवर में राजनीति एवं कूटनीति का प्रवेश सर्वप्रथम भारवि ने ही किया। प्रथम सर्ग से ही कवि की राजनीति प्रवीणता पदे पदे परिलक्षित होने लगती है। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' सिद्धान्त का वर्णन भारवि ने अत्यन्त सुन्दरता से किया है।

व्रजन्ति ने मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृतांगान् निशिता इवेषवः॥ (1/30)

युधिष्ठिर को युद्ध के लिए प्रेरित करती हुई द्रौपदी ने राजनीति का सार एक श्लोक में भली प्रकार समझा दिया है—

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते भूरिधाम्नः निकृतिपरेषु परेषु।
विजयार्थिनः हि क्षितीशाः विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि॥ (1/45)

अर्थात 'विजयकामना करने वाले राजा कभी समय व्यर्थ नहीं गँवाते। वे अपनी दुर्बलता के समय की गई सन्धि को किसी न किसी बहाने से भंग करके अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। फिर आप युधिष्ठिर ही निरन्तर अपमान करने में तत्पर शुत्रओं के प्रति इस प्रकार अवधि—शर्त का पालन करते रहें, यह उचित नहीं है।' द्रौपदी ने अत्यन्त संक्षेप में युधिष्ठिर को कूटनीति की शिक्षा दी है। इसी प्रकार द्वितीय सर्ग में भीमसेन और युधिष्ठिर का संवाद राजनीति के गूढ तत्त्वों से भरा पड़ा है। अन्य सर्गों में भी भारवि ने अवसर पाते ही राजनीति के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। भारवि के इस राजनीति प्रावीण्य से यह अवश्य परिलक्षित होता है कि भारवि का सम्बन्ध राजसभाओं से पर्याप्त समय तक रहा था।

प्रकृति चित्रण—प्रकृति के विभिन्न दृश्यों का भारवि ने बहुत सुन्दर एवं रुचिर

76. किरातार्जुनीय 6/25...28; 10/5, 6, 8 आदि

वर्णन किया है। ऋतु, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय आदि के वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। शरद् ऋतु का वर्णन तो अत्यन्त हृदयग्राही है। नीलाकाश में उड़ते हुए तोतों से इन्द्रधनुष की कल्पना प्रस्तुत करना प्रत्येक सहृदय को भावविभोर कर देता है—

मुखैरसौ विद्रुमभंगलोहितैः शिखा पिशंगी कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति॥ (4/36)

अर्थात् 'मूँगे के टुकड़े के समान चोंचो में धान की पीली वालियों को दबाए हुए शिरीष पुष्प की भाँति हरे तोतों की पंक्ति आकाश में उड़ रही है, जैसे आकाश में इन्द्रधनुष उदित हो गया हो।'

पञ्चम एवं षष्ठ सर्ग में हिमालय पर्वत की नैसर्गिक शोभा का भी भारवि ने अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। हिमालय पर्वत, हाथियों से रौंदीं गई रत्नों की खानें, नदी तट, पवित्र जल-सम्पन्न वेगवती नदियाँ—इन सबका एक चित्र देखिए—

दधतमाकरिभिः करिभिः क्षतै समवतारसमैरसमैस्तटैः।
विविधकामहिता महिताम्भसः स्फुटसरोजवना जवना नदीः॥ (5/7)

भारवि का यह विशिष्ट प्रकृतिवर्णन ही था जिसकी उपमा पर मुग्ध होकर आलोचकों ने भारवि को 'आतपत्र भारवि' अभिधान दिया—

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्भूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्जितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्॥ (5/39)

इस श्लोक में निदर्शना अलंकार का अनूठा प्रयोग है।

प्रकृति के अतिरिक्त अन्य वर्णनों में भी भारवि सिद्धहस्त हैं। मनोभावों, युद्ध, सैन्य, सुरतक्रीड़ा आदि के वर्णन भी अत्यन्त विस्तृत एवं मनोहारी हैं। किरातार्जुनीयम् में सर्वत्र ही वर्णन नैपुण्य प्राप्त होता है किन्तु कथोपकथन के क्षेत्र में भारवि सारे ही कवियों में श्रेष्ठ हैं। 'किरातार्जुनीय' में संवादात्मक स्थल हैं भी अनेक। प्रथम सर्ग में वनेचर-युधिष्ठिर एवं द्रौपदी-युधिष्ठिर, द्वितीय सर्ग में भीम-युधिष्ठिर, तृतीय सर्ग में युधिष्ठिर-व्यास, एकादश सर्ग में इन्द्र-अर्जुन तथा त्रयोदश सर्ग में पशुपतिदूत-अर्जुन संवाद आदि स्थल उत्कृष्ट वाग्मिता के परिचायक हैं। इन संवादों में स्वाभिमान तथा विनयशीलता—दोनों एक साथ ही दृष्टिगोचर होते हैं। शिष्टाचार एवं औचित्य का अतिक्रमण कहीं नहीं किया गया है। स्वपक्ष का तर्कपूर्वक मण्डन एवं परपक्ष का उद्वेगरहित, शान्तचित्त खण्डन—इन संवादों का वैशिष्ट्य है। द्रौपदी के संवाद तो अपमान, व्यथा, बल, स्वाभिमान, जातीय गौरव, शिक्षा, उपदेश आदि अनेक भावों को एकत्र ही प्रस्तुत कर देते हैं—

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्॥ (1/31)

अर्थात् 'तुम्हारे अतिरिक्त और कौन अनुकूल सहायक एवं स्वाभिमानी राजा होगा जो सुन्दर पत्नी जैसी कुलीन एवं कुलक्रमागत राज्यलक्ष्मी को शत्रुओं के हाथ में पड़ जाने दे।' भीम की उक्तियाँ भी उनके स्वाभिमान, अपार पराक्रम एवं अटूट साहस को भली प्रकार सूचित करती हुई उनके चरित्र की उत्कृष्टता का परिचय देती हैं—

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।
लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः॥ (2/18)

अर्थात् 'सिंह स्वयं ही मदमत्त हाथियों को मार कर अपना पेट भरता है। अपने तेज से संसार को ही लघु कर देने वाले महान् पुरुष दूसरों के सहारे ऐश्वर्य की कामना नहीं करते।' इसी प्रकार ग्यारहवें सर्ग में इन्द्र और अर्जुन का संवाद मानों ब्राह्मण्य और क्षात्र तेज का पारस्परिक संवाद जैसा जान पड़ता है।

अलंकार—अलंकार काव्य के शोभाधायक तत्त्व अवश्य होते हैं किन्तु भाषा को अलङ्कृत करने के साथ-साथ अलंकार भावों को भी जागृत कर सकते हैं। इस दृष्टि से किरातार्जुनीय में अलंकारों का सुन्दर समायोजन हुआ है। शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों ही बहुलतया भारवि के काव्य में उपलब्ध होते हैं। भारवि की प्रसिद्ध सूक्तियाँ उनके विशिष्ट अर्थान्तरन्यास अलंकार के प्रयोग को द्योतित करती हैं। किन्तु साथ ही लगभग सभी प्रमुख अलंकार किरातार्जुनीय में सुन्दरतया उपनिबद्ध हुए हैं। प्रथम सर्ग में दुर्योधन की उपमा सर्प से देते हुए भारवि ने अत्यन्त मनोहर श्लेषप्रयोग किया है—

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥ (1/24)

अर्थात् 'जिस प्रकार विषवैद्यों द्वारा कहे गए गरुड़ एवं वासुकि नामों से युक्त असह्य मन्त्र को सुनकर सर्प फन नीचा कर के व्यथित होता है, उसी प्रकार वार्तालाप के प्रसंग में लोगों के मुँह से युधिष्ठिर का नाम सुनकर अर्जुन के पराक्रम को याद करता हुआ दुर्योधन मुख नीचा करके दुखी होता है।'

इसी प्रकार चतुर्थ सर्ग में जब अर्जुन सघन वन की शारदीय सुषमा का अवलोकन करते हुए बढ़ रहे हैं, उस समय रूपक के अप्रस्तुत विधान का यह सुन्दर प्रयोग द्रष्टव्य है—

विपाण्डुसंव्यानमिवानिलोद्धतं निरुन्धतीः सप्तपलाशजं रजः।
अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुषः सपुष्पहासा वनराजियोषितः॥ (4/28)

अपने से पूर्ववर्ती महाकवियों की अपेक्षा भारवि में अलंकारों के प्रति बहुत आग्रह दृष्टिगोचर होता है। काव्य में सुकुमार मार्ग के स्थान पर विचित्र मार्ग का प्रवर्तन करने वाले इस महाकवि ने अनेक स्थलों पर अनावश्यक अलङ्कारप्रियता का प्रदर्शन किया है। सम्पूर्ण पञ्चम सर्ग यमक शब्दाङ्कार का उदाहरण सदृश प्रतीत होता है, जिसमें यमक के अनेक रूप दिखाई देते हैं (5/5 7, 9, 11, 13, 20, 23 आदि।) इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के काव्यबन्धों—सर्वतोभद्र, विलोम, प्रहेलिका, गोमूत्रिका आदि चित्रकाव्यों में अपनी कुशलता प्रदर्शित करते हुए भारवि ने एक सम्पूर्ण—पञ्चदश सर्ग—की ही रचना कर दी है। इन चित्रालंकारों में कहीं एक ही श्लोक सीधा और उल्टा एक ही होता है। (15/18, 20); कहीं पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध एक ही हैं (15/16,50) कहीं पर दो पद समान हैं (15/35); तो कहीं चारों पद एक ही है (15/52)। इसी प्रकार द्वयर्थक (15/16, 50), त्र्यर्थक (15/42) और चार अर्थ वाले (15/52) श्लोक भी उपलब्ध होते हैं।

एक सम्पूर्ण श्लोक में भारवि ने केवल एक ही व्यञ्जन 'न' का प्रयोग किया है—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥ (15/14)

इसी प्रकार एक श्लोक द्रष्टव्य है जिसमें केवल दो ही व्यजनों 'च' एवं 'र' के प्रयोग का चमत्कार द्रष्टव्य है—

चारचुञ्चिरारेची चञ्चच्चीररुचा रुचः।
चचार रुचिरश्चारु चारैराचारचञ्चुरः॥ (15/38)

एक अन्य श्लोक एकाक्षर पद है जिसमें श्लोक के चार पदों (चरणों) में से एक पद में केवल एक-एक व्यञ्जन ही प्रयुक्त हुआ है—

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययायः।
लालौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन्॥ (15/5)

ऐसे विभिन्न प्रयोगों से भारवि का असाधारण पाण्डित्य एवं काव्य कौशल भले ही परिलक्षित होता हो, किन्तु इन चित्रकाव्यों के कारण भारवि-काव्य में सरसता होने पर भी क्लिष्टता आ गई है। इसीलिए मल्लिनाथ ने 'किरातार्जुनीय' को नारियल के फल के सदृश कहा है—

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥

छन्द योजना—भारवि ने अपने काव्य में विविध प्रकार के चौबीस छन्दों का प्रयोग किया। इनमें से बारह छन्द विशेषतया उपयोग में लिए गए हैं। वैतालीय, उपजाति, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, स्वागता, प्रतिमाक्षरा, प्रहर्षिणी आदि छन्दों का भारवि ने अधिक प्रयोग किया है। साथ ही कुछ अप्रचलित छन्दों—जलोद्धतगति, जलधरमाला, औपच्छंदसिक, मत्तमयूर, कुटिला, वंशपत्रपतिता आदि—का भी प्रयोग किया है। किन्तु आचार्यों ने भारवि के वंशस्थ छन्द-प्रयोग को सर्वाधिक उपयुक्त और सुन्दर माना है।[77] सम्भवतः इस प्रयोग के मूल में भी एक विशिष्ट भावना रही हो। भारवि ने काव्य में राजनीति का बहुशः वर्णन किया था और राजनीति वर्णन के लिए वंशस्थ छन्द ही सर्वाधिक उपयुक्त छन्द माना जाता है—

'षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते।'

भाषा-शैली—'किरातार्जुनीय' के द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर ने भीम के भाषण की प्रशंसा में जो श्लोक कहा था, वह श्लोक वस्तुतः भारवि के काव्यकला विषयक सिद्धान्त का भी सुचारू प्रतिपादन कर देता है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥ (2/27)

पदसन्निवेश अस्पष्ट न हो, अर्थ की गम्भीरता एवं गौरव पर विशेष ध्यान हो, हर

77. क्षेमेन्द्र—सुवृत्ततिलक— वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिमा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥

पद का अपना निजी एवं स्पष्ट अर्थ हो तथा शब्द और अर्थ की सामर्थ्य लुप्त न हो—यही काव्यकला का सुन्दर आदर्श हो सकता है और ये सारे ही गुण भारवि के महाकाव्य में उपलब्ध होते हैं।

भारवि की भाषा अत्यन्त सशक्त है एवं अर्थ को स्पष्टतया सूचित करती है। उनकी भाषा में शैथिल्य का नितान्त अभाव है। भारवि के भाषा-प्रयोग से उनके उत्कृष्ट व्याकरण-ज्ञान का भी स्वतः परिचय मिल जाता है। भारवि ने भाषा के सम्बन्ध में अपने आदर्श को स्वयं संकेतित कर दिया था—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती॥ (14/13)

अर्थात् 'स्पष्ट विभिन्न वर्णाभरणों से सुशोभित, शत्रुओं के हृदय को भी प्रसन्न कर देने वाली, प्रसाद एवं ओज गुणों से सम्पन्न वाग्देवी पुण्यात्माओं को ही प्राप्त होती है।' इस दृष्टि से भारवि परम पुण्यात्मा ही रहे हैं।

भारवि ने अपने काव्य मे वैदर्भी रीति का आश्रय लिया था, जिसमें माधुर्य गुण के साथ ही ओज गुण भी पर्याप्त स्फुरित है। इसलिए भारवि की वैदर्भी रीति कालिदास की सुकुमार वैदर्भी रीति से पर्याप्त भिन्न जान पड़ती है। भारवि के काव्य में स्थल-स्थल पर यही कथन है कि सुन्दर रीति सम्पन्न रचना में प्रसाद गुण की रम्यता एवं ओजगुण की गम्भीरता एवं प्रभविष्णुता का एकत्र संकलन ही अपेक्षित होता है।[78]

अर्थगौरव—जिस प्रकार कालिदास अपने उपमा प्रयोग के कारण कवियों में सर्वाधिक चर्चित हुए, उसी प्रकार भारवि अपने अर्थगौरव के लिए विख्यात रहे हैं—**'भारवेर्थगौरवम्'**—अल्प पदों के द्वारा विपुल भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति ही अर्थगौरव कहलाती है। जैसे अल्प औषध भयंकर रोग के विनाश में समर्थ होकर सुखप्रद होती है वैसे ही अल्प शब्दों में अर्थ की बहुलता ही काव्य में सुखप्रद होती है—

परिणामसुखे गरीयसी व्यथकेऽस्मिन् वचसि क्षतौजसाम्।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः॥ (2/4)

भारवि के व्यापक वैदुष्य एवं विस्तृत वैयक्तिक अनुभव ने उनके काव्य को अर्थगौरव से मण्डित कर दिया। प्रारम्भ से अन्त तक भारविकाव्य में अर्थगौरव पर्याप्त मात्रा में है—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्या स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः॥ (1/33)

अर्थात 'सफल क्रोध सम्पन्न एवं आपत्तियों को नष्ट कर देने वाले व्यक्ति के वशीभूत सभी प्राणी स्वयं हो जाते हैं। किन्तु क्रोध शून्य जन्तु (व्यक्ति) से न तो शत्रु डरते हैं और न ही मित्र उसका आदर करते हैं।' इस श्लोक में 'जन्तुना' की ध्वनि तो विलक्षण है ही, भारवि ने विपुल अर्थ का सन्निवेश भी अत्यन्त रुचिर ढंग से किया है। सम्पूर्ण भारवि काव्य ऐसी सूक्तियों से भरा पड़ा है जो अर्थगौरव सम्पन्न होने के साथ ही भारवि के प्रौढ़

78. किरातार्जुनीय—1/3; 2/26; 11/38; 17/6 आदि।

शास्त्रीय ज्ञान और परिपक्व व्यवहारिक अनुभव को भी द्योतित करती हैं। डॉ. रामजी उपाध्याय के शब्दों में ''भारवि ने अर्थगौरव की उत्कृष्टता के लिए उन शाश्वत सत्यों को अपनी सूक्तियों के माध्यम से संग्रथित किया है, जो मानव को जीवन संग्राम में प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के लिए है। अर्थ गौरव की सिद्धि कवि ने छोटे-छोटे वाक्यों में भाव-गाम्भीर्य भरकर सफलतापूर्वक की है। कवि की सूक्तियों का इस दिशा में विशेष महत्त्व है।''[79] भारवि के गहन वैदुष्य एवं परिपक्व अनुभव से सम्पन्न कुछ सूक्तियाँ द्रष्टव्य है—

1.	हितं मनोहरि च दुर्लभं वच:	1/4
2.	वरं विरोधोऽपि समं महात्मभि:	1/18
3.	अहो! दुरन्ता बलवद्विरोधिता	1/23
4.	लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यत:	2/18
5.	सहसा विदधीत न क्रियामविवेक: परमापदां पदम्	2/30
6.	नयहीनादपरज्यते जन:	2/49
7.	भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाता:	3/12
8.	मुखरता अवसरे हि विराजते	5/16
9.	प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायै:।	5/49
10.	किमिवावसादकरामात्मवताम्	6/19
11.	रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति	7/5
12.	सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम्	7/28
13.	वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तूनि	8/37
14.	वस्तुमिच्छति निरापदि सर्व:।	9/16
15.	सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम्।	11/11
16.	आपातरम्या विषया पर्यन्तपरितापिन:।	11/12
17.	असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेव सेविता।	11/55
18.	गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहति:।	12/10
19.	सज्जैनकवसति: कृतज्ञता।	13/51
20.	संवृणोति खलु दोषमज्ञता।	13/63
21.	मित्रलाभमनु लाभसम्पद:।	13/52
22.	व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया।	14/14
23.	तेजोविहीन विजहाति दर्प:।	17/16

काव्य को बहुल अलंकारों तथा शाब्दिक चमत्कारों से सर्वप्रथम भूषित करने के साथ साथ अर्थगौरव एवं अर्थसम्पत्ति पर अत्यधिक बल देने वाले भारवि की वाणी को स्वभावतया मधुर कहा गया—'प्रकृतिमधुरा भारविगिर:।' भारवि की रचना न केवल सहृदय

79. उपाध्याय, रामजी—संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 263

पाठक अथवा श्रोता के मन को आकृष्ट करती रही है, अपितु संस्कृत साहित्य के प्रख्यात आचार्यों को भी इस काव्य ने मुग्ध किया। वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट, भोज, विश्वनाथ आदि सभी प्रसिद्ध शास्त्रकारों ने इस महाकाव्य से अनेक उद्धरण अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किए। राजशेखर ने भारवि की वाणी को सूर्यप्रभा के सदृश सम्पूर्ण प्रबोधकृत् कहा है— 'कृत्स्नप्रबोधकृत्वाणी भारवेरिव भारवेः।' राजशेखर के प्रशंसात्मक भाव को अन्य समालोचकों ने भिन्न भिन्न शब्दावली में प्रस्तुत किया—

जिगाय विस्फूर्तिमती यदीया प्रतिभा रविम्।
मन्महे कविरत्नं तं वयं सम्प्रति भारविम्॥
प्रकाशं सर्वतो दिव्यं विदधाना सतां मुदे।
प्रबोधनपरा हृद्या भारवेरिव भारवे॥

भट्टि

महाकवि भट्टि का एक ही महाकाव्य 'रावणवध' प्राप्त होता है जिसे लेखक के ही नाम पर भट्टिकाव्य कहा जाता है। इनके जीवन चरित तथा समय के सम्बन्ध में भट्टिकाव्य के ही अन्तिम श्लोक में अत्यन्त स्वल्प सूचना प्राप्त होती है।[80] उसके अनुसार भट्टि ने अपने काव्य की रचना राजा श्रीधरसेन के द्वारा अधिशासित वलभी नगरी में की थी। 500 ईस्वी से लेकर 650 ई. तक वलभी में श्रीधरसेन नामक चार राजा हुए। 610 ईस्वी के एक शिलालेख में ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि श्रीधरसेन द्वितीय ने भट्टि नामक एक विद्वान् को कुछ भूमि दान में दी थी। इन दोनों के नामसाम्य के आधार पर विद्वज्जन भट्टि का समय छठी शती ईस्वी का अन्त अथवा सातवी शती ईस्वी का प्रारम्भ निर्धारित करते हैं।

काव्य के माध्यम से तत्त्वज्ञान अथवा शास्त्रज्ञान कराने की परम्परा संस्कृत साहित्य में प्राचीन रही है। भट्टि ने भी अपने काव्य की रचना इसी उद्देश्य से की थी जिससे काव्यगत मनोरञ्जन के साथ साथ पाठकों को संस्कृत व्याकरण का भी पूर्णज्ञान हो जाए। भट्टि के समय तक विभिन्न प्राकृत भाषाओं में पर्याप्त रचनाएँ होने के कारण प्राकृत साहित्य समृद्ध हो गया था। प्रवरसेन रचित 'सेतुबन्ध' महाकाव्य का भट्टिकाव्य पर विपुल प्रभाव इसका प्रमाण है। प्राकृत भाषाओं की इस उन्नति से स्वभावतः ही संस्कृत भाषा एवं उसके व्याकरण को हानि पहुँच रही थी। भट्टि ने इस अवनति को रोकने के क्रम में संस्कृत व्याकरण के शुद्ध प्रयोगों का संकेत करने के लिए महाकाव्य की रचना की। इस दृष्टि से इस काव्य को वैयाकरण काव्य कहा जा सकता है। महाकाव्य का कथानक तो रामकथा पर अवश्य आधारित है किन्तु वस्तुतः पद्यों में व्याकरण के कठिन नियमों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। भट्टि को व्याकरणमूलक काव्यशैली की एक नवीन विधा को जन्म देने का श्रेय है। भट्टि ने स्वयं स्वीकार किया कि यह काव्य व्याकरणज्ञाता के लिए दीपक सदृश है किन्तु व्याकरण न जानने वाले के लिए अन्धे के हाथ में दर्पण के सदृश है।

---

80. भट्टिकाव्य 22/35— काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितानाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य क्षेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्॥

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥ (22/23)

ग्रन्थपरिचय—भट्टि के महाकाव्य में 22 सर्ग हैं तथा इनको चार काण्डों में पर्यवसित किया गया है।

1. प्रकीर्ण काण्ड—इसमें प्रारम्भिक पाँच सर्ग हैं तथा रामजन्म से सीताहरण तक की कथावस्तु इसमें उपन्यस्त हुई है। इस काण्ड में महाकवि भट्टि ने व्याकरण शास्त्र के नियमों की अपेक्षा कवित्व तथा कथाविकास की ओर अधिक ध्यान दिया है। केवल पाँचवें सर्ग के अन्त में 'ट' प्रत्यय का विवेचन है

2. अधिकार काण्ड—इसमें छठे से नवम तक के चार सर्ग अन्तर्भूत हैं। सुग्रीव-अभिषेक, सीता की खोज, अशोकवाटिका भंग तथा मेघनाद के द्वारा हनुमान संयमन तक की कथा इन चार सर्गों में वर्णित हैं। व्याकरण दृष्टि से अधिकार काण्ड में क्रियाओं के प्रयोग सम्बन्धी नियमों का विवरण है।

3. प्रसन्न काण्ड—दशम से त्रयोदश तक चार सर्ग प्रसन्न काण्ड में हैं। इन चारों सर्गों में वानर सेना प्रयाण से लेकर सागर पर सेतुबन्धन तक की कथा प्राप्त होती है। इस सम्पूर्ण काण्ड में व्याकरण के स्थान पर काव्यशास्त्र विषयक विवेचन है जिसमें अर्थालंकारों एवं शब्दालंकारों का सोदाहरण स्पष्टीकरण है। इसी कारण इस काण्ड में भी भट्टि की कवित्वशक्ति का सुष्ठु परिचय प्राप्त होता है।

4. तिङन्त काण्ड—इसमें चौदह से बाईस तक नौ सर्ग हैं और काण्ड के नामकरण के अनुरूप ही क्रमशः एक-एक सर्ग में लिट्, लुङ्, लृट्, लङ्, लट्, विधि एवं आशीलिंङ्, लोट्, लृङ्, लुट् का व्यावहारिक प्रस्तुतीकरण है। कथावस्तु के विकास की दृष्टि से इस काण्ड में विभिन्न बन्धुओं सहित रावणवध, विभीषण का राज्याभिषेक, सीता की अग्निपरीक्षा, अयोध्या प्रत्यावर्तन एवं राज्याभिषेक वर्णित है।

कथावस्तु एवं रस—रामायण की कथा को उपजीव्य बना कर भी भट्टि का लक्ष्य कथा चमत्कार की अपेक्षा व्याकरण शिक्षा था। यही कारण है कि 'रावणवध' महाकाव्य की कथावस्तु में नूतनता एवं औत्सुक्य का अभाव ही परिलक्षित होता है। यही स्थिति भट्टिकाव्य में रस की भी है। इसका प्रमुख रस वीररस है तथा शृंगार अंगरस के रूप में सहायक हुआ है। किन्तु भावपक्ष की दुर्बलता के कारण कोई भी वर्णन हृदय को पूर्णतया रसनिमग्न नहीं कर पाता।

प्रकृतिवर्णन—भट्टि के काव्य में प्रकृतिवर्णन के कुछ प्रसंग अत्यन्त रमणीक बन पड़े हैं। शरद ऋतु की अपूर्व सुषमा का चित्रण करते हुए भट्टि ने एकावली अलंकार युक्त जिस श्लोक की रचना की थी; उसे अधिकांश आलंकारिकों ने उदारहण रूप में उद्धृत किया है—

न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं न पंकजं तद्यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं, न गुंजितं तन्न जहार यन्मनः॥ (2/19)

अर्थात् 'कोई सरोवरजल ऐसा नहीं था जहाँ मनोहर कमल न खिले हों, ऐसा कोई

कमल नहीं था जिसमें भ्रमर छिपे न हों, ऐसा कोई भौंरा न था जो मधुर गुञ्जार न करता हो और ऐसा कोई गुञ्जन नहीं था जो मन को न हर लेता हो।'

इसी प्रकार भट्टि का प्रभातवर्णन भी आलोचकों को प्रिय रहा है। नदी तट के वृक्षों से ओस की बूंद झर रही हैं, पेड़ों पर पक्षी कलरव कर रहे हैं। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानों चन्द्रमा के अस्त हो जाने से दुखी कुमुदनी की सहानुभूति में तट का वृक्ष रो रहा है—

निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः।
उपारुरोदेव नदत्पतङ्गः कुमुद्वतीं तीरतरुर्दिनादौ॥ (2/4)

भाषा-शैली—व्याकरण के नाम मात्र से दुरूहता, दुर्बोधता, नीरसता आदि का बोध होता है किन्तु यह अत्यन्त विस्मयजनक है कि व्याकरण के प्रयोगों का संकेत करने के लिए रचे गए भट्टि काव्य की भाषा सरल है तथा शैली प्रसादगुण सम्पन्न वैदर्भी रीति है। भट्टि ने छोटे छोटे वाक्य प्रयोगों द्वारा अपने काव्य को सुबोध बना दिया है। कुछ ही स्थल ऐसे हैं जहाँ व्याकरण के उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत पद कठिन हो गए हैं।

पहले संकेत किया जा चुका है कि भट्टि काव्य एक शास्त्र काव्य है किन्तु इसमें महाकाव्य की भी सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। दसवें से तेरहवें सर्ग तक की काव्यरचना महाकाव्य के वैशिष्ट्य को ही उजागर करती है। तेरहवें सर्ग में तो भट्टि ने श्लोकों की रचना इस प्रकार की है कि उन्हें संस्कृत एवं प्राकृत दोनों ही भाषाओं में पढ़ा जा सकता है। इसमें छन्द भी प्राकृत का ही है। दसवें सर्ग में विभिन्न अलंकारों का सौन्दर्य दर्शनीय है।[81] कतिपय आलोचकों ने भट्टिकाव्य को कृत्रिमता तथा आडम्बर से युक्त माना है किन्तु यह दोषारोपण अनुचित है। भट्टि ने व्याकरण के दुरूह नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करने के साथ साथ अपने काव्य में सजीवता एवं रोचकता को बनाए रखा—यह एक दुस्तर कार्य था। आलंकारिकों ने तो 'भट्टि को साहित्यशास्त्र के आचार्यों में स्थान दिया है। यद्यपि भट्टि ने किसी भी लक्षण ग्रन्थ की रचना नहीं की है, पर तत्तदलङ्कार के लक्ष्य रूप में उपन्यस्त पद्य उनके आचार्यत्व को प्रतिष्ठापित करते हैं।'

कुमारदास

कवि कुमारदास का एक ही महाकाव्य 'जानकीहरण' उपलब्ध होता है। कुमारदास संस्कृत में पर्याप्त परिचित रहे और सिंहलदेश निवासी होने पर भी भारत तक इनकी यशः पताका फहराती रही। राजशेखर ने कुमारदास के काव्य की प्रशंसा में लिखा—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविःकुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः॥

श्लोक में श्लेष प्रयोग द्वारा अत्यन्त सुन्दर अर्थ प्रस्तुत हुआ है। रघुवंश के (राम के) रहते जानकीहरण की क्षमता केवल रावण में ही थी। उसी प्रकार कालिदास के रघुवंश महाकाव्य के होने पर भी उसी विषय पर महाकाव्य रचने की सामर्थ्य 'जानकीहरण'

---

81. न गजा नगजा दयिता दयिता विगतं विगतं ललितं ललितम्।
प्रमदा प्रमदामहता महतामरणं मरणं समयात् समयात्॥

के रचयिता कुमारदास में ही है।

कुमारदास के जीवनवृत्त एवं स्थितिकाल का यथार्थ निर्णय दुष्कर ही है। सिंहल जनश्रुतियाँ कुमारदास को सिंहल देश का राजा और कालिदास का समकालीन बताती हैं। लंका देश में ही धनलोलुप वेश्या के द्वारा कालिदास की निर्मम हत्या से व्यथित राजा कुमारदास ने कालिदास की चिता में ही कूद कर प्राण त्याग दिए—यह कथा सिंहल के तेरहवीं शती से सोलहवीं शती ईस्वी के बीच रचे गए अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। किन्तु सिंहल देश के जातीय इतिहास ग्रन्थ—महावंश—में इस प्रकार का कोई संकेत न होने से इन जनश्रुतियों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इनसे इतना सत्य अवश्य प्राप्त होता है कि कुमारदास सिंहलदेशीय थे।

कुमारदास के 'जानकीहरण' महाकाव्य पर कालिदास के काव्यों का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। अत: कुमारदास का समय कालिदास के अनन्तर ही है। कुमारदास पाणिनीय व्याकरण की प्रसिद्ध टीका काशिका (650 ई.) से निश्चय ही परिचित थे, क्योंकि उन्होंने जानकीहरण में कुछ नए शब्दों को उन्हीं विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त किया है, जिन अर्थों में उन नए शब्दों का उल्लेख 'काशिका' में हुआ है। दूसरी ओर वामन (800 ईस्वी) ने अपने ग्रन्थ में 'जानकीहरण' से उद्धरण दिए हैं। इस दृष्टि से इनका समय 650 ई. से 750 ई. के बीच माना जा सकता है।

यह महाकाव्य आज तक अपने पूर्ण रूप में प्रकाशित नहीं हो सका है। मूलरूप में यह अब भी अप्राप्य है। इसमें 25 सर्ग कहे जाते हैं। लंका की भाषा में इसका अविकल अनुवाद सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध है। इसके प्रारम्भिक चौदह सर्ग सम्पूर्ण तथा पन्द्रहवाँ सर्ग खण्डित रूप में संस्कृत में प्राप्त हुए हैं। इस महाकाव्य की एक हस्तलिखित प्रति मद्रास गवर्नमेण्ट लाइब्रेरी में पूर्ण रूप में उपलब्ध है किन्तु उसमें बीस ही सर्ग हैं तथा अन्तिम बीसवें सर्ग में रावण पर राम की विजय के साथ महाकाव्य का अन्त हो गया है।

ग्रन्थपरिचय—जैसा इस महाकाव्य के नाम से ही स्पष्ट है, इसमें रामायण के युद्धकाण्ड तक की सम्पूर्ण कथा उपन्यस्त हुई है और जनकतनया के हरण की घटना को केन्द्र बिन्दु मानकर महाकाव्य का नामकरण किया गया है। 'जानकीहरण' महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग की कथा क्रमश: इस प्रकार है—1. अयोध्या, राजा दशरथ, रानियाँ आदि वर्णनों के साथ श्रवणकुमार वध एवं उसके अन्धे माता पिता का दशरथ को शाप; 2. इन्द्रादि देवों की रावण से पराजय होने पर बृहस्पति के द्वारा ब्रह्मा से सहायता की याचना एवं मानवलोक में जन्म लेने की विष्णु की प्रतिज्ञा; 3. राजा दशरथ की जलक्रीड़ा, उपवन विहार एवं रमणीय सन्ध्यावर्णन; 4. राम जन्म एवं राक्षसवध के लिए राम लक्ष्मण का विश्वामित्र के साथ जाना; 5. विश्वामित्र के तपोवन का इतिहास एवं ताटका-सुबाहु वध; 6. विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण का मिथिला आगमन, जनक से भेंट, सीता का पूर्वराग एवं धनुषभंग; 7. राम आदि का विवाह; 8. राम सीता की प्रेम क्रीड़ाएं 9. अयोध्या प्रत्यागमन एवं मार्ग में युद्ध; 10. राम वनवास गमन से लेकर सीताहरण तक की घटनाएँ; 11. राम हनुमान् मैत्री, बालिवध, सुग्रीव राज्याभिषेक एवं वर्षाऋतु का मनोहर

वर्णन; 12. शरद् वर्णन, लक्ष्मण सुग्रीव संवाद एवं सुग्रीव का राम के पास आना; 13. सीता विरह में व्यथित राम को सुग्रीव द्वारा आश्वासन एवं वानर सेना का संघटन; 14. समुद्र पर सेतुबन्ध और वानर सेना का लंका पहुँचना; 15. अंगद को दूत बनाकर रावण के पास भेजना; 16. राक्षसों का भोगविलास 17—20. सेनाओं के भयंकर युद्ध एवं राम की रावण पर विजय।

'जानकीहरण' महाकाव्य की चिरपरिचित रामकथा में कोई विशेष मौलिकता न पाए जाने पर भी कवि की वर्णन शैली अत्यन्त सुन्दर है। अपने वर्णन कौशल के द्वारा कहीं कहीं कुमारदास ने चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। पतिप्राणा सीता पुष्पों और रत्नों की समृद्धि से अपना शृंगार करके भी स्वयं दर्पण नहीं देखती थी क्योंकि स्त्रियों के शृंगार का फल तो अपने पति की प्रसन्नता ही है—

पुष्परत्नविभवैर्यथेप्सितं सा विभूषयति राजनन्दने।
दर्पणं तु न चकांक्ष योषिता स्वामिसम्मतफलं हि मण्डनम्॥ (8/25)

इसी प्रकार प्रकृति के एक अनिवार्य क्रम—वसन्त में रात्रि छोटी और दिन क्रमशः बड़े—का कवि ने अपूर्व वर्णन किया है—

प्रालेयकालप्रियविप्रयोगग्लानेव रात्रिः क्षयमाससाद।
जगाम मन्दं दिवसो वसन्तक्रूरातपश्रान्त इव क्रमेण॥ (3/13)

अर्थात् 'शिशिर रूपी प्रिय के वियोग से दुखी के समान रात्रि क्षीण हो गई और वसन्तकालीन तीव्र आतप से थके हुए के सदृश दिवस धीरे धीरे चलने लगा।'

कुमारदास वैदर्भी शैली के कवि हैं। इनकी भाषा में सरलता, सरसता, प्रवाह तथा प्राञ्जलता का सुन्दर समन्वय है। सम्पूर्ण महाकाव्य में भावों की सुकुमारता एवं सहृदयता व्याप्त है। शब्द सौष्ठव, छन्दों की लयात्मकता और नाद मधुर्य के कारण कुमारदास की शैली में मनोहारिता है। महाकाव्यों की परम्परा के अनुकूल ही कुमारदास ने ऋतु, प्रासाद, पर्वत, युद्ध आदि का यथास्थान वर्णन किया है। महाकाव्य के प्रारम्भिक सर्गों में कवि ने अलंकारों का सायास प्रयोग तो नहीं किया किन्तु अनुप्रास, यमक एवं अर्थान्तरन्यास अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं—

अन्याऽपि कन्या जितसिद्धकन्या तादृग्गुणा तस्य बभूव देवी। (1/42)
हरिर्हारि हितं वाक्यं जगाद गदनाशनः। (2/19)
ततः सलीलं सलिलं विभिन्दन्नेवं वदन्नेव वरांगनाभिः। (3/32)
सज्जनेषु विहितं हि यच्छुभं सद्य एव फलबन्धि जायते (8/45)

'जानकीहरण' महाकाव्य के सत्रहवें एवं अठारहवें सर्ग में कवि ने शब्दालंकारों और चित्रबन्धों के चातुर्य का भी परिचय दिया है। यद्यपि भारवि की भाँति कुमारदास पण्डितमार्ग के अनुयायी नहीं हैं, किन्तु अपने महाकाव्य के अन्त तक आते आते उनमें भी भारवि की सी प्रवृत्ति परिलक्षित होने लगती है। डॉ. बलदेव उपाध्याय के शब्दों में "कुमारदास भारवि और माघ के अन्तरालवर्ती युग के प्रतिनिधि कवि हैं। महाकवि कालिदास के अनेक शताब्दियों के अनन्तर संस्कृत काव्यशैली में एक विशिष्ट परिवर्तन

सामने आया। कालिदास की रससिद्ध शैली का स्थान अलंकारों से जटित तथा अर्जित वैदुष्य के प्रदर्शन की 'विचित्र शैली' ने लिया। .....कुमारदास उसी युग के कवि थे। फलत: कालिदासीय वैदर्भी के प्रशंसक होने पर भी युगप्रकृति को अवनतेन शिरसा उन्होंने स्वीकार किया।''[82] चित्रबन्धों एवं कतिपय अलंकारों के प्रति विशिष्ट आग्रह रूपी क्लिष्टता को एक ओर कर देने पर कुमारदास का यह काव्य नवीनता, माधुर्य, वर्णरुचिरता आदि के कारण हृदयावर्जक अवश्य है।

माघ

'शिशुपालवधम्' महाकाव्य के रचयिता महाकवि का नाम संस्कृतानुरागियों में सुपरिचित है। अपने से तनिक ही पूर्व हुए महाकवि भारवि की कीर्तिप्रभा को माघ ने अपनी कवित्वशक्ति से तनिक म्लान कर दिया था। परवर्ती कवियों एवं आलोचकों ने भारवि एवं माघ—इन दोनों नामों के अन्वर्थ (सूर्यतेज एवं शिशिर ऋतु का माघ मास) को लेकर अनेकविध प्रशंसा की। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् प्रोफेसर याकोवी ने इसी अर्थ के आधार पर यह प्रतिपादित किया कि इन दोनों कवियों ने अपने नाम साभिप्राय रखे थे। जिस प्रकार भारवि ने अपनी कवित्व शक्ति की तीक्ष्णता एवं प्रखरता को सूचित करने के लिए अपना नाम भारवि (सूर्य का तेज) रखा; उसी प्रकार माघ ने भारवि काव्य की उस ज्वलन्त प्रखरता एवं तीक्ष्णता को अपनी कवित्व शक्ति से ध्वस्त कर देने के लिए अपना नाम माघ रखा। प्रकृति के ऋतु चक्र में भी शिशिर ऋतु के माघ मास में सूर्य का तेज नितान्त मन्द किंवा शीतल पड़ जाता है। किन्तु प्रोफेसर याकोवी की कल्पना का कोई सबल आधार नहीं है। दोनों महाकवियों के ये वास्तविक नाम है, सोच कर रखी गई उपाधियाँ नहीं है।

पन्द्रहवीं शती के 'भोजप्रबन्ध' तथा चौदहवीं शती के 'प्रबन्धचिन्तामणि' ग्रन्थ से माघ के जीवन का पर्याप्त परिचय मिलता है। इन दोनों ग्रन्थों ने माघ एवं उनकी पत्नी के दानी स्वभाव की प्रचुर प्रशंसा की है। इन ग्रन्थों के आधार पर माघ को राजा भोज का समकालीन मानकर माघ का समय 11वीं शती ईस्वी मान लेने का कुछ विद्वानों का आग्रह था, किन्तु यह मन्तव्य अब सर्वथा कल्पित एवं असम्भावित सिद्ध हो चुका है। स्वयं माघ ने 'शिशुपाल वध' महाकाव्य की समाप्ति पर अपने वंश का तनिक सा विवरण दिया है।[83] उसके अनुसार माघ के पितामह सुप्रभदेव किसी राजा वर्मल या वर्मलात के

82. उपाध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 203
83. सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्रीवर्मलाख्यस्य बभूव राज्ञः।
असक्तदृष्टिर्विरलाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनामा॥
तस्याभवद्दत्तक इत्युदात्तः क्षमी मृदुर्धर्मपरस्तनूजः।
यं वीक्ष्य वैयासमजातशत्रोर्वचो गुणग्राहि जनैःप्रतीये॥
सर्वेण सर्वाश्रय इत्यनिन्द्यमानन्दभाजा जनितं जनेन।
यश्च द्वितीयं स्वयमद्वितीयो मुख्यः सतां गौणमवाप नाम॥

प्रधानमन्त्री थे। उनके पुत्र दत्तक हुए, जो अत्यन्त उदार तथा सभी को आश्रय देने के कारण 'सर्वाश्रय' उपाधि से अलंकृत हुए। इन्हीं दत्तक के पुत्र माघ हुए जिन्होंने सुकवि रूप में कीर्ति प्राप्त करने के लिए लक्ष्मीपति के चरितकीर्तन स्वरूप 'शिशुपालवध' की रचना की।

माघ के स्थितिकाल के सम्बन्ध में आलोचक एकमत नहीं है। माघ ने अपने समय का कोई संकेत अपने महाकाव्य में कहीं भी नहीं दिया है। किन्तु कतिपय बाह्य प्रमाणों के आधार पर माघ का समय सातवीं शती का उत्तरार्ध निश्चित किया जाता है।

1. सोमदेव (959 ई.) ने अपने यशस्तिलकचम्पू में माघ का उल्लेख किया है।

2. आनन्दवर्धन (850 ई.) ने 'ध्वन्यालोक' में शिशुपालवध के तीसरे और पाँचवें सर्ग से दो श्लोकों को उद्धृत किया है।[84]

3. नृपतुंग (814 ई.) ने कन्नड़ भाषा के अपने अलंकार ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' में माघ कवि को कालिदास के समकक्ष स्वीकार किया है।

4. वामनाचार्य (800 ई. के लगभग) ने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में 'शिशुपालवध' के तृतीय सर्ग (3/53) से एक श्लोक तुल्योगिता अलंकार के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

इन प्रमाणों से यह तो ज्ञात होता है कि आठवीं शती के अन्त तक माघ की प्रतिष्ठा महाकवि के रूप में सर्वविदित थी।

5. माघ के स्थितिकाल की दृष्टि से विद्वानों ने 'शिशुपालवध' के द्वितीय सर्ग के एक श्लोक को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना हे, जिसमें माघ ने श्लेष के द्वारा राजनीति की समता व्याकरणशास्त्र से की है।[85] इस श्लोक में आए हुए दो व्याकरणग्रन्थों के नाम—वृत्ति (काशिका) तथा न्यास—विचारणीय हैं। 'काशिकावृत्ति' की रचना का समय 650 ई. इतिहाससिद्ध है, अतः माघ का समय 650 ई. के उपरान्त तो है ही। किन्त विवाद 'न्यास' शब्द को लेकर है। जिनेन्द्रबुद्धि ने 700 ई. में 'काशिकावृत्ति' पर 'विवरण पञ्जिका' नामक टीका लिखी जो न्यास नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। यदि माघ का संकेत जिनेन्द्रबुद्धि कृत 'न्यास' की ओर है, तो माघ का समय 700 ई. उपरान्त ही होना चाहिए। किन्तु जिनेन्द्रबुद्धि से पूर्व भी कुणि, नल्लूर, चुल्लि आदि के न्यासग्रन्थ लिखे गए थे, जिनका उल्लेख स्वयं जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यास ग्रन्थ में किया है। ये

श्रीशब्दरम्यकृतसर्गसमाप्तिलक्ष्य
लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारुः।
तस्यात्मजः सुकविकीर्तिदुराशयादः
काव्यं व्यधत्त शिशुपालवधाभिधानम्॥

84. शिशुपालवध 3/53—रम्या इति प्राप्तवतीः पताका...।
शिशुपालवध 5/26—त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्...।

85. शिशुपालवध 2/112— अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥

न्यासग्रन्थ राजा हर्षवर्धन के सभापण्डित बाणभट्ट (640 ई.) से भी पूर्व प्रचलित अवश्य थे, क्योंकि बाणभट्ट ने भी 'हर्षचरित' में माघ के सदृश ही वाक्य प्रयोग किया है—'कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि।' इससे स्पष्ट है कि माघ से पूर्ववर्ती बाणभट्ट के समय से पहले भी कोई प्रामाणिक न्यासग्रन्थ अवश्य था और बाणभट्ट की भाँति माघ ने भी उसी के लिए 'न्यास' शब्द का प्रयोग किया है।

6. राजस्थान के वसन्तगढ़ से एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है।[86] जिससे माघ के स्थितिकाल पर प्रामाणिक प्रकाश पड़ता है। यह शिलालेख किन्हीं राजा वर्मलात का है तथा इसका समय 682 विक्रमसंवत् (625 ई.) है। विद्वज्जन इस राजा वर्मलात को माघ के पितामह के आश्रयदाता राजा से अभिन्न मानते हैं। पितामह का समय 625 ई. होने पर पौत्र माघ का समय 675 ई. से 700 ई. के बीच मान लेना युक्ति-संगत ही है।

इन समस्त प्रमाणों के आधार पर माघ का स्थितिकाल सातवीं शती का उत्तरार्ध सुनिश्चित होता है।

'शिशुपालवध' महाकाव्य में बीस सर्ग हैं जिनमें युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण के द्वारा उद्धत शिशुपाल के वध की घटना मुख्य है। इसकी कथावस्तु महाभारत के सभापर्व (अध्याय 33-45) से ग्रहण की गई है। श्रीमद्भागवत में भी यह कथा अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त पद्मपुराण, विष्णु पुराण एवं ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी यह कथा संक्षेप में वर्णित है।[87] आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार ''कवि माघ ने अपने महाकाव्य की कथावस्तु को श्रीमद्भागवत (10/71-75) के आधार पर ही मुख्यतया प्रस्तुत किया है। 'शिशुपालवध' की कथा के स्रोतस्वरूप ग्रन्थों में उपलब्ध कथा तथा माघकाव्य की कथा के अनेक स्थलों में साम्य एवं वैषम्य पाया जाता हे और यह स्वाभाविक ही था। माघ ने अनेक स्थलों पर मौलिक परिवर्तन भी किए हैं।

शिशुपालवध महाकाव्य की कथा सर्गानुसार इस प्रकार है—सर्ग 1. आकाशमार्ग से नारद पृथिवी पर श्रीकृष्ण के सम्मुख उतरते हैं। कृष्ण अर्घ्यदान के पश्चात् नारद के आने का प्रयोजन पूछते हैं। नारद शिशुपाल के गर्व एवं अत्याचारों से पीड़ित संसार और इन्द्र के भय का वर्णन करके श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं कि वे शिशुपाल का वध करें। श्रीकृष्ण शिशुपालवध का वचन देते हैं। 2. सभागृह में बलराम, श्रीकृष्ण एवं उद्धव मन्त्रणा करने के लिए प्रविष्ट होते हैं। वहाँ युधिष्ठिर की ओर से राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने का निमन्त्रण प्राप्त होता है। दो कार्यों में से प्रथम क्या करणीय है? इस वादविवाद को उद्धव अपने राजनीति कौशलपूर्ण वचनों से समाप्त कर देते हैं और राजसूय यज्ञ में ही

---

86. कीलहार्न—जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी—1908, पृष्ठ 409
पाठक—जर्नल ऑफ बॉम्बे एशियाटिक सोसाइटी—वाल्यूम-23, पृष्ठ 18
काणे, पी.वी.—जर्नल ऑफ बॉम्बे एशियाटिक सोसाइटी—वाल्यूम-24, पृष्ठ 19

87. पद्मपुराण 279/1.....23
विष्णु पुराण चतुर्थांश 14/44...53; 15/1...15;
ब्रह्मवैवर्तपुराण—113/23...27

शिशुपाल के अपमान और वध की युक्ति सोच कर सभी राजसूय यज्ञ में इन्प्रस्थ जाने की तैयारी करते हैं। 3 सर्ग से 13 सर्ग तक श्रीकृष्ण वैभव एवं सौन्दर्य तथा सेना प्रयाण, रैवतक पर्वत, सैन्य शिविर, षड्ऋतु, वनविहार, जलक्रीड़ा, सूर्य एवं चन्द्र का उदय अस्त, प्रात:काल एवं यमुना नदी को पार करके इन्द्रप्रस्थ नगरी पहुँचने के दीर्घ किन्तु रमणीय वर्णन हैं। 14. युधिष्ठिर अग्रपूजा करके श्रीकृष्ण के प्रति सम्मान प्रगट करते हैं। 15. अग्रपूजा से रुष्ट होकर शिशुपाल कृष्ण, युधिष्ठिर एवं भीष्म को दुर्वचन सुनाता है। (16) शिशुपाल का दूत आकर द्व्यर्थक सन्देश सुनाता है कि या तो कृष्ण शिशुपाल की अधीनता मानें या मरने को तत्पर हों। (17-20) सेनाओं का पारस्परिक युद्ध तथा श्रीकृष्ण एवं शिशुपाल का द्वन्द्वयुद्ध होता है। अन्त में श्रीकृष्ण अपने सुदर्शन चक्र से शिशुपाल का सिर काट देते हैं और शिशुपाल के शरीर से एक तेज निकल कर कृष्ण के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है तथा महाकाव्य समाप्त हो जाता है।

कथानिर्वाह—महाभारतादि से गृहीत इस संक्षिप्त कथानक को महाकवि माघ ने महाकाव्योपयोगी विभिन्न वर्णनों से अलंकृत करके अत्यन्त विस्तृत कर दिया है। वस्तुत: माघ ने किसी प्रकार के वर्णन करने के अवसर को व्यर्थ नहीं जाने दिया है। इस अतिशय वर्णनप्रियता के कारण माघ अपने काव्य की कथावस्तु के निर्वाह में कौशल नहीं प्रगट कर सके। 'शिशुपालवध' के वर्णनात्मक प्रसंगों को पढ़ कर लगता है कि माघ ने इतिवृत्त को भुला ही दिया। तृतीय से चतुर्दश सर्ग तक ग्यारह सर्गों में कथा नितान्त अवरुद्ध है। इसी कारण इतिवृत्त संयोजन और प्रासंगिक वर्णनों के सामञ्जस्य से महाकाव्य में जो एक अद्‌भुत आकर्षण उत्पन्न होता है, वह माघकाव्य में प्राप्त नहीं होता। कथावस्तु के निर्वाह मे माघ की यही न्यूनता है।

रस—शिशुपालवध का मुख्य रस वीर रस है तथा शृंगार, रौद्र, भयानक आदि रस इसमें अंग रूप में सन्निविष्ट हैं। इस काव्य में वीर रस का सन्निबन्धन नायक श्रीकृष्ण, प्रतिनायक शिशुपाल एवं दोनों सेनाओं के युद्ध के माध्यम से किया गया है। प्रथम सर्ग में ही श्रीकृष्ण की वीरता को उद्दीप्त करने के लिए नारद शिशुपाल के पूर्व जन्म की वीरता का कथन करते हैं जब रावण के रूप में उसने समस्त दिक्पालों को भी पराजित कर दिया था। वरुण ने अपने नागपाश रावण को बाँध लेने के लिए फेंके; किन्तु रावण की क्रोधयुक्त हुंकार से पराङ्मुख एवं भयभीत वे नागपाश शीघ्रता से प्रहर्ता-वरुण के कण्ठ में ही आकर लिपट गए—

रणेषु तस्य प्रहिता: प्रचेतसा सरोषहुंकारपराङ्मुखीकृता:।
प्रहतुरिवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभया प्रपेदिरे॥ (1/56)

युद्धभूमि में सेनाओं के परस्पर सम्मुख आते ही प्रतिपक्षी वीरों में आवेश का ऐसा ज्वार आया कि वे अस्त्रशस्त्र त्याग कर उत्साहपूर्वक एक दूसरे से भिड़ गए, मुष्टियुद्ध ही करने लगे—

रोषावेशादाभिमुख्येन कौचित्पाणिग्राहं रंहसैवोपयातौ।
हित्वा हेतीर्मल्लवंमुष्टिघ्नातं बाहबाहविव्यासजेताम्॥ (18/12)

वस्तुत: माघकाव्य में अंगी वीररस का उपनिबन्धन प्रारम्भिक एक दो सर्गों है तथा पुन: अन्तिम कतिपय सर्गों में ही हुआ है[88], जिनमें श्रीकृष्ण एवं शिशुपाल की सेनाओं का तथा स्वयं उन दोनों का युद्ध वर्णन किया गया है। कवि ने इस काव्य में शृंगार रूप अंगरस को इतना प्रामुख्य प्रदान कर दिया है कि उन स्थलों को पढ़ कर शृंगाररस ही काव्य का मुख्य रस प्रतीत होने लगता है। सातवें से बारहवें सर्ग तक तो शृंगार रस की ही प्रधानता रही है। उसमें भी संयोग पक्ष का वर्णन ही कवि को इष्ट है। प्रत्येक अवसर और प्रत्येक वर्णन में माघ की यह शृंगार रस प्रियता प्रगट होती रहती है।[89] प्रात:काल हो रहा है; रात्रि में रतिक्रीड़ा से थक कर पति पत्नी सोए, किन्तु नायिका पहले जाग गई। किन्तु फिर भी वह शरीर को बिल्कुल भी नहीं हिला रही है कि कहीं दृढ़ आलिंगन में फँसी भुजाओं का चक्र न टूट जाए—

चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धा:।
अपरिचलितगात्रा: कुर्वते न प्रियाणामशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्य:॥ (11/13)

अधिक क्या कहें, वीर रस आदि के वर्णन के समय भी माघ ने शृंगार को अवश्य सम्मिश्रित कर दिया है।[90] पैदल पैदल में, घोड़ा घोड़े में, हाथी हाथी में और रथी रथी में मिल गए। युद्धानुराग के कारण सेना के विभिन्न अंगों ने शत्रु सेना के अंगों को उसी प्रकार प्राप्त किया, जैसे कोई रमणी अनुरागपूर्वक प्रिय के अंगों को अपने अंगों से प्राप्त करती हैं।[91] माघ का शृंगारचित्रण अपने पूर्ववर्ती महाकवियों की अपेक्षा अधिक विलासी तथा अधिक वासनामय भी है और कहीं कहीं मर्यादा का अतिक्रमण करके अश्लील भी हो गया है।[92] अत: 'माघ का व्यक्तित्व इस महाकाव्य मे कामशास्त्र के प्राचार्य रूप में प्राय: प्रगट हुआ है।'

प्रकृति चित्रण—माघ ने प्रकृति का अत्यन्त अलंकृत एवं सजीव वर्णन किया है। 'शिशुपालवध' में समुद्र, सरिता, वन, वृक्ष, पर्वत, मेघ, सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, ऋतुचक्र, जलक्रीड़ा, आदि प्राकृतिक दृश्यों का स्वाभाविक एवं सुन्दर वर्णन हुआ है। वस्तुत: प्रकृति को देखने और समझने की माघ की शक्ति अद्‌भुत है। माघ जिस भी प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करते हैं, उसका ही चित्र नेत्रपट पर उपस्थित हो जाता है। प्राची दिशा में उदित होते हुए सहस्ररश्मि का वर्णन सूर्योदय के दृश्य को अविस्मरणीय बना रहा है।

विततपृथुवरत्रा तुल्यरूपैर्मयूखै: कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाण:।
कृतचपलविहंगालापकोलाहलाभिर्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्क:॥ (11/44)

अर्थात् 'चारों ओर फैली हुई मोटी रस्सियों की भाँति किरणों के द्वारा खीचे जाते हुए बड़े भारी कलश के समान यह सूर्य चञ्चल पक्षियों के कलरव से युक्त दिशावधुओं के

88. शिशुपालवध 1/47, 68; 2/33-35, 63, 66; 15/22-38; 16/33; 18/9, 11; 19/17, 59, 95-120; 20/11, 18, 20, 59-74, 78 आदि
89. वही 3/71; 4/42, 51, 62; 7/49; 14/17; 17/43; 18/23; 20/6 आदि।
90. वही 1/74; 17/43, 48; 19/35, 61; 20/6, 24 आदि।
91. वही 18/2
92. वही 5/18, 23; 10/55 आदि।

द्वारा समुद्र के जल से निकाला जा रहा है।'

इसी प्रकार एक और सुन्दर वर्णन द्रष्टव्य है। रैवतक पर्वत की गोद में निडर होकर अठखेली करने वाली पर्वतीय नदियाँ अपने पति समुद्र से मिलने जा रही हैं। पुत्री की विदाई के इस समय में रैवतक पर्वत चिड़ियों के करुण स्वर में रो रहा है—

अपशंकमंकपरिवर्तनोचिताश्चलिता: पुर: पतिमुपेतुमात्मजा:।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगा:॥ (4/47)

स्नेहपालिता पुत्री के पतिगृह जाने पर रोते पिता के रूप में पर्वत और नदियों का कितना सुन्दर चित्रण है। प्रकृति वर्णन के ही अन्तर्गत माघ का वह श्लोक है, जिसके उपमा सौन्दर्य के कारण उन्हें 'घण्टामाघ' की उपाधि प्राप्त हुई—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्॥ (4/20)

अर्थात् 'ऊपर फैलती हुई किरण रूपी रस्सियों से युक्त सूर्य एक ओर उदित हो रहा है और चन्द्रमा दूसरी ओर अस्त हो रहा है। इससे यह पर्वत दोनों ओर लटकते घण्टों वाले श्रेष्ठ हाथी की शोभा को धारण कर रहा है।'

अलंकार—माघ की अलंकार प्रियता का उल्लेख किया जा चुका है। उन्होंने विविध शब्दालंकारों और अर्थालंकारों से 'शिशुपालवध' को सर्वत: अलंकृत कर दिया है। आलंकारिकों ने प्राय: ही अपने अलंकार ग्रन्थों में माघकाव्य से सुन्दर श्लोक उद्धृत किए हैं। अनुप्रास का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है।

मधुरया मधुवोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकरांगनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥ (6/20)

ऐसा प्रतीत होता है कि मधुकर के गुंजन के साथ ही कवि भी गुञ्जन कर उठा है। पृथिवी को आतंकित कर देने वाले शिशुपाल के वल का कथन करते हुए माघ ने अत्यन्त सुन्दर दीपक अलंकार का उदाहरण प्रस्तुत किया है—

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत् प्रवाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
सतीव योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि॥ (1/72)

अर्थात् 'वल के दर्प के कारण आजकल भी उस विजिगीषु शिशुपाल के द्वारा (हिरण्यकशिपु तथा रावण के रूप में) पहले के समान ही संसार को प्रवाधित किया जा रहा है। सती स्त्री के सदृश दृढ़ स्वभाव भी जन्मान्तर में भी उसी व्यक्ति को ग्रहण करता है।'

वसन्त ऋतुवैभव का वर्णन करते समय यमक अलंकार की अत्यन्त सुन्दर छटा निम्नलिखित श्लोक में दर्शनीय है—

नवपलाशपलाशवनं पुर: स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोहरै:॥ (6/2)

इस श्लोक के चारों ही चरणों में यमक अलंकार का सुन्दर प्रयोग होने के कारण अनेक काव्यशास्त्रियों ने इसे उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। माघ के स्वाभावोक्ति एवं अर्थान्तरन्यास प्रयोग को भी सहृदयों ने बहुत सराहा है।

किन्तु महाकवि माघ का अलंकार प्रयोग कभी कभी कृत्रिम एवं सायास दीखने लगता है। वर्णनों की दीर्घता में कथावस्तु विच्छिन हो जाए और अलंकारों का भी बहुल प्रयोग किया जाए तो काव्य की सहजता नष्ट हो जाती है। ऐसे स्थल पाण्डित्य का भले ही निर्वाह करते रहें, किन्तु पाठक के हृदयस्थित रसतन्तु को नहीं छू पाते। माघकाव्य का सम्पूर्ण उन्नीसवाँ सर्ग विविध काव्यबन्धों के कारण चित्रकाव्य का रूप प्रस्तुत करता है। चित्रालंकारों के प्रयोग में माघ भारवि से भी आगे निकल गए हैं। माघ ने चित्रालंकारों के भेदोपभेदों के प्रयोग में अपनी विशेषतज्ञता की पराकाष्ठा कर दी है। शिशुपालवध के उन्नीसवें सर्ग में एकाक्षरश्लोक (19/114), द्वयक्षर श्लोक (19/66, 86, 94, 100, 104 आदि) एकाक्षरपाद श्लोक (19/3), सर्वतोभद्र (19/27), चक्रबन्ध (19/120), द्वयर्थक श्लोक (19/58), त्र्यर्थक श्लोक (19/116) आदि विभिन्न प्रकार के चित्रालंकारों का व्यूह ही रच दिया गया है, जिनमें फँस कर बुद्धि भ्रमित ही हो जाती है। पाश्चात्य विद्वानों ने ऐसे काव्यबन्धों को कुरुचि का द्योतक मानकर इनकी कटु आलोचना की है। किन्तु भारतीय परम्परा ने इन्हें हेय नहीं माना अपितु चमत्कृतिमूलक कहा। माघ काव्य में इस चमत्कार और पाण्डित्य को देखकर ही राजशेखर ने कहा था—'माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते।'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'शिशुपालवध' महाकाव्य में रसोद्रेक की पर्याप्त शक्ति होने पर भी माघ वस्तुतः पण्डित कवि हैं। उनके काव्य में पदे पदे अगाध पाण्डित्य और बहुज्ञता परिलक्षित होते हैं। सम्भवतः अन्य किसी भी संस्कृत कवि में इतना वैविध्यपूर्ण परिनिष्ठित ज्ञान पाप्त न हो सके। माघ का पाण्डित्य सर्वव्यापी है। वेद, सांख्य, योग, बौद्ध आदि दर्शन, पुराण, राजनीति शास्त्र, संगीत शास्त्र, व्याकरण, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, चित्रकला, हस्ति एवं अश्वविद्या आदि सभी के वे निष्णात पण्डित जान पड़ते हैं। अपनी कवितावधू को अलंकृत करने के लिए माघ ने इन सभी से पर्याप्त उपमान ग्रहण किए हैं। काव्यशास्त्रीय उपमा का एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है—

स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः संचारिणो यथा।
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभृतः ॥ (2/87)

अर्थात् 'जिस प्रकार रसनिष्पत्ति प्रयोजन में बहुत सारे संचारी भाव स्थायी भाव के सहायक होते हैं उसी प्रकार प्रयोजन पूर्ण करने में बहुत से राजा प्रमुख नेता राजा के सहायक वन जाते हैं।'

माघ का वेद एवं भारतीय दर्शन सम्बन्धी ज्ञान अपरिसीम है। विभिन्न सर्गों में तन्निष्ठ ज्ञान के सूचक अनेक श्लोक उपलब्ध होते हैं।[93] प्रथम सर्ग में ही नारद ने कृष्ण की स्तुति में जो श्लोक कहा है, वह स्पष्टतया सांख्य दर्शन में प्रतिपादित पुरुष के स्वरूप को स्पष्ट करता है—

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन।
वहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥ (1/23)

93. शिशुपालवध—2/91, 95; 4/45, 55; 11/41; 14/24 आदि।

अलंकारशास्त्रियों ने महाकाव्य के जिन गुणों का कथन किया था, वे सभी गुण उत्कृष्ट रूप में 'शिशुपालवध' में प्राप्त होते हैं। माघ काव्य में कालिदास का सा काव्य सौन्दर्य; भारवि का सा अर्थगौरव तथा भट्टि जैसी व्याकरण पटुता एकत्र संकलित दिखाई पड़ती है। प्रसाद, माधुर्य और ओज तीनों गुणों का सन्तुलित सामञ्जस्य माघ के काव्य में हुआ है। उपमा, अर्थगौरव तथा पदलालित्य—तीनों की 'शिशुपालवध' में प्रचुरता प्रसिद्ध ही है। भारवि ने जिस अलंकृत शैली या विचित्र मार्ग का प्रवर्तन किया था, उसको चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने का श्रेय माघ को ही है। परवर्ती कवियों ने माघ की इस अलंकारयुक्त तथा वर्णन प्रमुख शैली का ही प्राय: अनुसरण किया। इसीलिए कलावादी कवियों में माघ अग्रगण्य हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि माघ ने केवल शाब्दी क्रीड़ा प्रस्तुत की। माघ ने मानों अपनी शैली का परिचय देते हुए ही लिखा था कि शब्द एवं अर्थ-दोनों के सौन्दर्य को समरूप में प्रस्तुत कर पाना ही सत्कविता का निष्कर्ष है—

शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। (2/86)

माघ के काव्य में शब्द और अर्थ—दोने के परिष्कार एवं मण्डन से ही वाग्वैचित्र्य का आधान किया गया है। 'शिशुपालवध' में इस वाग्वैचित्र्य का मुख्य कारण माघ का विलक्षण शब्दभाण्डार है। निरन्तर नए नए शब्दों का प्रयोग एवं व्याकरण सम्मत विचित्र पदों का सन्निवेश माघ की निजी विशेषता है। इसी विलक्षणता से प्रभावित होकर कोई आलोचक अनायास ही कह उठा—'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते'—माघकाव्य के प्रथम नौ सर्ग पढ़ लेने पर नया शब्द ही नहीं बचता।

माघे सन्ति त्रयो गुणा:—संस्कृत साहित्य में कालिदास का उपमा प्रयोग अद्वितीय है, भारवि का अर्थगौरव प्रशंसनीय है तथा दण्डी का पदलालित्य प्रसिद्ध है। किन्तु माघ में विभिन्न गुण एक साथ ही प्राप्त हो जाते हैं—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिन: पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणा:॥

इस उक्ति का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि कालिदास में केवल उपमा श्रेष्ठ है अथवा भारवि में केवल अर्थगौरव है। इसका अभिप्राय यही है कि साहित्य में कालिदास की उपमाएँ रुचिर एवं सर्वश्रेष्ठ हैं, भारवि का अर्थगौरव विशिष्टतम है किन्तु माघ में उपमा, अर्थगौरव एवं पदलालित्य—तीनों ही श्रेष्ठकोटि प्राप्त होते हैं। माघ की उपमाएँ भले ही कालिदास के सदृश न हों किन्तु माघ काव्य में सुन्दर उपमाओं का अभाव नहीं है। श्रीकृष्ण के मितभाषण को माघ कितनी सुन्दरता से महानता से जोड़ देते है—

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधव:।
विरराम महीयांस: प्रकृत्या मितभाषिण:॥ (2/13)

एक और उदाहरण द्रष्टव्य है—

त्वयि भौमं गते जेतुमरौत्सीत स पुरीमिमाम्।
प्रोषितार्यमणं मेरोन्धकारस्तटीमिव॥ (2/39)

अर्थात् 'तुम्हारे (श्रीकृष्ण के) नरकासुर को जीतने के लिए चले जाने पर शिशुपाल

ने इस नगरी को वैसे ही घेर लिया था, जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर अन्धकार मेरु पर्वत की तटी को घेर लिया करता है।'

अर्थगौरव एवं अर्थगाम्भीर्य की दृष्टि से भी माघकाव्य उत्कृष्ट कोटिक है। राजा के सर्वांगीण रूप का कितना संक्षिप्त कथन इस श्लोक में प्राप्त होता है—

बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यंगो घनसंवृतिकञ्चुकः।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः॥ (2/82)

अर्थात 'बुद्धि रूपी शस्त्र वाला, प्रकृति रूपी (स्वामी, मन्त्री आदि सात) अंगों वाला, मन्त्रगुप्ति रूपी घन कवच वाला, गुप्तचर रूपी नेत्र वाला तथा दूत रूपी मुख वाला राजा कोई विशिष्ट ही पुरुष होता है।' इस एक अनुष्टुप् छन्द में राजनीति का समस्त सार माघ ने प्रस्तुत कर दिया है। इसी दूसरे सर्ग का एक और श्लोक अर्थगौरव की महत्ता को सुप्रतिष्ठित करता हुआ द्रष्टव्य है—राजा के मन्त्र के पाँच अंग होते हैं—कार्य के प्रारम्भ का उपाय, कार्यसिद्धि में अपेक्षित सामग्री सञ्चय, देशकाल का उचित उपयोजन, विपत्प्रतीकार के उपाय और कार्यसिद्धि। इसी प्रकार बौद्धों के पाँच स्कन्ध है—रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार स्कन्ध। इस विस्तृत अर्थ को माघ ने एक छोटे से श्लोक में संजो दिया है—

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वांगस्कन्धपञ्चकम्।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्॥ (2/28)

अर्थात् 'जैसे पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त बौद्धो का आत्मा नहीं है उसी प्रकार पाँच अंगों के अतिरिक्त राजा का और मन्त्र नहीं है।' प्रकारान्तर से इस श्लोक द्वारा माघ की राजनीति कुशलता एवं बौद्धदर्शन ज्ञान का भी सहज परिचय मिल जाता है।

उपमा प्रयोग एवं अर्थगौरव के साथ ही माघ का पदलालित्य भी अत्यन्त सुन्दर है। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों को इधर उधर नहीं खिसकाया जा सकता। पदों का सुन्दर, मनोहर, अपरिवर्तनीय सन्निवेश ही पदों की ललित योजना है। इस दृष्टि से माघ का 'नव पलाश-पलाश.....' आदि श्लोक प्रसिद्ध रहा है। पदलालित्य और लयात्मकता का एक और उदाहरण देखिए—

वर्जयन्त्या जनैः संगमेकान्ततस्तर्कयन्त्या सुखं संगमे कान्ततः।
योषयैष स्मरासन्नतापांगया सेव्यतेऽनेकया सन्नतापांगया॥ (4/42)

ध्वान्यात्मक एवं नादात्मक पदलालित्य की सृष्टि कर पाने में भी माघ नितान्त सफल रहे हैं। ऐसे पद्य सुन्दर गीति का सा रूप धारण कर लेते हैं। ऐसा ही एक सुन्दर श्लोक द्रष्टव्य है—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद् भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखला कलकलोऽलकलोलदृशान्यया॥ (6/14)

प्रसाद और मांधुर्य गुण के साथ-साथ भाव गाम्भीर्य एवं ध्वनि सौन्दर्य का अत्यन्त चमत्कारिक समन्वय देखिए—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। (4/17)

वस्तु, स्थान या व्यक्ति में रमणीयता तभी है जब सदैव या कदाचित् देखे जाने पर भी वह नित्य नूतन ही प्रतीत हो। पुरानापन या बासीपन रमणीयता का विरोधी है और इसीलिए केवल रमणीयता के प्रति ही आकर्षण होता है, अरमणीय तत्त्व मन को लुभा नहीं पाता।

माघ ने अपने काव्य में छन्द चयन में भी विशेष पटुता दिखाई है। एक ही चतुर्थ सर्ग में माघ ने आर्या, पृथिवी, हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा आदि 22 छन्दों का प्रयोग करके अपनी निपुणता दिखाई है। माघ के विशेष प्रिय छन्दों की संख्या 16 है। माघ ने वसन्ततिलका (पञ्चम सर्ग) तथा मालिनी (एकादश सर्ग) का सुन्दर प्रयोग किया है। उनके छन्दविधान पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि छन्दों की प्रक्रिया निरन्तर विकास की ओर अग्रसर थी।

माघ की सूक्तियाँ पण्डित समाज मे समादरणीय बनी हैं। कतिपय अत्यन्त सुन्दर सूक्तियाँ इस प्रकार हैं—

1. सदाभिमानैकधना हि मानिन: — 1/67
2. महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिण: — 2/13
3. पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
   स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तरद्वरं रज: ॥ — 2/46
4. सर्व: स्वार्थं समीहते। — 2/65
5. वृहत्सहाय: कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति। — 2/100
6. परिभवोऽरिभवो हि सुदु:सह:। — 6/45
7. प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता। — 9/6
8. मदमूढव्यक्तिषु विवेकिता कुत:। — 13/6
9. उपकारपर: स्वभावत: सततं सर्वजनस्य सज्जन:। — 16/22
10. अनुहुंकुरुते घनध्वनिं न गोमायुरुतानि केसरी। — 16/25 आदि

अन्तत:, मौलिक प्रकृति चित्रण, सुन्दर अलंकार प्रयोग, नूतन पद शय्या, गम्भीर अर्थगौरव, विलक्षण पाण्डित्य, रसोन्मेषकारी कला, वर्णनवैचित्र्य, दूरगामी कल्पना आदि गुणों से परिपूर्ण माघकाव्य को देखकर अन्य काव्यरचना-तत्पर कवियों की उत्साहहीनता का वर्णन धनपाल ने अत्यन्त सुन्दर रीति से किया है—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भा रवेरेव कवय: कपयो यथा॥

अर्थात् 'जिस प्रकार सूर्य के आतप को याद कर कर के भी बन्दर माघ मास की ठण्डक से उत्साह रहित होकर उछलकूद नहीं कर पाते, वैसे ही भारविकाव्य को स्मरण रखते हुए भी माघ की काव्यरचना के सम्मुख कविगण पदयोजना करने में अनुत्साहित रहते हैं।'

भारवि एवं माघ

माघ ने काव्यरचना में प्रवृत्त होने पर भारवि के 'किरातार्जुनीय' को अपना आदर्श माना, यह तथ्य सुस्पष्ट एवं सर्वविदित है। भारवि ने अपने महाकाव्य में जिन विशेषताओं को स्थान दिया था, माघ ने उन सभी को अपने महाकाव्य में अधिक परिनिष्ठित रूप में प्रस्तुत किया है। इन दोनों काव्यों के अनुशीलन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारवि काव्य का सम्बल ग्रहण करके ही माघ काव्य जगत में प्रविष्ट हुए थे। इसी कारण काव्य में राजनीति का प्रवेश कराने वाले भारवि के अनुकरण पर माघ का शिशुपालवध भी राजनीतिक काव्य बन गया। दोनों ग्रन्थों की तुलना करने पर निम्नलिखित साम्य बिन्दु स्पष्टतया उभर कर सम्मुख आते हैं—

1. दोनों महाकाव्यों की कथावस्तु महाभारत से ग्रहण की गई है। संक्षिप्त सी उपजीव्य कथावस्तु को भारवि एवं माघ ने विभिन्न वर्णनों के द्वारा पर्याप्त विस्तृत करके महाकाव्य का स्वरूप दिया तथा कथा में रोचकता का आधान किया।

2. शास्त्रकारों ने आशीर्वाद, नमस्क्रिया या वस्तुनिर्देश से महाकाव्य को प्रारम्भ करने का विधान किया था। तदनुरूप दोनों ही महाकाव्य वस्तुनिर्देशात्मक श्लोक से प्रारम्भ हुए हैं, जिसका प्रारम्भिक पद मंगलात्मक 'श्री' शब्द है।[94]

3. भारवि ने सर्गान्त श्लोकों में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया और उनका अनुकरण करते हुए माघ ने सर्गान्त श्लोकों में पर्यायवाची 'श्री' शब्द का प्रयोग किया। इसीलिए ये दोनों महाकाव्य क्रमशः 'लक्ष्म्यन्त' एवं 'श्र्यन्त' कहलाते हैं।

4. माघ ने भारवि काव्य में प्राप्त वर्णन क्रम के समान ही अपने काव्य में वर्णन प्रस्तुत किए हैं। सर्ग संख्या में भले ही अन्तर पड़ गया हो किन्तु सन्देश कथन, राजनीति विचार, यात्रा, ऋतु, पर्वत, चन्द्रोदय, वादविवाद, युद्ध आदि सभी वर्णनों का क्रम दोनों महाकाव्यों में एक सा है।

5. दोनों महाकाव्यों में युद्धवर्णन चित्रबन्धों तथा चामत्कारिक शब्दालंकारों के द्वारा किया गया है। (किरात में 15वाँ सर्ग एवं शिशुपाल में 19वाँ सर्ग)

6. महाकाव्यों में नायक के उत्कर्ष को प्रस्तुत करने के दो क्रम आचार्य दण्डी ने प्रतिपादित किए थे।[95] एक तो नायक के गुणों को प्रस्तुत करके (उससे) शत्रुओं का विनाश (वर्णन करना) और दूसरे, शत्रु के वंश, वीरता, शास्त्रज्ञान आदि (गुणों) का वर्णन करके (नायक द्वारा) उसका पराभव दिखाकर नायक की उत्कृष्टता दिखाना। भारवि एवं

---

94. किरातार्जुनीय 1/1 श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं.....।
शिशुपालवध 1/1 श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्....।

95. काव्यादर्श 1/21-22— गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः॥
वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च धिनोति नः॥

माघ दोनों ने ही इनमें से दूसरा क्रम अपनाया है। भारवि काव्य के प्रथम सर्ग में वनेचर प्रतिनायक दुर्योधन के गुणों का कथन करता है और माघकाव्य के प्रथम सर्ग में नारद प्रतिनायक शिशुपाल का गौरव गान करते हैं।

7. दोनों काव्यों के चतुर्थ सर्ग में अनेक तथा विविध छन्दों का प्रयोग किया गया है।

8. दोनों ही काव्यों में मानों इष्टदेव समाराधन के रूप में देवताओं का कथन किया गया है। 'किरातार्जुनीय' शिव की महिमा उद्घोष करता है तो 'शिशुपालवध' में विष्णु की महिमा का उद्घाटन हुआ है।

9. भारवि काव्य में अभिव्यक्त भावों के साथ साथ उसकी भाषा, शैली एवं अलंकारों तक का अनुकरण माघ काव्य में दृष्टिगोचर होता है।

इन समस्त समानताओं से स्पष्ट हो जाता है कि माघ ने भारवि काव्य के अनुकरण पर ही अपने काव्य की रचना की। इसी कारण माघ के काव्य में मौलिकता का सौन्दर्य तो नहीं है, किन्तु विविध शास्त्र पारंगत माघ के वैदुष्य की छाप शिशुपालवध में सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होती है। इसी वैदुष्य और पाण्डित्य के कारण परवर्ती आलोचकों ने माघ को भारवि की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ कवि घोषित किया—

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।

रत्नाकर

महाकाव्य परम्परा में भारवि ने जिस अलंकृत शैली का प्रवर्तन किया था; माघ ने जिस शैली का उत्कृष्ट परिपोष किया; उसको चरम सोपान तक महाकवि रत्नाकर ने पहुंचाया। महाकवि रत्नाकर ने **'हरविजय'** नामक एक ऐसे महाकाव्य की रचना की है, जिसे समस्त संस्कृत महाकाव्यों में सर्वाधिक वृहत्काय होने का गौरव प्राप्त है। रत्नाकर कश्मीरी थे। ये काश्मीर नरेश चिप्पट जयापीड (779-813 ई.) के सभापण्डित थे। स्वयं जयापीड भी अत्यन्त बुद्धिमान् होने के कारण 'बालबृहस्पति' नाम से विख्यात थे। **'हरविजय'**काव्य के सभी सर्गों की पुष्पिका में—"इति बालबृहस्पत्यनुजीविनो राजानक रत्नाकरस्य कृतौ"—लिख कर रत्नाकर ने स्वय स्वीकार किया है कि वे जयापीड के अनुजीवी थे। कल्हण ने रत्नाकर को काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (855-884 ईस्वी) के समय में प्रसिद्ध कहा है।[96] इससे स्पष्ट है कि रत्नाकर दीघजीवी थे तथा जयापीड से लेकर अवन्तिवर्मा के समय तक उनकी अत्यन्त प्रसिद्धि रही।

रत्नाकर की तीन रचनाएँ हैं—1. हरविजय 2. वक्रोक्तिपंचाशिका एवं 3. ध्वनिगाथापंजिका। इनमें परिमाण तथा काव्य गुणों की दृष्टि से हरविजय महाकाव्य ही श्रेष्ठ माना जाता है। इस अत्यन्त विस्तृत महाकाव्य में 50 सर्ग तथा 4321 श्लोक हैं, जिसमें शिव के द्वारा दैत्यराट् अन्धकासुर के वध की कथा वर्णित है। काव्य की कथावस्तु

96. कल्हण, राजतरंगिणी 5/39— मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

मूलतया अत्यन्त संक्षिप्त है—पार्वती ने खेल ही खेल में शंकर के तीनों नेत्रों को अपने हाथों से ढँक लिया। शिव के तीन नेत्र सूर्य, चन्द्र तथा वैश्वानर रूप हैं जिनके ढक जाने से सम्पूर्ण संसार में अन्धकार फैल गया। यह अन्धकार ही अन्धकासुर रूप में परिणत हो गया। इस असुर ने अपने बल के दर्प में सम्पूर्ण विश्व को त्रस्त कर दिया। फलत: शिव ने अन्धकासुर का वध कर डाला और इस प्रकार संसार की रक्षा की । शत्रु पर शिव की विजय के कारण महाकाव्य का नाम सार्थक है।

इस अत्यन्त लघुकाय कथानक को कवि ने वर्णन विस्तार के द्वारा अत्यन्त वृहत्काय बना डाला है। शिवगणों के विहार का वर्णन तेरह सर्गों में व्याप्त है जिसमें कवि को जलक्रीड़ा, सन्ध्या, चन्द्रोदय, प्रसाधन, विरह, पानगोष्ठी आदि के वर्णन के पर्याप्त अवसर मिल गए हैं। अन्धकासुर के नाश के लिए शिव सचिवों का पारस्परिक परामर्श ग्यारह सर्गों में समाप्त हो पाया है। सात विस्तृत सर्गों में शिव दूत और अन्धकासुर का संवाद है। चार सर्गों में सेना प्रयाण की तैयारियाँ और ग्यारह सर्गों में युद्ध वर्णन है। कवि ने प्रत्येक सर्गान्त श्लोक में रत्न शब्द का प्रयोग किया है अत: यह काव्य 'रत्नान्त काव्य' भी कहलाता है।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, हरविजय काव्य में शिव महिमा का पर्याप्त विस्तृत कथन है। रत्नाकर ने स्वयं ही अपने काव्य को 'चन्द्रार्थचूडचरिताश्रयचारु' की पदवी दी है। रत्नाकर का विस्तृत एवं गम्भीर ज्ञान इस महाकाव्य से भली भाँति प्रगट होता है। कवि ने छठे सर्ग में लगभग दो सौ श्लोकों में भगवान् की जो स्तुति की है, उससे इनका पाण्डित्य, गम्भीर शास्त्रानुशीलन तथा अध्यात्मशास्त्र विषयक ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार सैतालीसवें सर्ग में चण्डिका की स्तुति से रत्नाकर का शाक्त आगम का गम्भीर अध्ययन अभिव्यक्त होता है। स्वयं कवि ने अपनी शैली के सम्बन्ध में जो गर्वोक्ति प्रस्तुत की है, वह उनके पाण्डित्य की दृष्टि से अनेकांश में यथार्थ है—

ललितमधुरा: सालंकारा: प्रसादमनोहरा:
विकटयमकश्लेषोद्गारप्रबन्धनिरर्गला: ।
असदृशमतीश्चित्रे मार्गे ममोद्गिरतो गिरो
न खलु नृपतेश्चेतो वाचस्पतेरपि शंकते ॥

अर्थात् ' ललित, मधुर, अलंकारयुक्त, प्रसाद गुण के कारण मनोहर, विकट यमक और श्लेष से सुशोभित, चित्रमार्ग में अद्वितीय मेरी वाणी को सुनकर बृहस्पति का चित्त भी शंकित हो जाता है।'

रत्नाकर के महाकाव्य पर महाकवि माघ एवं बाणभट्ट का गहरा प्रभाव है। संस्कृत आलोचकों ने इस काव्य की महती प्रशंसा की है। राजशेखर ने तो यहाँ तक कह दिया है कि चार रत्नाकरों (समुद्रों) को पर्याप्त न मानकर ब्रह्मा ने इस पाँचवे रत्नाकर की सृष्टि कर डाली—

मा स्म सन्तु हि चत्वार: प्रायो रत्नाकरा इमे।
इतीव सत्कृतो धात्रा कवि: रत्नाकरोऽपर: ॥

संस्कृत आलोचकों ने प्रायः सभी महाकवियों को उनके किसी प्रयोगवैशिष्ट्य के कारण विशिष्ट उपाधियाँ अवश्य दी है। सन्ध्यावर्णन में रत्नाकर के एक सुन्दर उपमा प्रयोग के कारण रत्नाकर को भी 'तालरत्नाकर' की उपाधि प्राप्त हुई। सन्ध्या का समय है। अस्ताचल के शिखर पर अस्तोन्मुख सूर्य है और उदयाचल के शिखर पर उदित होता हुआ पूर्णचन्द्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि सन्ध्या काल में नृत्यप्रवृत्त शिव के दोनों हाथों में मानो कांस्यताल सुशोभित हो—

अस्तावलम्बि-रवि बिम्बतयोदयाद्रि
चूडोन्मिषत् सकलचन्द्रतया च सायम्।
सन्ध्या प्रनृत्तहरहस्तगृहीतकांस्य—
तालद्वयेन समलक्ष्यत नाकलक्ष्मीः॥ (19/5)

डॉ. बलदेव उपाध्याय के शब्दों में "भाषा के सौन्दर्य में, ललित पदों की मैत्री में, नवीन चमत्कारी अर्थ की कल्पना में, अभिनव वर्णनों के उपन्यास में, शब्दों के अद्भुत प्रभुत्व में यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है।"[97] किन्तु साथ ही रत्नाकर के काव्य में रसोन्मेष की वह हृदयवेधकता नहीं है, जो इनको भारवि या माघ के समकक्ष बिठा सकती। पाण्डित्य एवं वर्णनाधिक्य के दुर्वह भार के तले सहृदयता एवं रसनिर्भरता दब सी गई है।

श्रीहर्ष

संस्कृत महाकवियों की प्रथम श्रेणी में समादरणीय कवि श्रीहर्ष ने नैषधीय चरित महाकाव्य की रचना की थी। महाकवि भारवि तथा शिशुपालवध के रचयिता माघ के उपरान्त महाकाव्यों की परम्परा में कल्पना की दूरगामिता, शृंगार के विविध सविलास वर्णन और पाण्डित्य की दृष्टि से श्रीहर्ष रचित नैषधीयचरित सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ है।

श्रीहर्ष के जीवनवृत्त अथवा समय के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। इन्होंने प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक के दो चरणों में अपने माता-पिता को स्मरण किया है। इनके पिता का नाम हरि या हीर था तथा माता का नाम मामल्लदेवी।[98] ये कान्यकुब्जेश्वर विजयचन्द्र तथा उनके पुत्र जयचन्द्र दोनों की सभा में रहे। राजा विजयचन्द्र की प्रशस्ति में श्रीहर्ष ने 'श्रीविजय प्रशस्ति' नामक ग्रन्थ भी लिखा है। इन दोनों राजाओं का राज्यकाल 1154 ईस्वी से 1195 ईस्वी माना जाता है, अतः श्रीहर्ष का समय बारहवीं शती का उत्तरार्ध है।

श्रीहर्ष की प्रबल काव्यशक्ति एवं पाण्डित्य के सम्बन्ध में एक जनश्रुति है। श्रीहर्ष के पिता हीर का प्रसिद्ध नैयायिक न्यायकुसुमांजलिकर्ता उदयनाचार्य के साथ शास्त्रार्थ हुआ जिसमें हीर हार गए। अपमानित हीर देहत्याग से पूर्व अपने पुत्र श्रीहर्ष से इस पराजय के

97. उपाध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 218
98. नैषधीयचरित 1/145— श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालंकारहीरः सुतः,
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।...

प्रतिकार की प्रतिज्ञा करा गए। श्रीहर्ष ने दर्शनशास्त्र का गहन अध्ययन किया और गंगातट पर चिन्तामणि मन्त्र का जाप करते हुए भगवती त्रिपुरसुन्दरी की आराधना में एक वर्ष तक संलग्न रहे। भगवती त्रिपुरा ने इन्हें प्रखर वैदुषी का वरदान दिया। तदनन्तर श्रीहर्ष विजयचन्द्र की सभा में गए और उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर राजा ने अपनी राजसभा में श्रीहर्ष को सम्मानित स्थान दिया। इन जनश्रुति की पुष्टि श्रीहर्ष के स्वयं के कथन से भी होती है। किसी राजा से पान का बीड़ा और आसन प्राप्त होना अत्यधिक सम्मान सूचक है और श्रीहर्ष ने स्वयं उल्लेख किया है कि उन्हें कान्यकुब्जेश्वर से आसन और पान का बीड़ा प्राप्त होता था।[99]

श्रीहर्ष ने नैषधीय चरित महाकाव्य के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिससे उनकी अप्रतिम विद्वता और पाण्डित्य का पता चलता है। इन विभिन्न ग्रन्थों के नाम नैषधीयचरित के सर्गान्त श्लोकों में उपलब्ध होते हैं। खण्डन खण्डखाद्य तथा स्थैर्यविचारणप्रकरण दार्शनिक ग्रन्थ हैं। इनमें खण्डनखण्डखाद्य वेदान्त शास्त्र का सुन्दर ग्रन्थ है जिसमें न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों के खण्डनपूर्वक अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का मण्डन किया गया है। विजय प्रशस्ति, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति तथा छिन्दप्रशस्ति राजाओं के प्रशंसात्मक ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त अर्णववर्णन, शिवशक्ति सिद्धि तथा नवसाहसांकचम्पू अन्य ग्रन्थ हैं।

भारतवर्ष में नलकथा प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध रही है। उत्तरभारत के लोक साहित्य एवं लोकपरम्परा में नलकथा निरन्तर अविच्छिन्न रूप में प्राप्त होती है तथा लोकगीतों में भी इसको अनेकशः ग्रहण किया गया है। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में यह कथा उपलब्ध होती है। मूलरूपेण यह महाभारत के वनपर्व के 53 से 57 अध्याय तक नलोपाख्यान के रूप में प्राप्त होती है किन्तु रामायण में भी इसका संकेत प्राप्त होता है।[100] क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामञ्जरी तथा सोमदेव के कथासरित्सागर में भी यह कथा संक्षिप्त रूप में है।[101] अनेक पुराणों में भी राजा नल का उल्लेख है[102], जिससे लोकमानस में इस कथा की प्रसिद्धि एवं प्रभावशीलता का परिज्ञान होता है। महाकवि श्रीहर्ष ने इसी नलकथा को अपने महाकाव्य का प्रतिपाद्य वनाया।

ग्रन्थ परिचय—नैषधीय चरित महाकाव्य में 22 सर्ग तथा 2830 श्लोक हैं। तेरहवें सर्ग (56 श्लोक) तथा उन्नीसवें सर्ग (67 श्लोक) को छोड़कर अन्य समस्त सर्गों में सौ से अधिक श्लोक है। इस महाकाव्य की कथावस्तु का मुख्य आधार महाभारत का प्रसिद्ध नलोपाख्यान है। किन्तु उस आख्यान की सम्पूर्ण कथा को श्रीहर्ष ने ग्रहण नहीं किया। नलदमयन्ती के प्रणय से लेकर विवाहोपरान्त शृंगार विलासों का वर्णन करके ही

---

99. नैषधीय चरित 22/153— ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्,
सः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम्।...

100. रामायण, सुन्दरकाण्ड—24/9, 13

101. वृहत्कथामंजरी 12/331-371; कथासरित्सागर 9/6/237.....416

102. मत्स्यपुराण 12/56; लिंगपुराण 66/23.....25

काव्य समाप्त हो जाता है। जनश्रुति के अनुसार इस महाकाव्य में साठ सर्ग थे जिनमें से बाईस ही प्राप्त हैं। अत: कतिपय विद्वानों के अभिमत में नैषध काव्य अपूर्ण है। किन्तु इस महाकाव्य के अनुशीलन से कहीं भी कथा की अपूर्णता परिलक्षित नहीं होती। नल का पौराणिक कथानक भले ही कितना भी रहा हो, कवि ने अपने काव्य के लिए उपादेय अंश मात्र को ग्रहण करके ही उसे महाकाव्य का स्वरूप दे दिया है। अत: नैषधीय चरित को अपूर्ण नहीं माना जाना चाहिए।

महाकाव्य की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—विशद गुण सम्पन्न राजा नल वन विहार एवं मृगया विहाररत हैं। सरोवर में सुन्दर हंस देखकर राजा नल उसे पकड़ लेते हैं तथा दयार्द्र होकर छोड़ भी देते हैं। (प्रथम सर्ग)। हंस अपूर्व सुन्दरी दमयन्ती का रूप वर्णन करता है और नल के आग्रह पर दमयन्ती के पास जाता है (द्वितीय सर्ग)। नल द्वारा मुक्त एवं प्रेषित हंस कुण्डिनपुर जाकर नल के सौन्दर्य एवं गुण वर्णन से दमयन्ती के हृदय में नल के प्रति अनुराग जगा देता है (तृतीय सर्ग)। दमयन्ती अयोग शृंगार की विभिन्न अवस्थाओं से सन्तप्त हो जाती है (चतुर्थ सर्ग)। दमयन्ती के पिता दमयन्ती के लिए स्वयंवर आयोजित करते हैं। दमयन्ती के रूपवैभव से चमत्कृत इन्द्र, वरुण, अग्नि तथा यम राजा नल को ही अपना दूत बनाकर तिरस्करिणी विद्या के द्वारा दमयन्ती के पास भेजते हैं (पञ्चम सर्ग)। नल कुण्डिनपुर जाकर दमयन्ती से देवताओं की प्रशंसा करते हुए उनका विवाह सन्देश सुनाते हैं। किन्तु दमयन्ती नल को ही वरण करने का दृढ़ निश्चय प्रगट करती है (षष्ठ से नवम सर्ग)। स्वयंवर में उपस्थित राजाओं का विशद वर्णन (एकादश एवं द्वादश सर्ग), तथा नल का रूप धरे देवताओं का वर्णन—पंचनली—होता है (त्रयोदश सर्ग)। दमयन्ती एक से पाँच नलों को देखकर घबरा जाती है। उसके दृढ़ निश्चय से प्रसन्न देवता अपने विशिष्ट चिह्नों को प्रगट कर देते हैं जिनसे दमयन्ती नल को पहचान कर उनका वरण कर लेती है (चतुर्दश सर्ग)। वर वधू का प्रसाधन, पाणिग्रहण तथा सज्जन भोजन होता है (पञ्चदश से सप्तदश सर्ग)। सप्तदश सर्ग में कलि के साथ वाग्युद्ध में नास्तिकतावाद का खूब ही खण्डन किया गया है। अन्तिम पाँच अध्यायों मे नायक नायिका मिलन, दिनचर्या तथा विविध विलासों का वर्णन है।

कथानिर्वाह—श्रीहर्ष को यद्यपि अनेक स्रोतों से नलकथा प्राप्त थी, तथापि महाभारत का नलोपाख्यान ही नैषधीयचरित की कथावस्तु का मूलाधार है। श्रीहर्ष ने महाकाव्य के उपयुक्त इतिवृत्त संयोजन की दृष्टि से उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिए; 'यथास्थान घटनाओं का संकोच और विस्तार किया तथा कहीं कहीं नूतन घटनाओं की उद्भावना का समावेश कर दिया।'[103] हंस का प्रस्तुतीकरण, नल का पूर्वराग, अन्तःपुर में अदृष्ट नल का दमयन्ती से भ्रान्ति मिलन, दमयन्ती का नखशिख वर्णन, स्वयंवर स्थल में स्वयं सरस्वती के द्वारा राजाओं का परिचय, पञ्चनलीयश्लेष, विभिन्न सौन्दर्य वर्णन एवं प्रकृति चित्रण आदि स्थलों में श्रीहर्ष की मौलिकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। नलदमयन्ती

103. द्रष्टव्य—शर्मा, ए.एन.—अ क्रिटिकल स्टडी ऑफ श्रीहर्ष नैषधीय चरितम्, पृष्ठ 13....

के प्रणय की कथा से सम्पन्न नैषधीय चरित को कवि ने अनायास ही अपने पुण्यश्लोक नायक के गुणवर्णन से प्रारम्भ कर दिया है, किसी मंगलार्थक शब्द का प्रयोग नहीं है।[104]

रस—श्रीहर्ष मूलतः शृंगार रस के कवि हैं और अपने महाकाव्य में नलकथा का तदनुकूल अंश उन्होंने ग्रहण किया है। शास्त्रकारों ने शृंगार रस की तीन स्थितियाँ वर्णित की हैं[105]—**1. अयोग**-विवाह से पूर्व का प्रणय एवं उत्कण्ठित दशा; **2. संयोग**, **3. वियोग**-विवाह के पश्चात् प्रिय एवं प्रिया का विरह। श्रीहर्ष ने अयोग एवं संयोग शृंगार का अत्यन्त विस्तृत चित्रण किया है। वियोग शृंगार के चित्रण के लिए उनके महाकाव्य के कथानक में अवसर ही नहीं था। प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ सर्ग में नल एवं दमयन्ती के पूर्वराग अथवा अयोग शृंगार का विस्तृत चित्रण हुआ है, जिसमें अभिलाष, चिन्ता आदि[106] दश काम दशाएँ भी सुष्ठुतया चित्रित हैं। हंस के मुख से नल का सन्देश सुनने से पूर्व ही दमयन्ती नल की विविध प्रशंसा सुन-सुनकर उनमें आसक्त हो चुकी थी।[107] अतः हंस के मिलने से पूर्व कवि ने दमयन्ती में अभिलाष, चिन्तन, स्मृति और गुणकथन—ये चार कामदशाएँ ही चित्रित की हैं।[108] शेष अवस्थाएँ हंस के नल के समीप लौट जाने के बाद वर्णित की गई हैं।[109] दमयन्ती की भाँति ही नल के पूर्वराण और विभिन्न स्मर दशाओं का कवि ने सुन्दर चित्रण किया है।[110] पूर्वराग का यह सम्पूर्ण विस्तृत चित्रण कवि की मौलिकता को भी उद्घाटित करता है और कहीं कहीं सुन्दर भी है। किन्तु सम्पूर्ण चित्रण में सायास उत्पन्न किए जाते हुए चमत्कार का ही अधिक आभास होता है; और स्वाभाविकता की इसी न्यूनता के कारण यह पूर्वराग चित्रण हृदय को स्पर्श कम करता है। यह अवश्य है कि अयोग शृंगार का यह वर्णन पर्याप्त मर्यादित है।

इसी प्रकार नैषधीयचरित में संयोग शृंगार की भी सांगोपांग योजना हुई है। संयोग शृंगार के वर्णन में आचार्य की सी शक्ति तो दीख पड़ती है किन्तु हृदय को विकसित कर देने वाली उज्ज्वलता प्राप्त नहीं होती। श्रीहर्ष के काव्य में संयोग शृंगार का वर्णन दमयन्ती के स्वयंवर चित्रण से ही प्रारम्भ हो गया है। विभिन्न देवों की कृपा से नल को स्पष्टतया पहचान लेने पर भी स्तम्भ, लज्जा, जड़ता आदि भावों के कारण दमयन्ती का हाथ नल के गले में वरमाला डालने के लिए प्रवृत्त ही नहीं हो पाता; उसके कटाक्ष भी प्रिय के मुख तक न पहुँच कर आधे मार्ग से ही लौट आते हैं—

104. नैषधीय चरित—1/14 निपीय यस्य क्षितिरक्षणः कथां तथाद्रियन्ते न सुधां बुधामपि।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिराशीन्महसां महोज्ज्वलः॥

105. दशरूपक—4/50—अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा

106. दशरूपक—4/51, 52

107. नैषधीयचरित 1/33

108. नैषधीयचरित 1/34...38

109. नैषधीयचरित 3/77, 79, 93; 4/13...17, 29, 47...43...73, 110 आदि।

110. नैषधीयचरित 1/42, 49, 51, 52, 84, 90; 2/56; 3/103...114 आदि।

करःराजा राजतरस्तदीयः प्रियोन्मुखीभूय पुनर्व्यरंसीत।
तदाननस्यार्धपथं ययौ च प्रत्याययौ चातिचलः कटाक्षः॥ (14/26)

विवाहोत्सुक नायिका की सहज लज्जा का एक और चित्र द्रष्टव्य है—

देव्याः श्रुतौ नेति नलार्द्धनाम्नि गृहीत एव त्रपया निपीता।
अथाङ्गुलीरङ्गुलिभिः स्पृशन्ती दूरं शिरः सा नमयाश्चकार॥ (14/30)

अर्थात् 'देवी सरस्वती के कान में 'न' इस प्रकार नल के आधे नाम को ग्रहण कराते ही अत्यन्त लज्जा से सम्पन्न होकर (शेष 'ल' अक्षर को उच्चारण न करके) अपनी अँगुलियों से सखी की अँगुलियों को दबाते हुए दमयन्ती ने सर को बहुत झुका लिया।'

विवाह के उपरान्त नायक नायिका के प्रथम समागम के वर्णन का प्रारम्भ कवि ने पर्याप्त संयम से किया है। मुग्धा नयिका दमयन्ती पति के समीप जाने में लज्जा अनुभव करती है; कपाट के समक्ष चित्रस्थ खड़ी रहती है, पति के समीप शय्या पर भी नहीं बैठती है;[111] किन्तु एक बार विश्वस्त हो जाने पर क्रमशः नल दमयन्ती के शृंगार मिलन का उद्दाम वर्णन आचार्य वात्स्यायन के कामसूत्र का स्मरण दिला देता है। विलास वर्णन के अनेक दृश्य अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गए हैं। स्वयं श्रीहर्ष यह घोषणा करते हैं कि 'उस प्रासाद रूपी सुमेरु पर नलदमन्यती की वे कामक्रीड़ाएँ होने लगी, जिनको महाकवियों ने भी नहीं देखा था और पुंश्चली स्त्रियों ने भी नहीं सीखा था।'[112] कतिपय लेखकों ने नलदमयन्ती के इस प्रणय एवं दुर्वह शृंगार में अध्यात्म की उदात्तता आरोपित करनी चाही है, किन्तु यह उनकी सदाशयता मात्र है। नैषधीय चरित के संयोग शृंगार में वासना एवं तामसिक आतुरता का ही सम्मिश्रण है। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य को 'शृंगारामृतशीतगु' अर्थात् शृंगार के अमृत से भरा चन्द्रमा कहा है।[113] किन्तु नैषधीयचरित में शृंगार की अमृत सदृश शीतलता के स्थान पर कामावेश की उष्णता के कारण एवं उदात्तता के स्थान पर अनावश्यक नग्न अश्लीलता का ही आधिक्य होने के कारण श्रीहर्ष की यह आत्मप्रशंसा विकत्थना मात्र प्रतीत होती है।

नैषधीय चरित में मुख्य रस शृंगार के अतिरिक्त अन्य अनेक रसों की भी सम्यक् व्यञ्जना हुई है। राजा नल के द्वारा पकड़े गए हंस के विविध विलाप करुण रस के अपूर्व उद्गार हैं। भाग्य को निष्ठुर बताते हुए हंस कहता है—

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो! विधे! त्वां करुणा रुणद्धि नो॥ (1/35)

ग्यारहवें सर्ग के स्वयंवर वर्णन में वासुकि नाग को देखकर दमयन्ती में भयानक रस एवं सत्रहवें सर्ग में कलि तथा देवताओं के संवाद में रौद्र रस का सुन्दर उपनिबन्धन हुआ है। हास्य रस के तो अनेक प्रसंग नैषधीय चरित में प्राप्त होते हैं। पञ्चम सर्ग में नल के

111. नैषधीयचरित 18/29, 32, 33
112. नैषधीयचरित 18/27
113. नैषधीयचरित 19/17

सौन्दर्य को देखकर विभिन्न देवताओं के भाव प्रदर्शन में श्रीहर्ष ने शब्दक्रीड़ा के द्वारा सुन्दर हास्य योजना प्रस्तुत की है।[114] स्वयंवर में आए हुए राजाओं के वर्णन में भी हास्य का अच्छा पुट है।[115] बारातियों के भोजन के समय पारस्परिक हास परिहास में हास्य की सुन्दर सृष्टि हुई है।[116] श्रीहर्ष ने अपने काव्य नायक राजा नल में वीररस के चारों रूपों—युद्ध, दया, दान तथा धर्म—का सुन्दर प्रस्तुतीकरण किया है।[117] ये सभी विभिन्न रस शृंगाररस के सहायक रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

चरित्रचित्रण—विभिन्न पात्रों के चरित्रचिरण में मौलिक एवं कलात्मक उद्भावनाओं की दृष्टि से श्रीहर्ष का कोई वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर नहीं होता है। महाकाव्य के नायक नायिका के अनुकूल ही राजा नल एवं दमयन्ती के विभिन्न गुण चित्रित हुए हैं। दूत के रूप में संप्रेषित हंस की योजना अवश्य सुन्दर है। मानवेतर प्राणियों अथवा प्रकृतितत्त्वों को दूत बनाकर प्रिय अथवा प्रिया के समीप भेजने की संस्कृत साहित्य में परम्परा रही है। नैषधीय चरित में हंस का चरित्रचित्रण एक निसृष्टार्थ दूत के रूप में हुआ है। नायक नायिका के भावों को समझकर स्वयं ही अवसरोचित उत्तर देता हुआ जो अपने दूतकार्य को सुश्लिष्ट रूप में सम्पन्न कर देता है, वह निसृष्टार्थ दूत कहलाता है।[118] इस रूप में हंस के चरित्रचित्रण में श्रीहर्ष नितान्त सफल सिद्ध हुए हैं। नैषधीय चरित में इन्द्रादि विभिन्न देवता प्रतिनायक के रूप में चित्रित हुए हैं। स्वयंवर में राजाओं का परिचय कराने के लिए स्वयं देवी सरस्वती को अवतरित करा देना कथासंयोजन में श्रीहर्ष की मौलिक उद्भावना है।

प्रकृतिचित्रण—रामायण से प्रारम्भ हुई संस्कृत काव्यों की अविच्छिन्न परम्परा में प्रत्येक महाकवि ने अपने अपने महाकाव्य में विभिन्न प्रकार से यथारुचि प्रकृति वर्णन अवश्य किया है। श्रीहर्ष भी इसके अपवाद नहीं है। नैषधीय चरित में कथावस्तु का प्रारम्भ ही प्रकृति की क्रोड में होता है, जब राजा नल अपने प्रणयव्यथित चित्त को बहलाने के लिए उपवन में चले जाते हैं। उपवन में प्रकृति के विभिन्न उपादान नल की मानो सेवा करते है (1/102-106) किन्तु उन पुष्पों, आम्रवृक्ष, भ्रमरसमूह, चन्द्रिका, कोकिल आदि उद्दीपनों ने नल के पूर्वराग का सम्बर्द्धन ही किया (1/84—100)। किसी भी प्रकार मन को शान्त नहीं किया।

प्रकृति वर्णन की प्रक्रिया में श्रीहर्ष ने प्रकृति का मानवीकरण कर दिया है—

114. नैषधीयचरित 5/61...71

115. नैषधीयचरित 10/6, 13, 16; 12/21, 50, 68, 106; आदि।

116. नैषधीयचरित 16/52

16/109— मुखे निधाय क्रमुकं नलानुगैरथोज्झि पर्णालिरवेक्ष्य वृश्चिकम्।
दमार्पितान्तर्मुख वासनिर्मितं भयाविलैः स्वभ्रमहासितारखलैः॥

117. नैषधीयचरित—युद्धवीर 1/9...11; दयावीर 1/142, 143; दानवीर 3/25; 5/77, 83, 84; धर्मवीर 1/7 आदि।

118. साहित्यदर्पण 3/48— उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम्।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातेद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समादाय महर्षिवार्धकाद् वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः॥ (22/32)

'तपःपूत, वृद्ध तथा कम्पित हस्त महर्षि से आतिथ्य सीखने वाले वृक्ष भी वातकम्पित पल्लवहस्तों से फल और पुष्प अर्पित करते हैं।' इसी प्रकार सूर्य को दण्डी सन्यासी के रूप में प्रस्तुत करना भी श्रीहर्ष के प्रकृतिचित्रण के मानवीकरण की अनुपमेयता है—

आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः।
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम्॥ (22/12)

श्रीहर्ष ने प्रकृति चित्रण करते समय प्रायः ही लोक व्यवहार एवं लोकप्रसंगों से उपमान ग्रहण कर लिए हैं। सूर्यदीप के ऊपर उल्टे कटोरे की भाँति आकाश काजल बटोरने के लिए अवस्थित है। आकाशकटोरे में काजल बहुत अधिक हो जाने पर वह काजल (अन्धकार) भूमि पर गिर कर सर्वतः फैल गया—

ऊर्ध्वार्पितन्युब्ज-कटाह-कल्प यद् व्योम्निदीपेन दिनाधिपेन।
न्यधायि तद् भूममिलद्गुरुत्वं भूमौ तमः कज्जलमस्खलात् किम्॥ (22/32)

वस्तुतः नैषधीय के अन्तिम-बाइसवें-सर्ग में श्रीहर्ष ने प्रकृति का अत्यन्त उदात्त एवं व्यावहारिक रूप चित्रित किया है। रात्रिकालीन अन्धकार से आच्छादित आकाश की नीली कान्ति को रात्रि रूपी रजकी चन्द्रमा की दुग्ध सदृश श्वेत किरणों से धो देती है।

आभिर्मृगेन्द्रोदरि! कौमुदीभिः क्षीरस्यधाराभिरिव क्षणेन।
अक्षालि नीली रुचिरम्बरस्था तमोमयीयं रजनीरजक्या॥ (22/111)

रमणीरूप के वर्णन में भी श्रीहर्ष ने परम प्रवीणता दिखाई है। दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन का कोई भी अवसर श्रीहर्ष ने नहीं छोड़ा है। द्वितीय, पञ्चम, सप्तम आदि अनेक सर्गों में दयमन्ती का रूप वर्णन कवि ने किया है, किन्तु सर्वत्र नए उपमानों, मौलिक कल्पनाओं आदि के कारण प्रत्येक सौन्दर्य वर्णन नवीन सा ही प्रतीत होता है। ब्रह्मा ने दमयन्ती का मुख बनाने के लिए इन्दु के सार अंश को ग्रहण कर लिया। उसी के कारण चन्द्रमा में बने छिद्र के बीच में से आकाश की नीलिमा दृष्टिगोचर हुआ करती है—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिमः॥ (2/25)

अलंकार विधान—श्रीहर्ष अलंकार प्रिय कवि हैं। प्रायः सभी अलंकारों का उन्होंने बहुत प्रयोग किया है। हर्ष स्वयं अपनी रचना को 'परीरम्भक्रीडाचरणशरणा' मानते हैं, और उनके काव्य के लगभग प्रत्येक पद्य में ही किसी न किसी अलंकार की झंकार है। किन्तु ये अलंकार श्रमसाध्य न होकर सहज ही हैं। भारवि काव्य एवं माघकाव्य की भाँति नैषध में चित्रालंकारों का प्रदर्शन दृष्टिगोचर नहीं होता; इसीलिए श्रीहर्ष का अलंकार प्रयोग भावभूमि का संस्पर्श करता हुआ रस का पोषण करता है। 'कल्पनाशक्ति का सर्वोच्च व्यायाम संस्कृत साहित्य में यदि कहीं है, तो वह श्रीहर्ष की रचना में। इसी कल्पना से प्रायः सभी अर्थालंकारों का आविर्भाव होता है।' नैषधीय चरित में शब्द और अर्थ दोनों की ही चमत्कृति दृष्टिगोचर होती है।

महाकवि श्रीहर्ष ने शब्दालंकारों का प्रयोग अर्थसौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए ही किया है। अनुप्रास, श्लेष एवं यमक के अनेक सुन्दर प्रयोग नैषधीयचरित में प्राप्त होते है। अनुप्रास की दृष्टि से शब्द के अन्तिम वर्णों की समता श्रीहर्ष को अधिक इच्छित रही है।[119] एकाधिक उदाहरण का अवलोकन करें—

लोकेशकेश वशिनानपि यश्चकार शृंगारसान्तर भृशान्तरशान्तभावन्।
पश्चेन्द्रियाणि जगतामिषु पश्चकेन संक्षोभयन् वितनुतां वितनर्मुदं वः॥ (11/25)

श्रीहर्ष का श्लेष प्रयोग तो लोकप्रसिद्ध है। काव्य में विशिष्ट चमत्कार उत्पन्न कर देने के लिए श्रीहर्ष ने श्लेष अलंकार का बहुत अधिक प्रयोग किया है। उनका स्पष्ट अभिमत था कि वाणी से जो अनेक अर्थ प्रगट होते हैं वे निश्चय ही कवित्व शक्ति के विलास के द्योतक होते हैं।[120] श्रीहर्ष ने अपनी कवि प्रतिभा का प्रदर्शन श्लेष अलंकार के माध्यम से अत्यन्त सुचारू रूप में किया है। अभंग, संभग तथा उभयात्मक—तीनों ही श्लेष भेदों का प्रयोग नैषधीयचरित में अवलोकनीय है। एक उदाहरण देखिए—

इतीरिता पत्ररथेन तेन, ह्रीणा च हृष्टा व बभाण भैमी।
चेतो नलङ्कामयते मदीयं, नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम्॥ (3/67)

इस पद्य के तृतीय चरण में श्लेष प्रयोग के कारण तीन भिन्न भिन्न अर्थ प्राप्त हो जाते हैं—

1. चेतः नलं कामयते मदीयम्—मेरा मन नल की कामना करता है।

2. चेतः न लंकाम् अयते मदीयम्—मेरा मन लोभी होकर लंका की ओर नहीं जाता।

3. चेतः अनलं कामयते मदीयम्—(नल के प्राप्त न होने पर) मेरा चित्त अनल (अग्नि) की कामना करता है।

नैषधीयचरित के सत्रहवें सर्ग में भी श्रीहर्ष ने श्लेषप्रयोग के वाणीविलास का सुन्दर प्रदर्शन किया है जहाँ देवताओं और कलि का पारस्परिक वाग्युद्ध होता है। इस प्रकरण में एक श्लोक के ही द्विविध अर्थ प्रगट होते हैं जिससे देवता कलि का और कलि तत्तद् देवता का उपहास करता है। श्रीहर्ष ने इसके सम्बन्ध में कहा है—

कलिं प्रति कलिं देवाः देवान् प्रत्येकशः कलिः।
सोपहासं समैर्वर्णैरित्थं व्यररचन् मिथः॥ (17/153)

श्रीहर्ष ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति आदि विभिन्न अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग किया है किन्तु श्लेष की भाँति अतिशयोक्ति भी श्रीहर्ष को विशेष प्रिय है। किसी के भी गुणवर्णन में कवि ने अतिशयोक्ति की विशेष सहायता ली है।

---

119. नैषधीयचरित—13/53— प्रथमचरणयोर्वा शब्दयोर्वर्णसख्ये
विलसति चरमेऽनुप्रासभासां विलासः।

120. नैषधीयचरित—14/16— श्लिष्यन्ति वाचो यदमूरमुष्याः कवित्वशक्तेः खलु ते विलासाः।

भाषाशैली—महाकवि का भाषा पर असाधारण अधिकार है। श्रीहर्ष की वशानुवर्तिनी की भाँति भाषा विभिन्न भावों के अनुरूप काव्य गुणों से संयुक्त होकर नैषध काव्य में उपन्यस्त हुई है। हृदय के गोपनतम भाव को स्पष्ट कर देने में श्रीहर्ष की भाषा पूर्णतया सक्षम है, किन्तु श्रीहर्ष के शास्त्रीय ज्ञान एव अगाध पाण्डित्य के कारण उसमें कहीं कहीं दुरूहता भी आ गई है जिसके कारण काव्य का प्रसाद गुण बाधित हो गया है।

पदसंघटना की दृष्टि से नैषधीयचरित में वैदर्भी रीति का प्राधान्य है। स्वयं कवि ने अपने काव्य में वैदर्भी रीति की प्रधानता का कथन किया है[121] और दमयन्ती की प्रशंसा के व्याज से वैदर्भी रीति की प्रशंसा भी की है।

धन्यासि वैदर्भि। गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि..... (3/115)

अर्थात् 'हे दमयन्ती। अप धन्य है, जिनके द्वारा अपने उदार गुणों से नल को भी आकृष्ट कर लिया गया।' इसी से यह श्लिष्टार्थ भी अभिव्यक्त होता है—'है वैदर्भीरीति। तुम धन्य हो, जिसने अपने (माधुर्य, लालित्य आदि) गुणों से नैषधकाव्य को भी आकृष्ट कर लिया।' श्रीहर्ष ने वैदर्भी के प्रति पक्षपात अवश्य दिखाया है किन्तु यथोचित रस एवं भाव के सन्निवेश के लिए पांचाली, गौड़ी एवं लाटी रीतियों का भी अनेकशः प्रयोग किया है।

पाण्डित्य—श्रीहर्ष ने नैषधीय चरित की रचना करके अपनी कवित्वशक्ति का तो सुन्दर परिचय दिया है; साथ ही इस महाकाव्य के परिशीलन से उनकी अप्रतिहत मेधा, विवध-विद्या वैदुष्य एवं अनुपम पाण्डित्य का भी परिज्ञान हो जाता है। महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य के दसवें सर्ग में विस्तार के साथ सरस्वती के जिस स्वरूप का वर्णन किया है, ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः वह उनकी अपनी अद्वितीय प्रतिभा की प्रस्तुति ही है। विभिन्न वेदों, भारतीय दर्शनों, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र, व्याकरण, विविध कलाओं आदि के परिनिष्ठित ज्ञान से सम्पन्न श्रीहर्ष के काव्य के सम्बन्ध में डॉ एस.के.दे ने समुचित ही लिखा है—''यह तो मानना ही पड़ेगा कि नैषधीय चरित केवल एक वैदुष्यपूर्ण काव्य ही नहीं है, अपितु अनेक प्रकार के परम्परागत ज्ञान का भण्डार है और किसी व्यक्ति को उस समस्त ज्ञान से पूर्ण सुसज्जित होकर ही इसमें प्रवेश करना चाहिए।''

दार्शनिकता की दृष्टि से नैषधीय चरित अपना सानी आप है। श्रीहर्ष अद्वैतवेदान्ती थे। चार्वाक दर्शन के गम्भीर मण्डन एवं खण्डन की युक्तियों से परिपूर्ण नैषधीयचरित का सत्रहवाँ सर्ग काव्य की अपेक्षा दर्शन ग्रन्थ का अंश होने का भ्रम उत्पन्न करता है। अद्वैत वेदान्त के विभिन्न पक्षों को श्रीहर्ष ने अत्यन्त सुन्दर रूप में उपस्थापित किया है। श्रीहर्ष रचित 'खण्डनखण्डखाद्य' तो अद्वैतवेदान्त का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है ही, किन्तु नैषधीय चरित

---

121. नैषधीयचरित 14/91— गुणानामास्थानीं नृपतिलकनारीतिविदितां
रसस्फीतामन्तस्तव च तव वृत्ते च कवितुः।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुं
परीम्भक्रीडाचरणशरणामन्वहमहम् ॥

के भी प्रत्येक सर्ग में भी अनेक पद्य हर्ष के दार्शनिक व्यक्तित्व को उजागर कर देते हैं। श्रीहर्ष ने विभिन्न भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को स्थल-स्थल पर[122] प्रस्तुत करते हुए भी अपनी उपस्थापन सरणि में विभिन्न दर्शनों के प्रति बहुत चुभते हुए व्यंग किए हैं। आचार्य गौतम के न्याय दर्शन सम्मत आनन्दरहित मोक्ष के वर्णन को श्रीहर्ष ने गोतम (मूर्खतम, बड़ा, बैल) का मत कहा है।[123] इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन का भी श्रीहर्ष ने उपहास किया है। आचार्य कणाद (दूसरा नाम उलूक) ने वैशेषिक दर्शन का प्रवर्तन किया था जिसमें तमस् (अन्धकार) को पदार्थ मानने का पर्याप्त विवेचन है। श्रीहर्ष ने नाम के वाच्यार्थ को ग्रहण करके व्यंग किया कि उल्लू ही तमस्तत्त्व का परीक्षण कर सकता है।[124] पाणिनि के 'अपवर्गे तृतीया' (2/3/6) सूत्र को भी श्रीहर्ष ने इसी प्रकार उपहसनीय बना दिया है।[125]

श्रीहर्ष के अगाध पाण्डित्य ज्ञान के कारण ही नैषधीय चरित का सुन्दर स्वरूप आपाततः ही काठिन्यपूर्ण है। यह काव्य विद्वज्जनबोध्य है। जो पाठक सहृदय होते हुए भी विविध शास्त्रों में पारंगत न हो, उसके लिए इस महाकाव्य में प्रायः कुछ नहीं है। रस, अलंकार, रीति, दर्शन, व्याकरण, पौराणिक संकेत—सर्वत्र ही श्रीहर्ष को समझ पाने के लिए टीकाओं, शास्त्रों और शब्दकोश का सहारा आवश्यक है। पदे पदे दर्शन, व्याकरण अथवा कामशास्त्र की कोई न कोई समस्या समाधान पाने के लिए तत्पर है। तेरहवें सर्ग में चार देवताओं और एक नल के वर्णन की दृष्टि से प्रस्तुत पञ्चनली श्लोक तो आज भी श्लेषालंकार प्रयोग में पण्डितों के आदर्श रूप हैं। इसीलिए आलोचकों ने इस महाकाव्य को विद्वानों के लिए औषध रूप कहा है—'नैषधं विद्वदौषधम्'। अपने काव्य की गाढ़बन्धता और श्लिष्टता के लिए स्वयं श्रीहर्ष ने कारण प्रस्तुत कर दिया है।

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिति मास्मिन्खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढ़ग्रन्थिः समासादय
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥ (21/152)

अर्थात् 'मैंने इस काव्य में स्थल स्थल पर प्रयत्नपूर्वक ग्रन्थियाँ लगा दी हैं जिससे पण्डित होने का अभिमानी दुष्ट हठपूर्वक इसके मर्म को जानने की चंचलता न करे। वे ही सज्जन सहृदय इस काव्य के रस का अवगाहन सुख प्राप्त कर सकते हैं, जिन्होंने श्रद्धापूर्वक

122. नैषधीयचरित—1/40; 2/32, 61; 3/3, 37, 125; 5/8, 94; 6/46, 51, 102; 7/75; 9/71; 10/81, 88; 11/64; 14/70; 17/77; 21/104; 22/23

123. नैषधीयचरित—17/75— मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥

124. नैषधीयचरित 22/35— ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां, वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्, क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय॥

125. नैषधीयचरित 17/70— उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥

गुरु की सेवा करके गुरुकृपा से इन ग्रन्थियों को खोल लिया है।' और भी स्थलों पर श्रीहर्ष ने अपनी कृति को श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए अरसिक किंवा पण्डितम्मन्य पुरुषों की निन्दा की है।[126]

प्राय: सभी विद्वानों का यह विचार है कि श्रीहर्ष के ऊपर प्राचीन कवियों का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कालिदास, भारवि, माघ तथा कुमारदास—सभी महाकवियों के वर्णन से श्रीहर्ष के वर्णन प्रभावित हैं। विवाह से पूर्व दमयन्ती के प्रसाधन वर्णन (पन्द्रहवां सर्ग) पर कुमारसम्भव में वर्णित पार्वती के विवाह पूर्व शृंगार वर्णन का स्पष्ट प्रभाव है। इसी प्रकार दमयन्ती स्वयंवर की कल्पना का जनक इन्दुमती स्वयंवर ही है। कालिदास ने एक ही सर्ग में उस स्वयंवर का रसपूर्ण वर्णन किया था, श्रीहर्ष ने विविध अलंकारों से सज्जित करके अत्यन्त आडम्बरपूर्वक चार सर्गो में स्वयंवर का वर्णन विस्तृत कर दिया। इसी प्रकार देवताओं का सन्देश लेकर जाने वाले नल के दमयन्ती के साथ संवाद में ब्रह्मचारीवेशधारी शिव तथा पार्वती संवाद की झलक प्राप्त होती है। श्रीहर्ष के वर्णनों में पाण्डित्य प्रदर्शन स्पष्ट दीखता है। माघ का सूर्योदय वर्णन शोभा की दृष्टि से अपूर्व है। श्रीहर्ष का नैषधीय चरित के सत्रहवें सर्ग में सूर्योदय वर्णन माघ से प्रभावित होकर भी कृत्रिम तथा आडम्बरपूर्ण दिखता है।

नैषधीयचरित पर पूर्ववर्ती कवियों का भले ही प्रभाव दीखता रहे, पण्डितसमाज में श्रीहर्ष का पर्याप्त सम्मान रहा है। कलावादी महाकाव्यों में यह अन्तिम रचना कही जाती है। श्रीहर्ष की विद्वत्ता, गाढबंध तथा श्लेष प्रयोग से अत्यधिक प्रसन्न विद्वानों ने नैषधीय चरित को भारवि और माघ से भी ऊंचा स्थान दिया—

'उदिते नैषधे चरिते क्व माघ: क्व च भारवि:।'

संस्कृत के अन्य महाकवियों की भाँति श्रीहर्ष के काव्य में भी अनेक सूक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। श्रीहर्ष ने 'शरदिजज्योत्सिनाच्छसूक्ते' कह कर स्वयं अपनी सूक्तियों की प्रशंसा की है कि मेरी सूक्तियाँ शरत्कालीन ज्योत्स्ना की भाँति स्वच्छ किंवा आह्लादकारी हैं—

1. क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग् जन	1/102
2. ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्	2/48
3. सतां पुन: गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधि:	2/53
4. स्वत एवं सतां परार्थता	2/61
5. कर्म क: स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते	5/6
6. आर्जवं हि कुटिलेषु न नीति:	5/103
7. मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता	9/8
8. चकास्ति योग्येन हि योग्यसंगम:	9/56
9. स्वाभाविकात् कृत्रिममन्यदेव	10//19

126. नैषधीयचरित 22/150— मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः।
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः॥
22/151—दिशि दिशि गिरिग्रावाणः स्वां वमन्तु सरस्वतीम्।

10. विधेरहो वाञ्छितविघ्नयत्ना: 10/100
11. किं विदग्धमनसामगोचर: 18/86
12. प्रत्यय: परवाचि क: 20/45 आदि

श्रीहर्ष के महाकाव्य का वास्तविक मूल्याङ्कन कर पाना दुष्कर ही है। इस विषय में डॉ. एस.के.डे. के शब्द ही पर्याप्त होगें—

"It is no wonder therefore, that judging by modern standards, an impatient western critic should stigmatise the work as a perfect masterpiece of bad taste and bad style. It should be recognised at once that the Naishadhacharit is not only a learned poem, but is in many ways a repository equipment of traditional learning and should, therefore, be approached with the full equipment of such learning. It is also a treasure house of literary dexterity and involves for its apreciation an aptitude in this direction. The modern reader often perhaps lacks this equipment and aptitude and therefore finds little interest in the work which, for it's cult of style, has always been so popular with scholars of the traditional types."[127]

संस्कृत महाकाव्यों की वृहत्त्रयी[128]

रामायण से प्रारम्भ हुई संस्कृत महाकाव्यों की सुदीर्घ सरणि में अनेक महाकाव्य रचे जा चुके और इस बीसवीं शती में भी निरन्तर महाकाव्य रचना हो रही है। किन्तु भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष की काव्यप्रतिभा एवं पाण्डित्य के मणिकाञ्चन संयोग ने संस्कृत आचार्यों को ऐसा मुग्ध कर दिया कि इन महाकवियों के काव्यों को 'वृहत्त्रयी' जैसा प्रशंसात्मक अभिधान प्राप्त हो गया। इनमें से प्रत्येक कवि की रचना के विवेचन के समय उनकी विभिन्न विशेषताओं को संक्षिप्ततया प्रगट किया जा चुका है; तथापि इन तीनों के तुलनात्मक साम्य एवं वैषम्य का विवेचन भी उपयुक्त ही होगा।

वृहत्त्रयी के तीनों काव्यों में महाकाव्य के सभी लक्षण पूर्णतया घटित होते हैं। नैषधकार श्रीहर्ष का स्थितिकाल भारवि एवं माघ से पर्याप्त पश्चातद्वर्ती है, अत: अपने पूर्ववर्ती कवियों से श्रीहर्ष का प्रभावित हो जाना स्वाभविक ही है। इन तीनों महाकाव्यों निम्नलिखित साम्य गत वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होते है—

1. तीनों महाकाव्यों का प्रारम्भ वस्तुनिर्देशात्मक है।
2. तीनों की ही कथा महाभारत से ग्रहण की गई है।
3. भारवि काव्य एवं श्रीहर्ष काव्य का नामकरण नायक के नाम को ग्रहण करके किया गया है किन्तु माघकाव्य का नामकरण काव्य में वर्णित मुख्य घटना के आधार पर है।
4. तीनों महाकाव्यों के नायक धीरोदात्त कोटि के महापुरुष हैं। इनमें भी किरातार्जुनीय

127. दे, सुशील कुमार—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 328, 330
128. द्रष्टव्य—कुलश्रेष्ठ, सुषमा—वृहत्त्रयी—एक [illegible]

के नायक अर्जुन एवं नैषधीयचरित के नल उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय हैं और शिशुपालवध के नायक श्रीकृष्ण देवस्वरूप होकर भी महाकाव्य में महापुरुष के रूप में ही चित्रित हैं। इन तीनों ही नायकों में नायकगत सामान्य, विशिष्ट एवं पौरुष गुणों का सुन्दर समावेश प्राप्त होता है।

5. किरातार्जुनीय एवं शिशुपालवध का अंगीरस वीररस है किन्तु नैषधीय चरित में शृंगार रस मुख्य है। भारवि एवं माघ ने मुख्य रस की पुष्टि में अंगरस शृंगार को अधिक महत्त्व दिया है। श्रीहर्ष ने सभी अंगरसों को समान रूप से वर्णित किया है। किरातार्जुनीय महाकाव्य में हास्य, करुण एवं शान्त—ये तीन रस प्राप्त नहीं होते, अतः मुख्य रस वीर के अतिरिक्त पाँच ही अंग रसों की योजना हुई है। शिशुपालवध में अंगी रस वीर के साथ छः अंग रसों को ग्रहण किया गया है, करुण एवं शान्तरस इस काव्य में नहीं है। श्रीहर्ष ने अपने सम्पूर्ण महाकाव्य में शृंगाररस को प्रबन्धव्यापी बनाया है एवं केवल शान्त रस को छोड़कर अन्य सभी रसों को अंग रूप में चित्रित किया है।

6. शास्त्रकारों ने महाकाव्य में जिन जिन वस्तुओं के साङ्गोपाङ्ग वर्णन करने का विधान किया था, उनमें से अधिकांश वस्तुवर्णन वृहत्त्रयी के काव्यों में अत्यन्त सरस रूप में उपलब्ध हो जाते हैं। इन विविधवर्णनों में तीनों ही कवियों का विविध शास्त्र ज्ञान भी सुन्दरतया अभिव्यंजित हुआ है। तीनों ही महाकवियों ने सन्ध्या, चन्द्रमा एवं अन्धकार आदि का वर्णन किया है जिनमें अनेक स्थलों पर भाव साम्य भी परिलक्षित हो जाता है।

7. महाकाव्य में त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम—में से एक या अनेक पुरुषार्थ को फल (प्रयोजन) रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए। इस शास्त्र वचन के अनुरूप ही शिशुपालवध का मुख्य प्रयोजन धर्म पुरुषार्थ है तथा किरातार्जुनीय एवं नैषधीयचरित में काम पुरुषार्थ काव्य का मुख्य फल है।

8. भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष—तीनों ही महाकवि आचार्य कुन्तक द्वारा प्रतिपादित काव्य के विचित्र मार्ग के श्रेष्ठ कवि हैं। भारवि से इस विचित्र मार्ग की महाकाव्य परम्परा का प्रवर्तन हुआ। माघ ने इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए उक्ति वैचित्र्य सम्पन्न शिशुपालवध की रचना की। श्रीहर्ष का नैषधीयचरित इस मार्ग की प्रतिनिधि रचना बन गया। इन तीनों में अन्तर केवल इतना रहा कि भारवि एवं माघ के महाकाव्य तो चित्रकाव्य बने, किन्तु श्रीहर्ष का काव्य श्लेषकाव्य रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसका कारण भी स्पष्ट किया जा चुका है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष के महाकाव्यों को संस्कृत पण्डितों ने 'वृहत्त्रयी' संज्ञा क्यों प्रदान की।

श्रीहर्ष के उपरान्त भी संस्कृत महाकाव्य तो रचे ही जाते रहे किन्तु श्रीहर्ष के पाण्डित्य, काव्यकौशल एवं श्लेष प्रयोग से और अधिक चमत्कार अन्य कोई कवि प्रदर्शित नहीं कर सका। यही कारण है कि नैषधीय चरित के पश्चात् लिखे गए विभिन्न काव्य अधिक प्रसिद्धि प्राप्त न कर सके। फिर भी कालक्रमानुसार नैषध से पूर्व एवं पश्चात् के उन महाकाव्यों एवं कवियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा।

भर्तृमेण्ठ

इस काश्मीरी महाकवि ने 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्य की रचना की थी, जो अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सका है। इनका नाम मेण्ठ अथवा हस्तिपक भी मिलता है। भर्तृमेण्ठ का स्थितिकाल पाँचवीं शती ईस्वी निर्धारित किया जाता है। कल्हण ने राजतरंगिणी (तृतीय तरंग 264-66) में भर्तृमेण्ठ को कश्मीरराज मातृगुप्त का सभाकवि बताया है। राजतरंगिणीकार ने अत्यन्त रसपेशल काव्य के रूप में 'हयग्रीववध' की प्रशंसा की है। उनके अनुसार राजा मातृगुप्त ने काव्य के रस के बह जाने के भय से इस काव्य की प्रति के नीचे स्वर्णपात्र रखवा दिया था—

अथ ग्रथयितुं तस्मिन् पुस्तकं प्रस्तुते न्यधात्।
लावण्यनिर्याणभिया तदधः स्वर्णभाजनम्॥ (राजतरंगिणी 3/261)

यह महाकाव्य निश्चय ही नितान्त उच्चकोटि का एवं काव्यशोभासम्पन्न रहा होगा, क्योंकि परवर्ती अनेक आलंकारिकों ने इनके श्लोकों को उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में, क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक में, भोज ने शृंगार प्रकाश एवं सरस्वती कण्ठाभरण में, मम्मट ने काव्यप्रकाश में एवं रामचन्द्र ने नाट्यदर्पण में 'हयग्रीववध' के विभिन्न काव्य तत्त्वों अथवा श्लोकों की प्रशंसात्मक विवेचना की है। 'नवसाहसाङ्क चरित' के रचियता पद्मगुप्त परिमल ने भर्तृमेण्ठ की शैली को वैदर्भी मार्ग घोषित किया है। वक्रोक्ति की अभिव्यञ्जना के लिए यह काव्य नितान्त प्रसिद्ध हुआ। कविवर राजशेखर ने बालरामायण में भर्तृमेण्ठ को वाल्मीकि का अवतार कहा है—

'बभूव वल्मीकभवः पुरा कविः ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।'

साहित्य की दृष्टि से यह अत्यन्त दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि ऐसे प्रशंसित एवं प्रतिष्ठित महाकाव्य के कतिपय श्लोक ही अन्य ग्रन्थों में बिखरे हुए प्राप्त होते हैं, और सम्पूर्ण महाकाव्य अप्राप्त ही है। महात्मा पुरुषों के लक्षण निरूपित करने वाला निम्नलिखित पद्य सुभाषितावली में भर्तृमेण्ठ के नाम से उद्धृत है—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ, प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

प्रवरसेन

प्रवरसेन ने महाराष्ट्री प्राकृत में 'सेतुबन्ध' महाकाव्य की रचना की। संस्कृत महाकाव्यों के विवेचन के अन्तर्गत प्राकृत महाकाव्य का उल्लेख इसलिए किया जा रहा है कि अपने काव्यगुणों के कारण 'सेतुबन्ध' महाकाव्य संस्कृत कवियों एवं आलोचकों में बहुचर्चित रहा। दण्डी, बाण आदि महाकवियों ने इस काव्य की भूरि भूरि प्रशंसा की है।[129] डॉ.

129. काव्यादर्श 1/34— महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥
हर्षचरित, प्रस्तावना 14— कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥

सुधीर कुमार गुप्त इस कवि का समय छठी शती ईस्वी निर्धारित करते हैं।

इस महाकाव्य की कथावस्तु रामायण से ग्रहण की गई है। समुद्र पर सेतु बन्धन से लेकर रावणवध एव राम के राज्यभिषेक की कथा को विस्तृत रूप में 15 आश्वासों में वर्णित किया गया है।

अभिनन्द

ये कश्मीर के रहने वाले थे। इन्होंने 'रामचरित' नामक महाकाव्य की रचना की। संस्कृत साहित्य में इस महाकाव्य की पर्याप्त प्रसिद्धि रही। विभिन्न अलंकारशास्त्रकारों तथा सूक्तिसंग्रहकर्ताओं ने अभिनन्द के नामपूर्वक 'रामचरित' महाकाव्य से अनेक श्लोक उद्धृत किए हैं। सभी विद्वानों ने इनका समय नवम शती का मध्य भाग स्वीकार किया है। 'रामचरित' महाकाव्य बड़ौदा से प्रकशित हो चुका है।[130]

'रामचरित' एक सरस महाकाव्य है। जैसा काव्य के नाम से स्पष्ट है इसका कथानक भी रामायण से ग्रहण किया गया। छत्तीस सर्गों के इस महाकाव्य में रामायण के किष्किन्धा काण्ड से युद्धकाण्ड तक की कथा प्राप्त होती है। यह ग्रन्थ अधूरा ही है, जिसे दो पृथक् कवियों ने पृथक्-पृथक् चार चार सर्ग लिख कर पूर्ण किया। ये चार चार सर्ग दो भिन्न भिन्न परिशिष्ट के रूप में काव्य को पूर्ण करते हैं। इस काव्य की शैली प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से सम्पन्न वैदर्भी है। इनके काव्य की कमनीयता तथा कथानक के सुन्दर प्रस्तुतीकरण के कारण सोढ्ढल ने अभिनन्द को 'वागीश्वर' कहा है।—'वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनन्दम्।' सोढ्ढल के ही समकालीन क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' में अभिनन्द के अनुष्टुप् छन्दों की सरसता की बहुत प्रशंसा की है—

अनुष्टुप्-सततासक्ता साभिनन्दस्य नन्दिनी।
विद्याधरस्य वदने गुलिकेव प्रभावभूः॥ (सुवृत्तिलक, पृष्ठ 53)

वासुदेव

इन्होंने 'युधिष्ठिर विजय' नामक महाकाव्य की रचना की। ये केरल के प्रसिद्ध राजा राजवर्मा कुलशेखर की सभा में थे अतः इनका समय नवीं एवं दसवीं शती का मध्यवर्ती काल है।

जैसा नाम से ही स्पष्ट है, 'युधिष्ठिर विजय' महाकाव्य का कथानक महाभारत से ग्रहण किया गया है। इसमें आठ सर्ग हैं तथा कुल 719 पद्य हैं। प्रारम्भिक सर्गों में महाभारत के उद्योग पर्व की कथा के विभिन्न प्रसंग वर्णित हैं तथा अन्तिम दो सर्गों मे महाभारत युद्ध और पाण्डवों की विजय है। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक एवं प्रजापालन के साथ महाकाव्य समाप्त हो जाता है। यमक काव्य होने पर भी यह अपनी सुबोधता के लिए प्रसिद्ध रहा है। सम्प्रति इसकी आठ टीकाएँ उपलब्ध हैं, जिनसे इस 'महाकाव्य की लोकप्रियता का सुष्ठु परिज्ञान होता है।

---

130. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा, प्रकाशन संख्या 46 - 1930

शिवस्वामी

ये कश्मीर के निवासी थे। शैवमतावलम्बी होने पर भी इन्होंने एक बौद्धाचार्य की प्रेरणा से 'कप्पणाभ्युदय' नामक महाकाव्य की रचना की। कल्हण ने राजतरंगिणी में शिवस्वामी को राजा अवन्तिवर्मा (858-885 ई.) के समय में बताया है।

इस महाकाव्य में बीस सर्ग हैं, जिनमें दक्षिण का राजा कप्पण श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित् पर आक्रमण करने का प्रयत्न करता है। पराजित प्रसेनजित् पुनः भगवान् बुद्ध की कृपा के द्वारा कप्पण को पराजित करा देता है और अन्ततः राजा कप्पण बौद्ध हो जाता है। इस महाकाव्य के कथानक में बौद्ध अवदानशतकों का भाव ग्रहण किया गया है। अलंकारों के प्रयोग में शिवस्वामी निपुण हैं। इनके काव्य पर माघ और रत्नाकर के काव्यों का पर्याप्त प्रभाव दीख पड़ता है। अपनी कथा को विस्तृत स्वरूप देने के लिए कवि ने सूर्यास्त, चन्द्रोदय, प्रभात, षड्ऋतु, जलक्रीड़ा आदि प्राकृतिक सुषमा का अत्यन्त कलापूर्ण वर्णन किया है।

'कप्पणाभ्युदय' महाकाव्य के प्रत्येक सर्गान्त श्लोक में कवि ने अपने इष्टदेव के नाम 'शिव' को अवश्य प्रयुक्त किया है अतः इस काव्य को 'शिवाङ्क' कहा जाता है। स्वयं कवि के कथनानुसार वे चित्रकाव्य तथा यमक प्रयोग में प्रवीण थे एवं कालिदास, भर्तृमेण्ठ तथा दण्डी के ग्रन्थों को उन्होंने अपने काव्य कौशल के लिए उपजीव्य बनाया था—(कप्पणाभ्दुय 20/47)

विदितबहुकथार्थश्चित्रकाव्योपदेष्टा यमककविरगम्यश्चारुसन्दानमानी।
अनुकृतरघुकारोऽभ्यस्तमेण्ठप्रचारो जयति कविरुदारो दण्डिदण्डः शिवाङ्कः॥

क्षेमेन्द्र

इस काश्मीरी महाकवि ने साहित्य की विभिन्न विधाओं में कुल 19 रचनाओं का प्रणयन किया; जिनमें से पाँच रचनाएँ महाकाव्य की श्रेणी में परिगणित होती हैं। अपने ग्रन्थों की रचना का समय क्षेमेन्द्र ने स्वयं दे दिया है जिनसे उनका समय ग्यारहवीं शती निर्धारित होता है। मौलिक, कल्पनाशील काव्यों की अपेक्षा क्षेमेन्द्र ने प्राचीन प्रसिद्ध काव्यों के आधार पर मानों उनके संक्षिप्तीकरण के रूप में काव्य रचना की। क्षेमेन्द्र ने रामायण का संक्षेप **रामायणमञ्जरी** तथा महाभारत का संक्षेप **महाभारतमञ्जरी** नाम से प्रस्तुत किया। विष्णु के दस अवतारों पर **दशावतार** नामक काव्य की रचना की। गुणाढ्य की पैशाची भाषा में रचित वृहत्कथा का संस्कृत भाषा में पद्यानुवाद करके क्षेमेन्द्र ने जिस **वृहत्कथामञ्जरी** की रचना की, वह तो संस्कृत कथा साहित्य को सुप्रतिष्ठित करने वाला ग्रन्थ बना।

अत्यन्त प्रसिद्ध एवं लोकानुरञ्जक महाकाव्यों का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करने पर भी क्षेमेन्द्र की मौलिकता को नकारा नहीं जा सकता। क्षेमेन्द्र के समय में कश्मीर की स्थिति अराजकतापूर्ण थी। उस समय राजा अनन्त का शासन था, किन्तु वह नितान्त अक्षम व

दुर्बल राजा था। "क्षेमेन्द्र अपने युग के अशान्त वातावरण से इतने असन्तुष्ट व मर्माहत थे कि उसे सुधारने तथा पवित्र और विशुद्ध बनाने के लिए और दुष्टता के स्थान पर शिष्टता की, स्वार्थ के स्थान पर परार्थ की भावना को दृढ़ करने के निमित्त अपनी द्रुतगामिनी लेखनी को काव्य के नाना अंगों की रचना में लगाया। अपने युग के वातावरण को सुधारने के लिए कवि ने श्लाघनीय प्रयत्न किए और इसमें उन्हें सफलता भी मिली।"[131]

क्षेमेन्द्र की काव्यप्रतिभा हृदयावर्जक भी है और सुबोध भी। जनता के चरित्र को सुधारने का लक्ष्य लेकर काव्य रचना में प्रवृत्त कवि के लिए सरलता एवं सुबोधता ही ग्राह्य थी। क्षेमेन्द्र में कलापक्ष की प्रधानता है, किन्तु पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं है।

हरिचन्द्र

विभिन्न जैन कवियों में हरिचन्द्र का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। इन्होंने 'धर्मशर्माभ्दुय' नामक महाकाव्य की रचना की, जिसमें धर्म एवं शर्म (कल्याण) की उन्नति के साधक वर्णन एवं चित्रण हैं, अत: काव्य का नाम सार्थक हो गया है। इनका स्थितिकाल विवादास्पद है किन्तु विभिन्न विद्वान् अनेक तर्कमूलक आधारों पर इस कवि का समय ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शती ईस्वी निर्धारित करते हैं।

यह महाकाव्य इक्कीस सर्गों में विभक्त है तथा इसमें जैन धर्म के पन्द्रवें तीर्थङ्कर धर्मनाथ का चरित विस्तृत रूप में काव्यशैली में वणित है। कवि ने 'उत्तरपुराण' की कथा को अपने कथानक का उपजीव्य बनाया है, किन्तु संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा के अनुकूल ही विभिन्न प्राकृतिक वर्णनों के द्वारा अपने काव्य को विस्तृत एवं अलंकृत बना दिया है। कवि हरिचन्द्र की काव्यशैली पर कालिदास, भारवि एवं माघ का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, किन्तु साथ ही कवि की अनूठी कल्पनाओं और भावप्रदर्शन के कारण यह काव्य अत्यन्त रसपेशल भी बन गया है। जैन तीर्थङ्कर के चरितवर्णन के कारण शान्तरस तो काव्य में व्याप्त है ही किन्तु कवि अन्य रसों से भी पराङ्मुख नहीं है। शृंगार रस सम्पन्न यह श्लोक द्रष्टव्य है जिसमें कल्पना एवं श्लेष के सम्मिश्रण ने चमत्कार उत्पन्न कर दिया है—

व्यापार्य सज्जात्मकसंनिवेशे करानभिप्रेंखति यत्र राज्ञी।
द्रवत्यनीचैः स्तनकूटरम्या कान्तेव चन्द्रोपलहर्म्यपंक्तिः॥ (3/19)

रात्रिकालीन अन्धकार के आगमन पर कवि की एक सुन्दर कल्पना द्रष्टव्य है—

अस्ताचलात् कालवलीमुखेन क्षिप्ते मधुच्छत्र इवार्कबिम्बे।
उड्डीयमानैरिव चंचरीकैर्निरन्तरं व्यापि नभस्तमोभिः॥ (14/22)

अर्थात् 'काल वानर के द्वरा अस्ताचल से मधुच्छत्र (मधुमक्खी का छत्ता) के सदृश सूर्यमण्डल के उखाड़ कर फेंक दिए जाने पर उड़ने वाले मधुकरों के सदृश अन्धकार से यह सम्पूर्ण आकाश भर गया।'

---

131. उपाध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 222

स्वयं कवि ने अपने को 'रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः' घोषित किया है, और उनका काव्य इसे प्रमाणित भी कर देता है।

मंखक

काश्मीरी कवियों में मंखक या मंख का नाम बहत आदर से लिया जाता है। मंखक काश्मीर के राजा जयसिंह (1129-1150 ई.) के सभापण्डित थे, अतः इनका समय बारहवीं शती ईस्वी निर्धारित है। मंखक ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी जिसमें 'श्रीकण्ठचरित' महाकाव्यात्मक कृति है।

प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री रुय्यक मंखक के गुरु कहे जाते हैं। मंखक ने रुय्यक के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप अपने काव्य की रचना की है। इसमें पच्चीस सर्ग हैं। इसका कथानक भगवान् शिव एवं त्रिपुरासुर युद्ध से सम्बद्ध है। अत्यन्त संक्षिप्त कथानक को मंखक ने विभिन्न विस्तृत वर्णनों से अलङ्कृत कर दिया है। इस महाकाव्य में विभिन्न वर्णनों का क्रम प्रायः माघ काव्य जैसा ही है। 'मंखक का युग काव्यात्मक गहनता का था, और मंखक पर उसका स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।'

वेंकटनाथ

'यादवाभ्युदय' महाकाव्य के रचयिता वेंकटनाथ का ही उपाधि नाम वेदान्तदेशिक है। इनका समय तेरहवीं चौदहवीं शती (1268-1368) है। श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रथम उन्नायक एवं रामानुजाचार्य को प्रौढ़ि प्रदान करने वाले वेंकटनाथ अपने वेदान्त विषयक गम्भीर उपदेशों की श्रेष्ठता के कारण अपने उपाधिनाम वेदान्तदेशिक से अधिक प्रसिद्ध हुए। दक्षिण भारत के प्रायः सभी मन्दिरों में इनकी मूर्ति प्राप्त होती है। इस कवि की प्रतिभा विलक्षण थी। वेदान्त, न्याय, मीमांसा, काव्य, स्तोत्र, नाटक, दूतकाव्य, नीतिकाव्य, वैद्यक, आयुर्वेद आदि विषयों से सम्बद्ध 121 ग्रन्थों की इन्होंने रचना की। वेदान्तदेशिक ने अपने लेखन कौशल का उपयोग मूलतः वैष्णव धर्म के पोषण तथा प्रचार हेतु किया तथा उसके दार्शनिक पक्ष को भी बहुत पुष्ट किया।

'यादवाभ्युदय' महाकाव्य की कथा 'हरिवंश' से ग्रहण की गई है। स्वयं कवि ने अपने काव्य के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

विहाय तदहं व्रीडां व्यासवेदार्णवामृतम्।
वक्ष्ये विबुधजीवातुं यादवेन्द्रकथोदयम्॥ (1/8)

24 सर्गात्मक इस महाव्य में आनन्दकन्द भगवान् श्री कृष्ण की जन्म से लेकर सम्पूर्ण लीलाओं का सुन्दर वर्णन है। महाकाव्य में कथा अंश भी दीर्घ ही है और महाकाव्य परम्परा के अनुसार विभिन्न वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में है। किन्तु कवि की शैली, वर्णन शक्ति एवं भाषा का प्रवाह इस महाकाव्य को लोकानुरंजक बनाने में पर्याप्त सफल हुए हैं। श्रीकृष्ण का चरित होने के कारण महाकाव्य में शृंगार रस तो पर्याप्त है किन्तु कहीं अश्लीलता की गन्ध भी नहीं है। इस कवि ने काव्यवर्णन के मध्य ही वैष्णव दर्शन के सिद्धान्त भी

सरसतया ग्रथित कर दिए हैं—

यथा नियच्छत्ययमिन्द्रियाश्वान् जीवाश्रये देहरथे निबद्धान्।
तथाऽर्जुनस्यन्दनधुर्यनेता बभूव नान्येन निदर्शनीयः॥ (23/28)

अर्थात 'जिस प्रकार जीव से युक्त देह रूपी रथ में निबद्ध इन्द्रिय रूपी अश्वों का संयमन भगवान श्रीकृष्ण करते हैं, उसी प्रकार अर्जुन के रथ के सारथी बनकर उनके द्वारा घोड़ों का संयमन करना सर्वथा अनुपमेय है।'

वेदान्तदेशिक की प्रांजल किन्तु सरल एवं भावनिर्भर शैली का एक अन्य निदर्शन द्रष्टव्य है—

क्रीडातूलिकया स्वस्मिन् कृपारूषितया स्वयं।
एको विश्वमिदं चित्रं विभुं श्रीमानजीजनत्॥

महाकाव्यों की परम्परा के साथ-साथ ही संस्कृत काव्यों की एक और परम्परा प्राप्त होती है जिसे द्विसन्धान काव्य का नाम दिया गया था। ऐसे काव्यों में श्लेष प्रयोग के द्वारा दो कथाएँ प्राप्त होती हैं। अनेक कवियों ने रामायण एवं महाभारत की कथा को एक साथ प्रस्तुत करने में पर्याप्त श्रम किया।

धनञ्जय

इन्होंने राघवपाण्डवीय नामक महाकाव्य की रचना की। राजशेखर ने इनकी स्तुति में एक श्लोक कहा है, अतः धनञ्जय का समय दसवीं शती के पूर्वार्ध से पहले माना जाता है। यह द्विसन्धानकाव्य है, अर्थात् श्लेष पद्धति से प्रत्येक श्लोक के दो अर्थ प्राप्त होते हैं। एक अर्थ में रामायण कथा और दूसरे अर्थ में महाभारत कथा साथ साथ ही वर्णित हैं। धनञ्जय जैन कवि थे अतः रामायण एवं महाभारत के विषय में प्रख्यात जैन कथाओं का आधार एवं प्रभाव इस काव्य में पर्याप्त रूप से मिलता है।

सरस्वती कण्ठाभरण नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ में राजा भोज ने दण्डी और धनञ्जय के द्विसन्धानकाव्य का निर्देश किया है, किन्तु इसी प्रकार की दण्डी की कोई कृति अद्यावधि तो उपलब्ध नहीं हुई है। इस दृष्टि से द्विसन्धानकाव्यों में धनञ्जय का राघवपाण्डवीय प्राचीन होने के कारण भी महत्त्वपूर्ण है।

कविराज

ये कादम्ब वंश के राजा कामदेव (1182-1197 ईस्वी) के आश्रित कवि थे। अतः इनका समय बारहवीं शती ईस्वी है। इन्होंने भी 'राघवपाण्डवीय' नामक द्विसन्धान काव्य लिखा, जिसमें तेरह सर्गों में राम एवं पाण्डवों की कथा प्रत्येक श्लोक में श्लेष प्रयोग के द्वारा साथ-साथ लिखी गई है। कविराज वक्रोक्ति के आचार्य थे। उन्होंने स्वयं को सुबन्धु एवं बाण के समकक्ष घोषित करते हुए इस प्रकार लिखा है—

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणा चतुर्थो विद्यते न वा॥ (1/41)

इस द्विसन्धानकाव्य की चमत्कारिता से प्रभावित होकर परवर्ती युग में कवियों ने इस प्रकार के अनेक काव्यों की रचना की। कतिपय उल्लेखनीय द्विसन्धान काव्य इस प्रकार हैं—

सोलहवीं शती में रामचन्द्र ने **रसिकाञ्जन** नाम काव्य लिखा जिसमें प्रेम और वैराग्य—इन दो विरोधी भावों को श्लेष के द्वारा एक साथ वर्णित किया। हरदत्त सूरि ने **राघवनैषधीय** में राम एवं नल की कथा को श्लेष के द्वारा एक साथ उपस्थित किया। सोलहवीं शती में ही चिदम्बर ने **राघवपाण्डवयादवीय** नामक काव्य की रचना की, जिसमें श्लेष के द्वारा एक साथ रामायण, महाभारत और श्रीमद् भागवत की कथा प्राप्त होती है। विद्या माधव ने **पार्वती रुक्मिणीय** काव्य रचा, जिसमें द्व्यर्थक श्लोकों में एक साथ शिव पार्वती तथा कृष्ण रुक्मिणी विवाह वर्णित है। सर्वाधिक चमत्कारी वेंकटाध्वरि का तीस श्लोकों का **यादवराघवीय** है, जिसे एक ओर से पढ़ने पर राम की कथा तथा उलटी ओर से पढ़ने पर कृष्ण की कथा प्राप्त होती है।

उक्त कवियों एवं महाकवियों के अतिरिक्त भी संस्कृत में महाकाव्य लेखकों की एक वृहत् परम्परा है। सभी लेखकों के ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते। कुछ कवियों के तो नाममात्र अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होते है। कुछ काव्यों के अंश मात्र मिलते है और कुछ काव्यग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो पाए हैं। कुछ काव्यग्रन्थ पाण्डुलिपि रूप में केवल पुस्तकालयों की सूची में निर्दिष्ट हैं। जैन एवं वौद्ध कवियों ने भी संस्कृत में महाकाव्य लिखे। बौद्धों के महाकाव्य तो कम ही हैं, किन्तु जैन कवियों ने अपने जिनों के चरित वर्णन के रूप में बहुत महाकाव्य रचे। दुर्भाग्यवश इन जैन महाकाव्यों का सामान्य जनता में अथवा संस्कृतानुरागियों में प्रचलन नहीं पाया जाता। ऐसे प्राप्त-अप्राप्त अथवा प्रकाशित-अप्रकशित डेढ़ सौ से भी अधिक काव्यग्रन्थों की विस्तृत सूची डॉ. कपिल देव द्विवेदी ने प्रकाशित की है।[132] उनमें भी कुछ प्रमुख ग्रंथों का यहाँ निर्देश किया जा रहा है।

पतञ्जलि	महानन्द काव्य	150 ईसा पूर्व
लोलिम्बराज	हरिविलास	1050 ईस्वी
कवि कर्णपूर	पारितजातहरण	1185 ईस्वी
अमरचन्द्र	बालभारत	1260 ईस्वी
शंकर	कृष्णविजय	1430 ईस्वी
स्वयंभूनाथ	कृष्ण विलास	1540 ईस्वी
राजचूड़ामणि दीक्षित	रुक्मिणी कल्याण शंकराभ्युदय	1620 ईस्वी
रामपाणिवाद	विष्णु विलास; राघवीय काव्य	1725 ईस्वी
भगवदाचार्य	भारत पारिजात (गाँधी चरित)	1940-25 ईस्वी
	पारिजातापहार (भारत छोड़ो)	
	पारिजात सौरभ (स्वाधीन भारत)	
	रामानन्द दिग्विजय	

132. द्विवेदी, कपिलदेव—संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ 254-263

अखिलानन्दशर्मा	दयानन्द दिग्विजय	20वीं शती पूर्वार्ध
भट्ट मथुरानाथ शास्त्री	जयपुर वैभव; गोविन्द वैभव	20वीं शती पूर्वार्ध
मथुरा प्रसाद शास्त्री	प्रतापविजय; भारत विजय	20वीं शती पूर्वार्ध
पण्डिता क्षमा राव	सत्याग्रह गीत; स्वराज्य विजयम्	20वीं शती पूर्वार्ध
डॉ. सत्यव्रत शास्त्री	बोधिसत्व चरित; इन्दिरा गांधी चरित	20वीं शती उत्तरार्ध
डॉ. रेवा प्रसाद द्विवेदी	सीता चरित	20वीं शती उत्तरार्ध
श्रीधर भास्कर वर्णेकर	शिवाराज्योदयम्	20वीं शती उत्तरार्ध
ब्रह्मानन्द शुक्ल	श्री नेहरू चरितम्	20वीं शती उत्तरार्ध

3

ऐतिहासिक काव्य एवं चम्पूकाव्य

सम्पूर्ण विश्व में उपलब्ध विभिन्न भाषाओं के वाङ्मयों में संस्कृत वाङ्मय प्राचीनतम है, यह तथ्य निर्विवाद है। भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की महत्ता एवं प्राचीनता पर भी कोई सन्देह नहीं करता। किन्तु यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में एक भी ऐसा ऐतिहासिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, जो 'इतिहास' शब्द की वर्तमान व्याख्या पर खरा उतरता हो, अथवा जिसमे तिथियों तथा घटनाओं का प्रामाणिक विवरण उपलब्ध होता हो। इसी कारण पाश्चात्य आलोचकों एवं विद्वानों ने यह सम्मति दे डाली कि भारतीय जन ऐतिहासिक भावना से परिचित ही न थे। डॉ. कीथ ने नितान्त असंगत रूप में यह तर्क प्रस्तुत किया कि 'किसी भी देश में राष्ट्रीयता की भावना ही इतिहास लेखन को परिपुष्ट करती है। भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना का अभाव रहा अतः ऐतिहासिक भावना स्वतः उपेक्षित रह गई।' किन्तु डॉ. कीथ अपने इस पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने के कारण भारत में प्राप्त विभिन्न ऐतिहासिक सामग्रियों—पुराण, बौद्ध एवं जैन ग्रन्थ, शिलालेख, प्रशस्तियों आदि—को भूल ही गए। यह धारणा नितान्त असंगत ही है कि भारत में इतिहास लेखन की परम्परा नहीं रही। संस्कृत साहित्य में तिथियों और घटनाओं से युक्त प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थों के अभाव का कारण दूसरा ही रहा है। वस्तुतः पुरातन भारतीय ऋषियों एवं विद्वानों ने ऐहिक जीवन को विशेष महत्त्व नहीं दिया। दार्शनिक तथ्यों से अनुप्राणित विचारधारा में यह भौतिक संसार नितान्त निःसार था। कर्मसिद्धान्त की प्रवलता, भाग्यवाद की प्रधानता, पूर्व जन्म तथा पुर्नजन्म के प्रति गहरी आस्था, पौराणिक चरित्रों के प्रति श्रद्धा तथा अवतार वाद के प्रति अन्ध निष्ठा आंदि अनेक कारणों से प्रेरित होकर भारतीय कवियों एवं लेखकों ने अपने आश्रयदाताओं अथवा अन्य राजाओं का तिथिसम्मत जीवन चरित लिखना औचित्यपूर्ण नहीं माना।

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक भावना अथवा इतिहास सम्बन्धी रचनाएँ नहीं है। पुराण और इतिहास को वेद के समकक्ष माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट आया है कि नारद मुनि ने सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखते समय अपनी अधीत विद्याओं में इतिहास-पुराण को पञ्चम वेद कहा।[1] निरुक्तकार

1. छान्दोग्य उपनिषद् 7/1 —ऋग्वेद भगवोऽध्येमि सामवेदमथर्वणम् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।

ने स्पष्ट कहा है कि ऋक् संहिता में ही इतिहास से मिश्रित मन्त्र है।[2] वेदार्थ का निरूपण करने वाले विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासकों का भी एक अलग सम्प्रदाय था, इसका स्पष्ट उल्लेख निरुक्त में प्राप्त होता है—'इति ऐतिहासिकः'। व्यास मुनि ने वेदार्थ ज्ञान के लिए इतिहास एवं पुराण की महत्ता का स्पष्ट कथन किया है।[3] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के साथ इतिहासवेद की गणना की है और इतिहासवेद में पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र को अन्तर्भूत किया है।[4] राजशेखर ने उपवेदों में इतिहास वेद को अन्यतम मानना है तथा परिक्रिया और पुराकल्प रूप में इतिहास के दो भेद किए हैं।[5] इन पुष्ट प्रमाणों के होते हुए संस्कृत वाङ्मय को इतिहास ग्रन्थ रहित अथवा भारतीयों को इतिहास की कल्पना से शून्य मानना निराधार कहलाएगा।

वस्तुतः इतिहास लेखन की पाश्चात्य धारणा एवं भारतीय इतिहास कल्पना में ही मौलिक अन्तर रहा है। पाश्चात्य इतिहास घटना प्रधान तथा तिथिसम्मत है जिसमें युद्ध आदि घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना ही मुख्य लक्ष्य है। किन्तु भारतीय इतिहास-कल्पना घटनावैचित्र्य को महत्त्व नहीं देती, वरन् जीवन के शाश्वत मूल्यों एवं सिद्धान्तों को महापुरुषों की जीवनियों में घटाते हुए राष्ट्र का सांस्कृतिक उत्थान करना ही चरम लक्ष्य मानती रही है।

फिर भी इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि संस्कृत साहित्य इतिहास ग्रन्थों से नितान्त शून्य है। भारतीय पुराणों में से यदि अतिरंजना एवं अतिशयोक्ति को हटा दिया जाए तो तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन के विशद चित्र प्राप्त होते हैं। रामायण और महाभारत तो वास्तविक अर्थ में इतिहास ग्रन्थ ही हैं। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में अनेकशः ऐतिहासिक व्यक्तियों, घटनाओं आदि का विवरण उपलब्ध होता है। प्राचीन राजाओं की प्रशस्तियों एवं अभिलेखों में भी ऐतिहासिक घटनाएँ एवं तिथियाँ प्राप्त होती हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे काव्य भी उपलब्ध होते हैं जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं एवं व्यक्तियों को ही इतिवृत्त रूप में ग्रहण किया गया है। उन्हीं प्रमुख ऐतिहासिक काव्यों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

बाणभट्ट

बाणभट्ट रचित 'हर्षचरित' को संस्कृत साहित्य के प्रथम ऐतिहासिक काव्य होने का गौरव प्राप्त है। 'हर्षचरित' काव्य में आठ उच्छ्वासों में बाणभट्ट ने आत्मकथा प्रस्तुत

---

2. निरुक्त 4/6—त्रितं कूपेऽवहितमेतन् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्रब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति।
3. महाभारत—इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
   बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥
4. अर्थशास्त्र—अथर्ववेदइतिहासवेदौ च वेदाः। पश्चिमं (अर्ह भाग) इतिहासश्रवणे पुराणमितिवृत्तमा-
   ख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः।
5. काव्यमीमांसा— परिक्रिया पुराकल्पः इतिहास-गतिर्द्विधा।
   स्यावेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका॥

की है, जिसका विवरण गद्यकाव्य अध्याय में बाणभट्ट का समय विवेचन करते समय प्रस्तुत किया गया है। तृतीय उच्छ्वास से ही बाणभट्ट हर्षवर्धन (606-648) के पूर्वजों का वर्णन प्रारम्भ कर देते हैं। इस उच्छ्वास में बाणभट्ट ने श्रीकण्ठ जनपद, राजधानी थानेश्वर, वंश के संस्थापक पुष्पभूति एवं उनके तान्त्रिक सहायक भैरवाचार्य का विस्तृत वर्णन किया है। चतुर्थ उच्छ्वास में हर्ष के पिता महाराज प्रभाकरवर्धन एवं उनकी पत्नी रानी यशोवती का वर्णन है। इन दोनों के प्रथम पुत्र राज्यवर्धन का जन्म 588 ई. में हुआ। इससे दो वर्ष बाद हर्ष का जन्म हुआ और हर्ष के जन्म के तीन वर्ष बाद उनकी बहन राज्यश्री का जन्म हुआ। रानी यशोवती के भाई का पुत्र 'भण्डि' राज्यवर्धन और हर्षवर्धन का सखा बन जाता है। कन्नौज के मौखरि राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ राज्यश्री का विवाह अत्यन्त राजसी वैभव के साथ कर दिया जाता है। पञ्चम उच्छ्वास में वर्धन राजकुमारों के शौर्य और विजय अभियानों का वर्णन है। 605 ई. में वर्धन साम्राज्य की उत्तरी सीमा पर हूणों ने आक्रमण किया, जिसके प्रतिरोध के लिए सेना सहित राज्यवर्धन को भेजा जाता है। हर्षवर्धन मृगया के लिए राजधानी से दूर वनप्रान्त में चला जाता है। वहीं एक दूत से पिता के असाध्य रोग को जानकर वह नगर वापस आता है। महाराज प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से पूर्व ही रानी यशोवती वैधव्य के भय से सती हो जाती है। षष्ठ उच्छ्वास में प्रथमतः राज्यवर्धन के लौटने तथा पिता-माता की मृत्यु से दुखी होकर छोटे भाई हर्ष को राज्यभार देकर स्वयं छुटकारा पाने के प्रयास का वर्णन है। किन्तु तभी यह समाचार प्राप्त होता है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से निःशंक बने मालवराज ने कन्नौज पर आक्रमण किया और ग्रहवर्मा को मारकर राज्यश्री को कारागार में बन्दी बना लिया है। इस समाचार से उत्तेजित होकर राज्यवर्धन ने हर्षवर्धन को राज्यभार सौंप कर मालवनरेश के विरुद्ध अभियान किया और उसे सहज ही परास्त कर दिया। किन्तु मालवराज के सहायक गौड़ राजा ने धोखे से राज्यवर्धन को मार डाला। हर्षवर्धन को यह समस्त घटनाक्रम जानकर विपुल क्लेश हुआ और उसने शत्रु से बदला लेने की गम्भीर प्रतिज्ञा की। सप्तम उच्छ्वास में राजा हर्षवर्धन अपनी विशाल सेना के साथ दिग्विजय हेतु प्रस्थान करता है। वह सेना सहित विन्ध्य प्रदेश पहुँच कर मालवराज को परास्त कर देता है। भण्डि मालवराज की सेना तथा कोष पर अधिकार कर लेता है। अष्टम उच्छ्वास में हर्षवर्धन एक शबर युवक की सहायता से अपनी बहन राज्यश्री की खोज करता है जो कारागार से छूटकर कहीं विन्ध्याटवी में भटक रही थी। हर्ष बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र के आश्रम में पहुँचता है जहाँ एक भिक्षु चिताग्नि में जलने के लिए तत्पर किसी दुखी स्त्री के सम्बन्ध में बताता है। हर्ष तुरन्त वहाँ जाकर अपनी बहन को मृत्यु से बचा कर दिवाकर मित्र के आश्रम में ले आता है। इसी स्थल पर बाण अपने ऐतिहासिक काव्य हर्षचरित को समाप्त कर देते हैं।

इस कथा सारांश से स्पष्ट होता है कि बाण ने हर्षवर्धन के पूर्ण जीवनवृत्त का चित्रण नहीं किया। किसी भी घटना की तिथि भी बाणभट्ट ने नहीं दी है। फिर भी बाणभट्ट ने हर्षचरित मे जिन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया है, वे प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग के वर्णनों से मेल खाती हैं। बाण ने हर्षचरित का अन्त आकस्मिक किया।

ह्वेन्सांग के संस्मरणों से ज्ञात होता है कि हर्ष ने प्राग्जोतिष (आसाम) के नरेश भास्करवर्मा की सहायता से गौड़नरेश को परास्त किया और उत्तरी भारत पर विजय पाने के उपरान्त 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण कर के तीस वर्ष शान्तिपूर्वक राज्य किया। किन्तु बाणभट्ट उन समस्त घटनाओं के सम्बन्ध में मौन हैं। 'हर्षचरित' काव्य के इस आकस्मिक अन्त के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

हर्षचरित काव्य के ऐतिहासिक वृत्तान्त सातवीं शती के भारत के इतिहास के शोध में विशेष सहायक सिद्ध होते हैं। हर्ष के राज्य में ब्राह्मणों और बौद्धों—दोनों का धर्म समान रूप से उन्नत था। तत्कालीन धार्मिक,सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के परिज्ञान में हर्षचरित की महती भूमिका है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में 'हर्षचरित' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

पद्मगुप्त परिमल

पद्मगुप्त परिमल ने लगभग 1005 ई. में 'नवसाहसाङ्कचरित' नामक महाकाव्य की रचना की। डॉ बलदेव उपाध्याय प्रभृति अनेक विद्वानों ने इसी काव्य को ऐतिहासिक काव्य परम्परा का प्रथम काव्य माना है[6] हर्षचरित को नहीं। पद्मगुप्त धारानेरश मुञ्ज के सभाकवि थे जो मुञ्ज की मृत्यु से निराश्रित हो गए। किन्तु मुंज के छोटे भाई सिन्धुराज (प्रसिद्ध राजा भोज के पिता) ने शासन का कार्यभार संभालने पर पद्मगुप्त को पुनः प्रतिष्ठित किया और उनका अभूतपूर्व सत्कार किया। सिन्धुराज ने अपना उपनाम 'नवसाहसांक' रखा था। सत्कृत एवं प्रसन्न पद्मगुप्त ने कृतज्ञता प्रकट करने के लिए नवसाहसांकचरित महाकाव्य की रचना करके अपने आश्रययदाता की कीर्ति को स्थायी बना दिया।

नवसाहसांकचरित महाकाव्य में 18 सर्ग हैं, जिनमें सिन्धुराज के द्वारा नागों के शत्रु वज्रांकुश को परास्त करके नागराज शंखपाल की पुत्री राजकुमारी शशिप्रभा से विवाह करने का विस्तृत एवं कवित्वमय वर्णन है। काव्य की दृष्टि से यह रचना नितान्त अलंकृत एवं रसमयी स्वीकार की गई है। कालिदास ने जिस सुकुमार मार्ग का प्रवर्तन किया था, वह अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ इस महाकाव्य में प्रगट हुआ है। भोजराम कृत 'सरस्वती कंठाभरण' तथा मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इस महाकाव्य के अनेक पद्य उद्धृत किए गए हैं। किन्तु साहित्यिक दृष्टि के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह महाकाव्य अत्यन्त उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण है। इस महाकाव्य से तत्कालीन इतिहास के अनेक विश्वसनीय तथ्य ज्ञात होते हैं जिनकी पुष्टि शिलालेखों से भी होती है। पद्मगुप्त ने अपने महाकाव्य के 12वें सर्ग में सिन्धुराज से पूर्ववर्ती समस्त परमारवंशी राजाओं का समयक्रम से वर्णन किया है। इस प्रकार यह महाकाव्य परमारों के इतिहास के लिए नितान्त उपादेय है।

6. उपाध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 279

बिल्हण

जैसलमेर के प्रसिद्ध जैनमन्दिर में स्थित जैन ज्ञान कोष भण्डार से डॉ. ब्यूहलर को 'विक्रमांकदेवचरित' नामक महाकाव्य की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। इसके रचयिता महाकवि बिल्हण थे जिन्होंने लगभग 1085 ई. में इस महाकाव्य की रचना की। ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में यह भी एक महत्त्वपूर्ण काव्य है।

इस महाकाव्य में 18 सर्ग हैं। इसके अन्तिम सर्ग में बिल्हण ने कश्मीर के राजाओं का वर्णन करने के उपरान्त अपना चरित भी प्रस्तुत किया है। कश्मीर की तत्कालीन राजधानी प्रवरपुर के समीप एक छोटे से ग्राम खोनमुष अथवा खोनमुख में बिल्हण का जन्म हुआ। बिल्हण का वंश कौशिक गोत्रीय श्रेष्ठ ब्राह्मणों का था, जिसमें इनके प्रपितामह मुक्तिकलश, पितामह राजकलश एवं पिता ज्येष्ठकलश अपनी विद्वत्ता के कारण प्रसिद्ध एवं सम्माननीय थे। बिल्हण की माँ का नाम नागादेवी था। बिल्हण में जन्मजात प्रतिभा थी तथा उपनयन संस्कार के उपरान्त उन्होंने वेद, वेदांग, व्याकरण शास्त्र तथा साहित्य विद्या में अगाध पाण्डित्य अर्जित किया। विद्याध्ययन के पश्चात् बिल्हण घर से निकल पड़े तथा मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, काशी, अन्हिलवाड़ आदि स्थानों पर पारम्परिक विद्वानों को विभिन्न शास्त्रार्थों में पराजित करके अपनी कीर्ति पताका फहराते हुए दक्षिण भारत में कल्याण नगर के प्रसिद्ध चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य षष्ठ (1076-1127) की सभा में पहुँचे। विद्वान् एवं गुणग्राही राजा ने स्वागत करके बिल्हण को अपना सभापण्डित बनाया और इनको 'विद्यापति' की उपधि दी।

विक्रमांकदेवचरित महाकाव्य में बिल्हण ने अपना आश्रयदाता चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य का चरित वर्णन किया। महाकाव्य के प्रारम्भ में कवि ने मंगलाचरण के अनन्तर सुकवि प्रशंसा एवं दुष्ट निन्दा के अनेक सुन्दर श्लोक लिखे हैं। काव्य में केवल दोषान्वेषण करने वाले आलोचकों पर तीव्र कटाक्ष करते हुए बिल्हण ने उन्हें ऐसे ऊँट की उपमा दी है, जो केलिवन में प्रविष्ट होकर भी केवल काँटों को ही खोजता है—

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान्खलानाम्।
निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलकः कंटकजालमेव॥ (1/29)

काव्य की दृष्टि से बिल्हण वैदर्भी मार्ग के कवि हैं। रमणीय कवित्व, विशद भावाभिव्यंजना, सुकुमार पदविन्यास, सरसता एवं दृष्टान्तों की अनुरूपता बिल्हण के काव्य की विशिष्टताएँ हैं।

विक्रमांकदेवचरित महाकाव्य के प्रारम्भिक छह सर्गों में ऐतिहासिक सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। दक्षिण भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का विशद परिचय इस कृति से प्राप्त होता है। बिल्हण ने जिन घटनाओं का वर्णन किया है, उनकी पुष्टि कल्याण के चालुक्यवंशी राजाओं के शिलालेखों से भी होती है। इस काव्य से यह काव्य चालुक्यवंशी नरेशों का इतिहास जानने के लिए अत्यन्त उपादेय बन गया है। इस दृष्टि से दक्षिण भारत के चोलों और चालुक्यों के परस्परिक सम्बन्ध पर भी प्रकाश पड़ता है। किन्तु बिल्हण ने कहीं भी घटनाओं की तिथियाँ सूचित नहीं कीं। यही नहीं, उन्होंने

घटनाओं को अलौकिक एवं पौराणिक प्रसंगों से अतिरंजित भी कर दिया। इन्हीं कारणों से इस महाकाव्य का ऐतिहासिक महत्त्व तनिक कम हो गया है।

कल्हण

ऐतिहासिक काव्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक महाकाव्य 'राजतरंगिणी' के रचयिता महाकवि कल्हण थे। वस्तुत: संस्कृत में क्रमबद्ध इतिहास लेखन का यह प्रथम कार्य माना जाना चाहिए। प्राचीन कश्मीर के इतिहास को जान सकने के लिए यह एक महनीय काव्य ग्रन्थ है। डॉ. बलदेव उपाध्याय के अनुसार 'राजतरंगिणी काश्मीर के राजनैतिक इतिहास, भौगोलिक विवरण, सामाजिक व्यवस्था, साहित्यिक समृद्धि तथा आर्थिक दशा जानने के लिए सचमुच एक विश्वकोष है।'

कल्हण के पिता चणपक अथवा चम्पक कश्मीर के तत्कालीन राजा हर्ष के मन्त्री थे। राजनीतिक कुचक्रों में राजा हर्ष की निर्मम हत्या से दुखी होकर कल्हण के पिता ने राजनीतिक जीवन से संन्यास ले लिया। कल्हण का संस्कृत नाम कल्याण था। चाहने पर कल्हण भी राज्य के उच्च अधिकारी का पद प्राप्त कर सकते थे,किन्तु कश्मीर की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति के षड्यन्त्र, अनाचार, रक्तपात और अत्याचार में लिप्त न होकर कल्हण ने राजगाथा लिखना ही ठीक समझा। इसीलिए कल्हण घटनाओं के निष्पक्ष अवलोकन में समर्थ हो सके। राजतरंगिणी में सुस्सल के पुत्र जयसिंह (1127-1159 ई.) को तत्कालीन राजा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्वयं कल्हण का कथन है कि उसने इस ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना केवल दो वर्ष में पूर्ण कर दी थी। कल्हण ने महाकवि बिल्हण एवं उनके विक्रमांकदेवचरित का समसामयिक रूप में सादर उल्लेख किया है और उन्हें प्रामाणिक माना है।[7]

काश्मीर के राजाओं का वास्तविक इतिहास प्रस्तुत करना ही कल्हण को अभिप्रेत रहा है। अपनी ग्रन्थ रचना का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कल्हण ने स्पष्ट लिखा है कि 'पूर्णत: निर्दोष और सत्य इतिहास को प्रकट करने के लिए ही मैं यह उद्यम कर रहा हूँ'—

दाक्ष्यं कियदिदं तस्मादस्मिन्भूतार्थवर्णने।
सर्वप्रकारं स्खलिते योजनाय ममोद्यम:॥ (1/10)

इसीलिए राजतरंगिणी में किसी विशेष राजा की या किसी वंशविशेष की अतिशयोक्तिमय गाथा-मात्र नहीं है, अपितु काश्मीर के पूरे समाज का अत्यन्त विस्तृत इतिहास है। राजतरंगिणी में आठ खण्ड या तरंग तथा 7826 श्लोक हैं। इनमें से आठवाँ तरंग परिमाण में सम्पूर्ण ग्रन्थ के आधे से भी अधिक है। कल्हण ने आदिकाल से लेकर सन् 1151 ई. तक के प्रत्येक कश्मीरराज के शासनकाल की घटनाओं का क्रमिक विवरण दिया है। **प्रथम तरंग** में गोनन्द प्रथम से लेकर अन्ध युधिष्ठिर तक 75 राजाओं के शासन का संक्षिप्त वर्णन है। **द्वितीय तरंग** में छह राजाओं के 192 वर्षों का शासन वर्णित है। **तृतीय तरंग** में गोनन्द वंश के अन्तिम राजा आतादित्य तक के दस राजाओं के 536 वर्ष के राज्यकाल का संक्षिप्त विवरण है। कर्कोटक वंश के प्रथम राजा दुर्लभवर्धन के

7. राजतरंगिणी—7/935--937

राज्याभिषेक से **चतुर्थ तरंग** प्रारम्भ होता है तथा इसमें 260 वर्षों से तनिक अधिक समय तक राज्य करने वाले 17 नरेशों का शासन प्रस्तुत किया गया है। **पञ्चम तरंग** में उत्पल वंश के शासन का सूत्रपात अवन्तिवर्मा के राज्यारोहण से होता है। अवन्तिवर्मा ने 836 ई. से 883 ई. तक कश्मीर पर शासन किया था। इसके अतिरिक्त तीन और राजा-रानियों के शासन का चित्रण **पञ्चम तरंग** में है। **षष्ठ तरंग** में 936 ई. से 1003 ई. तक का कश्मीर का इतिहास वर्णित है, जिसमें राजा यशस्कर से लेकर रानी दिद्दा तक के दस नरेशों का शासनकाल प्रस्तुत किया गया है। **सप्तम तरंग** में 1003 ई. से 1101 ई. तक के लोहर वंश के राजा हर्ष तक छह राजाओं का राज्यकाल वर्णित है। अन्तिम **अष्टम तरंग** में सातवाहन वंश के उच्चल, सुस्सल, भिक्षाचर और जयसिंह आदि राजाओं की जीवनगाथा है। मुख्यत: यही तरंग कश्मीर के तत्कालीन इतिहास का ज्ञान कराता है।

राजतरंगिणी के प्रारम्भिक खण्डों में वर्णित राजागण इतिहास की दृष्टि से प्रामाणिक नहीं हैं। किन्तु क्रमश: आगे बढ़ते बढ़ते कल्हण का इतिहास लेखन अधिक प्रामाणिक होता चला गया है। प्रारम्भिक तरंगों में राजाओं का निर्देश बिना किसी तिथि के ही किया गया है। नवीं शती ईस्वी के पूर्व का इतिहास अपूर्ण एवं अस्पष्ट सा है। चतुर्थ तरंग में सर्वप्रथम निर्दिष्ट तिथि 813-14 ईस्वी है। तब से 1150 ई. तक लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों का कश्मीर का इतिहास पूर्णतया ऐतिहासिक शैली पर लिखा गया है। यह सम्पूर्ण इतिहास अत्यन्त वैज्ञानिक, विशेष प्रामाणिक तथा सर्वत्र तिथि समेत है। विशेषतया अन्तिम शती का वर्णन विस्तृत, स्पष्ट, घटना बहुल तथा निष्पक्ष है। यदि केवल इन तीन-साढ़े तीन सौ वर्षों के इतिहास की दृष्टि से तुलना की जाए, तो कल्हण का स्थान बाणभट्ट, पद्मगुप्त तथा बिल्हण की अपेक्षा कहीं ऊँचा है।[8]

कल्हण की राजतरंगिणी से स्पष्ट ज्ञात होता है कि काश्मीर में इतिहास लेखन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन थी। कल्हण ने ऐसे अनेक लेखकों तथा ग्रन्थों का उल्लेख किया है। स्वयं कल्हण ने राजतरंगिणी को लिखने में इतिहासवेत्ता की शोधक दृष्टि का अवलम्बन किया है। कल्हण ने जिन प्राचीन ग्यारह इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों की सामग्री का अन्वेषणपूर्वक प्रयोग अपने ग्रन्थ में किया, उनमें से सम्प्रति 'नीलमत पुराण' ही उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त कल्हण ने विभिन्न हस्तलिखित ग्रंथों, प्रशस्तियों, दानपत्रों, अधिकार पत्रों और शिलालेखों को भी अपने ग्रंथ का आधार बनाया।[9] प्राचीन सिक्कों, स्थानीय

8. दास गुप्ता एवं दे—अ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 357

"It will be seen that the scope of Kalhana's work is comprehensive, but its accomplishment is uneven. If the earlier part of his chronicle is defective and unreliable and if his chronology is based upon groundless assumptions, he does not move in the high clouds of romance and legend when he comes nearer his own time but attains a standard of vividness and accuracy like which there is nothing any where in sanskrit literature, nothing in his predecessors Bana, Padma Gupta or Bilhana."

9. राजतरंगिणी 1/14— दृग्गोचरं पूर्वसूरिग्रन्थाः राजकथाश्रयाः।
मम त्वेकादश गता मतं नीलमनेरपि॥

जनश्रुतियों तथा परम्पराओं से भी कल्हण को ग्रंथ रचना में सहायता प्राप्त हुई। इस प्रचुर सामग्री की सम्पूर्ण खोजबीन के पश्चात् लिखी गई राजतरंगिणी इसी कारण इतिहास-दृष्ट्या प्रामाणिक मानी जाती है।

महाकवि कल्हण ने काश्मीर की संस्कृति का विशद चित्रण किया है। उस समय काश्मीर में हिन्दूधर्म के साथ बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त एवं पाशुपत सम्प्रदाय भी प्रचलित थे। घटनाओं के वास्तविक वर्णन में कल्हण की दृष्टि खरे एवं निष्पक्ष इतिहासविद् की रही है। उन्होंने उसी गुणवान् कवि की वाणी की प्रशंसा की है जो घटनाओं के वास्तविक स्वरूप कथन में राग एवं द्वेष से परे रहकर वर्णन कर सके—

श्लाघ्यः स एवं गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥ (1/7)

इसी निष्पक्ष दृष्टि के कारण कल्हण ने स्वयं काश्मीरी होते हुए भी काश्मीरियों के परस्पर कलह, पक्षपात, दुराग्रह, भीरुता, क्षुद्रता, मिथ्याभाषण तथा कपटवंचकता का यथातथ्य चित्रण प्रस्तुत किया है। कल्हण स्वयं शैव थे तथा तन्त्र में परम आस्था रखते थे। किन्तु तान्त्रिकों के दुराचार का उन्होंने खूब ही भण्डाफोड़ किया है।

कल्हण की राजतरंगिणी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही काव्यगत सुषमा एवं गुणों से भी सम्पन्न है। इसमें संवाद अत्यन्त सुन्दर हैं तथा चरित्रचित्रण सफल। इस काव्य में विलक्षण सरलता भी है और हृदय को अनायास आकृष्ट कर लेने की अद्भुत क्षमता भी। जीवन के विभिन्न अनुभवों ने कल्हण के काव्य को अत्यन्त समृद्ध कर दिया है। एक उदाहरण देखिए—

क्षुत्क्षामस्तनयो वधूः परगृहप्रेष्यावसन्नः सुहृद्
दुग्धा गौरशनाद्यभावविवशा हम्बारवोद्गारिणी।
निष्पथ्यौ पितरावदूरमरणौ स्वामी द्विषन्निर्जितो
दृष्टो येन परं न तस्य निरये प्राप्तव्यमस्त्यप्रियम्॥

'जिस ने भूख से व्याकुल पुत्र को, परगृह में दासीकर्म करती अपनी पत्नी को, आपत्ति में पड़े मित्र को, दुही जाने के बाद चारा न मिलने से रम्भाती हुई गौ को, पथ्य के अभाव में मरणासन्न माता पिता को और शत्रु से विजित अपने स्वामी को देख लिया, उस व्यक्ति को नरक में भी इससे अधिक अप्रिय देखने को क्या मिलेगा?'

होनी की प्रबलता पर अटल विश्वास करने वाले कल्हण का यह कथन कितना मार्मिक एवं सत्य है—

पलायनैर्नापयाति निश्चला भवितव्यता।
देहिनः पुच्छसंलीना वह्निज्वालेव पक्षिणः॥

'जिस प्रकार पक्षी के पूँछ में लगी हुई अग्नि उसके भागने पर भी साथ ही रहती है उसी प्रकार मनुष्य के भागने पर भी अटल भवितव्यता व्यक्ति का पीछा नहीं छोड़ती।'

कल्हण ने राजतरंगिणी की रचना अधिकांशतया अनुष्टुप् छन्द में की है। वर्णन को प्रभावोत्पादक एवं रुचिर बनाने के लिए कहीं कहीं छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। विभिन्न समयों पर राजतरंगिणी के फारसी भाषा में भी अनेक अनुवाद होते रहे हैं।

अन्य ऐतिहासिक काव्य—

कल्हण के अनन्तर रचे गए ऐतिहासिक काव्यों में अधिकांशत: जैन कवियों का योगदान रहा है। ग्यारहवीं शती के जैन आचार्य हेमचन्द्र ने 'कुमारपालचरित' नामक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना की, जिसमें गुजरात के राजाओं का चरित अपने आश्रयदाता कुमारपाल तक निबद्ध किया। यह महाकाव्य 'द्वयाश्रय काव्य' भी कहलाता है क्योंकि इसके प्रारम्भिक 20 सर्ग संस्कृत में और अन्तिम आठ सर्ग प्राकृत में रचित हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इसमें संस्कृत एवं प्राकृत व्याकरण को समझाया है। इस महाकाव्य का साहित्यिक मूल्य तो नगण्य ही है किन्तु गुजरात के इतिहास का नितान्त प्रामाणिक विवरण इस महाकाव्य में उपलब्ध होने से इसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत बढ़ गया है। अरिसिंह ने 1225 ई. में 'सुकृत संकीर्तन' नामक महाकाव्य की रचना की, जिसमें एकादश सर्गों में गुजरात के प्रसिद्ध आमात्य वस्तुपाल के विभिन्न धार्मिक कृत्यों तथा उनके द्वारा निर्मित विभिन्न मन्दिर निर्माणों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। गुजरात के ही सोमेश्वर देव (1179-1262 ई.) ने 'कीर्तिकौमुदी' में आमात्य वस्तुपाल का जीवन चरित लिखा। अनेक विद्वान् इस ग्रंथ को काव्य को अपेक्षा चम्पू अधिक मानते हैं। सोमेश्वर देव ने 'सुरथोत्सव' नामक एक और काव्य की रचना की, जिसमें महाकवि बाण की भाँति अपने वंश का भी परिचय दिया। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य ऐतिहासिक काव्य और प्राप्त होते हैं।

सन्ध्याकरनन्दी ने पालवंशीय नरेश रामपाल (1084-1130 ई.) की जीवनी 'रामपालचरित' में श्लिष्ट पद्यों में प्रस्तुत की। सर्वानन्द ने 'जगडूचरित' (1256 ई.) की रचना की। इसमें तेरहवीं शती के मध्य में गुजरात में पड़े उस भयंकर दुर्भिक्ष का सजीव चित्रण है, जिसमें जगडूशाह नामक परोपकारी जैन व्यक्ति ने अपनी उदारता से हजारों व्यक्तियों को मृत्युमुख से बचा लिया। गंगादेवी ने 14वीं शती में 'मधुरा विजय' अथवा 'वीरकम्परायचरित' की रचना की। विजयनगर साम्राज्य के प्रारम्भिक काल से सम्बद्ध घटनाओं के ज्ञान के लिए इस काव्य का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि गंगादेवी कम्पराय की रानी थी। नयनचन्द्र सूरि ने 15वीं शती के उत्तरार्ध में 'हम्मीर महाकाव्य' रचा जिसमें चौदह सर्गों मे चौहान नरेश हम्मीर का वर्णन प्राप्त होता है। विजयनगर के अच्युतराय के राज्य की घटनाओं, विजयों तथा अन्य विवरणों को जानने के लिए राजनाथ डिंडिम कवि 'अच्युतराजाभ्युदय' महाकाव्य अत्यन्त उपादेय है। बारह सर्गों के इस काव्य का समय 16वीं शती का मध्यभाग है, क्योंकि राजनाथ अच्युतराय के सभापण्डित थे। कुछ लेखकों ने राजतरंगिणी को ही आगे बढ़ाया। जोनराज (मृत्यु 1459 ई.) ने कल्हण की ही शैली में राजतरंगिणी का विस्तार सुल्तान जैनुलाबिदीन (1421 से 1472 ई.) के शासनकाल तक किया। जोनराज के शिष्य श्रीवर ने 'जैनराजतरंगिणी' के चार भागों में 1159 से 1186 तक के काल का इतिहास लिखा। प्राज्यभट्ट तथा उनके शिष्य शुक ने 'राजावलिपताका' में अकबर के द्वारा कश्मीर को अपने साम्राज्य में मिला लेने के कुछ समय बाद तक की घटनाओं का विवरण दिया। किन्तु इन सभी में मौलिकता की कमी रही। कल्हण के कवित्व स्तर तक कोई नहीं पहुंच सका।

सन् 1925 ई. मे महामहोपाध्याय टी.गणपति शास्त्री ने 'आर्यमञ्जुश्रीकल्प' नामक

ऐतिहासिक काव्य की खोज की। इस ग्रन्थ की रचना 800 ई. के लगभग हुई थी। इसमें लगभग 700 ई. पू. से लेकर 770 ई. तक का इतिहास वर्णित है। वस्तुत: यह महायान बौद्ध सम्प्रदाय का ग्रन्थ है जिसमें बुद्ध के मुख से भारतवर्ष के सम्राटों का वर्णन भविष्यकाल में कराया गया है।

वाक्पतिराज—इस महाकवि ने महाराष्ट्री प्राकृत में 'गउडवहो' (गौडवध) नामक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना की थी। वाक्पतिराज कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित तथा भवभूति के समकालीन कवि थे। प्राकृत में रचे जाने पर भी काव्य में संस्कृत महाकाव्यों की सी वर्णनरीति का अनुसरण किया गया है। 'गौडवहो' काव्य राजा यशोवर्मा की एक गौड राजा पर विजय का वर्णन है। किन्तु यह काव्य अपूर्ण ही है। यह तथ्य इतिहास प्रसिद्ध है कि कश्मीर नरेश ललितादित्य (724-760 ई.) ने 734 ई. में यशोवर्मा को पराजित कर दिया था और ललितादित्य के हाथों ही यशोवर्मा की मृत्यु हुई थी। 'गउडवहो' काव्य के अपूर्ण रहने में यह भी सम्भावना है कि नायक यशोवर्मा के अपकर्ष को सूचित न करने के लिए वाक्यपतिराज ने उसे अधूरा ही छोड़ दिया हो। इसका रचनाकाल 736 ई. माना जाता है।

'गउडवहो' काव्य ऐतिहासिक होते हुए भी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों को अधिक उजागर नहीं करता। इस काव्य का साहित्यिक मूल्य अधिक आँका जाता है।

चम्पूकाव्य

गद्य एवं पद्य के समानुपातिक मिश्रित काव्य को संस्कृत साहित्य में 'चम्पूकाव्य' का अभिधान दिया गया। विभिन्न आलंकारिकों ने गद्य तथा पद्य के मिश्रित काव्य रूप को मिश्रकाव्य कहा था। नाटक आदि मिश्र दृश्यकाव्य के रूप हैं[10], किन्तु चम्पूकाव्य मिश्र श्रव्यकाव्य का रूप है। इसकी परिभाषा सर्वप्रथम काव्यादर्श में दण्डी ने प्रस्तुत की।[11] उसी परिभाषा को साहित्यदर्पणकार ने लगभग ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर दिया।[12] किन्तु परिभाषा से चम्पूकाव्य का स्वरूप सम्यक्तया स्पष्ट नहीं हो पाता। चम्पूकाव्य के उपलब्ध उदाहरण दण्डी के लगभग ढाई सौ वर्ष बाद से मिलने प्रारम्भ होते हैं। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि चम्पूकाव्य कथानकबद्ध गद्य पद्य मिश्रित काव्य रूप है। एक ओर तो यह चम्पूकाव्य कथा, आख्यायिका आदि से भिन्न है; क्योंकि कथा आदि में पद्यों का प्रयोग उपदेश अथवा नीतिकथन के रूप में किया जाता है, किन्तु चम्पू में गद्य और पद्य प्राय: समानुपात होते हैं। पद्य भी गद्यभाग की ही भाँति कथानक से सम्बद्ध होकर ही प्रस्तुत होते चलते हैं। दूसरी ओर चम्पूकाव्य गद्य पद्य मिश्रित विरुद नामक काव्य भेद से भी भिन्न होता है जिनमें किसी राजा की प्रशस्ति पाई जाती है।[13] चम्पू काव्य में गद्य पद्य

10. काव्यादर्श 1/31—मिश्राणि नाटकादीनि।
11. काव्यादर्श 1/31—गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते।
12. साहित्यदर्पण 6/336—गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।
13. साहित्यदर्पण 6/337—गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते।

के सम्मिश्रण से उत्पन्न रमणीयता का एक विशिष्ट कारण है। डॉ. बलदेव उपाध्याय के शब्दों में "गद्यकाव्य अर्थ के गौरव तथा वर्णन की दृष्टि से महत्त्व रखता है, तो पद्यकाव्य अपनी छन्दोबद्धता से जायमान गेयता और लय सम्पत्ति से समृद्ध होता है। इन दोनों का मिश्रण वस्तुतः एक नूतन चमत्कार का, अद्भुत कमनीयता का सर्जन करता है।"[14]

चम्पू में गद्य और पद्य का वैसा ही सुन्दर पारस्परिक सम्बन्ध पाया जाता है, जैसा संगीत में वाद्य के सहयोग से गीत का। भोजराज ने 'रामायण चम्पू' में चम्पू काव्य की प्रशंसा करते हुए यही उदाहरण प्रस्तुत किया है—(चम्पू रामायण, बालकाण्ड 3)—

गद्यानुबन्धसंमिश्रितपद्यसूक्तिः
हृद्यापि वाद्यकलया कलितेव गीतिः।
तस्माद्दधातु कविमार्गजुषां सुखाय
चम्पूप्रबन्धरचनां रसना मदीया॥

अर्थात् "गद्य से सम्बद्ध होने पर पद्यात्मक कथन उसी प्रकार मनोहर एवं आनन्ददायक हो जाते हैं जैसे वाद्ययन्त्रों के सहयोग से गीत मधुर हो जाता है। इसलिए कविमार्ग का अनुरण करने वाले रसिकों को सुख देने के लिए मेरी रसना चम्पू प्रबन्ध की रचना में प्रवृत्त हो।"

इस चम्पू विधान में प्रयुक्त गद्यावली और पद्य परम्परा का संयुक्त विधान प्रमोद एवं हर्ष प्रकर्ष का आवाहन करता है इसीलिए चम्पू विधा बाल तारुण्य से सम्पन्न किशोरी की भाँति अधिक रसोत्पादक होती है।[15] मानव हृदय की रागात्मक वृत्ति के प्रबोधक भाव छन्द के माध्यम से चारुतापूर्वक प्रस्तुत हो जाते हैं और बाह्य वस्तु चित्रण में गद्य का माध्यम अपने विशिष्ट सामर्थ्य को प्रगट करता है। यही कारण है कि विभिन्न चम्पू काव्य रचयिताओं ने चम्पू के सम्बन्ध में अनेक विशेषणों का प्रयोग किया; यथा यह 'मधु एवं द्राक्षा के संयोग के तुल्य मधुमय', 'पद्मरागमणि के साथ गुम्फित मुक्तामाल के सदृश आकर्षक', 'जलविहार के समान आनन्दप्रद', 'सुधा तथा मद्य के संयोग के समान हृदयावर्जक' और 'कोमल किसलय कलित तुलसीमाला के सदृश मनमोहक' है।

विद्वानों ने चम्पू शब्द की जो व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है उससे भी चम्पूकाव्य का गद्य पद्य सम्मिश्रित स्वरूप ही प्रगट होता है। चम्पयति अर्थात् सहैव गमयति प्रयोजयति गद्यपद्ये इति चम्पूः। हरिदास भट्टाचार्य ने चम्पू शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—चमत्कृत्य पुनाति, सहृदयान् विस्मयीकृत्य प्रसादयति इति चम्पूः। भट्टाचार्य की इस व्याख्या की दृष्टि से चम्पूकाव्य में शब्द चमत्कार और अर्थ प्रसाद गुण होना चाहिए।

उद्भव एवं विकास—वस्तुतः काव्य की इस विधा का नाम चम्पू किस प्रकार पड़ा, इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। वैदिक युग से ही गद्य एवं पद्य का सामञ्जस्यपूर्ण सम्मिश्रण दृष्टिगोचर अवश्य होता है अथर्ववेद में गद्य और पद्य का मिश्रित रूप में प्रयोग

14. उपाध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 412
15. जीवन्धर चम्पू 1/6— गद्यावली पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राग् बाल्यतारुण्यवतीव कन्या॥

किया गया है। कृष्ण यजुर्वेद की अनेक शाखाओं—तैत्तिरीय, मैत्रायणी तथा कठ—में गद्य-पद्य का मिश्रण देखने को मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्रोपाख्यान में तो चम्पूकाव्य की सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। उपनिषदों की शैली भी गद्यपद्यमयी है। महाभारत में अनेक स्थलों पर पद्यों के बीच गद्य का प्रयोग किया गया है। श्रीमद्भागवात में तो गद्य-पद्य का यह सुन्दर सम्मिश्रण और भी अधिक है। बौद्धों के अवदानशतक, दिव्यावदान तथा जातकमाला ग्रन्थों में चम्पूतत्त्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। प्रयाग स्तम्भ की हरिषेण कृत समुद्रगुप्त प्रशस्ति में गद्य पद्यमयी शैली ही है। इस प्रकार वैदिक युग से निरन्तर ग्रन्थों में गद्य पद्य सम्मिश्रित शैली के दर्शन होते हैं। जैसा कहा जा चुका है कि चम्पूकाव्य की परिभाषा सर्वप्रथम आचार्य दण्डी (सातवीं शती ईस्वी का उत्तरार्ध) के 'काव्यादर्श' में प्राप्त होती है। इसी से प्रमाणित होता है कि दण्डी से पूर्व संस्कृत चम्पूकाव्यों की रचना अवश्य हो चुकी थी। किन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि सम्प्रति दसवीं शती ईस्वी से पहले का कोई भी चम्पूकाव्य उपलब्ध नहीं होता। अत: चम्पूकाव्यों की परम्परा में प्रमुख चम्पूकाव्यों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

त्रिविक्रमभट्ट

'नलचम्पू' नामक प्रसिद्ध चम्पूकाव्य इास परम्परा का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थरत्न है। इसके रचयिता महाकवि त्रिविक्रमभट्ट थे। इस चम्पू का दूसरा नाम 'दमयन्तीकथा' भी है। नलचम्पू का रचनाकाल 915 ईस्वी के लगभग माना जाता है; क्योंकि राष्ट्रकूट के राजा इन्द्र तृतीय का 915 ईस्वी का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसके लेखक त्रिविक्रमभट्ट ही हैं।[16] त्रिविक्रमभट्ट ने 'मदालसा चम्पू' नामक एक और ग्रन्थ की रचना की थी, किन्तु वह प्रसिद्ध न हो सका। नलचम्पू के प्रारम्भ मे त्रिविक्रमभट्ट ने अपना वंशपरिचय भी दिया है। जिसके अनुसार ये ब्राह्मण कुलोत्पन्न थे तथा बाल्यकाल में मन्दबुद्धि होने पर भी इन्होंने अत्यन्त कठिन परिश्रम करके विद्वता प्राप्त की।[17]

'नलचम्पू' में सात उच्छ्वास हैं। कवि ने इसे अपूर्ण ही छोड़ दिया है। ऐसी किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि त्रिविक्रमभट्ट के पिता नेमादित्य प्रसिद्ध एवं यशस्वी विद्वान् थे तथा एक राजा के सभापण्डित थे। एक बार पिता की अनुपस्थिति में उनको किसी अन्य कवि ने ललकारा। त्रिविक्रमभट्ट ने सरस्वती की कृपा से उस कवि को पराजित करके अपने पिता के गौरव को अक्षुण्ण रखा। इसी के बाद त्रिविक्रमभट्ट ने नलचम्पू की रचना प्रारम्भ की। वे सात उच्छ्वासों तक ही ग्रन्थ रचना कर पाए थे कि पिता वापस लौट आए। पिता के लौट आने पर त्रिविक्रमभट्ट ने रचना को अपूर्ण ही छोड़ दिया। कवि ने प्रत्येक उच्छ्वास के अन्तिम पद्य में कविभावचिह्न के रूप में 'हरचरणसरोज' पद का प्रयोग किया है।

इस चम्पूकाव्य में नल दमयन्ती की प्रसिद्ध प्रणयकथा उपनिबद्ध है। यह ग्रन्थ ही

16. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग 9, पृ. 32— श्रीत्रिविक्रमभट्टेन नेमादित्यस्य सुनुना।
कृता शस्ता प्रशस्तेयं इन्द्राजाङ्घ्रिसेविना॥

17. नलचम्पू—1/19.....23

अपूर्ण है अतः यह प्रसिद्ध कथा भी अपूर्ण रह गई है। इसमें देवों का संवाद लेकर नल के दमयन्ती के प्रासाद में पहुँचने तथा दोनों के साक्षात्कार एवं पारस्परिक आसक्ति तक की कथा है। काव्य में कथा ऐसे स्थल पर अचानक ही समाप्त कर दी गई है जिससे पाठक का कुतूहल पूर्णतया शान्त नहीं हो पाता, अतः रसास्वाद ही भंग हो जाता है।

यह काव्य सुन्दर, कमनीय एवं प्रभावोत्पादक श्लेष प्रयोग के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। त्रिविक्रमभट्ट की शैली सुबन्धु के सदृश ही कठिन एवं श्लेषप्रधान है, किन्तु दोनों कवियों में पर्याप्त अन्तर है। सुबन्धु अपने काव्य को 'प्रत्यक्षरश्लेष-मय-प्रपश्च' रचने की प्रतिज्ञा निर्वाह में रसनिर्झर से दूर चले गए। उन्होंने 'वासवदत्ता' में अप्रसिद्ध और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग अधिकतापूर्वक किया; साथ ही श्लेष के प्रपश्चजाल में फँसकर सुबन्धु का काव्य जटिल, दुरूह तथा कदाचित् नीरस हो गया। किन्तु त्रिविक्रमभट्ट ने अपने काव्य को इस दोष से सायास बचाए रखा। मञ्जुल शब्दविन्यास एवं रमणीय पदशय्या ने 'नलचमपू' को नितान्त सरस बना दिया है। त्रिविक्रमभट्ट ने 'नलचम्पू' में सभंगश्लेष का जैसा सुन्दर प्रयोग किया है, वैसे उदाहरण संस्कृत में अन्यत्र सरलतापूर्वक प्राप्त नहीं होते। इस महाकवि ने वाल्मीकि रामायण की प्रशंसा करते हुए विरोधाभास तथा श्लेष अलंकार की जो छटा प्रस्तुत की है, वह सहृदयों को निरन्तर ही आह्लादित करती रहती है— (नलचम्पू 1/11)

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा॥

अर्थात् 'दोष युक्त (दूषण नामक राक्षस से युक्त) होने पर भी निर्दोष तथा कठोर (खर नामक राक्षस से युक्त) होने पर भी अत्यन्त कोमल उस मनोहर रामायण कथा की रचना करने वाले (वाल्मीकि) को नमस्कार है।

एक और सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें वाणी एवं पत्नी में समान विशेषणों का श्लेषात्मक आधान करके महाकवि ने अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है—(नलचम्पू 1/4)—

प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः॥

अर्थात् 'बहुत पुण्यों से ही किसी व्यक्ति के मुख में ऐसी वाणी और घर में ऐसी स्त्री का निवास होता है (वाणी पक्ष में) जो प्रसाद गुण से युक्त हो, सुन्दर पदावली के कारण मनोहर हो और विभिन्न श्लेष प्रयोग में निपुण हो; अथवा (स्त्री पक्ष में) जो प्रसन्न चित्त रहती हो, सुन्दर कान्तियुक्त देह के कारण मनोहारिणी हो और विभिन्न प्रकार के आश्लेषों (आलिंगनों) में निपुण हो।'

त्रिविक्रमभट्ट की कविता में परस्पर विरोधी गुणों का समन्वय देखने को मिलता है। उनकी कविता में सारल्य भी है और काठिन्य भी; प्रसाद गुण भी है और माधुर्य गुण भी। किसी स्थल पर श्लेष का प्रखर पाण्डित्य पदावली को कठिन बना देता है तो कहीं अनुप्रास आदि की मनोमुग्धकारी छटा सहज ही अर्थ को स्पष्ट कर देती है। भाषा पर कवि

का असाधारण अधिकार है। राजा नल के महामन्त्री श्रुतशील का वर्णन करते हुए कवि ने शब्द-प्रयोग-चातुर्य एवं विरोधाभास अलंकार दोनों का एकत्र प्रभावशाली प्रयोग किया है—(नलचम्पू 1/39)—

ब्रह्मण्योऽपि ब्रह्मवित्तापहारी, स्त्रीयुक्तोऽपि प्रायशो विप्रयुक्तः।
सद्वेषोऽपि द्वेषनिर्मुक्तचेता, को वा तादृग् दृश्यते श्रूयते वा॥

नल चम्पू के छठे उच्छ्वास में प्रकृतिवर्णन के अन्तर्गत कवि का वह प्रसिद्ध श्लोक है, जिसके भावसौन्दर्य पर मुग्ध होकर पण्डितों ने उन्हें 'यमुना-त्रिविक्रम' की उपाधि दी। प्रातःकाल का समय है। उदयगिरि रूपी संगमस्थल पर रात्रि का काला अन्धकार रूपी यमुना जल और प्रातःकाल का प्रकाश रूपी गंगाजल सम्मिश्रित हो रहा है—(नलचम्पू 6/1)—

उदयगिरिगतायां प्राक् प्रभा पाण्डुतायां
अनुसरति निशीथे शृंगमस्ताचलस्य।
जयति किमपि तेजः साम्प्रतं व्योममध्ये
सलिलमिव विभिन्न जाह्नवं यामुनं च॥

पद्य प्रयोग कौशल की भाँति ही नलचम्पू में त्रिविक्रमभट्ट के गद्य प्रयोग की सुचारूता भी दर्शनीय बन पड़ी है। श्लेष, उत्प्रेक्षा, विरोध, परिसंख्या आदि अलंकार कवि को विशेष प्रिय रहे हैं। एक उदाहरण देखिए—(उच्छ्वास प्रथम)—

यत्र च गुरुव्यतिक्रमं राशयः, मात्राकलहं लेखशालिकाः, मित्रोदयद्वेषमुलूकाः, अपत्यत्यागं कोकिलाः, बन्धुजीवविघातं ग्रीष्मदिवसाः कुर्वन्ति न जनाः।

अर्थात 'जिस भारतवर्ष देश के लोग गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते, केवल राशियाँ ही गुरु (वृहस्पति) का उल्लंघन करती हैं; माता के साथ कलह कभी नहीं करते, मात्रा प्रदर्शन केवल लेखिकाएँ करती हैं; मित्रों की उन्नति से द्वेष नहीं करते, केवल उल्लू ही मित्र (सूर्य) के उदय से द्वेष करते हैं; अपने पुत्रादि का त्याग नहीं करते, केवल कोयल ही अपनी सन्तति का त्याग करती है; और भारतीय जन कभी बन्धुओं के जीवन का नाश नहीं करते, केवल ग्रीष्म के दिन ही बन्धुजीव के पुष्पों को नष्ट करते हैं।'

इसी प्रकार चतुर्थ उच्छ्वास में राजा नल को उनका मन्त्री जो उपदेश देता है, वह बरबस ही बाणभट्ट के शुकनासोपदेश का स्मरण दिलाता है—

'तत्तात! सुविषमेघवर्तिनि विद्युद्विलास इवास्थिरे स्थितः तारुण्ये मा स्म विस्मरः स्मयेन विनयम्। आवर्जय गुणान्, अभ्यस्य कलाः, त्यज जाड्यम्.....। मा गाः स्त्रियः श्रियो वा विश्वासम्।'

अनेक आलोचनों ने त्रिविक्रमभट्ट के चम्पूकाव्य में कथांश की अल्पता, अलंकार प्रयोग की बहुलता, श्रमसाध्य शाब्दी क्रीड़, रस परिपाक की न्यूनता आदि अनेक कमियों का निर्देश किया है; किन्तु वर्णन माधुर्य, मनोज्ञ कल्पना, अनुपम छटा सम्पन्न श्लेष प्रयोग एवं शृंगार रस के सुन्दर परिपाक के कारण त्रिविक्रम भट्ट ने रसिक पाठकों एवं सहृदय आलोचकों से एक सा सम्मान प्राप्त किया।

पहले भी कहा जा चुका है कि चम्पूकाव्य की परम्परा के संकेत तो वैदिक युग से प्राप्त होते हैं किन्तु दसवीं शती ईस्वी से पूर्व का कोई भी चम्पूकाव्य उपलब्ध नहीं होता। त्रिविक्रमभट्ट के इस काव्य में जिस परिष्कृत एवं प्रौढ़ चम्पूकाव्य शैली के दर्शन होते हैं, उससे भी प्रमाणित होता है कि इस महाकवि से बहुत समय पूर्व से ही इस काव्य विधा का पर्याप्त प्रचार रहा होगा। किन्तु किसी अकल्पनीय कारण से वे ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

हरिचन्द्र

जैन सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध चम्पूकाव्य 'जीवन्धरचम्पू' की रचना दिगम्बर जैन कवि हरिचन्द्र ने की। इसका कथानक गुणभद्र रचित 'उत्तरपुराण' पर आधृत है। 'उत्तरपुराण' का रचना समय 850 ईस्वी माना जाता है अत: 'जीवन्धरचम्पू' का रचना काल 900 ईस्वी से पूर्व नहीं हो सकता। इस चम्पूकाव्य के रचयिता हरिचन्द्र तथा 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक जैन महाकाव्य के रचयिता हरिचन्द्र परस्पर अभिन्न एक ही व्यक्ति हैं या नहीं, यह निश्चित करना कठिन है।

सोमदेव

सोमदेव सूरि नामक जैन कवि ने 959 ईस्वी में 'यशस्तिलकचम्पू' की रचना की। सोमदेव राष्ट्रकूट के राजा कृष्णराज देव (10वीं शती ईस्वी) के समकालीन और उनके सामन्त चालुक्य राजा अरिकेसरी तृतीय के आश्रित कवि थे। सोमदेव सूरि नेमिदेव के शिष्य थे और दिगम्बर जैन थे।

इस चम्पूकाव्य में आठ आसव (आश्वास) हैं, जिनमें अवन्तिनरेश यशोधर की कथा का वर्णन है। इसमें यशोधर की रानी की कपटयोजनाएँ, राजा की मृत्यु, विभिन्न मानवेतर योनियों में भटक कर पुन: मनुष्य रूप में जन्म तथा अन्ततोगत्वा जैनधर्म में दीक्षित होने का सुन्दर चित्रण है। 'यशस्तिलकचम्पू' का कथानक भी गुणभद्र रचित 'उत्तरपुराण' पर आश्रित है। 'उत्तरपुराण' से गृहीत यही कथानक पुष्पदन्त के अपभ्रंश भाषा में लिखित 'जसहर चरिउ' और वादिराजसूरि के संस्कृत भाषा में लिखित 'यशोधर चरित' में भी प्राप्त होता है। किन्तु 'यशस्तिलक चम्पू' का एक विशिष्ट स्थान है जिसके कथानक को सोमदेव ने बाणभट्ट की कादम्बरी जैसी अलंकार पद्धति से रचा है।

इस काव्य के अध्ययन से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि कवि ने इस काव्य की रचना में 'कादम्बरी' को सर्वतोभावेन अपना आदर्श माना था। इस ग्रन्थ की एक प्रमुख विशेषता है—पुनर्जन्म पर आस्था। साथ ही कवि ने अपने चम्पूकाव्य में यह भी प्रदर्शित करने का स्तुत्य प्रयास किया है कि जैनधर्म के पालन से मनुष्य आत्मकल्याण कर सकता है। जैन धर्म के सिद्धान्तों की विस्तृत ज्ञान प्राप्ति की दृष्टि से यह चम्पूकाव्य परम उपादेय है। अन्तिम तीन आश्वासों में कवि ने जैन धर्म के सिद्धान्तों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है, अत: वे 'श्रावकाध्ययन' नाम से प्रसिद्ध हैं। कवि की शैली अलङ्कृत है तथा भाषा प्राञ्जल है। अनेक सुन्दर पद्य इस चम्पूकाव्य में उपलब्ध होते हैं—

सरित्सरोवारिधिवापिकासु निमज्जनोन्मज्जनमात्रमेव।
पुण्याय चेत्तर्हि जलेचराणां स्वर्गः पुरा स्यादितरेषु पश्चात्॥

अर्थात् 'यदि नदी, सरोवर, समुद्र अथवा वापिका (बावड़ी) में स्नान करने मात्र से पुण्य की प्राप्ति होती तो जल में रहने वाले सारे जीवों को पहले ही स्वर्ग पहुँच जाना चाहिए और दूसरों को बाद में।'

संसार की नाश्वरता एवं मृत्यु की अनिवार्यता का प्रतिपादन कवि ने स्थल-स्थल पर किया है। मनुष्य अपने घर, पुत्र, पत्नी आदि की तृष्णा में ही पड़ा हुआ रात दिन क्लेश भोगता रहता है, और यह ध्यान ही नहीं देता कि यमदण्ड कभी भी आ गिरेगा—

त्वं मंदिर-द्रविण-दार-तनूद्वहाद्यै
स्तृष्णातमोभिरनुबन्धिभिरस्तबुद्धिः।
क्लिश्नास्यहर्निशमिमं न तु चित्त वेत्सि
दण्डं यमस्य निपतन्तमकाण्ड एव॥

संस्कृत साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी 'यशस्तिलकचम्पू' काव्य का पर्याप्त महत्त्व है। सोमदेव ने काव्य के प्रस्तावना भाग के पद्यों में भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, गुणाढ्य, भास, कालिदास, बाण, मयूर, माघ, राजशेखर आदि अनेक कवियों का नामोल्लेख किया है।

भोजराज

धारा नगरी के प्रसिद्ध राजा भोज (1018-1063 ई.) ने रामायण की कथा को चम्पू शैली में प्रस्तुत करते हुए 'रामायणचम्पू' की रचना की। यह चम्पूकाव्य भोज की अपूर्ण कृति थी, जिसमें किष्किन्धा काण्ड पर ही कथा की समाप्ति हो गई हैं। बाद में लक्ष्मणभट्ट ने युद्धकाण्ड की रचना कर के और वेंकटराज ने उत्तरकाण्ड की रचना कर के इस चम्पूकाव्य को पूर्ण किया। यह चम्पूकाव्य अत्यन्त सरस, ललित एवं मनोहर है तथा वैदर्भी रीति में उपनिबद्ध किया गया है। इसमें कवि का शब्दिक चमत्कार तथा अलंकारप्रियता प्रचुर मात्रा में अभिव्यक्त होती है।

सोड्ढल

लाटदेश के निवास सोड्ढल नामक गुजराती कायस्थ ने 'उदयसुन्दरी कथा चम्पू' की रचना की। ये कोंकण के राजा मुम्मुणिराज के आश्रित कवि थे। इस राजा का 1060 ई. का एक शिलालेख प्राप्त होता है, अतः सोड्ढल का समय ग्यारहवीं शती ईस्वी निश्चित है। सोड्ढल कृत उदयसुन्दरीकथाचम्पू में छह उच्छ्वास हैं जिनमें नागवंशीय राजकुमारी उदयसुन्दरी और प्रतिष्ठान के राजा मलयवाहन के प्रणय और विवाह की कथा वर्णित की गई है। सोड्ढल ने बाण के 'हर्षचरित' का स्पष्ट अनुकरण किया है। जैसे बाण ने हर्षचरित के प्रारम्भ में आत्मवृत्त एवं पूर्ववर्ती यशस्वी संस्कृत कवियों का उल्लेख किया है, उसी प्रकार सोड्ढल ने भी इस चम्पू में अपने वंश का वर्णन किया है और पूर्ववर्ती कवियों के

सम्बन्ध में अनेक प्रशंसापूर्ण पद्य उपनिबद्ध किए हैं। इस चम्पू की भाषा सरस, सुन्दर, मधुर तथा ललित है। शैली भी अत्यन्त चमत्कारी है—

चन्द्रं महामण्डलभाजनस्थं दुग्धं यथा यामवतीमहिष्याः।
वियोगिनां दुग्दहनोग्रतापैरुल्लासितं व्योमतले लुलोट॥

अर्थात् 'चन्द्रमण्डलरूपी पात्र में निशारूपी भैंस का दुग्ध रूप चन्द्रमा वियोगिजनों की सन्तापरूप तीव्र अग्नि की आँच से उफन कर आकाश में सर्वत्र चन्द्रिका के रूप में फैल गया।'

रानी तिरुमलाम्बा

इस संस्कृत कवयित्री ने 'वरदाम्बिकापरिणयचम्पू' नामक काव्य की रचना की। यह विदुषी महिला विजयनगर के महाराजा अच्युतराय की महीयसी महिषी थीं। राजा अच्युतराय का राज्याभिषेक 1529 ई. में हुआ था, अतः इस सुन्दर चम्पू का रचनाकाल सोलहवीं शती का पूर्वार्ध माना जाता है। इस चम्पू में महाराज अच्युतराय एवं वरदम्बिका नामक राजकुमारी के प्रणय और विवाह की कथा वर्णित है। कुछ आलोचकों का मत है कि इस चम्पूकाव्य में रानी तिरुमलाम्बा ने व्याजपूर्वक अपनी ही प्रणयकथा को उपस्थापित किया है। यह काव्य प्रौढ़ चम्पू का सुन्दर निदर्शन है। इसमें पद्य भाग अत्यन्त ललित तथा सुन्दर है किन्तु गद्य भाग समासबहुल तथा जटिल वाक्यों के कारण क्लिष्ट हो गया।

मित्र मिश्र

प्रसिद्ध विधिग्रन्थ 'वीरमित्रोदय' के लेखक मित्र मिश्र ने सत्रहवीं शती के पूर्वार्ध में 'आनन्दकरचम्पू' की रचना की। मित्र मिश्र ओरछा के राजा वीरसिंहदेव के आश्रय में रहते थे जिनका राज्यकाल 1605 ई. से 1627 ई. तक रहा। ये राजा ऐतिहासिक दृष्टि से भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण रहे हैं। ये मुगल सम्राट जहाँगीर के कृपापात्र थे। मित्र मिश्र ने अपने चम्पूकाव्य के अन्तिम उल्लास में अपने आश्रयदाता के वंश तथा चरित्र का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जैसा इस चम्पूकाव्य के नाम से ही स्पष्ट होता है, इसमें आनन्दकन्द कृष्ण की बाललीलाओं का अत्यन्त मनोहर तथा सरस वर्णन है। इसमें आठ उल्लास हैं तथा इसकी कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध से ग्रहण की गई है। इसकी शैली अलंकृत है। गद्य ओज गुण प्रधान तथा गौड़ी रीति समन्वित है। यह चम्पूकाव्य वैष्णव सम्प्रदाय में पर्याप्त समादृत है।

उपर्युक्त प्रसिद्ध चम्पूकाव्यों के अतिरिक्त भी अनेक चम्पूकाव्यों की रचना की गई और इस शती में भी चम्पू रचे जा रहे हैं। साहित्य में उन सभी को भाषा अथवा शैली अथवा कथानक की दृष्टि से भले ही पर्याप्त उच्च स्थान न मिल पाया हो, किन्तु उनमें से कुछ का नामोल्लेख यहाँ किया जाना आवश्यक है।

ग्यारहवीं शती में अभिनवकालिदास ने **'भागवत चम्पू'** की रचना की। इसका कथानक श्रीमाद्भागवत के दशम स्कन्ध से ग्रहण किया गया है। यह छह स्तम्भकों में

विभक्त है। रसप्रवणता तथा ध्वन्यात्मकता इसकी विशेषताएँ हैं। सोमेश्वरदत्त (1179-1262 ई.) ने चम्पू शैली में **'कीर्तिकौमुदी'** की रचना की, जिसमें गुजरात के मन्त्री वस्तुपाल का जीवनवृत्त वर्णित है। अनन्तभट्ट ने **'भारतचम्पू'** की रचना की। इसका समय 1500 ई. के लगभग माना जाता है। इसमें 12 स्तबक हैं जिनमें महाभारत की कथा वर्णित है। यह चम्पू काव्य सरल तथा सरस वैदर्भी रीति में उपनिबद्ध है। 'राघवपाण्डवयादवीय' काव्य के प्रणेता चिदम्बर (1600 ई.) ने भी श्रीमद्भागवत के कथानक पर **'भागवतचम्पू'** की रचना की। कवि कर्णपूर ने **'आनन्दवृन्दावन चम्पू'** अथवा **'आनन्दविलास चम्पू'** नामक उत्कृष्ट काव्य रचना की। इनका समय भी सोलहवीं शती ईस्वी है। इनका वास्तविक नाम परमानन्ददास था। महाप्रभु चैतन्यदेव ने इन्हें कर्णपूर की उपधि दी थी। प्रसिद्ध कृष्णकवि ने **'मन्दारमरन्दचम्पू'** काव्य की रचना की। इनका समय 16वीं शती का उत्तरार्ध है। इस चम्पूकाव्य में नायक, गुण, दोष, अलंकार, छन्द आदि के लक्षण तथा उदाहरण निरूपित किए गए हैं। 1637 ई. में नीलकण्ठ दीक्षित ने **'नीलकण्ठविजयचम्पू'** की रचना की, जिसमें महादेव शिव के वीर कृत्यों का वर्णन है। चक्रकवि ने 1650 ई. में **'द्रौपदीपरिणयचम्पू'** की रचना की। महाकवि वेंकटाध्वरि (1650 ई.) ने महाकाव्यों एवं नाट्यों के अतिरिक्त चार चम्पूकाव्यों की भी रचना की— **विश्वगुणादर्श चम्पू, वरदाभ्युदय चम्पू, उत्तरचम्पू** तथा **श्रीनिवासचम्पू**। इनमें विश्वगुणादर्श चम्पू अपनी विशिष्ट नवीन शैली के कारण बहुत लोकप्रिय हुआ। इस चम्पू में विश्वावसु तथा कृशानु नामक दो गन्धर्व विमान पर चढ़कर अधिकांशतया दक्षिण के तीर्थस्थलों के दर्शन करते हैं और प्रत्येक स्थल के गुणों एवं दोषों का भी क्रमशः वर्णन करते जाते हैं। दोनों गन्धर्वों के पारस्परिक संवादों में कवि ने अनुप्रास प्रयोग का अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया है। वरदाभ्युदयचम्पू में काञ्ची के देवता की स्तुति हैं। 'उत्तरचम्पू' में रामायण के उत्तरकाण्ड की कथा है। 'श्रीनिवासचम्पू' दस खण्डों में विभक्त है तथा इसमें तिरुपति के निकटवर्ती तिरुमलाई के देवता की स्तुति है। सत्रहवीं शती में ही नारायण कवि ने **'स्वाहासुधाकरचम्पू'** की रचना की। बाणेश्वर विद्यालंकार भट्टाचार्य ने **'चित्रचम्पू'**की रचना की। बाणेश्वर विद्यालंकार 18वीं शती के बंगीय पण्डितों एवं विद्वानों में अग्रगण्य कहे जाते हैं जिन्होंने लार्ड वारेन हेस्टिंग्ज के आग्रह पर धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध निबन्ध 'विवादार्णवसेतु' (1775 ई.) की रचना की थी। 'चित्रचम्पू' काव्य में कवि ने बर्दवानवंशीय राजा चित्रसेन के जीवनवृत्त का वर्णन किया है। राजा चित्रसेन की मृत्यु 1744 ई. में हुई थी, अतः इस काव्य का रचनाकाल अठारहवीं शती है।

इन चम्पूकाव्यों के अतिरिक्त रीवाँ नरेश विश्वनाथसिंह (18वीं शती पूर्वार्ध) का **'रामचन्द्रचम्पू'**, श्रीनिवास कवि (18वीं शती मध्य) का **'आनन्दरंग चम्पू'**, कृष्णानन्द कवीन्द्र (18 वीं शती उत्तरार्ध) का **'सुदर्शनचम्पू'** आदि प्रमुख चम्पूकाव्य हैं।

❑❑❑

4

संस्कृत गीतिकाव्य

संस्कृत वाङ्मय का एक परम मंजुल तथा सरस अंग है—गीतिकाव्य अथवा खण्डकाव्य। महाकाव्य में जीवन का समग्र तथा विविध चित्रण पाया जाता है किन्तु खण्डकाव्य में जीवन के किसी एक पक्ष अथवा किसी एक घटना का चित्रण प्राप्त होता है। इस दृष्टि से खण्डकाव्य आकार प्रकार में भी महाकाव्य की अपेक्षा पर्याप्त न्यून कलेवर होता है तथा उसमें एकांगी विषय का ही प्रस्तुतीकरण होता है—'खण्डकाव्यं भवेत्काव्यैस्यकदेशानुसारि च।'[1] महाकाव्य की अपेक्षा खण्डकाव्य अथवा गीतिकाव्य में अनुभूति की सघनता तथा रसमयता अधिक हो सकती है क्योंकि महाकाव्य तो परम्परागत नियमों एवं रूढ़ियों के बन्धन में बँधा रहता है। किन्तु खण्डकाव्य के लिए कोई भी निश्चित नियमादि निर्धारित नहीं हुए। अन्य विषयों के वर्णन भार से मुक्त रहने के कारण कवि के भावोच्छ्वास के लिए इसमें स्थिति और स्थान अपेक्षाकृत अधिक प्राप्त हो जाते हैं। महाकाव्य में घटना वैविध्य भी होता है और अन्त: कथाओं का आलवाल भी; किन्तु खण्ड काव्य के लघु कलेवर में उन सबके लिए कोई अवकाश नहीं होता। खण्डकाव्य में हृदयगत भावों का मार्मिक एवं स्वत: प्रकाशन होने के कारण यह सामान्य कविता की अपेक्षा अधिक तत्परता से रसोद्रेक में समर्थ होता है। छन्द की गतिमयता तथा नादसौन्दर्य से संवलित गीतिकाव्य मानव मन की गम्भीर अनुभूति का वह मधुमय चषक है, जो अपनी मादक रसवत्ता से समस्त वाह्यचेतना को विस्मृत करा के अन्तस् को उल्लास में आकण्ठ निमग्न कर देता है।

संक्षेप में, खण्डकाव्य की निम्नांकित विशेषताएं निर्धारित होती हैं :—

1. जीवन की किसी एक मार्मिक घटना, पक्ष अथवा अनुभूति का चित्रण पाया जाता है।

2. आकार लघु होता है जिसमें अभिधा के अर्थप्रपंच को स्थान नहीं मिलता अपितु व्यंजनामयता ही प्रधान होती है।

3. सहज अन्त:प्रेरणा के कारण इसमें अनुभूति का आवेशमय अभिनिवेश होता है। इसी कारण भावोद्रेक, स्वत: स्फूर्त कल्पना की रमणीयता, तन्मयता तथा भावाभिव्यक्ति

1. साहित्य दर्पण 6/239

की क्षमता पाई जाती है।

4. लालित्य तथा माधुर्य की प्रचुरता होती है।

5. मानव मन की अन्त:प्रकृति का उद्घाटन वाह्य प्रकृति के द्वारा होता है।

6. धार्मिक, नैतिक अथवा शृंगारिक—कोई एक विषय हो सकता है।

7. तदनुकूल ही शान्त, वीर अथवा शृंगार में से एक अंगी रस होता है जो अपनी अनवद्य हृद्यता से बरबस आकृष्ट करता है।

8. वस्तु एवं भाव का संकेत प्रत्यक्ष शैली में होता है तथा भाषा क्लिष्टादि दोष रहित एवं प्राञ्जल होती है।

यह खण्डकाव्य ही अपनी गेयता के कारण गीतिकाव्य कहलाता है। यहाँ गीतिकाव्य का अर्थ श्लोक को शास्त्रीय संगीत में ढाल कर गा सकना नहीं है, अपितु काव्य का नादसौन्दर्य, भाव संगीतमयता एवं छन्दों की तयात्मकता ही गेयता का निर्धारण कर देती है। वस्तुत: गीतिकाव्य में रूढ़ि एवं परम्परा से मुक्त होकर वैयक्तिक चेतना तथा आनन्द और व्यथा की अभिव्यक्ति हुई; इसीलिए गीतिकाव्य साहित्य का अधिक मनोरम अंग हो गया। भारतीय समीक्षकों ने जिसे खण्डकाव्य की संज्ञा दी, उसे ही पाश्चात्य समालोचकों ने गीतिकाव्य (Lyric) नाम से अभिहित किया है, क्योंकि यह गाने योग्य होता है।

संस्कृत में गीतिकाव्य दो रूपों में उपलब्ध होता है—प्रबन्ध एवं मुक्तक। एक ही वृत्त में उपनिबद्ध तथा परिमित कथावस्तु से सम्बद्ध रचना प्रबन्धरचना है जिसे संघात भी कहा जाता है। मेघदूत ऐसा ही गीतिकाव्य है। मुक्तक में केवल एक ही पद्य होता है जो वाह्य सन्दर्भ से स्वतन्त्र रह कर भी रस की पूर्ण अभिव्यक्ति करा देता है!—'पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।' अमरुक अथवा भर्तृहरि के श्लोक मुक्तक के सुन्दर निदर्शन हैं।

विभिन्न आचार्यों ने प्रतिपाद्य विषय के आधार पर गीतिकाव्य के अनेक प्रकार या भेद कहे हैं। शृंगार, नीति अथवा धर्म—ये गीतिकाव्यों के प्रमुख विषय रहे। किन्तु शृंगारिक, धार्मिक अथवा सन्देश काव्य आदि रूपों में गीतिकाव्यों के भेद विवेचित करने की अपेक्षा सबका ऐतिहासिक कालक्रम में वर्णन करना अधिक उपयुक्त है। केवल धर्म अथवा देवस्तुति के रूप में जिन गीतिकाव्यों का प्रणयन हुआ, उनका वर्णन अन्यान्य काव्यो में स्तोत्र साहित्य शीर्षक से किया जाएगा।

उद्भव एवं विकास—विश्वसाहित्य के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद में ही गीतिकाव्य के आधारभूत तत्त्वों के दर्शन हो जाते हैं। भाव प्रकाशन की दृष्टि से ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्र ऋषियों के आर्षचक्षुओं द्वारा अनुभूत तत्त्वों के नितान्त सहज एवं सरल अभिव्यंजक ह, किन्तु ऋग्वेद के अनेक सम्पूर्ण सूक्त ऐसे हैं जिनके मन्त्रों में ऋषि की सहज अनुभूति ही सरलतया प्रगट हो उठी है। उषस् सूक्त ऐसे ही कुछ सूक्तों में से एक है। रात्रि की निष्क्रिय अन्धकारमयता के उपरान्त प्रात:काल की मधुर अरुणिमा और पक्षियों के सुमधुर कलरव की अनुभूति ने ऋषि के मुख से उषस् से सम्बद्ध जो मन्त्र उद्घाटित कराए, वे गीतिकाव्य के प्रथम सुन्दर उदाहरण हैं। सभी उषस् सूक्तों में शृंगार की सूक्ष्म भावना

द्रष्टव्य है जिसमें कोमल कान्त पदावली का मणिकांचन संयोग है।[2] पाश्चात्य विद्वान् मैक्डॉनल के अनुसार "उषा वैदिक कवियों की सर्वसुन्दर सृष्टि है जिसके सौन्दर्य को अन्य किसी भी साहित्य के वर्णनात्मक धार्मिक गीतिकाव्य का सौन्दर्य नहीं पहुँच सका है।"[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गीतिकाव्य के अनेक मूल तत्त्व एवं विशेषताएँ अपने प्रारम्भिक विकासोन्मुख रूप में ऋग्वेद में उपलब्ध हो जाते हैं।

वाल्मीकि रामायण आदिकाव्य है और आश्चर्यजनक रूप से उसमें परवर्ती महाकाव्य लक्षण भी प्रमुखतया घटित हो जाते हैं। किन्तु प्रबन्ध काव्य होने पर भी अनुभूति की सान्द्रता एवं गेयता की दृष्टि से रामायण के अनेक स्थल आकर्षक गीतिकाव्य की सी छटा उपस्थित करते हैं। रावण कपटमुनि वेश धारण करके पंचवटी से सीता का अपहरण करके चला जाता है। प्रिया के दुख से व्यथित तथा विरह से शोकसन्तप्त राम का विलाप सुन्दर गीतिकाव्य है।[4] इसी प्रकार बालिवध के पश्चात् हाहाकार पूर्वक रोती बिलखती तारा के कथन[5] अनुभूति की गहनता तथा शब्दों की संगीतमयता के कारण गीतिकाव्य सदृश जान पड़ते हैं। यों तो सम्पूर्ण रामायण ही गेय है क्योंकि राम की राज्यसभा में लवकुश ने रामायण का सस्वर गान ही तो किया था।[6] गीतिकाव्य के विभिन्न तत्त्वों की दृष्टि से वाल्मीकि का कहा गया शापात्मक श्लोक भी मुक्तक गीतिकाव्य का सुन्दर उदाहरण कहा जा सकता है।

महाभारत वृहत्काय इतिहासात्मक महाकाव्य है किन्तु उसमें भी सुन्दर गीतिकाव्यात्मक स्थल हैं। नल के चले जाने पर एकाकिनी एवं व्याकुल दमयन्ती के उद्गार[7], अज्ञात कुलशील, ब्राह्मण वेषधारी व्यक्ति (अर्जुन) के द्वारा लक्ष्यवेध करके प्राप्त की गई द्रौपदी के सुख सौभाग्य के लिए आशंकित पिता द्रुपदराज की मन:स्थिति[8], ऋष्यशृंग ऋषि को आकृष्ट करने के लिए राजा रोमपाद द्वारा भेजी गई गणिकाओं का मुग्ध ऋषि द्वारा वर्णन[9]—आदि अनेक प्रसंगों में गीतिकाव्य का स्वरूप घटित होता है।

पुराण साहित्य धर्म प्रधान है। इसमें प्राप्त गीत्यात्मक काव्य प्रसंग अधिकांशत: स्तोत्र साहित्य में ग्रहण कर लिए जाते हैं। किन्तु भागवत पुराण में प्राप्त अनेक गीत स्थल

---

2. ऋग्वेद 1/123/10
   ऋग्वेद 1/124/7—जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिषीते अप्स:।
3. मैक्डॉनल—संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) प्रथम भाग, पृ. 72
4. वाल्मीकि रामायण 3/62
5. वाल्मीकि रामायण 4/20
6. वाल्मीकि रामायण 1/4/36— ततस्तु तौ रामवच: प्रचोदितावगायतां मार्गविधानसंपदा।
   स चापि राम: परिषद्गत: शनैर्बुभूषयासक्तमना बभूव॥
7. महाभारत वनपर्व 63/8...13
8. महाभारत आदिपर्व 194/15...18
9. महाभारत वनपर्व—112 अध्याय

वस्तुतः गीतिकाव्य ही हैं।[10] इन गीतों की सघन अनुभूति, लालित्य, सहज स्फूर्ति तथा शैली आदि सभी गीतिकाव्य के अनुरूप ही है।

इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतिकाव्य की परम्परा तो ऋग्वेद काल से ही अनवच्छिन्न रूप में प्रवाहित रही, भले ही उन मधुर काव्य प्रसंगों को यह विशिष्ट नाम नहीं दिया गया। तदनन्तर संस्कृत साहित्य में एक ऐसी प्रतिभा उत्पन्न हुई जिसने विभिन्न विशेषताओं से संवलित दो काव्यों की रचना करके गीतिकाव्य का स्वरूप भी स्थिर किया और गीतिकाव्य अथवा खण्डकाव्य को साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा के रूप में स्थापित भी किया। यह विलक्षण कवि था महाकवि कालिदास।

कालिदास

इस महाकवि के स्थितिकाल का विवेचन महाकाव्य के अन्तर्गत किया जा चुका है। कालिदास की काव्यकला तथा नाट्यकला का वर्णन भी तत्तत् अध्यायों में पर्याप्तरूपेण विवेचित है। यहाँ उनके गीतिकाव्यों का अनुशीलन ही अपेक्षित है। महाकवि कालिदास के दो गीतिकाव्य उपलब्ध होते हैं—ऋतुसंहार तथा मेघदूत।

ऋतुसंहार—यह छह सर्गों का काव्य है जिसके 144 पद्यों में पूरे वर्ष की छह ऋतुओं का सुन्दर तथा शृंगारिक वर्णन है। प्रारम्भ में कतिपय विद्वानों ने इस काव्य में काव्यकला के न्यून परिष्कार के कारण, इस को कालिदास की रचना ही स्वीकार नहीं किया। किन्तु अब सभी आलोचक इस काव्य को कालिदास की प्रारम्भिक रचना के रूप में स्वीकार करते हैं।

ऋतुसंहार में कालिदास का रचनाकौशल भले ही प्रौढ़ न हो, फिर भी इस गीतिकाव्य का संस्कृत में अपना एक निजी स्थान है। संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों और नाटकों आदि में प्रसंगवश ऋृतुवर्णन प्राप्त होता है किन्तु केवल ऋृतुवर्णन करने वाला यह एकमात्र ही काव्य है। ऋतुसंहार में अपनी प्रिया को सम्बोधित करते हुए छहों ऋतुओं का वर्णन किया गया है। कवि ने इस काव्य को ग्रीष्म के प्रचण्ड आतप और प्रभाव से प्रारम्भ करके यथाक्रम वर्षा, शरद्, हेमन्त तथा शिशिर का वर्णन करते हुए वसन्त ऋतु की स्निग्ध सरसता पर समाप्त किया है। कालिदास ने एक ओर प्रत्येक ऋतु में परिवर्तित होते हुए वाह्य प्रकृति के विभिन्न रंगात्मक रूपों का चित्रण किया; तो दूसरी ओर उसी प्रकृति को उद्दीपन बना कर प्रेमी प्रेमिकाओं में प्रगट होती हुई विभिन्न प्रणयोन्मादपूर्ण क्रीड़ाओं तथा शृंगार रस का भी सुन्दर वर्णन किया है। एक श्लोक में ग्रीष्म से बचने के उपाय तथा शृंगार का मधुर सम्मिलन देखिए—

सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः॥ (1/3)

ऋतुसंहार में भाषा प्रयोग सर्वत्र सरल है तथा शब्दविन्यास अनुप्रासमय है।

---

10. श्रीमद्भागवत 10/21 वेणुगीत; 10/31 युगल गीत; 10/47 भ्रमरगीत; 11/23/43...58 भिक्षु गीत; 12/3/2...11 भूमिगीत आदि

वसन्तवर्णन का एक श्लोक द्रष्टव्य है—

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषाः दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते॥ (6/2)

मेघदूत—संस्कृत गीतिकाव्यों की समृद्ध परम्परा को प्रारम्भ कर देने वाला यह गीतिकाव्य भावभिव्यंजना, रसनिष्पत्ति, प्रकृतिचित्रण तथा प्रेमी युगल के विरहव्यथित हृदय की प्रणयवेदना को मुखरित कर देने की दृष्टि से अद्यापि सर्वोतम है। कवि ने एक संक्षिप्त काल्पनिक कथावस्तु तथा मन्दाक्रान्ता छन्द मात्र को लेकर इस गीतिकाव्य की रचना की, अतः यह संघात काव्य है। इसके दो भाग हैं—पूर्वमेघ तथा उत्तरमेघ; एवं कुल मिलाकर 121 श्लोक हैं। मेघदूत की कथा इस प्रकार है—अलका नगरी के अधिपति कुबेर के एक सेवक यक्ष ने प्रमादवश कुछ अपराध किया। कुपित कुबेर ने यक्ष को एक वर्ष के लिए अलका से निर्वासित करके उसकी प्रिया से दूर कर दिया। महिमाहीन तथा विरह पीड़ित यक्ष रामगिरि पर्वत के आश्रमों में रहने लगा। आठ मास बीत गए और तब वर्षा ऋतु का आगमन हुआ। उस समय मेघदर्शन विरही यक्ष की व्यथा का उद्दीपन बन गया। प्रिया के वियोग में व्याकुल यक्ष को भय हुआ कि कहीं मेरी कोमलांगी प्रिया इसी मेघ दर्शन से आकुल होकर प्राण ही न त्याग दे। अतः उसने मेघ से अपना प्रणय सन्देश ले जाने की याचना की। मेघ की पूजा-अर्चना करके यक्ष ने विभिन्न नदियों, पर्वतों तथा नगरों को पार करते हुए अलका नगरी तक पहुँचने का मार्ग बताया। यही पूर्वमेघ की कथा है। उत्तरमेघ में यक्ष अलकानगरी एवं वहाँ के निवासियों के संक्षिप्त वर्णन के पश्चात् उस रम्य नगरी में स्थित अपने घर की पहचान एवं विविध शोभा का वर्णन करता है। तदुपरान्त अपनी पत्नी के रूप सौन्दर्य का कथन करके यक्ष अपना सन्देश सुनाता है और शुभकामना के साथ यह गीतिकाव्य समाप्त हो जाता है।

इस गीतिकाव्य में मेघ को दूत बनाकर भेजने में कालिदास का कल्पना कौशल तथा काव्य चातुर्य अधिक जीवन्त हो उठा है। सम्भवतः वाल्मीकि रामायण में राम के द्वारा सीता के समीप भेजे गए हनुमान् के दौत्य से कालिदास ने मेघ को दूत बनाने के सुकुमार कल्पना ग्रहण की हो। उत्तर मेघ के एक श्लोक में कालिदास ने यक्षपत्नी और मेघ की उपमा सीता और हनुमान से दी भी है।[11] किन्तु वाल्मीकि और कालिदास में इस प्रकार की तुलना खोजना काव्यरस के अनुकूल नहीं है। कालिदास की कल्पना निश्चयेन ही अधिक कोमल, अधिक स्निग्ध एवं अधिक भावप्रवण है। हनुमान् चेतन प्राणी थे जो मार्ग एवं शत्रुपुरी की बाधाओं को निराकृत करके लक्ष्य तक पहुँचने में बुद्धि एवं तर्क का पूर्ण उपयोग करते रहे; किन्तु कालिदास का मेघ तो नितान्त अचेतन जड़ वस्तु है जो 'धूम ज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः' है। पर कामार्त जन चेतन अचेतन का भेद कर ही कहाँ पाते हैं—'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।' मेघदूत का पठन अथवा श्रवण करते हुए कदापि यह अनुभव नहीं होने पाता कि यक्ष अपना 'पटुकरणैः प्रापणीयः' सन्देश

11. मेघदूत उत्तरमेघ 42—इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा

किसी जड़ वस्तु को सुना रहा है। मेघ तो इन्द्र का इच्छाचारी तथा कामरूप धारण करने वाला प्रधानतम पुरुष है। जीमूतमय होने के कारण यह मृत को भी अमृत करने में सक्षम है। फिर सन्देशवाहक का कार्य तो परम सहृदयता पूर्ण कार्य होता है।

कुछ विद्वानों ने मेघदूत में आए हुए उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर, क्रौञ्च पर्वत, स्कन्द, कैलास पर्वत पर शिव पार्वती विचरण आदि प्रसंगों में आध्यात्मिकता का अन्तर्सूत्र खोजने का प्रयास किया है। इन प्रसंगों से कालिदास की शिवभक्ति भले ही व्यञ्जित होती हो; किन्तु कवि के अन्तःस्फूर्त काव्य की रसात्मकता में भी परब्रह्म की ही चर्चा खोजने का प्रयत्न मेरी दृष्टि में तो समीचीन नहीं ठहरता। ब्रह्मानन्द सहोदर रस प्राप्ति ही पर्याप्त है।

काव्यकला एवं रसाभिव्यञ्जना की दृष्टि से कालिदास का यह गीतिकाव्य अनुपमेय है। इस छोटे से काव्य में कवि ने विप्रलम्भ शृंगार के कारुण्य तथा सौकुमार्य का, रमणी रूप की ललित मनोहारिता का एवं मानव-मन की निभृत भावनाओं का जो अपूर्व चित्रण किया है, वह और किसी काव्य में एकत्र रूप में ढूँढ़े नहीं मिलता। कुछ आलोचकों ने यहाँ तक अपना अभिमत प्रगट किया है कि यदि कालिदास ने एक मात्र मेघदूत काव्य की ही रचना की होती, तो भी वे संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ महाकवि पद के सुयोग्य अधिकारी हो जाते।

मेघदूत का वैशिष्ट्य—यह संपूर्ण खण्डकाव्य मन्दाक्रान्ता छन्द में उपनिबद्ध है। इस छन्द की गति मन्द होती है तथा विरह वर्णन के लिए इस छन्द को सर्वधिक उपयुक्त माना गया है—'प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते।' विप्रलम्भ शृंगार का करुण एवं कोमल रूप इस छन्द की मन्थर तथा नादमय गति में विशेषतया व्यञ्जित हो उठता है। सम्भवतः कवि कालिदास ने यक्ष के विरह की तीव्रता को उभारने के लिए इस छन्द का प्रयोग किया। मेघदूत के सारे ही पद्य श्रुतिमधुर, रससंसिक्त एवं गेय हैं।

कालिदास ने मेघदूत में रसराज शृंगार का अपूर्व मण्डन किया है। मेघदूत के श्लोकों में शृंगाररस अपनी सम्पूर्ण शोभा से अवतरित हुआ है। यद्यपि इस खण्डकाव्य का प्रमुख रस विप्रलम्भ शृंगार है तथापि कालिदास ने कतिपय श्लोकों में संयोग शृंगार भी निपुणतया चित्रित किया है। एक ओर प्रवासी यक्ष और विरहिणी यक्षिणी के मनोभावों में विलप्रलम्भ शृंगार की समस्त कोमलता एवं व्यथा मेघदूत के श्लोकों में उभरी है तो दूसरी ओर स्मरण अलंकार के द्वारा संयोग शृंगार की उत्फुल्लता एवं प्रसन्नता के कतिपय दृश्य भी उत्तरमेघ में कुशलता से प्रस्तुत किए गए हैं। स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप आदि विप्रलम्भ की विभिन्न दशाओं सहित शृंगार के सभी पक्षों का कालिदास ने परिपूर्ण निर्वाह किया है। विरहवेदनाक्रान्ता नायिका की चेष्टाओं का यह चित्रण कितना व्यथापूर्ण किन्तु सहज है (उत्तरमेघ 26)—

> *उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां*
> *मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।*
> *तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्*
> *भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥*

हे सौम्य मेघ! (मेरे घर पहुंच कर तुम) मलिन वस्त्र वाली गोद में वीणा रखकर मेरे नाम से युक्त गीत को गाने की इच्छा करने वाली और नेत्र जल से भीगी वीणा को किसी प्रकार पोंछकर फिर स्वयं ही बनाई गई राग को भूलती हुई (मेरी पत्नी को देख पाओगे)।

इसी प्रकार विरही यक्ष की व्यथा और मिलन आकुलता भी कालिदास ने व्यञ्जना का आश्रय लेकर अत्यल्प शब्दों में प्रगट कर दी है (उत्तरमेघ 47)—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥

'हे प्रिये। प्रणय में क्रुद्ध हुई तुमको गेरु के द्वारा शिला पर चित्रित करके जब मैं तुम्हारे चरणों पर गिरना चाहता हूँ; तभी भर आते आँसुओं के द्वारा मेरी दृष्टि ही लुप्त कर दी जाती है। क्रूर भाग्य उस चित्र में भी हमारा मिलन नहीं सह पाता।'

मेघदूत का एक अन्यतम वैशिष्ट्य है—प्रकृति पर सर्वत्र सचेतन प्राणी का आरोप। नितान्त जड़ मेघ को कालिदास ने संवेगशील तथा भावोद्वेलित सचेतन प्राणी का स्वरूप दे दिया है। कालिदास की भावना का तनिक सा स्पर्श पाकर ही मेघदूत के पर्वत, नदी, वृक्ष सभी तो प्राणवन्त हो उठे हैं। रामगिरि पर्वत परम स्नेही मित्र की भाँति वर्षा ऋतु में अपने मित्र मेघ का सम्मिलन पाकर वाष्पाश्रु बहाने लगता है— (पूर्वमेघ 12)। वेगवती नदी यौवनज्वारवती नायिका की भाँति मेघपुरुष से रतिदान की कामना करती है (पूर्वमेघ 30)। प्रिय से प्यार से गर्विता नायिका की भाँति गंगा पार्वती का उपहास सा करती हुई शिव की जटाओं को अपने हाथों से पकड़ लेती है (पूर्वमेघ 54)। कामुक व्यक्ति की भाँति स्वयं मेघ भी अलका नगरी के गगनस्पर्शी महलों में प्रविष्ट होकर चित्रावलियों को जलकणों से दूषित करके बदन चुरा कर वातायनों के जालमार्ग से भाग जाता है (उत्तरमेघ 8)। ऐसे अनेक वर्णन सम्पूर्ण मेघदूत में सर्वत्र व्याप्त हैं। इस प्रकार कालिदास ने मेघदूत में प्रकृति के विभिन्न उपादानों पर बड़ी कुशलता से सचेतनता का आरोपण कर दिया है।

नायिका का रूपवर्णन कालिदास का प्रिय विषय है। कालिदास की सभी नायिकाएँ शकुन्तला, उर्वशी, पार्वती आदि—अपरूप रूपवती हैं। वस्तुतः कालिदास ने अपने प्रत्येक काव्य में नायिका का रूपवर्णन अत्यन्त तन्मयता से किया है। उनकी प्रत्येक नायिका विधाता की प्रथम अथवा एकमात्र सृष्टि जान पड़ती है। मेघदूत में यक्षपत्नी के वर्णन में कालिदास पीछे नहीं रहे हैं—(उत्तरमेघ 22)।

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणानिम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥

अर्थात् 'वहाँ जो दुबली पतली-सी, कली जैसे दाँतों वाली, पके बिम्बाफल के समान लाल ओठों वाली, क्षीण कटि, चकित हरिणी के समान नेत्रों वाली, गहरी नाभि

वाली, नितम्बभार से मन्थरगामिनी, स्तनभार से तनिक आगे को झुकी हुई, विधाता की आदि सृष्टि से सदृश तुम्हें दिखाई पड़े (वही मेरी पत्नी है)।' एक ही श्लोक में नायिका के अंगप्रत्यंग का इतना सुन्दर एवं सूक्ष्म वर्णन अन्य कवियों में प्रायः उपलब्ध नहीं होता।

अपनी अन्य रचनाओं की ही भाँति मेघदूत में भी महाकवि कालिदास की भाषा सरस, सरल, प्राञ्जल, परिमार्जित तथा प्रसाद गुण सम्पन्न है। जहाँ जिस भाव को कालिदास जिस रूप में प्रगट करना चाहते हैं, उनकी भाषा तदनुरूप ही उपस्थित हो जाती है। अलंकार योजना भी कहीं कृत्रिम नहीं है। अनुप्रास, यमक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना, काव्यलिंग, समुच्चय, विभावना, विशेषोक्ति आदि सभी अलंकार यथास्थान सहज एवं सुन्दर रूप में प्रयुक्त हुए हैं। हिमालय की गोद में बसी अलका नगरी का उपमा सौन्दर्य देखते ही बनता है (पूर्वमेघ 67)

तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां
न त्वं दृष्टवा न पुनरलकां ज्ञास्यसेकामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्॥

सम्पूर्ण मेघदूत कालिदास के काव्यकौशल का मूर्तिमन्त साक्ष्य है। कवि ने पूर्व मेघ में बहिर्प्रकृति का चित्रण किया है तो उत्तरमेघ में मानव की अन्तःप्रकृति तन्मयतापूर्वक चित्रित है। उसमें विरही मानव की समस्त आशाओं, निराशाओं, हर्ष-विषाद, सुख एवं दुख का सम्पूर्ण मनोजगत् प्रत्यक्ष हो गया है। मेघदूत में करुणा से ओतप्रोत विप्रलम्भ का आद्योपान्त निर्वाह है। संक्षेप में, परिपक्व कला, कल्पना का असीम विस्तार, माधुर्यपूर्ण ललित भाषा, विषय की एकतान गति, संगीत एवं लय का एकत्र समन्वय तथा रस की सम्पूर्ण निर्भर निष्पति—यही मेघदूत गीतिकाव्य है और प्रकृति के सुरम्य वर्णन, मनोभावों के सहज उद्रेक तथा सरस, प्रासादिक शैली के कारण कालिदास प्रथम गीतिकाव्यकार हैं और मेघदूत संस्कृत का प्रथम गीतिकाव्य है।

'मेघदूत' को संस्कृत साहित्य में एक विशिष्ट काव्यपरम्परा को प्रारम्भ करने का भी श्रेय है। 'सन्देशकाव्य' अथवा 'दूतकाव्य' की परम्परा मेघदूत के अनुकरण पर ही प्रारम्भ हुई। भले ही काव्यकला की दृष्टि से वे परवर्ती दूतकाव्य उच्चकोटिक न हों किन्तु उनकी संख्या पचास के लगभग है। इन दूतकाव्यों में पशु, पक्षी, पौराणिक व्यक्ति अथवा भावात्मक वस्तु तक को दूत रूप में चुना गया। जैन कवियों को 'मेघदूत' विशेष आकर्षक लगा। मेघदूत के एक एक श्लोक के अन्तिम चरण को समस्या के रूप में ग्रहण करके कवियों ने अन्य तीन चरणों में समस्यापूर्ति की। इस दृष्टि से 8वीं शती के आचार्य जिनसेन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने 'पार्श्वाभ्युदय' नामक काव्य में 364 मन्दाक्रान्ता छन्दों में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवन चरित वर्णित किया और प्रत्येक श्लोक में 'मेघदूत' के श्लोकों के एक या दो चरण का भी उपयोग किया। इनके अतिरिक्त भी वेदान्तदेशिक (13वीं शती ईस्वी) का 'हंससन्देश', रूपगोस्वामी (15वीं शती ईस्वी) का 'हंसदूत' तथा कृष्णानन्द (17वीं शती ईस्वी) का 'पदांकदूत' आदि दूतकाव्य पठनीय हैं।

घटकर्पर

इस कवि ने इसी नाम के काव्य—घटकर्पर काव्य—की रचना की। इसके जीवनवृत्त अथवा समय के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं होता। केवल ऐसी जनश्रुति मात्र है कि घटकर्पर महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे।

'घटकर्पर' एक लघु गीतिकाव्य है जिसमें केवल 22 पद्य हैं। इसका कथानक मेघदूत के कथानक से पात्र दृष्टि से एकदम उल्टा है। अर्थात् एक नवोढा विरहिणी वर्षा ऋतु के आगमन पर मेघ के माध्यम से अपने पति के पास सन्देश भेजती है। विषय के अतिरिक्त कवि ने अपनी भाषा एवं शैली भी मेघदूत के सदृश रखने का प्रयास किया है, किन्तु शब्दाडम्बर के प्रति कवि के तीव्र आग्रह के कारण शैली कृत्रिम हो गई है। इस सम्पूर्ण काव्य में यमक अलंकार का बहुल प्रयोग है। कवि को अपने यमक प्रयोग पर बहुत गर्व है। एक पद्य में वह प्रतिज्ञा करता है कि 'यदि कोई अन्य कवि यमक-प्रयोग में मुझसे श्रेष्ठ सिद्ध हो जाए, तो मैं घड़े के खप्पर से उसके यहाँ पानी भरने को तत्पर हूँ।'

आलम्ब्य वाम्बुतृषित करकोशपेयं
भावानुरक्तवनितासुरतैः शपेयम्।
जीयेय येन कविना यमकैः परेण
तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण॥

सम्भवतः इस गर्वोक्ति-रूप श्लोक के कारण ही कवि का नाम घटकर्पर रूप में प्रसिद्ध हुआ।

हाल

महाकवि हाल रचित 'गाथा सप्तशती' यद्यपि महाराष्ट्री प्राकृत में उपनिबद्ध है, संस्कृत में नहीं; किन्तु यहाँ उसका उल्लेख करना नितान्त प्रासंगिक ही है। जिस प्रकार प्रबन्ध शैली पर लिखे गए गीतिकाव्यों का नेतृत्व मेघदूत ने किया, उसी प्रकार मुक्तक गीतिकाव्यों की अग्रदूत गाथासप्तशती बनी। रचनाकार हाल के समय के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। बाण ने अपने 'हर्षचरित' में हाल को सातवाहन नाम से स्मरण किया है।[12] यदि इस ग्रन्थ के प्रणेता हाल अथवा सातवाहन को आंध्र राजवंश के इसी नाम का राजा स्वीकार कर लिया जाए तो इस ग्रन्थ का रचनाकाल ईसा की प्रारम्भिक शतियों तक जा पहुँचता है।

गाथा सप्तशती में 700 आर्या छन्द संगृहीत हैं जो प्राकृत भाषा में गाथा कहलाते हैं। इनमें कुछ गाथाएं स्वयं हाल रचित हैं तथा कुछ अन्य कवियों की रचनाएँ हैं। इस दृष्टि से यह काव्य मुक्तक गीतिकाव्य का प्रथम संग्रह है।

कालिदास के उपरान्त गीतिकाव्य की मूलभावना में ही पर्याप्त अन्तर आया। घटकर्पर

12. हर्षचरित, श्लोक 13— अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः ।
विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः॥

काव्य में भी यह परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है। शृंगार के उदात्त पक्ष के अतिरिक्त परकीया नायिका का प्रेम वर्णन भी काव्य में प्रविष्ट हुआ। गाथा सप्तशती में ही ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है[13] परवर्ती संस्कृत साहित्य की शृंगार भावना तथा प्रणय चित्रण के स्वरूप निर्धारण में इस गीतिकाव्य का पर्याप्त योगदान है। किन्तु फिर भी गाथा सप्तशती अपने ढंग की एक नवीन ही रचना है जिसका प्रत्येक पद्य स्वयं में स्वतन्त्र तथा रसनिर्भर है। डॉ. परमानन्द शास्त्री के शब्दों में 'इसमें जिस प्रकार की लौकिक रस प्रधान कविता का दर्शन होता है वह संस्कृत साहित्य में अपरिचित सी थी। छोटे मोटे नित्य घटने वाले व्यापारों के साथ इसमें एक ऐसा निकट सम्पर्क पाया जाता है जो आमुष्मिकता के आतंक से त्रस्त पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में बिल्कुल नहीं मिलता। प्रेम और करुणा के चुभने वाले भाव, प्रेमियों की रस क्रीड़ाओं का बोलता हुआ चित्र और प्रेम के घात प्रतिघात के मनोहर दृश्य इस ग्रन्थ में सजीव रूप में प्रगट हुए हैं।' नगर के जनाकीर्ण कोलाहल तथा शिष्टाचार से दूर ग्राम की सरल भोली युवतियाँ एवं ग्रामीण युवक इस काव्य में पात्र रूप में ग्रहण किए गए हैं। इस दृष्टि से नगर जीवन की अपेक्षा लोकजीवन इस काव्य में प्रतिबिम्बित हुआ है। शृंगार रस के अतिरिक्त गाथा सप्तशती में यत्र तत्र प्रकृति चित्रण तथा नीति सम्बन्धी सूक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। इन गाथाओं की भाषा प्रासादिक तथा शैली सरल है।

अलंकार शास्त्र के आचार्य गाथा सप्तशती की ओर विशेषतया आकृष्ट हुए। ध्वन्यात्मकता तथा उत्तम व्यञ्जना के कारण इसके अनेक श्लोक उत्तम काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। ध्वनि काव्य के विभिन्न भेदों प्रभेदों के उदाहरण रूप में शताधिक गाथाएँ विभिन्न काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उद्धृत की गई हैं। गोवर्धनाचार्य ने 'गाथा सप्तशती' से ही प्रभावित होकर संस्कृत भाषा में 'आर्या सप्तशती' की रचना की। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बिहारी की सतसई भी इस काव्य से बहुत प्रभावित है।[14]

भर्तृहरि

संस्कृत गीतिकाव्य के इतिहास में भर्तृहरि का स्थान महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इनका स्थितिकाल और व्यक्तित्व भी नितान्त विवादास्पद ही रहा है। प्रसिद्ध लोककथाओं तथा जनश्रुतियों के अनुसार भर्तृहरि सम्राट् विक्रमादित्य के भाई थे। ये अपनी पत्नी पिंगला में बहुत अधिक अनुरक्त थे; किन्तु अपनी पत्नी के पर पुरुष-प्रेम को जानकर भर्तृहरि ने एकबारगी ही गृहस्थजीवन त्याग दिया। इस जनश्रुति का साम्य भर्तृहरि के काव्य में नहीं झलकता। कतिपय विद्वान् कवि भर्तृहरि को प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि से अभिन्न मानते हैं जिन्होंने 'वाक्यपदीय' की रचना की थी और चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार जिनकी मृत्यु

---

13. गाथा सप्तशती 3/37, 4/1, 7/88 आदि

14. गाथा सप्तशती— ईषत्कोषविकासं यावन्नाप्नोति मालतीकलिका।
मकरन्दपानलोलुप मधुकर किं तावदेव मर्दयसि॥
तुलना कीजिए—बिहारी—नहि पराग नहि मधुर मधु नहि विकास यहि काल।
अली कली ही सो बँध्यो आगे कौन हवाल॥

650 ईस्वी में हुई थी। किन्तु इस अभिन्नता के लिए भी कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। भर्तृहरि के काव्य के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि भर्तृहरि को वैदिक आचार-विचार तथा पौराणिक सिद्धान्तों पर पूर्ण आस्था थी। अधिकांश विद्वान् भर्तृहरि को छठी शती के अन्त में मानने के पक्ष में हैं।

भर्तृहरि ने तीन शतकों की रचना की है—नीतिशतक, शृंगारशतक तथा वैराग्यशतक। शतकों के नाम के अनुरूप ही इनमें क्रमशः नीति, शृंगार और वैराग्य का सुन्दर एवं सरस चित्रण है।

नीतिशतक में कवि ने सार्वभौमिक नीति सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। इस शतक में भर्तृहरि ने कालिदास के सदृश काव्यकुशलता से स्मृति ग्रन्थों की गम्भीर नैतिक मर्यादा वर्णित की है। परोपकार, वीरता, साहस, उद्यम, उदारता, संसार की निष्ठुरता, राजा अथवा धनी जन की उद्धतता, मूर्ख धनी द्वारा निर्धन विद्वान् का अपमान—आदि विषयों को भर्तृहरि ने सुन्दरता पूर्वक उपन्यस्त किया है। संसार में मधुर प्रिय वाणी का कितना महत्त्व है, इसे भर्तृहरि के शब्दों में देखिए—

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥

मानव जीवन में साहित्य, संगीत एवं कला का स्थान कितना ऊँचा है, इसे भर्तृहरि ने भली भाँति पहचाना था। इसीलिए वे साहित्यादि से रहित मनुष्य को पूंछ सींग रहित पशु मानते हैं—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुपुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानः तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥

संसार में सभी विद्वानों ने धन की सर्वाधिक निन्दा की है। फिर भी मानव जीवन, समाज तथा सम्पूर्ण विश्व में धन की महत्ता कभी कम नहीं होती। जिसके पास धन है, वह व्यक्ति सर्वगुणसम्पन्न मान लिया जाता है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, सः पण्डितः सःश्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति॥

सम्पूर्ण नीतिशतक में भर्तृहरि ने मनुष्य के लिए उन्हीं उदात्त गुणों को ग्रहण करने का आग्रह दिखाया है, जो गुण समाज एवं देश के मंगल साधक हैं।

शृंगारशतक में रमणी-सौन्दर्य की मोहकता, तथा विभिन्न विलास विभ्रमों द्वारा पुरुषों को आकृष्ट करने की नारी की विदग्धकला का परिचय भर्तृहरि ने पूर्णरूपेण व्यक्त किया है। स्त्री कितनी विविध चेष्टाओं से पुरुष के हृदय को अपने रूपजाल में आवेष्टित कर लेती है, इसका चित्रण द्रष्टव्य है—

सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।

एताः प्रविश्य हृदयं सदयं नराणां
किं किं हि वामनयना न समाचरन्ति॥

नारी सौन्दर्य एवं आचरण की सच्ची परख भर्तृहरि के काव्यों में सर्वत्र अभिव्यंजित हुई है। शृंगार शतक में कवि ने स्त्री सौन्दर्य के आकर्षण, प्रणय की विविध अवस्थाओं तथा सुरतकेलि आदि का विविध चित्रण तो किया; किन्तु उन सबके गूढ़ अनुशीलन से यह स्वतः अभिव्यक्त हो जाता है कि भर्तृहरि प्रणय और रूप के इस विविध चित्रण से प्रेम और आकर्षण की तीव्रता किन्तु निःसारता का बोध करके स्त्री प्रेम की दुखद परिणति का भी पूर्ण ज्ञान करा देना चाहते थे। संसार में स्त्री यदि सुख और आकर्षण का मूल है, तो स्त्री ही दुख और विकर्षण की भी आधार भूमि है। शृंगार शतक में भर्तृहरि ने इसी भाव को उपन्यस्त किया है—

सत्यं जना वच्मि न पक्षपाताल्लोकेषु सप्तस्वपि तथ्यमेतत्।
नान्यन्मनोहारि नितम्बनीभ्यो दुःखैकहेतुर्न च कश्चिदन्यः॥

अर्थात् 'मैं सत्य कहता हूं, किसी पक्षपात के कारण नहीं। सातों ही लोकों में यह तथ्य है कि सुन्दरी स्त्री से बढ़ कर अधिक मनोहर कुछ नहीं है और (स्त्री से बढ़कर)दुख का एकमात्र कारण भी और कुछ नहीं है।'

भर्तृहरि के काव्य में प्राप्त इस शृंगार और वैराग्य की सम्मिलित भावना के कारण डॉ. सूर्यकान्त ने सच ही कहा है कि 'इस शतक में सांसारिक भोग तथा वैराग्य इन दो विकल्पों के मध्य अनिश्चय की मनोवृत्ति का चित्रण हुआ है जो शनैः शनैः वैराग्य के विषय में निश्चयात्मक बन जाती है।'

वैराग्यशतक में भर्तृहरि ने संसार की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन नितान्त मनोरम एवं सरल शैली में किया है, जिससे ऐहिक आकर्षणों तथा सांसारिक भोग विलासों के प्रति औदासीन्य एवं वैरागय की भावना उभरती है। इस शतक में भर्तृहरि ने सन्तोष को चरम सुख एवं वैराग्य अथवा ताटस्थ्य को ही उसका एकमात्र साधन माना है।

वयमिह परितुष्टाः वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सममिह परितोषो निर्विशेषो विशेषः।
स तु भवति दरिद्री यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः॥

भर्तृहरि के शब्दों में जीवन की क्षणभंगुरता का यह वर्णन दृष्टव्य है—'यह आयु क्षण क्षण क्षीण हो रही है, देह दुर्ग पर रोग शत्रु निरन्तर प्रहार करके उसे ध्वस्त करते जा रहे हैं, वृद्धावस्था सामने ही भयभीत करती खड़ी है, फिर भी मनुष्य दूसरे को पीड़ा पहुँचने से विरत नहीं होता, यह कैसा आश्चर्य है?'

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम्।

भर्तृहरि के तीनों शतकों की भाषा सरल, सुबोध एवं प्राञ्जल है। शैली प्रसादिक एवं परिष्कृत है जिसमें पदलालित्य एवं भावप्रवणता द्रष्टव्य है। एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

भर्तृहरि ने छन्दों में भी प्रायः सभी प्रचलित छन्दों का प्रयोग किया। अपने कथन की पुष्टि में दैनन्दिन जीवन के अनुरूप उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किए। इसीलिए भर्तृहरि के कथन सूक्ति बन कर लोक में खूब प्रचलित हुए—'विभूषणं मौनमपण्डितानाम्;' 'शीलं परं भूषणम्'; 'मूर्खस्य नास्त्यौषधम्'; 'चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः'; 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः' 'न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः' आदि।

अमरुक

अमरुक अथवा अमरु नाम से विख्यात कवि के शतक में प्रणय और शृंगार की ललित एवं मनोरम भंगियों के सर्वोत्तम चित्र उपलब्ध होते हैं। संस्कृत साहित्य में अमरुक शतक के मुक्तक सहृदयों में जितने अधिक प्रसिद्ध हैं, इस कवि का व्यक्तित्व अथवा परिचय उतना ही अप्रसिद्ध है। अद्यावधि अमरुक के देश अथवा काल का सम्यक् निर्णय नहीं हो सका है। इनके शृंगार-पगे मुक्तकों से चमत्कृत रसिक वृन्द में एक किंवदन्ती अवश्य प्रचलित है। तदनुसार शास्त्रार्थ में मण्डन मिश्र की पत्नी शारदा के द्वारा जो काम शास्त्र विषयक प्रश्न पूछे गए थे, उन्हीं का सम्यक् उत्तर देने के लिए शंकराचार्य ने अमरुक अथवा अमरु राजा के मृत शरीर में प्रवेश करके इस प्रसिद्ध शतक की रचना की। किन्तु इस किंवदन्ती की पुष्टि में भी कोई प्रमाण नहीं है। अमरुक शतक की रचना भी प्रश्नोत्तर रूप में नहीं की गई है। इस महाकवि के रचनाकाल की भी यही स्थिति है। आनन्दवर्धन (850 ई.) ने ध्वन्यालोक में अमरुक के मुक्तकों की शतमुखी प्रशंसा की है। वामन (800 ई.) ने भी अमरुक के तीन श्लोकों को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि आठवीं शती के अन्त तक अमरुक की प्रसिद्धि पर्याप्त फैल चुकी थी। इस शतक की रचना शैली के आधार पर अमरुक का समय 700 ई. माना जाता है।

साहित्यिक दृष्टि से अमरुक शतक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। अमरुक ने अपने श्लोकों में शृंगाररस एवं उसके विविध भावों का जो मार्मिक चित्रण किया वह चमत्कारी है। विभिन्न ललित शृंगार चेष्टाओं, प्रमदाओं की आकर्षक भावभंगिमाओं तथा विदग्ध नागर जनों की चतुर कलाओं का एकत्र सुन्दर वर्णन अमरुक में उपलब्ध होता है। आनन्दवर्धन ने अमरुक के एक-एक मुक्तक को 'प्रबन्धायमान' कहा, अर्थात् रस, भाव और अर्थ का जितना विस्तार एवं सन्निवेश एक सम्पूर्ण प्रबन्ध में किया जा सकता है, उतना अमरुक के एक-एक श्लोक में हो गया है।[15] मम्मट ने ध्वनिकाव्य को समझाते हुए अमरुक के पद्य को ही उदाहरण रूप प्रस्तुत किया है—

---

15. मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। तथा अमरुकस्य कवेः मुक्तकाः शृंगारस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

अमरुक ने सामान्यतः शृंगार के सभी पक्षों का चित्रण किया है किन्तु उनके काव्य में मान विप्रलम्भ के चित्र अत्यधिक सुन्दर हैं। अमरुक शतक के आधे से अधिक भाग में प्रिय और प्रिया का पारस्परिक मान तथा प्रसादन है। नायक के अपराध करने पर नायिका रूठी बैठी है। रूठी नायिका को मनाते हुए उनका संवाद अनूठा ही बन पड़ा है—

बाले, नाथ, विमुञ्च मानिनि रुषं, रोषन्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम, का तवास्मि, दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते॥

अर्थात् 'प्रिये !' 'नाथ !' 'मानिनि, क्रोध त्याग दो।' 'क्रोध से भी मैं क्या कर सकी?' 'मेरे हृदय में खिन्नता उत्पन्न कर दी।' 'आपका कुछ भी दोष नहीं है, सब अपराध तो मेरा है।' 'फिर गद्गद वाणी में रो क्यों रही हो?' 'किसके सामने रो रही हूँ?' ' क्यों, मेरे सामने ही तो।' 'मैं आपकी क्या हूं?' 'प्रियतमा!' 'वही तो नहीं हूँ, इसीलिए रो रही हूँ।'

कालिदास के पश्चात् शनैः शनैः नाट्यशास्त्र एवं कामशास्त्र का स्वरूप निर्धारित हो जाने पर नायक और नायिका भेद तथा उनके गुणों का रसोचित वर्णन संस्कृत कवियों का प्रिय विषय बन गया। अमरुक शतक में ऐसे अनेक श्लोक हैं जिनमें दक्षिण, शठ, धूर्त आदि नायकों, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, धीरा, अधीरा, स्वाधीनभर्तृका, वासकसज्जा, विरोहत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, अभिसारिका आदि नायिकाओं तथा स्त्री पुरुषों के सात्विक, शरीरज, स्वभावज तथा अयत्नज अलंकारों एवं गुणों का अत्यन्त सरस चित्रण हुआ है। ये सारे चित्रण अमरुक की शृंगारिक कविता में अनायास ही समाविष्ट हुए हैं इसलिए उनमें स्वाभाविकता एवं प्रवाह है। एक मुग्धा नायिका की शृंगारिक मनस्थिति का मनोरम वर्णन देखिए—कक्ष को चारों ओर सूना देखकर नवोढ़ा पत्नी ने धीरे से सेज से उठ कर व्याजनिद्रित पति का मुख देर तक निहारा और पति को भली प्रकार सोया जानकर उसके मुख का चुम्बन कर लिया। किन्तु पति के रोमञ्चित कपोलों को देख लज्जा से झुके मुख वाली प्रिया देर तक पति से चुम्बित हुई—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिन्छनै
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

प्रणय की उत्फुल्लता के चित्रों के साथ ही विरह की व्याकुलता के अनेक पद्य भी उतने ही भाव गम्भीर बन पड़े हैं। पति प्रवास में गया है। प्रोषित पतिका नायिका को प्रिय के आने की आशा है। उस नायिका के दैन्य, चिन्ता, खिन्नता, विषाद तथा उत्कण्ठा के

भावों से भरा यह श्लोक सहृदय के अन्त:करण को तुरन्त द्रवित कर देता है, तथा विरह की सम्पूर्ण अभिव्यञ्जना प्रस्तुत करता है—

आदृष्टिप्रसरात्प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
विच्छिन्नेषु पथिष्वहः परिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति।
दत्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियास्मिन् क्षणे
मा भूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम्॥

अर्थात् 'दृष्टि के प्रसार तक प्रिय के आने के मार्ग को भली प्रकार देख कर, दिन ढलने, अँधेरा घिरने, मार्ग में पथिकों का आना जाना रुक जाने पर दुखी प्रोषितपतिका ने खिन्न होकर घर की ओर पैर बढ़ाए और उसी क्षण गरदन घुमा कर फिर से उस मार्ग की ओर देखा कि कहीं प्रिय आ न गए हो।'

प्रिय अथवा प्रिया के विरह के प्रलाप, ज्वर, उद्वेग, मूर्च्छा आदि दशाएँ तो सहज ही हैं, किन्तु प्रणय की गम्भीता के अनुपात में ही विरह की व्यापकता का प्रसार भी बढ़ जाता है। प्रिया के विरह में आकुल व्याकुल नायक की दशा द्रष्टव्य है—

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यंके सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेतः प्रकृतिपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥

यह व्याकुलता न तो प्रलाप है और न ही उन्माद; यह तो वह एकचित्तता तथा तादात्म्य है जिसमें भक्त की भाँति वियोगी नायक भी सर्वत्र अपने प्रिय को ही देख रहा है।

अमरुक ने अपने पद्यों में 'गागर में सागर' भर कर भी उन्हें क्लिष्ट तथा दुरूह नहीं बनने दिया है। संस्कृत भाषा की अर्थगरिमा का सर्वोत्कृष्ट प्रकाशन अमरुक के श्लोकों में हुआ है। छन्दों की विविधता में अमरुक शतक में निरन्तर नवीनता बनी रही है। अमरुक की भाषा सरस, सरल, प्रसादिक एवं प्राञ्जल है। वैदर्भी रीति का शुद्ध एवं उत्कृष्ट रूप अमरुक शतक में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ की एक दर्जन से अधिक टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। हिन्दी के महाकवि बिहारी के दोहों में अमरुक के पद्यों का बहुत प्रभाव दीख पड़ता है। अमरुक शतक के टीकाकार अर्जुनवर्मदेव (1215 ई.) ने अमरुक के कवित्व की उपमा डमरू के नाद से दी है, जिसकी ध्वनि में अन्य कवियों की शृंगारिक उक्तियाँ सुनाई ही नहीं देती—

अमरुककवित्वडमरुकनादेन, विनिह्नुता न सञ्चरति।
शृंगारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणयुगलेषु॥

भल्लट

इस कवि द्वारा रचित मुक्तक पद्यों का एक शतक प्राप्त होता है जिसे कवि के नाम पर ही भल्लटशतक कहा जाता है। प्रसिद्ध आलंकारिकों तथा शास्त्रकारों ने भल्लट के पद्यों को उदाहृत किया है। इनका समय आठवीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है।

आनन्दवर्धन ने इनके एक पद्य को अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में दो बार उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त, मम्मट तथा क्षेमेन्द्र ने इनके पद्यों को अपने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया।

जैसा कहा जा चुका है, भल्लट शतक मुक्तक पद्यों का संग्रह है। कवि ने अन्योक्ति के द्वारा नीति की सुन्दर शिक्षा दी है। माधुर्य और प्रसाद गुण प्रत्येक श्लोक की विशेषता है। निम्नलिखित श्लोक अन्योक्ति के द्वारा जीवन में आशा की निःसारता को कितनी सुन्दरता से प्रस्तुत कर रहा है—

विशालं शाल्मल्या नयनसुभगं वीक्ष्य कुसुमं
शुकस्यासीद् बुद्धिः फलमपि भवेदस्य सदृशम्।
इति ध्यात्वोपास्तं फलमपि च दैवात् परिणतं
विपाके तूलोऽन्तः सपदि मरुता सोऽप्यपहृतः ॥

बिल्हण

विक्रमांकदेव चरित नामक ऐतिहासिक महाकाव्य के रचयिता बिल्हण (1076-1127 ई.) को चौरपञ्चाशिका नामक गीतिकाव्य का रचयिता भी माना जाता है। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, इस लघु गीतिकाव्य में पचास पद्य हैं। इसकी रचना के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि बिल्हण का एक राजकुमारी से गुप्त प्रणय था। राजा को इस प्रणय की सूचना मिली तो क्रुद्ध होकर उसने कवि को प्राणदण्ड दिया। वधस्थल की ओर जाते हुए उस गुप्त प्रणय के कारण चौर्यरत के अपराधी कवि ने अपने प्रणयानुभवों के वर्णन पूर्व के इस गीतिकाव्य की रचना की। अपराधी की कवित्वशक्ति से प्रभावित राजा ने कवि के अपराध को भी क्षमा कर दिया और राजकुमारी से उसका विवाह भी कर दिया। किन्तु यह किंवदन्ती नितान्त काल्पनिक ही प्रतीत होती है। क्योंकि महाकवि बिल्हण ने 'विक्रमांकदेवचरित' में अपना जो विस्तृत जीवन परिचय दिया है उसमें इस प्रकार की घटना का कोई संकेत भी नहीं है।

मेघदूत के सदृश ही चौरपञ्चाशिका में भी विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यंजना है। इसका प्रत्येक पद्य 'अद्यापि' (अब भी) शब्द के प्रारम्भ होता है जिसमें कवि वर्णन करता है कि अब भी (जब उस गुप्त प्रणय के कारण मृत्यु दण्ड प्राप्त होने वाला है) मुझे प्रिया के आलिंगन तथा संस्पर्शादि की पुलक भरी स्मृति बनी हुई है। इस गीतिकाव्य में शृंगार का अर्थ केवल केलिगृह, शयन, सुरतक्रीड़ा आदि तक सीमित रह गया है। शृंगार के केवल शारीरिक सुख से सम्बद्ध विशेष व्यापार एवं भावनाएँ ही इस काव्य में अभिव्यक्त हो सकी हैं। एक ऐसा ही उदाहरण द्रष्टव्य है—

अद्यापि तां भुजलतार्पितकण्ठपाशां
वक्षःस्थलं मम पिधाय पयोधराभ्याम्।
ईषन्निमीलितसलीलविलोचनान्तां
पश्यामि मुग्धवदनां वदनं पिबन्तीम् ॥

सम्भवत: शृंगार के एकपक्षीय चित्रण के कारण ही इस लघुकाय काव्य में भाव और शब्दावली की पुनरावृत्ति भी हुई है जो कवि की असामर्थ्य की सूचना देती है। किन्तु कतिपय श्लोक वस्तुत: सुन्दर बन पड़े हैं। एकान्त में दर्पण में अपने सौन्दर्य को निहारती नायिका को अकस्मात् ही नायक का प्रतिबिम्ब भी दिखाई दिया; ऐसी नायिका के कम्पन, सम्भ्रम, लज्जा, शृंगार तथा विभ्रम का यह वर्णन रुचिकर है—

अद्यापि तां रहसि दर्पणमीक्षमाणां
संक्रान्तमत्प्रतिनिभं मयि पृष्ठलीने।
पश्यामि वेपथुमतीं च ससम्भ्रमां च
लज्जाकुलां समदनां च सविभ्रमां च॥

इस काव्य की भाषा सरल एवं प्रवाहपूर्ण है। शैली सरस, आडम्बरहीन तथा माधुर्यगुणोपेत है।

धोयी

कालिदास ने मेघदूत की रचना करके जिस सन्देशकाव्य अथवा दूतकाव्य परम्परा को प्रारम्भ किया था, पवनदूत भी उसी परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण काव्य है। कविवर धोयी ने इसकी रचना की थी। बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (1116 ई.) की सभा में आश्रय पाने के कारण धोयी का स्थितिकाल बारहवीं शती सुनिश्चित है।

पवनदूत गीतिकाव्य में 104 श्लोक हैं। मेघदूत की भाँति यह काव्य भी मन्दाक्रान्ता छन्द में उपनिबद्ध है। धोयी ने अपनी कृति का नायक अपने आश्रयदाता राजा लक्ष्मणसेन को ही बनाया है। दक्षिण प्रदेशों की विजय के क्रम में राजा लक्ष्मणसेन मलयगिरि पहुँचते हैं जहाँ कुवलयवती नामक एक गन्धर्वकन्या राजा लक्ष्मणसेन के कामदेव सदृश रूप पर मुग्ध हो जाती है। राजा जब स्वदेश लौट आता है तो विरह विधुरा कुवलयवती दक्षिणपूर्व पवन को अपना दूत बना कर अपने प्रियतम के पास प्रेमसन्देश भेजती है। यही पवनदूत का संक्षिप्त कथानक है।

धोयी का यह काव्य मेघदूत के सम्पूर्ण अनुकरण पर रचा गया है अत: मौलिकता का इसमें अवकाश कम है; फिर भी इसमें भावाभिव्यंजना सुन्दर बन पड़ी है। कविता की गति सहज एवं प्रवाहमयी है तथा वाक्यविन्यास सुन्दर एवं मनोरम है। प्रिय के वियोग में व्यथित कुवलयवती स्वयं का वर्णन कितनी सुन्दरता से कर रही है—

सारंगाक्ष्या जनयति न यद् भस्मसादंगकानि
त्वद्विश्लेषे स्मरहुतवह: श्वाससंधुक्षितोऽपि।
जाने तस्या: स खलु नयनद्रोणिवारां प्रभावो
यद्वा शश्वन्नृप तव मनोवर्तिन: शीतलस्य॥

अर्थात् 'हे राजन्! आपके विरह में श्वास पवन से सुलगाई जाने पर भी यह कामाग्नि (मुझ) सारंगाक्षी के अंगों को जलाकर जो भस्म नहीं कर पाती, उसके दो ही कारण समझती हूँ। या तो नेत्रों से निरन्तर बहते वाष्पजल का प्रभाव है, अथवा आपकी शीतल

मूर्ति उसके हृदय में निरन्तर रहने का ही यह प्रभाव है।'

भक्त शिरोमणि तुलसीदास ने रामचरितमानस में इसी श्लोक की कुछ छाया ग्रहण करके भी अधिक सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है। हनुमान लंकादहन करके लौटने के पश्चात् प्रभु राम को सीता का सन्देश सुना रहे हैं—

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहि सरीरा।
नयन स्रवहि जलु निज हित लागी। जरै न पाव देह बिरहागी॥

गोवर्धनाचार्य

गोवर्धनाचार्य बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (1116 ईस्वी) के आश्रित कवि थे। अतः इनका समय बारहवीं शती का पूर्वार्ध है। गोवर्धनाचार्य ने **आर्यासप्तशती** नामक काव्य रचना की।

जैसा नाम से ही ज्ञात हो जाता है, यह सम्पूर्ण गीति काव्य केवल आर्या छन्द में लिखा गया है। गोवर्धनाचार्य आर्या छन्द में काव्य रचना के लिए प्रसिद्ध हो गए हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में गोवर्धनाचार्य ने स्वयं अपनी रचना की प्रशंसा की है (51)

मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनस्यार्याः॥

आर्या छन्द का जितना सुन्दर एवं परिष्कृत रूप इस काव्य में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं देखने को मिलता। राजा हाल की 'गाथा सप्तशती' तो प्राकृत भाषा के कवियों द्वारा रचित विशाल साहित्य से चुनी हुई गाथाओं का संकलन था, जिसमें कुछ गाथाएँ हाल रचित भी थी। किन्तु आर्या सप्तशती एक ही कवि की रचना है। गोवर्धनाचार्य से पूर्व मुक्तक गीतिकाव्य में अधिकतर शतक लिखने की प्रणाली प्रचलित थी। भर्तृहरि के शतकत्रय, अमरुक का शतक आदि प्रसिद्ध हैं। किन्तु गोवर्धनाचार्य ने गाथा सप्तशती के अनुकरण पर आर्या सप्तशती की रचना की। दोनों काव्यों में अनेक स्थानों पर भाव एवं अर्थ की दृष्टि से विस्मयजनक साम्य है। आर्यासप्तशती के कुछ श्लोक तो गाथा सप्तशती के श्लोकों के अनुवाद मात्र ही जान पड़ते हैं।[16]

'आर्या सप्तशती' शृंगार के विविध स्वरूपों को सम्यग्तया उजागर करती है। शृंगार की विविध अवस्थाओं का वर्णन इस काव्य में बहत मार्मिकता से हुआ है। प्रेमी एवं प्रेमिकाओं की विविध प्रणय केलियों का चित्रण गोवर्धनाचार्य ने अत्यन्त सरस रूप में किया है। नायिकाएँ सभी प्रकार की हैं। कहीं पर विविध कामक्रीड़ाओं में चतुर, सम्भ्रम-विलास-कटाक्षादि के प्रयोग में प्रवीण नगर निवासिनी नायिकाएँ दृष्टिगोचर होती हैं; तो कहीं पर सरल, भोली, काम रहस्य से नितान्त अनभिज्ञ ग्राम वधूटी ही नायिका रूप में आकर्षित करती है। गोवर्धनाचार्य ने संयोग तथा वियोग की मार्मिक दशाओं का चित्रण

---

16. तुलनात्मक द्रष्टव्य— गाथा सप्तशती 3/37 एवं आर्या सप्तशती 568
गाथा सप्तशती 6/29 एवं आर्या सप्तशती 428
गाथा सप्तशती 7/88 एवं आर्या सप्तशती 302

अत्यन्त रुचिकर कल्पनाओं से संयुक्त करके किया है। वियोग से व्यथित नायिका की समता अपभ्रंश भाषा से करने का वर्णन द्रष्टव्य है (342)

न स वर्णो न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः।
बाला त्वद्विरहादपि जातापभ्रंशभाषेव॥

प्रेमपगी नायिका तथा चतुर नागर नायक—दोनों का चित्रण कवि ने एक ही आर्या में अनूठे ढंग से किया है—

सा सर्वथैव रक्ता रागं गुञ्जेव न तु मुखे वहति।
वचन पटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव॥

'नायिका नायक में सर्वथा अनुरक्त है किन्तु वह मुख से अपने प्रेम को प्रगट नहीं करती, अतः नायिका गुञ्जाफल के सदृश है जो मुखभाग के अतिरिक्त सम्पूर्ण लाल होती है। किन्तु बोलने में चतुर नायक केवल अपनी वाणी से ही अपने अनुराग का कथन करता है, अतः नायक तोते के सदृश है जो केवल मुखमात्र में ही लाल होता है।'

आर्या सप्तशती में गोवर्धनाचार्य ने स्त्री को अधिकांशतया कामिनी रूप में ही चित्रित अवश्य किया है किन्तु वह स्त्री के अन्य अनेक रूपों से भी सुपरिचित थे (257)

तल्पे प्रभुरिव गुरुरिव मनसिजतन्त्रे श्रमे भुजिष्यवे।
गेहे श्रीरिव गुरुजनपुरतो मूर्तेव सा व्रीडा॥

अर्थात् 'वह शयन में स्वामिनी, कामतन्त्र में गुरु, गृह के श्रमयुक्त कार्यों में दासी, घर में लक्ष्मी अथवा शोभा तथा गुरुजनों के समक्ष साक्षात् लज्जा के सदृश है।'

किन्तु ऐसे उदाहरण आर्यासप्तशती में कम हैं। शृंगार के प्रति गोवर्धनाचार्य ने जो अत्यासक्ति प्रगट की है उसके कारण अनेक स्थल अश्लील हो गए हैं।[17] इसी अत्यासक्ति के कारण उनके काव्य में भावनाओं का अनौचित्य भी दृष्टिगोचर होता है, जिससे रसग्रहण बाधित हो जाता है।[18] किन्तु इस दोष के साथ गोवर्धनाचार्य का एक अन्यतम वैशिष्ट्य भी दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने अन्योक्तियों का शृंगार परक प्रयोग बहुत कुशलता पूर्वक किया है।

प्रतिभाशील गोवर्धनाचार्य ने अपनी आर्याओं में उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि अलंकारों का पर्याप्त आश्रय लिया है। किन्तु फिर भी इन आर्याओं में जितना अधिक रचनाकौशल है, उतनी काव्यात्मकता नहीं है। इस दोष के कारण की हम चर्चा कर चुके हैं। परवर्ती युग में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बिहारी की सतसई का प्रेरणादायक ग्रन्थ यही आर्यासप्तशती है। गीतगोविन्दकार जयदेव ने शृंगाररस ने परिपूर्ण रचना के क्षेत्र में गोवर्धनाचार्य को अनुपम-अद्वितीय माना है—

शृंगारोत्तर-सत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।

17. आर्या सप्तशती 14, 18, 202, 520, 568 आदि
18. आर्या सप्तशती 274— तिमिरेऽपि दूरदृश्या कठिनाश्लेषे च रहसि मुखरा च।
शंखमयवलयराजी गृहपतिशिरसा सह स्फुटतु॥

जयदेव

बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (1116 ई.) की सभा में धोयी और गोवर्धनाचार्य के साथ साथ एक और ऐसे महाकवि को भी आश्रय प्राप्त हुआ था, जिसने सुधावर्षी, रसनिस्यन्दि, मधुर काव्य की रचना से रसिकवृन्द को चमत्कृत भी कर दिया और रसाम्बुधि में आकण्ठ निमग्न भी कर दिया। ये थे पीयूषवर्षी कवि जयदेव। इनका रचित 'गीतगोविन्द' काव्य संस्कृत वाङ्मय का अनूठा भास्वर रत्न है। गीतगोविन्द में ही कवि ने अपने कुल एवं ग्राम का संक्षिप्त परिचय दिया है। तदनुसार जयदेव के पिता श्री भोजदेव बंगाल के किन्दुबिल्व नामक ग्राम के निवासी थे। यह स्थान आज 'केन्दुली' नाम से प्रसिद्ध है। इनकी माता का नाम रामादेवी अथवा राधादेवी था। पद्मावती नामक कन्या से जयदेव का विवाह हुआ था। जयेदव का सम्पूर्ण जीवन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की भक्ति में निमग्न जीवन था। आज भी 'केन्दुली' ग्राम लक्षाधिक वैष्णवों का तीर्थस्थल रूप है, जहां एकत्रित होकर वैष्णवजन जयदेव के गीतों को गाकर इस महाकवि का पुण्यस्मरण करते हैं।

कृष्णकथा की रसनिर्भर तथा सर्वोत्कृष्ट व्याख्या को प्रस्तुत करने वाले जयदेव ने 'गीतगोविन्द' की रचना में अद्‌भुत कौशल दिखाया है। जयदेव ने श्लोक, गद्य एवं गीत के मिश्रण से एक ऐसी अभिनव तथा अद्‌भुत काव्यशैली का सूत्रपात किया, जो संस्कृत काव्य की प्रचलित विधाओं में स्पष्टतया किसी एक प्रकार की नहीं कही जा सकती। गीतगोविन्द में जयदेव ने तीव्र भावानुभूति के स्थलों पर गीत का प्रयोग किया है, गद्य का प्रयोग अधिकांशतया संवादों में है तथा वर्णनात्मक स्थलों पर श्लोकों का प्रयोग किया गया है। विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों ने इस काव्यशैली को विविध नाम प्रदान किए। प्रोफेसर मैकडॉनल गीतगोविन्द को विशुद्ध गीति एवं विशुद्ध रूपक के मध्य की शैली मानते हैं। प्रोफेसर पिशेल एवं लेवी ने इसे संगीत तथा रूपक के मध्य का माना। प्रोफेसर पिशेल ने इसे संगीतरूपक का भी नाम दिया। सर विलयम जोन्स गीतगोविन्द को लघु ग्राम्यरूपक (पेस्टोरल ड्रामा) कहते हैं, तो प्रोफेसर लास्सन के मत में यह गीत रूपक (लिरिक ड्रामा) है। डॉ. श्रोदर ने गीतगोविन्द को 'परिष्कृत यात्रा' का नाम दिया, तो कतिपय भारतीय विद्वान् गीतगोविन्द को दरबार काव्य (कोर्ट एपिक) कहते हैं। यह किस काव्यशैली में रखा जाए, यह निश्चित करना कठिन ही है। जयदेव ने अपनी रचना को सर्गों में विभाजित किया है, अंगों अथवा अध्यायों में नहीं। अत: सम्भवत: जयदेव भी अपनी रचना को काव्य के अन्तर्गत मानते थे। किन्तु इसके साथ ही कवि ने प्रत्येक पद्य के साथ साथ संगीत निर्देश भी दिए हैं, कि गाए जाते समय उन पद्यों को किस राग तथा ताल में बाँधा जाए। इससे यह भी ध्वनित होता है कि इस काव्य की रचना करते समय जयदेव के मन:पटल के सम्मुख बंगाल के जात्रा महोत्सव अवश्य रहे होंगे।

'गीतगोविन्द' बारह सर्गों में उपनिबद्ध एक लघुकाय गीतिकाव्य है। प्रत्येक सर्ग का विशिष्ट नाम जयदेव ने साभिप्राय ही समायोजित किया है यथा सामोददामोदर:, अक्लेश-केशव:, स्निग्धमधुसूदन: आदि। प्रत्येक सर्ग में शीर्षक की पुष्टि करता हुआ कृष्ण चरित्र

वर्णित है। बारह सर्गों में कुल मिलाकर चौबीस गीत प्रबन्ध हैं। इन सर्गों में 'संस्कृत के वर्णित वृत्त तथा दूसरी ओर संगीत के मात्रिक पदों का विचित्र समन्वय दिखाई देता है।' पद्यों में प्रायः स्वयं कवि की उक्तियाँ, प्रकृति चित्रण तथा कृष्ण राधा कथा की पृष्ठभूमि दी गई और गेय पदों में प्रायः कृष्ण, राधा अथवा दूती की उक्तियाँ हैं। किन्तु ऐसा अनिवार्य नियम नहीं है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में आशीर्वादात्मक श्लोक अवश्य दिया गया है। इस गीतिकाव्य में कृष्ण नायक हैं और राधा नायिका। संस्कृत परम्परा में राधातत्त्व के प्रतिष्ठापक जयदेव कहे जाते हैं (यह विषय विशद चर्चा के उपुयक्त है किन्तु इस स्थल पर वह विस्तार अनुपयोगी है।) संक्षेप में 'गीतगोविन्द' की कथा इस प्रकार है—गोपियों के साथ रासक्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण के प्रति प्रणयिनी राधा अनेक उपलम्भवचन अपनी सखी से कहती है। साथ ही अपना अनन्य अनुराण भी श्रीकृष्ण पर प्रगट कर देती हैं। श्रीकृष्ण भी अन्य गोपिकाओं की अपेक्षा राधा के प्रति अधिक अनुरक्त हो जाते हैं। किन्तु दोनों का एकान्त मिलन नहीं हो पाता। राधा की सखी राधा के अनुराग और विरह व्यथा का वर्णन करके नायक और नायिका दोनों को ही मिलन के लिए प्रेरित करती है। राधा के प्रणय के प्रति उत्कण्ठित होकर भी कृष्ण संकेत स्थल नहीं पहुँचते। चन्द्रमा की शीतल किरणों से उद्दीप्त विरह पीड़ा के कारण अधीर राधा अत्यन्त सरस पदों में अपना अनुराग और वियोग व्यथा अभिव्यक्त करती है। तभी कृष्ण वहाँ आ जाते हैं। राधा कृष्ण को अनेक उपालम्भ देती हैं और मान करके बैठ जाती हैं। कलहान्तरिता राधा को सखी अनेक प्रकार से समझाने का प्रयास करती है। स्वयं कृष्ण भी आकर राधा को मनाते है। अन्ततः राधा का मान भंग होता है। सखी राधा को अभिसार के लिए प्रेरित करती है और राधा कुञ्ज में कृष्ण के समीप चली जाती है। श्रीकृष्ण की प्रणययाचना मान कर राधा उन्हें रतिदान देती है। अन्त में राधा के द्वारा प्रार्थना किए जाने पर श्रीकृष्ण स्वयं अपने हाथों से प्रियतमा राधा का शृंगार करते हैं। कवि की कृष्णस्तुति के साथ 'गीतगोविन्द' समाप्त हो जाता है।

इस गीतिकाव्य की कथा से ही स्पष्ट हो जाता है कि जयदेव ने इसमें शृंगार की विविध प्रणयकेलियों का सरस चित्रण किया है। आशा, निराशा, ईर्ष्या, मान, कोप, विरह, मानभंग, मिलन आदि विभिन्न शृंगार दशाएँ इस काव्य में सर्वत्र सरसतया उपनिबद्ध हैं। अलंकार शास्त्रीय आचार्यों ने शृंगार में मानसिक दशा के आधार पर नायिकाओं के स्वाधीनपतिका, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, अभिसारिका आदि जो आठ भेद वर्णित किए हैं, वे सभी इस गीतिकाव्य की नायिका राधा में प्राप्त हो जाते हैं। प्रिय के विरह में अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथा, उद्वेग, प्रलाप, आवेग, दैन्य, अधिमरण आदि अनेक दशाओं का सुन्दर चित्रण जयदेव ने किया है। साथ ही संयोग शृंगार के अनेक गोपन दृश्य भी जयदेव की कविता में मुखरित हुए हैं। शृंगार के विभिन्न पक्षों का चित्रण करके भी राधा कृष्ण की भक्ति के रूप में जयदेव ने शृंगारिक काव्य, लीला गान तथा स्तोत्र का एक अनुपम समन्वय प्रस्तुत किया।

अपूर्व गेयता तथा कोमल भाषा संयोजन के कारण 'गीतगोविन्द' जैसा सरस, सुन्दर तथा मधुरकाव्य विश्वसाहित्य में भी ढूंढे नहीं मिलता। इसकी भाषा नितान्त भावानुरूप

है, शब्द सौष्ठव प्रवाहमय है तथा शैली अन्यन्त रमणीय है—

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥

कोमलकान्त पदावली के साथ साथ ललित अनुप्रास युक्त छन्दों ने इस काव्य में एक रमणीय गति उत्पन्न कर दी है जो संगीत के स्वरों में बँध कर पाठक अथवा श्रोता के चित्त एवं मन को एकबारगी ही विमुग्ध कर देती है। इन गीतों के पाठ मात्र से ही सहृदय रसिकों के हृदय में तदनुरूप रस निष्पन्न हो उठता है। शब्दों के अन्तःसंगीत का जैसा चमत्कार एवं माधुर्य इस रचना में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रणयभावों की सुकुमार व्यञ्जना, साहित्यिक सौन्दर्य, भावप्रवण कवित्व और पदमाधुर्य में यह काव्य स्वयं अपना उपमान है। जयदेव ने अपनी रचना के सम्बन्ध में उचित ही कहा—

यद् गान्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं च यद् वैषणवं
यच्छृंगारविवेकतत्त्वरचना काव्येषु लीलायितम्।
तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णैकतानात्मनः।
सानन्दाः परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः॥

'गान्धर्व (संगीतादि) कलाओं में जो कुछ कौशल है, जितनी भी वैष्णव पूजा, ध्यान तथा उपासना पद्धति है, काव्यों में शृंगार विवेक के तत्त्वों से सम्पन्न जितना भी लीला विस्तार है—ये सारी ही विशेषताएँ कृष्ण में एकाग्रचित जयदेव पण्डित के गीतगोविन्द से सुधीजन सानन्द प्राप्त करते रहें।'

जयदेव ने गीतगोविन्द में जिस उद्दाम प्रणय की रसकेलियों का निर्भर चित्रण किया था, भारतीय टीकाकारों ने राधाकृष्ण की पृष्ठभूमि में उस प्रेम की प्रतीकात्मक दार्शनिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की। नायिका राधा जीवात्मा है और नायक कृष्ण परब्रह्म। श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ रास करना परमात्मा का अगणित जीवात्माओं में रमण करना है। प्रेम से व्याकुल तथा मिलने के लिए अधीर राधा की तीव्र उत्कण्ठा से ही उसका श्रीकृष्ण से मिलन हो सका; यही जीव और परब्रह्म का मिलन है; यही जीव और आत्मा का अभेद है।

परवर्ती काल में 'गीतगोविन्द' बहुत लोकप्रिय हुआ। इसकी विपुल व्याख्याओं तथा टीकाओं से इसकी लोकप्रियता का प्रमाण मिलता है। महाप्रभु चैतन्यदेव गीतगोविन्द की काव्यमाधुरी के अनन्य उपासक हुए। चैतन्य सम्प्रदाय ने तो 'गीतगोविन्द' को सम्प्रदायिक महत्त्व प्रदान किया और इसको काव्य के धरातल से उठाकर परम पवित्र धार्मिक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। वैष्णव परम्परा में यह दृढ़ मान्यता है कि अयोग्य स्थल में गीतगोविन्द का गान नहीं किया जाना चाहिए; क्योंकि जहाँ भी गीतगोविन्द गाया जाता है वहाँ साक्षात् आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण अवश्य प्रगट होते हैं। इस दृष्टि से जयदेव के ही शब्दों में उनकी प्रशंसा नितान्त समीचीन है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं श्रृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥

पण्डितराज जगन्नाथ

महाकवि जयदेव के उपरान्त संस्कृत गीतिकाव्य की परम्परा में पण्डितराज जगन्नाथ का 'भामिनी विलास' नामक गीतिकाव्य विशेष स्मरणीय है। जगन्नाथ अपने समय के अत्यन्त प्रतिभावान् कवि तथा प्रखर अलंकारशास्त्री थे। ये जाति से आंध्र ब्राह्मण थे तथा काशी में रहते थे। दिल्ली के तत्कालीन मुगलसम्राट शाहजहाँ के निमन्त्रण पर ये दिल्ली आए थे तथा शाहजहाँ ने इन्हें दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने का कार्य दिया था। इनका वैदुष्य एवं कवित्व उच्चकोटिक था, जिससे प्रभावित एवं प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने इन्हें पण्डितराज की उपाधि दी थी। इस तथ्य के अनुसार पण्डितराज जगन्नाथ का समय 1650-80 के लगभग निश्चित होता है। इस प्रखर कवि ने युवावस्था में एक यवन नर्तकी—लवंगी—की कला और सौन्दर्य पर रीझकर उससे विवाह कर लिया था। ऐसी जनश्रुति पाई जाती है कि वृद्धावस्था में पण्डितराज जब पुनः काशी लौटे तो कुछ पण्डितों ने इनको जातिबहिष्कृत कर दिया। व्यथित तथा खिन्न पण्डिराज गंगातट पर आकर सीढ़ियों पर बैठ गए और गंगा की स्तुति में 'गंगालहरी' नामक स्तोत्रकाव्य की रचना की, जिससे प्रसन्न होकर गंगा ने इनको अपने अंक में समा लिया।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। 1. गंगालहरी। 2. सुधालहरी (सूर्यस्तुति)। 3. करुणालहरी (भगवत्कृपायाचना)। 4. लक्ष्मीलहरी। 5. अमृतलहरी (यमुनास्तुति)। 6. आसफ विलास (खानखाना आसफखाँ का प्रशंसात्मक काव्य)। 7. जगदाभरण (दाराशिकोह की प्रशंसा)। 8. प्राणाभरण (कामरूप के राजा की प्रशंसा)। 9. चित्रमीमांसा खण्डन। 10. मनोरमाकुचमर्दन (सिद्धान्तकौमुदी की भट्टोजी कृत मनोरमा टीका की आलोचना)। 11. रसगंगाधर (अलंकारशास्त्रीय प्रौढ़ ग्रन्थ)। 12. यमुनावर्णन (अनुपलब्ध गद्यग्रन्थ)। 13. भामिनीविलास—गीतात्मक मुक्तकों का संग्रह।

गीतिकाव्य की दृष्टि से भामिनीविलास पण्डितराज की सुन्दर, सरस एवं स्निग्ध रचना है। इसमें चार विलास (खण्ड) हैं। 1. प्रास्ताविक विलास, 2. शृंगारविलास, 3. करुणविलास, 4. शान्तविलास। पण्डितराज ने इनमें अन्योक्तियों, शृंगार, करुण तथा शान्तरस से सम्बद्ध मुक्तकों का संग्रह किया है।

गेय पदों को लिखने में पण्डिराज जगन्नाथ को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई है। इनका सरस पदविन्यास तथा काव्यमाधुरी द्रष्यव्य है। गम्भीर अर्थयोजना तथा ललित अलंकार प्रयोग ने इनके पदों में मणिकाञ्चन का संयोग उपस्थित किया है। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी के शब्दों में "अन्योक्तियाँ एक से एक सुन्दर बन पड़ी हैं। इनमें स्वाभाविकता के साथ प्रसाद और माधुर्य है।.....शृंगार विलास में शृंगार के सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों पक्षों का मार्मिक चित्रण है। करुण और शान्त विलास में जीवन की असारता, संसार की नश्वरता और भक्ति की उपादेयता का प्रौढ़, परिष्कृत और सहज सुन्दर भाषा में वर्णन है।

पण्डितराज पाण्डित्य के पारावारीण हैं। पग पग पर काव्यसौन्दर्य, अलंकृत पदावली, भावसुषमा, रस प्रवणता, ज्ञानगरिमा, पाण्डित्यपरिपाक और हृदयग्राहिता का दर्शन होता है। पण्डितराज का बात कहने का ढंग अनूठा है। उनका पाण्डित्य का स्वाभिमान दुर्दान्त सिंह के तुल्य प्रौढ़ता और अदम्यता का प्रदर्शन करता है। कोमल पदावली, ललित भावाभिव्यक्ति, परिष्कृत और प्रौढ़ भाषा, अभिनव रमणीयता, मनोज्ञ विचारधारा और व्यावहारिक बोध पण्डिराज की प्रमुख विशेषताएँ हैं। उनमें प्रसंग और भाव के अनुकूल श्लोकरचना का अक्षय ज्ञान भण्डार है।''[19]

पण्डितराज जगन्नाथ का यह गीतिकाव्य विद्वत्समाज में इतना समादृत क्यों कर हो सका, उसके प्रमाण स्वरूप एकाधिक श्लोकों के उदाहरण देने उपयुक्त होगें—

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलो मणयो वसन्ति॥

(प्रास्ताविक विलास-71)

अर्थात् 'गुरुजनों की परुषवाणी से निरन्तर तिरस्कृत (दोष मार्जन) हो हो कर ही मनुष्य महानता प्राप्त कर पाते हैं। सान पर न घिसे गए रत्न राजाओं के मुकुट में स्थान नहीं पाते।'

सुन्दरी स्त्री तथा रमणीय कविता की यह समान विशेषात्मक तुलना अत्यन्त मनोहर भी है और सहजतया अर्थगम्य भी—

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा सालंकृतिः श्रवणमंगलवर्णराशिः।
सा मामकीनकवितेव मनोऽभिरामा रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति॥

(करुण विलास-6)

इसी प्रकार श्रृंगार विलास में नारी सौन्दर्य का रमणीय सुगन्धित रूप द्रष्यव्य है—

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला॥

(श्रृंगार विलास-20)

अर्थात 'तट पर सुन्दरी बाला का सहास मुखकमल है और ज़ल में विकसित पद्म है। यह देखकर मुग्ध हुए परागकण लोभी भ्रमरों की पँक्ति दोनों ही ओर दौड़ रही है।'

इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ ने जो आत्मप्रशंसा की थी, वह निरर्थक अथवा विकत्थना मात्र नहीं थी—

गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम्।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पण्डितपते
रधुन्वन् मूर्धानं नृपशुरथवाऽयं पशुपतिः॥

19. द्विवेदी, कपिलदेव—संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ 556

अर्थात् 'साक्षात् सरस्वती वीणा बजाने में आदर कम करके जिसकी वाणी के अमृत रस का पान करती हैं, उस पण्डितराज के श्रवण सुभग वचनों को सुनकर जो व्यक्ति (साधुवाद में) सिर न हिलाने लगे वह या तो नरपशु है अथवा वीतराग भगवान् शिव।'

गीतिकाव्य के विकास की परम्परा में जिन कवियों का वर्णन किया गया, उनके अतिरिक्त भी गीतिकाव्य लिखे गए जो महत्त्व एवं काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से थोड़ा निम्न स्तर के थे। ऐतिहासिक समयक्रम से उनका भी उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा। कर्नाटक के राजा चन्द्रादित्य की पत्नी रानी विज्जका के गीतिकाव्य से धनञ्जय और मम्मट ने अपने शास्त्रीय ग्रन्थों में उदाहरण ग्रहण किए हैं। इनका समय 660 ईस्वी था। इनकी वैदर्भी रीति अत्यन्त सरस एवं मधुर मानी गई हैं। **'शृंगारतिलक'** नामक एक गीतिकाव्य उपलब्ध होता है जिसकी सरसता, प्रासादिकता एवं भावों की सुकुमारता के कारण कतिपय आलोचक उसे कालिदास की रचना मानते हैं। कवि रत्नाकर ने नवीं शती के उत्तरार्ध में **वक्रोक्तिपंचाशिका** नामक एक वक्रोक्ति काव्य लिखा। कवयित्री शीला भट्टारिका का समय नवीं शती का अन्त है। राजशेखर ने इसकी पांचाल रीति की बहुत प्रशंसा की है। आचार्य मम्मट ने इनके 'य: कौमारहर: स एव हि वर:.....' आदि श्लोक को काव्यप्रकाश में सादर उद्धृत किया है। धनदराज ने पन्द्रहवीं शती के पूर्वार्ध में **'शृंगारधनदशतकम्'** की रचना की। 16वीं शती ईसवी में भट्टाकर ज्ञानभूषण ने **'तत्त्वतरंगिणी'** नामक गीतिकाव्य रचा।

आधुनिक युग में भी संस्कृत गीतिकाव्य परम्परा अक्षुण्ण है। श्री बी.एन. दातार रचित 'अन्तिमयात्रा' नामक गीतिकाव्य है जिसमें 166 श्लोकों में पण्डित जवाहरलाल नेहरू की अन्तिम यात्रा का करुण वर्णन है। डॉ. हरिदत्त शास्त्री, पं. रुद्रप्रसाद अवस्थी आदि अन्य गीतिकाव्य रचयिता हैं।

❑❑❑

5

संस्कृत स्तोत्र साहित्य

भारतवर्ष में अत्यन्त प्रारम्भिक काल से ही 'धर्म' को अतिविशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ था। धर्म एवं अध्यात्म के समन्वय से अनुप्राणित भारतीय दार्शनिक चिन्तन भी उच्चस्तरीय एवं विशिष्टतम रहा। धार्मिक संस्कारों से युक्त भारतीयों में इसी कारण उस परम शक्ति रूप भगवान् के प्रति स्तुति की भावना और सम्पूर्ण समर्पण की इच्छा सहज तथा नैसर्गिक रही। इसी के फलस्वरूप संस्कृत के स्तोत्र साहित्य का उदय हुआ। यह संस्कृत स्तोत्र साहित्य परिमाण की दृष्टि से नितान्त विशाल किंवा अपरिमित ही कहा जा सकता है। असंख्य कवियों एवं भक्तों ने अपने आराध्य के चरणों में भाव-विह्वल होकर जो भी शब्द प्रसून अर्पित किए, वे सभी स्तोत्र के क्षेत्र में समाहित हो जाते हैं। मनुष्य का मन:प्रकोष्ठ परमात्मा की एक अद्‌भुत सृष्टि है। एक ओर घृणा, द्वेष, जुगुप्सा, ईर्ष्या, कपट, क्रोध तथा मोह से परिपूरित यह मन निरन्तर स्वार्थ सिद्धि में तत्पर होकर अपर प्रतिस्पर्धी पक्ष को नीचा दिखाने के उपाय खोजता फिरता है; तो दूसरी ओर वही मन प्रेम, दया, करुणा, त्याग, सहनशीलता तथा ममता से आप्लावित होकर स्वार्थ की नितान्त उपेक्षा करके परार्थ में ही डूब जाता है। सम्पूर्ण सृष्टि में सम्भवत: ही कोई ऐसा व्यक्ति मिले, जो अपने इष्ट आराध्य के सम्मुख अपने सम्पूर्ण हृदय को खोलकर अपने गोपनतम प्रकोष्ठ को भी अनावृत्त न कर देता हो। इहलौकिक चरम सिद्धि तथा परमैश्वर्य पाकर भी मनुष्य का मन कहीं न कहीं स्वयं को पूर्णतया अर्पित कर देने के लिए आकुल व्याकुल ही रहता है। अर्पण करके नि:शेष हो जाने का अन्तिम चरम लक्ष्य भगवान् ही हैं, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। अपनी समस्त क्षुद्रता एवं दीनता के साथ अपने आराध्यदेव के सम्मुख निष्कपट निवेदन ही स्तोत्र का मूल है। अपने अपने संस्कार अथवा रुचि के अनुकूल ये आराध्य विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, दुर्गा, स्कन्द, बुद्ध, महावीर अथवा अन्य कोई भी हो सकता है—उससे स्तोत्र के भाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता। भक्त अपने आराध्य की सेवा, अर्चना रूप स्तुति में विभिन्न प्रकार के भाव प्रगट कर उठता है। कहीं वह भगवान् के विराट् सृष्टि-शरीर के किंचित् दर्शन से आश्चर्यान्वित हो जाता है, तो कहीं भगवान् की विभिन्न लीलाओं के वर्णन में आत्मविस्मृत हो जाता है। कभी उन आनन्दकन्द भगवान् की अपार दया, अनुकम्पा और अहैतुकी करुणा के स्मरण से आवेशित और रोमांचित हो

उठता है। भगवान् के सम्मुख भक्त अबोध शिशु के सदृश ही आचरण करता है। कभी रोकर, कभी हँसकर, कभी इष्टसिद्धि के लिए हठ ठानकर तथा कभी नितान्त दीन बनकर वह अपने आराध्यदेव को सर्वात्मना रिझाता है। संसार के दुःखों तथा क्लेशों और मानव शरीर के रोगों तथा वृद्धावस्था एवं मृत्यु रूपी दारुण परिणामों के प्रति भी भक्त अपने मन को बारंबार सचेत ही करता रहता है। संस्कृत का स्तोत्र साहित्य इन्हीं सब भावों से परिपूर्ण एक विशाल साहित्य है। इसीलिए संस्कृत के स्तोत्रों में बरबस ही चित्त को द्रवीभूत कर देने की अद्भुत मोहक शक्ति है। गेय हो जाने पर इन स्तोत्रों का आकर्षण एवं प्रभाव बहुत बढ़ जाता है। इन स्तोत्रों में कल्पना की यथेष्ट उड़ान, अद्भुत अलंकार प्रयोग, सुन्दर भाषा एवं प्रवाहमयी शैली प्राप्त होने के कारण ही संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखने वाले अधिकांश विद्वानों ने इस स्तोत्र साहित्य को 'धार्मिक गीतिकाव्य' की संज्ञा प्रदान की।

संस्कृत साहित्य में स्तोत्र रचना को अलग से स्थान न दिए जाने का अन्य कारण भी है। रसात्मता ही उत्तम काव्य का निर्णायक तत्त्व है; केवल भाव तो रस से किंचित् न्यूनकोटिक रह जाता है। अलंकार शास्त्रियों ने भगवद्विषयक रति की निष्पत्ति रस में नहीं मानी, अपितु उसे केवल 'भाव' की ही संज्ञा दी।[1] इसीलिए सर्वाधिक प्रसिद्ध कतिपय स्तोत्र ग्रन्थों को गीतिकाव्य में ही समाहित मान लिया गया, अलग से उनका विवेचन किए जाने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

संस्कृत में स्तोत्र का उदय कब हुआ-यह निर्धारण कर सकना अत्यन्त कठिन है। भक्ति के मूल भाव से अनुप्रेरित होकर ईश्वर का स्तुतिरूप पद्य ही स्तोत्र कहलाता है। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति के पुरातन आदिकाल में ही भक्ति प्रतिष्ठित दिखाई देती है। साहित्य का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ-ऋग्वेद-देवस्तुतियों का भण्डार रूप ही कहलाता है। इस साधारण स्वरूप के अतिरिक्त भी ऋग्वेद में विनय एवं दैन्य के अनेक स्तोत्र हैं जिनमें भक्त के हृदय की व्यथा पुनः पुनः मुखरित हुई। वरुण को सम्बोधित किए गए सूक्त इस दृष्टि से विशेषतया महत्त्वपूर्ण हैं। अपने आराध्य देव के दर्शन की व्याकुल अभिलाषा, भावविह्वल होकर अपने इष्ट से मानसिक संवाद, अपने अपराध की स्पष्ट चेतना और भगवान् से करुणा एवं दया की याचना आदि अनुभूतियों से ओतप्रोत ये सूक्त स्पष्टतया स्तोत्र ही हैं।[2] इस वैदिक प्रेरणा को ग्रहण करके जो स्तोत्र साहित्य निर्मित हुआ, उसके मूल में भारतवर्ष के आध्यात्मिक इतिहास को अलंकृत करने वाले सभी महापुरुषों के ओजस्वी तथा अनुभवपूर्ण उद्गार हैं।

वैदिक युग के अन्त तक आते आते ब्रह्मा, विष्णु, महेश-इस त्रिदेव की सम्पूर्ण स्थापना हो चुकी थी और भागवत (वैष्णव) तथा शैव धर्म पर्याप्त उन्नतिशील हो गए थे। यही कारण है कि लौकिक संस्कृत के आदिकाव्य रामायण में अनेक स्तुतियाँ उपलब्ध

1. काव्य प्रकाश—4/35, 36—रतिर्देवादि विषया।.......भावः प्रोक्तः.....
साहित्य दर्पण—3/260, 61—देवादिविषया रतिः।.....भाव इत्यमिधीयते।
2. ऋग्वेद—1/25; 7/86; 7/89

होती हैं। सम्पूर्ण वाल्मीकि रामायण में दो-दो, चार-चार स्तुतिपरक पद्य तो शतशः स्थानों पर प्राप्त हो जाएँगे, किन्तु युद्धकाण्ड में दो स्थलों पर प्राप्त स्तुतिपरक श्लोक निश्चय ही सुन्दर स्तोत्र माने जाने चाहिएँ। युद्धकाण्ड के 105 वें सर्ग में राम-रावण युद्ध के समय अगस्त्य मुनि वहाँ आकर राम को सूर्य की स्तुति करने की मन्त्रणा देते हैं। यह अंश 'आदित्यहृदय स्तोत्र' नाम से प्रसिद्ध है तथा परम पवित्र एवं शत्रुविनाशक हैं।[3] इसी प्रकार युद्धकाण्ड के ही 117 वें सर्ग में ब्रह्मा के द्वारा श्रीराम का परब्रह्म के रूप में स्तवन किया गया है। महाभारत में भी अनेक छोटे बड़े स्तोत्रात्मक श्लोक संग्रह प्राप्त होते हैं। युद्धस्थल में प्रहारोद्यत कृष्ण की स्तुति करने वाले भीष्म की उक्ति 'भीष्मराजस्तव' नाम से प्रसिद्ध है। महाभारत युद्ध से पूर्व युधिष्ठिर की सम्मति पर अर्जुन के द्वारा की गई दुर्गा स्तुति प्रसिद्ध दुर्गा स्तोत्र माना जाता है। अन्य अनेक स्थलों पर श्रीकृष्ण, शिव तथा अन्य देवों की स्तुतियाँ महाभारत में प्राप्त होती हैं जिनका पाठन एवं गायन स्वतंत्र स्तोत्रों के रूप में प्रचलित है। विभिन्न पुराण तो स्तोत्रों से मानो भरे पड़े है। पौराणिक युग में भक्ति भावना के तीव्र विकास के साथ अपने इष्टदेव के प्रति स्तुति अर्पित करने की भावना भी स्वतः बलवती हुई और अनेक प्रसिद्ध स्तोत्र इन पुराणों में लिखे गए।

भारतभूमि में रामायण, महाभारत तथा पुराण महनीय धर्मग्रन्थों के रूप में सुपूजित हैं। इनमें स्तोत्रों का प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। किन्तु संस्कृत साहित्य की तो सभी विभिन्न विधाओं में, काव्य के सभी भेदों-उपभेदों में स्तोत्र के बीज अवश्य प्राप्त होते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि प्रत्येक भारतीय के जीवन में धर्म संस्कार रूप में प्रतिष्ठित है जो सर्वत्र मंगल की ही कामना करता है और परमेश्वर की स्तुति से अधिक श्रेष्ठ मंगल और क्या हो सकता है? लगभग सभी संस्कृत नाट्यों की नान्दी भगवान की स्तुति रूप ही है। महाकाव्य साहित्य में 'कुमारसम्भव' में ब्रह्मा की स्तुति, 'किरातार्जुनीयम्' के अन्तिम सर्ग में अर्जुन के द्वारा शिव की स्तुति, 'शिशुपालवध' में भीष्म के द्वारा अग्रपूज्य श्रीकृष्ण का स्तवन, रत्नाकर कवि रचित 'हरविजय' महाकाव्य में 167 श्लोकों में देवी चण्डी की स्तुति आदि विभिन्न स्थल वस्तुतः स्तोत्र साहित्य के अंश हैं। फिर भी ये सारे अंश स्वतन्त्र स्तोत्रग्रन्थों के रूप में विवेच्य नहीं है। इस अध्याय में उन्हीं कतिपय प्रसिद्ध स्तोत्रों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है जो किसी अन्य ग्रन्थ के अंशभूत न होकर स्वयं स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में रचे गए हैं।

जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि भक्त के व्याकुल हृदय की सहज स्फूर्त अभिव्यक्ति ही स्तोत्र है। स्वाभावतः ही प्रत्येक भक्त कवि ने अपने अपने इष्टदेव को ध्यान में रखकर ही तदनुरूप स्तुति की। हिन्दू धर्म में विष्णु तथा उनके अवतारों, शिव, शक्ति (दुर्गा) तथा अन्य देवों से सम्बद्ध स्तोत्र रचे गए, जिनसे प्रभावित तथा अनुप्रेरित होकर

---

3. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड 105/4, 5— आदित्यहृदयं पुण्यं सर्वशत्रुविनाशनम्।
जयावहं जपं नित्यमक्षयं परमं शिवम्॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वपापप्रणाशनम्।
चिन्ताशोकप्रशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ॥

बौद्धों और जैनियों ने भी बुद्ध एवं महावीर अथवा पार्श्वनाथ आदि की स्तुति में काव्य रचनाएँ की। इस प्रकार संस्कृत स्तोत्र साहित्य में शैव, वैष्णव, शाक्त, अन्य देवों से सम्बद्ध, बौद्ध तथा जैन आदि विभिन्न स्तोत्रों की एक विशाल तथा पृथक् पृथक् परम्परा ही प्राप्त होती है। पुस्तक के कलेवर एवं विषय प्रतिपादन की दृष्टि से ऐतिहासिक क्रम में ही स्तोत्रग्रन्थों का परिचय उपयुक्त होगा।

बाणभट्ट

सम्राट हर्षवर्धन के राजकवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' एवं 'कादम्बरी' के अतिरिक्त 'चण्डीशतक' नामक स्तोत्रकाव्य की भी रचना की थी। बाणरचित इस स्तोत्र के सम्बन्ध में पण्डित समाज में एक अनुश्रुति प्रसिद्ध रही है जिसमें बाणभट्ट तथा उनके समकालीन कवि मयूरभट्ट दोनों ही सम्मिलित हैं। कहा जाता है कि ये दोनों कवि परस्पर सम्बन्धी थे। एक दिन प्रत्यूषवेला में ही कवि मयूरभट्ट स्वरचित श्लोक सुनाने बाणभट्ट के घर पहुँचे। बाण की पत्नी मान किए बैठी थीं। उन्हें मनाने के लिए बाणभट्ट ने एक श्लोक की रचना की थी जिसके तीन ही चरण बना पाए थे, और चौथे चरण की पूर्ति हेतु उन तीन चरणों की ही पुनरावृत्ति किए जा रहे थे। मयूरभट्ट ने घर के बाहर से ही वे तीन चरण सुन कर वस्तुस्थिति समझ ली और हठात् उन्होंने चौथा चरण कहकर श्लोक पूर्ण कर दिया। वह पद्य इस प्रकार था—

'गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव।
प्रणामान्तो मानस्तदपि न जहासि क्रुधमहो
स्तनप्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि! कठिनम्।'

अर्थात् 'रात्रि समाप्त प्राय है, दुर्बलदेह चन्द्रमा क्षीण हो चला, यह दीपक भी निद्राधीन के सदृश घूर्णनायुक्त है। प्रिय द्वारा प्रणाम आदि कर लेने पर मान समाप्त हो जाता है किन्तु तुम अभी तक क्रुद्ध ही हो...हे चण्डि, कठोर स्तनों की समीपता के कारण (सम्भवतः) तुम्हारा हृदय भी कठोर हो गया।'

अपने अन्तरंग विषय में किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा ऐसे चरणपूर्ति सुन कर सहसा ही क्रुद्ध हुए बाणभट्ट ने उसे कोढ़ी होने का शाप दे दिया। मयूरभट्ट ने भी बाण को आरोग्यनाश का श्राप दे डाला। मयूरभट्ट के इसी शाप की निवृत्ति के लिए बाणभट्ट ने अपनी इष्टदेवी भगवती चण्डी की 100 पद्यों में स्तुति की। यही 'चण्डीशतक' है।

बाणभट्ट ने स्रग्धरा छन्द में इस स्तोत्रकाव्य का प्रणयन किया है। स्रग्धरा छन्द पर्याप्त दीर्घ छन्द है। इस दीर्घ छन्द के सुन्दर निर्वाह से बाणभट्ट का काव्यकौशल सुन्दरतया प्रगट होता है। 'चण्डीशतक' में भी बाणभट्ट की उसी समासबहुल शैली, अनुप्रासयुक्त भाषा तथा कल्पना की ऊँची उड़ान के दर्शन होते है जो बाणभट्ट की गद्यशैली की निजी विशिष्टताएँ मानी जाती हैं। भोजराज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में 'चण्डीशतक' का निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशंके शशांके विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषां पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वा शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी।

डॉ. रामजी उपाध्याय 'चण्डीशतक' को बाणभट्ट की आद्यकृति के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी यह स्वीकृति 'चण्डीशतक' की भाषा एवं भावाभिव्यंजना पर आधारित है।

मयूर भट्ट

राजा हर्षवर्धन के सभा कवियों मे महाकवि बाणभट्ट के साथ साथ मयूर भट्ट का भी उल्लेख पाया जाता है। बाणभट्ट का मयूर भट्ट के साथ सगा सम्बन्ध है। दोनों कवियों के सम्बन्ध में प्रचलित अनुश्रुति का कथन 'चण्डीशतक' के परिचय में किया ही चुका है। बाणभट्ट ने मयूरभट्ट को कोढ़ी हो जाने का जो शाप दिया था, उसी शाप की निवृत्ति के लिए मयूरभट्ट ने सूर्य की स्तुति में सौ पद्यों की रचना की, जो 'सूर्यशतक' नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि एक वटवृक्ष में सौ रस्सियाँ बाँध कर मयूरभट्ट उन पर उल्टा लटक गए। सूर्य की स्तुति में वे एक-एक श्लोक की रचना करते जाते और तदुपरान्त एक एक रस्सी को काटते जाते। अन्तिम रस्सी के कटने से पूर्व ही स्तुति से प्रसन्न सूर्यदेव ने प्रगट होकर मयूरभट्ट का कुष्ठ रोग दूर कर दिया और उन्हें सम्पूर्ण रूप से नीरोग बना दिया।

बाणभट्ट के चण्डीशतक के सदृश ही 'सूर्यशतक' भी स्रग्धरा छन्द में रचा गया है। कवि ने सूर्य के विभिन्न किरण आदि अंगों तथा रथ, अश्व, अरुण सारथि आदि साधनों का सफल वर्णन किया है। सूर्य की तेजस्विता, आलस्यराहित्य एवं पराक्रम के अनुकूल ही इस काव्य की शैली गौड़ी रीति है, जिसमें अनुप्रासमय शब्द विन्यास, दीर्घ समास तथा जटिल वाक्यरचना हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है, जिसे गौड़ी रीति का निदर्शन माना जा सकता है—

शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्त घोषान्
दीर्घाघ्रातानघोघैः पुनरपि घटत्येक उल्लाघयन्त्यः।
घर्मांशोरस्य वोऽन्तर्द्विगुणधन धृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते
र्दत्तार्घा सिद्धसंघैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहो विधानम्॥

बाणभट्ट एवं मयूर के द्वारा लिखे गए ये श्लोकशतक विशिष्ट उपास्यदेव की स्तुति होने के कारण स्तोत्र काव्य हैं अवश्य, किन्तु वस्तुतः इन दोनों काव्यों में भक्ति की वह उच्छल निर्झरिणी नहीं है जो स्तोत्र का स्वरूप निर्धारित करती है। इनमें भक्त हृदय की दीन विनय की अपेक्षा पाण्डित्य का गर्व ही अधिक झलकता है।

मूक कवि

आद्य शंकराचार्य (आठवीं शती ईस्वी) ने अपनी प्रसिद्ध स्तोत्ररचना 'सौन्दर्यलहरी' में एक पद्य प्रस्तुत किया है जिससे शंकराचार्य के समसामयिक अथवा उनसे कुछ पूर्व हुए मूक कवि का ज्ञान होता है—

कदा काले मातः कथय कलितालक्तकरसं
पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम्।
प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया
यदाधत्ते वाणी मुखकमलताम्बूरसताम्॥

ये कवि जन्म से गूँगे थे और कान्ची नगरी में कामाक्षी देवी के अनुग्रह से इन्हें बोलने की शक्ति प्राप्त हुई थी। तदनन्तर कवि ने देवी की स्तुति में पाँच शतकों की रचना की। कटाक्ष शतक, मन्दहास्य शतक, पादारविन्दशतक, आर्याशतक तथा स्तुतिशतक—ये पाँचों शतक मिल कर ही मूक कवि की पंचशती के रूप में प्रसिद्ध हैं तथा काव्यमाला सीरीज़ में प्रकाशित भी हो चुके हैं। ये सभी पद्य अत्यन्त ललित हैं तथा इनमें वक्रोक्ति का चमत्कार दर्शनीय है।

शंकराचार्य

भारतवर्ष में जन्म लेकर जिन अनेक महापुरुषों ने अपने व्यक्तित्व की महनीयता, अप्रतिम वैदुष्य तथा लेखन माधुरी से दिग्दिगन्त को सुवासित एवं आप्लावित किया, उनमें प्रथम स्मरणीय हैं आद्य शंकराचार्य। बाणभट्ट के लगभग पचास साठ वर्षों के अनन्तर ही इनका प्रमाणित स्थितिकाल है। भारतभूमि के सम्पूर्ण विस्तार में स्थल स्थल पर इन्होंने तीर्थाश्रमों की स्थापना की; विभिन्न उपनिषदों पर सर्वाधिक प्रामाणिक भाष्य लिखा; दार्शनिक क्षेत्र में अद्वैत वेदान्त को सर्वात्मना प्रतिष्ठापित किया; साथ ही निर्गुण-निराकार ब्रह्म की सुगम प्राप्ति के लिए सगुण साकार ब्रह्म के विविध स्वरूपों शिव, गणेश, देवी, विष्णु, हनुमान् आदि की स्तुति में ललित पदावली, सरस शैली, गहन भक्ति तथा तीव्र वैराग्य भावना से समन्वित अनेकानेक स्तोत्रों की भी रचना की थी। सम्प्रति शंकराचार्य के नाम से लगभग दो सौ भी अधिक स्तोत्र प्रसिद्ध हैं, किन्तु उनकी प्रामाणिकता संदेहयुक्त है। 'शिवापराधक्षमापणस्तोत्र', 'द्वादशपंजरिकास्तोत्र', 'देव्यपराधक्षमापणस्तोत्र', 'आनन्दलहरी', 'भवान्यष्टक', 'सौन्दर्यलहरी', 'चर्पटपंजरिकास्तोत्र', 'भजगोविन्दम्' आदि स्तोत्र निःसंदिग्धतया शंकराचार्य की रचना स्वीकार किए जाते हैं।

शंकराचार्य के स्तोत्रों में हृदय की दीनता, भक्त की सर्वस्व समर्पणता तथा भक्ति का अबाध प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। देवी भगवती के प्रति कवि की भक्ति तथा आत्मसमर्पण का यह उदाहरण देखिए—

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहवः सन्ति तरलाः
परं तेषां मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुतः।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥

(देव्यपराधक्षमापणस्तोत्र—3)

संसार की नश्वरता, आसक्ति एवं मोह की निःसारता तथा पुनर्जन्म के चक्र की कष्टमयता को शंकराचार्य ने अत्यन्त ही भावप्रवणता के साथ अनुभव किया था। उनकी

यह अनुभूति संगीत की माधुरी से संवलित होकर निम्नलिखित स्तोत्र में फूट पड़ी है—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते।
प्राप्ते सन्निहिते सति मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे॥
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।
इह संसारे भवदुस्तारे कृपया पारे पाहि मुरारे॥
बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥
यावज्जीवो निवसति देहे कुशलं तावत्पृच्छति गेहे।
गतवति वायौ देहापाये भार्या बिभ्यति तस्मिन्काये॥
कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं विश्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम्॥

(चर्पटपञ्जरिकास्तोत्र)

शंकराचार्य का काव्यकौशल भी नितान्त उच्चकोटिक था। उनकी कविता के सौन्दर्यदर्शन के लिए केवल 'सौन्दर्यलहरी' स्तोत्र ही पर्याप्त है। भगवती त्रिपुरसुन्दरी के दिव्यसौन्दर्य की छटा, सुन्दर भाषा, भाव, रस एवं अलंकार के उपकरणों से सुसज्जित होकर इस स्तोत्र में पाठक को मन्त्रमुग्ध कर देती है। साहित्य के सुन्दर रूप के अतिरिक्त यह स्तोत्र तन्त्र का भी श्रेष्ठ ग्रन्थ माना गया है। श्रीविद्योपासना के रहस्यों को प्रगट करने में यह स्तोत्रग्रन्थ भी श्रुति के समान ही प्रमाण-रूप स्वीकार किया जाता है। यह स्तोत्र दो उन्मेषों में विभक्त है। प्रथम उन्मेष में 41 पद्य हैं तथा दूसरे उन्मेष में 60 पद्य। साधक समुदाय इसके प्रत्येक श्लोक को मन्त्ररूप में प्रयोग करते हैं। इसके रहस्यमय गुह्य तत्त्वों के प्रगटीकरण के लिए अनेक टीकाएँ लिखी गईं। तन्त्र एवं पराविद्या के सूक्ष्म वर्णन के साथ-साथ इस स्तोत्र का साहित्यिक सौन्दर्य भी अनुपमेय है। भगवती देवी की सीमन्त तथा सिन्दूर रेखा का यह चारु वर्णन द्रष्टव्य है—

तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी—
परीवाहः स्त्रोतः सरणिरिव सीमन्तसरणी।
वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर—
द्विषां वृन्दैर्वन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्॥

रत्नाकर

प्रसिद्ध महाकाव्य 'हरविजय' के रचयिता महाकवि रत्नाकर ने 'वक्रोक्ति पंचाशिका' नामक स्तोत्रकाव्य का प्रणयन किया था। इनका समय नवीं शती ईस्वी है। इनके स्तोत्र मे पचास श्लोक हैं जिनमें शिव और पार्वती का संवाद है। इन सभी पद्यों में कवि ने वक्रोक्ति अलंकार का कुशल निदर्शन किया है। शिव पार्वती का संवाद श्लेषालंकारद द्वारा द्व्यर्थक हो जाने से अत्यन्त रोचक हो गया है।

पुष्पदन्ताचार्य

सम्पूर्ण स्तोत्रसाहित्य में कवि पुष्पदन्ताचार्य रचित 'शिवमहिम्नस्तोत्र' विशेषतया महत्त्वपूर्ण माना जाता है। किन्तु कवि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हमें स्पष्टतया कुछ नहीं ज्ञात होता। राजशेखर (875-925 ई.) ने अपने काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ में इनका एक पद्य उद्धृत किया है, अत: पुष्पदन्ताचार्य का समय इससे पूर्व ही होना चाहिए। इसी आधार पर विद्वज्जन इनका समय नवीं शती का पूर्वार्ध सिद्ध करते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने इस स्तोत्र पर जो टीका लिखी है उसमें कवि के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनुश्रुति दी है कि 'इसका लेखक गन्धर्वराज था जो शिव का गण था। किसी अपराध से शक्तिहीन होने पर उस गन्धर्वराज ने पुष्पदन्त के रूप में जन्म लिया और इस स्तोत्र की रचना के द्वारा परम कारुणिक शिव को प्रसन्न करके पुन: अपने पूर्व पद को प्राप्त किया।'

'शिवमहिम्नस्तोत्र' शिखरिणीवृत्त में लिखा हुआ सुन्दर एवं भावपूर्ण काव्य है। इस स्तोत्रकाव्य के दार्शनिक महत्त्व के कारण भारत के प्राय: सभी प्रधान मठों में सन्ध्याकालीन साधना के समय इसका नित्य पारायण किया जाता है। इस स्तोत्रकाव्य की शैली, शब्दावली तथा विषय चयन में ऐसा गाम्भीर्य एवं आकर्षण है कि सहस्राधिक वर्षों से श्रेष्ठ विद्वानों तथा साधकों एवं उपासकों में इसका समान समादर रहा है। कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की नान्दी में शिव की जिन आठ प्रत्यक्ष मूर्तियों का वर्णन किया है, कवि पुष्पदन्त उनके साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व को ही शिवमय मानते हैं—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणतां बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि॥26॥

अर्थात् 'तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, तुम वायु हो, तुम अग्नि हो, तुम आकाश हो, तुम पृथिवी हो और तुम आत्मा हो—इस प्रकार पण्डित जन तुमको अष्टमूर्ति में सीमित करके वर्णन करते हैं, किन्तु हम तो यही मानते हैं कि सम्पूर्ण जगत् में आपसे भिन्न कुछ नहीं है।'

पुष्पदन्ताचार्य के स्तोत्र काव्य का निम्नांकित श्लोक अत्यधिक प्रसिद्ध रहा है—

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धु पात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥ 32॥

'हे ईश (शिव)! समुद्र पात्र में नीलगिरि के सदृश स्याही हो, श्रेष्ठ कल्पतरु की शाखा लेखनी हो और वह विशाल पृथिवी कागज़ हो—इनको ग्रहण करके स्वयं देवी सरस्वती सदैव लिखती रहें, तो भी आपके गुणों का अन्त नहीं पा सकतीं।'

उत्पलदेव

श्री उत्पलदेव अभिनवगुप्त के गुरु थे। इनका समय विद्वानों ने 925 ई. निश्चित किया है। उत्पलदेव ने 'शिवस्तोत्रावली' की रचना की। काश्मीरी शैवों में इस स्तोत्रावली को अत्यन्त समादरणीय स्थान प्राप्त हुआ है। 'शिवस्तोत्रावली' में 21 विभिन्न स्तोत्रों का संग्रह है। भगवान् शिव के सुन्दर मधुर रूप तथा उनके अनन्त उदार गुणों का वर्णन करना ही इन सबका विषय है। आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में 'शिवस्तोत्रावली' का एक पद्य उद्धृत किया है—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते, कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते॥

अर्थात् 'हे ईश्वर ! आपके कण्ठ के कोने में रखा हुआ कालकूट विष भी मेरे लिए महान् अमृत है। किन्तु आपके शरीर से पृथक् रह कर यदि अमृत भी मुझे प्राप्त हो तो मुझे अच्छा नहीं लगता।'

यह 'शिवस्तोत्रावली' चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी से प्रकाशित हो चुका है।

कुलशेखर

केरल के राजा कुलशेखर ने मुकुन्द (विष्णु) की स्तुति में 60 श्लोकों के 'मुकुन्दमाला' नामक स्तोत्रकाव्य की रचना की। इनका समय दसवीं शती ईस्वी है। दक्षिणीभारत में कुलशेखर वैष्णवधर्म के प्रसिद्ध आलवारों में परिगणित हैं। इनका 'मुकुन्दमाला' नामक यह स्तोत्रकाव्य अत्यन्त प्राञ्जल एवं सरस शैली में लिखा गया है। वैष्णव में मत के स्तोत्रों में इसका अन्यतम स्थान माना जाता है। इस स्तोत्रकाव्य में केवल 24 ही पद्य हैं किन्तु इसमें हृदयावर्जन की विचित्र शक्ति है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है।

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

अर्थात् 'मेरा निवास स्वर्ग में हो अथवा पृथिवी पर। हे नरक को नष्ट करने वाले! भले ही मेरा निवास नरक में ही हो। शारदीय कमल की कान्ति को भी तिरस्कृत करने वाले आपके दोनों चरणों में मैं मरण में भी अनुध्यान करता हूँ।'

यह रचना महाप्रभुमन्दिर, वृन्दावन से 'श्रीस्तवकल्पद्रुम' में प्रकाशित हो चुकी है।

यामुनाचार्य

विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रतिष्ठापक श्री रामानुजाचार्य के परमगुरु यामुनाचार्य का समय दसवीं शती ईस्वी का पूर्वार्ध (915-10[illegible] ई.) है। ये स्वयं श्री रंगपीठ के आचार्य थे और इन्होंने पर्याप्त दीर्घ आयु (125 वर्ष) पाई। इन्होंने चतुःश्लोकी में चार पद्यों में ल[illegible]मी की स्तुति की है तथा 'स्तोत्ररत्न' में [illegible] पद्यों में विष्णु की वन्दना की है। यह 'स्तोत्ररत्न' नामक स्तोत्रकाव्य 'आलबन्दार स्तोत्र' नाम से भी विख्यात है। यह काव्य भी वैष्णवस्तोत्रों में मुकुटमणि रूप में स्वीकार किया जाता है। कवि ने अपनी समस्त दीनता तथा निर्भर

भक्ति के साथ स्वयं को प्रभु के चरणों में समर्पित कर दिया है—

तवामृतस्यन्दिनी पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते॥

अर्थात् 'हे भगवन्! अमृत टपकाने वाले आपके चरणकमलों में रमा हुआ मेरा मन भला और कुछ कैसे चाह सकता है! परागकणों से परिपूर्ण कमल के विद्यमान रहने पर भ्रमर कभी ईख रस को नहीं देखता।'

कवि ने संसार के सारे लौकिक सम्बन्ध अपने प्रभु में ही समाहित कर दिए हैं—

पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्
त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरपि गतिश्चासि जगताम्।
त्वदीयस्त्वद् भृत्यस्तव परिजनस्त्वद्गतिरहं
प्रपन्नश्चैवं स त्वहमपि तवैवास्मि हि भरः॥

इस स्तोत्र का प्रकाशन 'श्रीस्तवकल्पद्रुम' के अन्तर्गत वृन्दावन से हो चुका है।

लीलांशुक

मलाबार के कवि लीलांशुक ने 'कृष्णकर्णामृत' नामक काव्य का प्रणयन किया था। ये कृष्णलीलांशुक अथवा बिल्वमंगल नाम से प्रसिद्ध थे। इनका समय तेरहवीं शती ईस्वी कहा जाता है, यद्यपि इन्होंने अपने समय अथवा स्थितिकाल का कोई उल्लेख नहीं किया है। चैतन्य सम्प्रदाय की उत्पत्ति और प्रगति पर 'कृष्णकर्णामृत' स्तोत्रकाव्य का गहरा प्रभाव पड़ा है। स्वयं चैतन्य महाप्रभु का यह परम प्रिय स्तोत्र कहा जाता है। यह प्रसिद्धि है कि महाप्रभु दक्षिण देश से यह स्तोत्र बंगाल लाए थे।

'कृष्णकर्णामृतं' स्तोत्रकाव्य के तीन भाग हैं जिनमें 110 पद्य हैं। इसमें आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण के बालरूप की सुन्दर झाँकी है। इस काव्य में मधुरा भक्ति की वह उज्ज्वलता दर्शनीय है जिसमें भक्त अपने उपास्यदेव को अपना प्रियतम मान बैठता है। अपने प्रियतम की हर लीला भक्त को प्रिय है तथा वह उनकी मुरली को दूती बना कर अपनी दीन दशा श्रीकृष्ण के कानों में चुपके से सुना देने का आग्रह भी करता रहता है—

अयि मुरलि मुकुन्दस्मेरवक्त्रारविन्द—
श्वसनमधुरसज्ञे त्वां प्रणम्याद्य याचे।
अधरमणिसमीपं प्राप्तवत्यां भवत्यां
कथय रहसि कर्णे मद्दशां नन्दसूनोः॥

भाव एवं भाषा सभी दृष्टियों से यह कृति अत्यन्त रसपेशल, मधुर तथा सुन्दर है। इसीलिए चैतन्य सम्प्रदाय में इसको श्रीमद्भागवत के सदृश ही प्रमाण रूप माना जाता है।

जगद्धरभट्ट

जगद्धरभट्ट कश्मीर के निवासी थे। 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' इनका प्रसिद्ध स्तोत्रकाव्य है। इनका कुल पण्डितकुल था। इनके पितामह गौरधर ने यजुर्वेद पर वेदविलास नामक

भाष्य की रचना की थी। पिता रत्नधर परम शिवभक्त तथा कवि थे। स्वयं जगद्धरभट्ट ने अपने पुत्र यशोधर को व्याकरण ज्ञान कराने के लिए कातन्त्र व्याकरण पर बालबोधिनी नामक वृत्ति लिखी थी। इनका समय चौदहवीं शती ई. माना जाता है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में 38 स्तोत्र हैं तथा कुल श्लोक संख्या 1425 है, जिनमें अत्यन्त भावपूर्ण शब्दों में देवाधिदेव महादेव शम्भु का स्तवन किया गया है। इस स्तोत्रकाव्य में कवि ने जिस हृदयद्रावक एवं भावशाली ढंग से भगवान् शिव के प्रति आत्मनिवेदन किया है, उससे कठोर हृदय एवं हठी चित्त व्यक्ति का मन प्राण भी भक्ति भाव से द्रवित हो उठता है। एक श्लोक द्रष्टव्य है—

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम्।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः॥

अर्थात् 'हे नाथ ! यद्यपि अपने ही कुकृत्यों से मैं इस अधोगति को पहुँचा हूँ तथापि आप जैसे करुणासागर के तिरस्कार का पात्र नहीं हूँ। यदि कोई उद्धत पशु अपनी ही उद्दण्डता से किसी अन्धे कुएँ में गिर जाए, तो दयालु जन उसकी भी उपेक्षा नहीं किया करते हैं।'

इस वृहत्काय स्तोत्रकाव्य में कवि ने भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय किया है। अलंकारों की छटा इस काव्य में विशेषत: दर्शनीय है। कवि ने यमक तथा श्लेष अलंकार का सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक प्रयोग किया है। जगद्धरभट्ट स्वयं शैवदर्शन के आचार्य थे अत: उनका यह स्तोत्रकाव्य दार्शनिकता से ओतप्रोत है। यह स्तोत्रकाव्य काव्यमाला सीरीज में प्रकाशित हो चुका है।

पण्डितराज जगन्नाथ

इनका विस्तृत परिचय गीतिकाव्य अध्याय में प्रस्तुत किया जा चुका है। इनका समय सत्रहवीं शती था। ये परम वैष्णव थे तथा संस्कृत साहित्य में रसमयी पद्धति के अन्तिम कवि थे। भगवान् की स्तुति में इनके कोमल तथा भावपूर्ण हृदय का सम्पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। यद्यपि इन्होंने अन्यविषयक काव्यों की भी रचना की, किन्तु देवविषयक स्तुति लिखने में इनके मन की विशेष प्रवृत्ति थी। स्तोत्रकाव्य की दृष्टि से इनके पाँच ग्रन्थ विशेषतया उल्लेखनीय हैं। 'सुधालहरी' में 30 श्लोक हैं जिनमें भगवान् भास्कर की स्तुति की गई है। 'अमृतलहरी' में यमुना की स्तुति में 10 पद्य हैं। 'लक्ष्मीलहरी' लक्ष्मीस्तवनपरक है जिसमें 41 पद्य है। 'करुणालहरी' में 43 श्लोक हैं जिनमें भक्तों पर निरन्तर करुणा करने वाले श्रीविष्णु का स्तवन किया गया है। 'गंगालहरी' अथवा 'पीयूषलहरी' में गंगा की स्तुति में 52 पद्य हैं। ये सभी स्तोत्र भाव, भाषा, रस तथा आत्मसमर्पण की दृष्टि से अत्यन्त मनोहर एवं हृदयावर्जक हैं। विशेषतया 'करुणालहरी' एवं 'गंगालहरी' भाव और अभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

वेंकटाध्वरि

चम्पूकाव्य के अन्तर्गत इस महाकवि का उल्लेख किया जा चुका है। ये मद्रास प्रान्त के निवासी तथा वैष्णव थे। इनका समय सत्रहवीं शती का मध्यभाग निश्चित है। 'लक्ष्मीसहस्र' नामक इनका स्तोत्रकाव्य अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसमें भगवती लक्ष्मी की स्तुति में एक हजार श्लोक हैं। स्वयं कवि का कथन है कि यह सम्पूर्ण रचना उन्होंने एक ही रात भर में बना डाली थी।

इस स्तोत्रकाव्य की शैली वस्तुत: महाकाव्यात्मक है। कल्पना की ऊँची उड़ान, भावगाम्भीर्य, नित्यनूतन उपमान, कमनीय रचना चातुरी तथा पाण्डित्यप्रकर्ष के कारण विद्वद्समाज में यह रचना पर्याप्त प्रसिद्ध हुई। कवि ने विभिन्न प्रकार के चित्रबन्ध काव्य रच कर अपने पाण्डित्य एवं काव्यचातुर्य का भी पर्याप्त परिचय दिया है।

जैसा प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि स्तोत्रकाव्यों की संख्या अपरिमित है। उपर्युक्त प्रसिद्ध स्तोत्रों के अतिरिक्त भी अनेकानेक स्तोत्रकाव्य उपलब्ध होते हैं। राजा अवन्तिवर्मा (850 ई.) का 'देवीशतक' शब्दालंकारों के प्रचुर प्रयोग के कारण नितान्त संगीतसम्पन्न बन पड़ा है। रामानुज के शिष्य श्रीवत्सांक (बारहवीं शती) ने 'पञ्चस्तव' में 'श्रीस्तव', 'अतिमानुषस्तव', 'वरदराजस्तव', 'सुन्दरबाहुस्तव', तथा 'वैकुण्ठस्तव'—इन पाँच स्तवों का संकलन किया, जिनके पद्य कल्पनाबहुल, परिष्कृत तथा अत्यन्त प्राञ्जल हैं। गीतगोविन्दकार जयदेव ने 'गंगास्तव' की रचना की। वेदान्तदेशिक (1268-1389 ई.) ने 'पादुकासहस्र', गरुड़दण्डक', 'रघुवीरगद्य', 'अच्युतशतक' आदि स्तोत्रों की रचना की। 'पादुकासहस्र' में एक हजार पद्य हैं जिनमें श्रीराम की पादुकाओं का स्तवन किया गया है। 'गरुड़दण्डक' विष्णुवाहन गरुड़ का स्तुतिपरक काव्य है। 'रघुवीरगद्य' में श्रीराम की गद्यात्मक स्तुति है। 'अच्युतशतक' प्राकृतभाषा में उपनिबद्ध है, जिसमें 100 श्लोकों में विष्णु का स्तवन किया गया है। अप्पय दीक्षित (1554 ई.) ने काञ्ची के देव वरदराज की स्तुति में 100 पद्यों का स्तोत्रकाव्य 'वरदराजस्तव' लिखा तथा स्वयं ही उस पर टीका भी लिखी। केरल के श्री नारायणभट्ट ने 'नारायणीय' नामक स्तोत्रकाव्य की रचना की, जिसमें श्रीकृष्णस्तवन के 1036 श्लोक हैं। मधुसूदन सरस्वती (लगभग 1600 ई.) ने 'आनन्द मन्दाकिनी' में वृन्द बिहारी श्रीकृष्ण के नखशिख का वर्णन किया। नीलकण्ठ दीक्षित (सत्रहवीं शती ईस्वी) के दो स्तोत्रकाव्य 'आनन्दसागर' तथा 'शिवोत्कर्षमंजरी' उपलब्ध होते हैं जिनमें क्रमश: पार्वती एवं शिव की आराधना से उपलब्ध परमानन्द का स्रोत प्रवाहित है। रामभद्र दीक्षित (1700 ई.) ने 'अद्भुतसीतारामस्तोत्र' की रचना की। नारायणतीर्थ (1700 ई.) नामक परिव्राजक ने 'कृष्णलीलातरंगिणी' नामक स्तोत्रकाव्य रचा जिसमें बारह तरंगों में श्रीकृष्ण की सरस लीलाओं का मधुर चित्रण किया गया है।

इन स्तोत्रकाव्यों के अतिरिक्त जैन एवं बौद्ध मतानुयायी कवियों का भी विपुल स्तोत्रसाहित्य उपलब्ध होता है जिनमें कतिपय अत्यन्त प्रभावशाली हैं।

जैनस्तोत्र

सिद्धसेन दिवाकर (पाँचवी शती) का 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' तथा 'द्वात्रिंशिकास्तोत्र' एवं श्री मानतुंगाचार्य (सातवीं शती) का 'भक्तामरस्तोत्र' जैन धर्मानुरागियों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। धनंजय का 'विषापहारस्तोत्र', श्री बघभट्टि का 'चतुर्विंशतिजिनस्तुति' तथा 'सरस्वतीस्तोत्र', श्री वादिराज सूरि का 'एकीभावस्तोत्र', सोमप्रभाचार्य की 'सूक्ति मुक्तावली', श्रीजम्बूगुरु का 'जिनशतक' आदि जैन स्तोत्र प्रसिद्ध हैं। आचार्य हेमचन्द्र (10वीं शती ईस्वी) ने 'वीतरागस्तोत्र' तथा 'महावीरस्तोत्र' की रचना की। काव्यमाला प्रकाशन के सप्तम गुच्छक में तेईस जैनस्तोत्रों का संकलन प्रकाशित हुआ है।

बौद्धस्तोत्र

बौद्धों के महायान सम्प्रदाय में बुद्धप्रतिमा के सम्मुख पूजा निवेदित करने की तथा भक्तिभाव की मान्यता रही है। इसी भक्तिभाव की प्रधानता के कारण महायानी बौद्ध भिक्षुओं ने पालीभाषा के अतिरिक्त संस्कृत में भी अत्यन्त सुन्दर स्तोत्रों की रचना की। प्रसिद्ध बौद्ध कवि मातृचेट के 'चतुःशतकस्तोत्र' तथा 'शतपंचाशतिकस्तोत्र' प्रसिद्ध ही हैं। शून्यवाद के प्रधान स्थापक आचार्य नागार्जुन ने चार स्तोत्रों की रचना की थी जो 'चतुःस्तव' नाम से विख्यात हैं। श्रीहर्षवर्धन का 'सुप्रभातस्तोत्र', श्री सर्वज्ञमित्र का 'आर्यातारास्रग्धरा-स्तोत्र', श्री वज्रदत्त का 'लोकेश्वर शतक' तथा श्री रामचन्द्र कवि भारती का 'भक्तिशतक' आदि अन्य प्रसिद्ध बौद्ध स्तोत्रकाव्य हैं।

6

संस्कृत गद्यकाव्य

मानव समाज के इतिहास में पद्य की अपेक्षा गद्य का स्थान निश्चय ही अति प्राचीनतर है। पद्य का सम्बन्ध भावना से माना जाता है और गद्य विचार सरणि से सम्बद्ध है। गद्य की शैली विचार की वाहिका है और बौद्धिक ज्ञान के क्षेत्र को वाणी का मूर्त रूप देने में ही इसका अधिकतर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य के विचार क्रम का सहज रूप गद्यात्मक ही होता है, पद्यात्मक नहीं। कोई विरला ही व्यक्ति पद्य में सोचता होगा। मौन रहने पर भी मन किंवा बुद्धि में जो निरन्तर ऊहापोह चला करता है, वह सब गद्य स्वरूपात्मक ही होता है। यही कारण है कि हम वार्तालाप के समय गद्यात्मक शैली में ही व्यवहार करते हैं।

साहित्य में जीवन का स्वाभाविक प्रतिबिम्बन होता है, इसी कारण संस्कृत में भी पद्य साहित्य के समानान्तर ही गद्य साहित्य प्रतिष्ठित है। वैदिक युग से ही गद्य शैली के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। प्राचीनतम संहिता—ऋग्वेद—में गद्यशैली के दर्शन नहीं होते। इस सम्बन्ध में ओल्डेनबर्ग आदि प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति में ऋग्वेद के संवाद सूक्त मूलतया गद्य-पद्य सम्मिश्रित थे, किन्तु कालान्तर में शनैः शनैः उनका गद्य भाग लुप्त हो गया। इसका कारण यह है कि पद्य की अपेक्षा गद्य शीघ्रता से विस्मृत हो जाता है। ऋग्वेद में भले ही गद्य प्राप्त न होता हो किन्तु अन्यत्र सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में गद्य का प्राचुर्य है। कृष्ण यजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं में वैदिक गद्य का प्राचीनतम रूप उपलब्ध होता है। अथर्ववेद में भी गद्यांश प्रचुर मात्रा में हैं। संहिताओं का यह गद्य स्वाभाविक, सरल तथा रोचक है। व्यावहारिक संवादों के गद्य की भाँति ही संहिताकालीन गद्य में समास बहुलता का अभाव है।[1] वेदों के व्याख्या रूप ग्रन्थ—ब्राह्मणों में, विशेषतया ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं गोपथ ब्राह्मण में गद्य का बहुल प्रयोग किया गया है। इन ब्राह्मणग्रन्थों में वैदिक मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या, प्राचीन आख्यान तथा कर्मकाण्ड विधि का वर्णन होने के कारण गद्य शैली का प्रयोग ही अधिक समीचीन था। ब्राह्मणकालीन गद्य भी सहज, सुन्दर तथा सरल है। साथ ही अनेक स्थलों पर अलंकार भी सहजतया

1. अथर्ववेद, व्रात्यकाण्ड-व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्।
स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यति तत्प्राजनयत्।..........

द्रष्टव्य है।[2] ब्राह्मणग्रन्थों के पश्चात् आरण्यकों और उपनिषदों में भी गद्य का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। उपनिषत्कालीन गद्य सर्वाधिक व्यावहारिक है। इस गद्य में बहुत छोटे छोटे सूत्रात्मक वाक्यों एवं पुनरुक्ति के द्वारा विषय को हृदयङ्गम करा देने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है।[3]

सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में प्राप्त गद्य साहित्य का विकास इस प्रकार मुख्यतया दो भागों में विभक्त दृष्टिगोचर होता है—वैदिक साहित्य का गद्य तथा लौकिक साहित्य का गद्य। वैदिक गद्य एवं लौकिक गद्य के सन्धिकाल में सूत्रग्रन्थों की रचना हुई। ये सूत्र भी गद्यात्मक ही थे, किन्तु गम्भीर भावों और विचारों को कम से कम शब्दों में प्रगट करने की प्रवृत्ति की प्रबलता के कारण इन सूत्रग्रन्थों का गद्य नितान्त दुरूह एवं जटिल हो गया। इस सूत्रशैली में क्रियापद का अधिकांशतया अभाव ही रहता था। छहों वेदांग, निरुक्त तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी इसी सूत्रशैली के सुन्दर निदर्शन हैं। परवर्ती युग में दर्शन शास्त्र के आचार्यों तथा वैयाकरणों ने इसी शैली का अवलम्बन करके ग्रन्थों की रचना की और कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक विचार प्रगट किए।

लौकिक साहित्य का गद्य इससे भिन्न प्रकार का था। यह गद्य पाणिनि के व्याकरण की दृष्टि से नितान्त शुद्ध और परिष्कृत था। यह लौकिक गद्य भी प्रमुखतया तीन प्रकार का माना जा सकता है—पौराणिक गद्य, शास्त्रीय गद्य तथा साहित्यिक गद्य। इनमें से प्रथम **पौराणिक गद्य** महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा कतिपय पुराणों में उपलब्ध होता है। पुराणों का अधिकांश भाग तो पद्यमय है किन्तु बीच-बीच में गद्यांश भी प्राप्त होते हैं। विद्वानों ने वस्तुतः पौराणिक गद्य को वैदिक तथा लौकिक गद्य के बीच की कड़ी माना है। क्योंकि इस पौराणिक गद्य में दोनों ही गद्यरूपों की विशेषता प्राप्त होती है। एक ओर वैदिक गद्य के समान इसमें लघु बन्ध, आर्ष प्रयोग तथा भाषा का सहज प्रवाह है तो दूसरी ओर लौकिक गद्य के समान अलंकारप्रियता एवं प्रौढ़ि भी है। विष्णु पुराण का गद्य तो विशेषतया प्रासादिक एवं प्रांजल है।[4] **शास्त्रीय गद्य** का विकास सूत्रग्रन्थों की परम्परा में हुआ। मीमांसासूत्रों के शबरस्वामी कृत भाष्य, वेदान्त सूत्रों के आद्य शंकराचार्य कृत भाष्य आदि में विवेचनात्मक, तर्कसम्मत तथा परिष्कृत शास्त्रीय गद्य देखने को मिलता है। किन्तु परवर्ती दर्शनग्रन्थों विशेषतया नव्यन्यायशास्त्र ग्रन्थों का शास्त्रीय गद्य कृत्रिम और दुरूह हो गया। इन दर्शन ग्रन्थों के अतिरिक्त वैद्यक ग्रन्थों के कुछ अंशों, अलंकार शास्त्र

---

2. ऐतरेय ब्राह्मण 30/1—हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजाऽपुत्र आस। तस्य ह शतं जाया बभूवुः। तासु पुत्रं न लेभे। तस्य ह पर्वतनारदौ गृह ऊषतुः। स ह नारदं प्रपच्छ।
3. तैत्तिरीय उपनिषद् 1/11/1-4—सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्...मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।...
छान्दोग्य उपनिषद् 7/24—यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति भूमा...
4. विष्णु पुराण 4/13/14—यथैव व्योम्नि वह्निपिण्डोपमं त्वामहमपश्यं तथैवाद्याग्रतो गतमत्यत्र भगवता किंचिन्न प्रसादीकृतं विशेषमुपलक्ष्यामीत्युक्ते भगवता सूर्येण निजकण्ठादुन्मुच्य स्यमन्तकं नाम महामणिवरमवतार्य एकान्ते न्यस्तम्।

और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी शास्त्रीय गद्य का सुन्दर रूप प्राप्त होता है। **साहित्यिक गद्य** शैली के अन्तर्गत संस्कृत गद्यकाव्यों का समावेश होता है। यद्यपि शिलालेख गद्यकाव्य नहीं कहे जा सकते, तथापि कतिपय शिलालेखों का संस्कृत गद्य वस्तुतः ही गद्यकाव्य का आनन्द दे जाता है। इस दृष्टि से क्षत्रप रुद्रदामन् का गिरनार का शिलालेख (160 ई.) अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस शिलालेख का रचयिता 'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्यप्रवीणेन' विशेषण से विभूषित किया गया है। हरिषेण की समुद्रगुप्त प्रशस्ति भी सुन्दर गद्यकाव्य के रूप में विशेषतः उल्लेखनीय है।[5] यह प्रशस्ति लगभग पैंतीस पंक्तियों के एक ही समस्त वाक्य लिखी गई है। यह दोनों शिलालेख बाणभट्ट आदि की समासबहुल शैली के पूर्वरूप माने जा सकते हैं।

संस्कृत गद्य का प्रयोग वैदिक युग से ही प्राप्त होने पर भी संस्कृत गद्यकाव्य की रचना कात्यायन (300 ईसा पूर्व) से भी पूर्व होने अवश्य लगी थी, क्योंकि कात्यायन ने अपने एक वार्तिक में गद्यकाव्य के दोनों भेदों का स्पष्ट उल्लेख है।[6] पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में तीन आख्यायिकाओं—वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी का नामतः उल्लेख किया है।[7] वररुचिकृत 'चारुमती', रामिल्लसौमिल्ल रचित 'शूद्रककथा' तथा श्रीपालिकृत 'तरंगवती' का विद्वानों तथा कवियों ने सादर उल्लेख किया है।[8] यद्यपि इनमें से एक भी ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार बाणभट्ट ने हर्षचरित में किन्हीं भट्टार हरिचन्द्र नामक गद्यलेखक की प्रशंसा की है।[9] कुछ विद्वान् हरिचन्द्र के गद्यबन्ध का नाम 'मालती' मानते हैं; किन्तु बाण से पूर्ववर्ती इस गद्यलेखक का न तो स्थितिकाल स्पष्ट है और न ही इनका ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध है। शिलालेखों के गद्य की अलंकृत साहित्यिक शैली का उल्लेख किया ही जा चुका है। इन समस्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि गद्यकाव्य का प्रणयन ईसा की भी कई शताब्दियों पूर्व से होता रहा। पद्य शैली के समानान्तर ही गद्य शैली भी चलती रही। स्मरणशक्ति पर अधिक बोझ न डालने के लिए धार्मिक कृत्यादि के लिए पद्य शैली का प्रयोग किया जाता रहा और शास्त्रीय, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विषयों के लिए सूत्रात्मक गद्यशैली को प्रधानता दी गई। लेखन सामग्री की सुविधा के साथ इन शैलियों में वर्णन प्रधानता और कलात्मक विस्तार बढ़ता गया।

---

5. सर्व पृथिवीविजयजनितोदय व्याप्त निखिलावनितलां कीर्तिमितस्त्रिदशपति-भवनगमनावाप्त ललित-सुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः।
6. पाणिनि, अष्टाध्यायी 4/3/87 पर वार्तिक—लुबाख्यायिकेभ्यो बहुलम्।
   पाणिनि, अष्टाध्यायी 4/2/60 पर वार्तिक—आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च।
7. महाभाष्य 4/3/87—आख्यायिकाभ्यो बहुलं लुग् वक्तव्यः। वासवदत्ता, सुमनोत्तरा। न च भवति, भैमरथी।
8. जल्हण, सूक्तिमुक्तावली—तौ शूद्रक कथाकारौ वन्द्यौ रामिल-सोमिल्लौ।
   काव्यं ययोर्द्वयोरासीदर्धनारीश्वरोपमम्॥
   धनपाल, तिलकमंजरी—पुण्या पुनाति गंगेव गां तरंगवती कथा।
9. हर्षचरित, भूमिका—श्लोक 12— पदबन्धोज्ज्वलौ हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
   भट्टार हरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥

गद्यकाव्य के इस उद्भव और विकास को जान लेने पर एक आश्चर्यजनक तथ्य उभर कर सम्मुख आता है कि गद्यकाव्य शैली का इतिहास इतना प्राचीन होने पर भी सातवीं शती ईस्वी के सुबन्धु, बाण, दण्डी आदि की रचनाओं से पूर्व रचे गए गद्यकाव्यों में एक भी प्राप्त नहीं होता। इस विचित्र स्थिति के लिए एक ही अनुमान लगाया जा सकता है कि दण्डी आदि में संस्कृत के साहित्यिक गद्य का जो अत्यन्त परिष्कृत और प्राञ्जल रूप प्राप्त होता है, उसके पीछे अनेक सदियों की सतत साधना और अभ्यास की पृष्ठभूमि अवश्य थी। किन्तु दण्डी, बाण आदि के गद्य ने जनमानस को इतना चमत्कृत एवं मुग्ध कर दिया कि पूर्ववर्ती गद्यलेखक विस्मृत ही कर दिए गए, और उनके ग्रन्थ पठन पाठन न होने के कारण विस्मरण के अभेद्य अन्धकार में लुप्त हो गए।

गद्य शब्द गद् धातु (गदि व्यक्तायां वाचि) से यत् प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न होता है। यत् प्रत्यय विधि अर्थात् योग्य (चाहिए) अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः व्युत्पत्ति दृष्टि से गद्य शब्द का अर्थ 'कहा जाने योग्य' है। 'कहने' तथा 'कहने योग्य' में मूलभूत अन्तर है। जितना कुछ संसार में प्रतिक्षण कहा जाता है, उस सबको 'कहने योग्य' निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसी कारण गद्य को भी काव्य में परिगणित किया गया है। पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि गद्य के द्वारा विचार अधिकाधिक रूप में व्यक्त हो जाते हैं। पद्य की अपेक्षा गद्य की अभिव्यक्ति अधिक सहज भी है और यथार्थ के अधिक समीप भी। यह लय प्रधान पद्य से नितान्त भिन्न है। भाषा के जिस स्वरूप में पद्यबन्ध का परित्याग करके भी[10] भाव एवं रस का समुचित परिपाक पाया जाता है, उसी को गद्यकाव्य कहा जाता है। सुन्दर गद्यकाव्य की रचना कर सकना पद्य की अपेक्षा सदैव कठिनतर रहा—**गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति**। पद्य के रचयिता पर छन्द रचना की विविध व्यवस्थाओं एवं नियमों का नियन्त्रण होता है, किन्तु गद्यकार भावों के अनुकूल भाषा का स्वच्छन्द प्रयोग करने में स्वतन्त्र होता है। इसी स्वतन्त्रता के कारण गद्यकार का कार्य अधिक कठिन बन जाता है।

संस्कृत के काव्यशास्त्रकारों ने गद्यकाव्य को मुख्यतया दो विभागों—कथा एवं आख्यायिका—में विभक्त किया। सर्वप्रथम इन भेदों की चर्चा अग्निपुराण में प्राप्त होती है।[11] इसमें गद्यकाव्य के पाँच भेद कहे गए हैं—आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा

---

10. दण्डी, काव्यादर्श 1/23—अपादः पदसन्तानो गद्यम्।
11. अग्नि पुराण 337/13...17— कर्तृवंशप्रशंसा स्याद्यत्र गद्येन विस्तरात्।

कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भविपत्तयः ।
भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः॥
उच्छ्वासैश्च परिच्छेदो यत्र सा चूर्णिकोत्तरा।
वक्त्रं चापरवक्त्रं वा यत्र साऽऽख्यायिका मता॥
श्लौकैः स्ववंशं संक्षेपात् कविर्यत्र कथान्तरं॥
मुख्यार्थस्यावताराय भवेद्यत्र कथान्तरं॥
परिच्छेदो न यत्र स्याद् भवेद् वा लम्बकैः क्वचिद्।
सा कथा नाम तद्गर्भे निबध्नीयात् चतुष्पदीम्॥

एवं कथानिका। तदुपरान्त गद्यकाव्य के भेदों का विवेचन भामह के अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ में प्राप्त होता है[12], जिसमें आख्यायिका एवं कथा—इन दोनों भेदों का निरूपण किया गया है। आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में गद्यकाव्य के इन्हीं दोनों भेदों का स्पष्ट कथन किया है।[13] आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में गद्यकाव्य के उपर्युक्त दो प्रसिद्ध भेदों के साथ-साथ दस प्रभेदों के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है और उन प्रभेदों के उदाहरण स्वरूप रचना का नाम भी उल्लिखित किया है।[14] आचार्य विश्वनाथ ने भी इन दोनों गद्यबन्ध-भेदों का विवेचन किया है।[15] कथा और आख्यायिका—ये दो भेद ही समस्त शास्त्रीय परम्परा में एक मत से स्वीकृत हुए हैं। इन समस्त आचार्यों के मतों का संग्रहण संक्षिप्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. आख्यायिका की कथावस्तु इतिहास से ग्रहण की जाती है तथा उसमें तथ्यपूर्ण घटनाओं का समावेश होता है; किन्तु कथा का इतिवृत्त कल्पना प्रसूत होता है।

2. आख्यायिका में वक्ता स्वयं नायक ही होना चाहिए अर्थात् वस्तु कथन उत्तम पुरुष में होना चाहिए; किन्तु कथा में वक्ता स्वयं नायक अथवा अन्य कोई व्यक्ति भी हो सकता है।

3. आख्यायिका को उच्छ्वासों में विभक्त किया जाता है और भावी घटनाओं की व्यंजना के लिए वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग किया जाता है; किन्तु कथा में यह सब नहीं पाया जाता। (आचार्य विश्वनाथ ने कथा में भी कहीं कहीं उपर्युक्त छन्दों तथा आर्या के प्रयोग का कथन किया है। सम्भवतः कादम्बरी को दृष्टि में रख कर उन्होंने यह विधान किया हो।)

4. आख्यायिका में कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ एवं संयोग शृंगार, विपत्तियाँ, नायक की उन्नति आदि विभिन्न वर्णन पाए जाते है; किन्तु ये सारे वर्णन कथा में नहीं होते।

---

12. भामह, काव्यालंकार 1/25...29

संस्कृतानां कुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाऽऽख्यायिका मता॥
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च॥
कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदंकिता।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता ॥
न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासत्यपि।
संस्कृता संस्कृता चेष्टा कथाऽपभ्रंशभाक् तथा॥
अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजात कथं जनः॥

13. दण्डी, काव्यादर्श 1/23...30

14. हेमचन्द्र, काव्यानुशासन—अष्टम अध्याय

15. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण 6/332...336

5. आख्यायिका केवल संस्कृत में रची जाती है; किन्तु कथा संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश में भी रची जा सकती है।

आचार्य दण्डी ने आख्यायिका एवं कथा में विशिष्ट भिन्नताओं का कथन करके भी इनकी निःसारता स्वयं ही प्रदर्शित कर दी है। उनके अनुसार ये पारस्परिक भेद वास्तविक नहीं है। कथा या आख्यायिका आदि भेद सब एक ही हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न नाम से पुकारा जाता है।[16] संस्कृत के विभिन्न गद्यकाव्यों का अनुशीलन करने पर दण्डी का यह कथन नितान्त औचित्यपूर्ण दृष्टिगोचर होता है क्योंकि संस्कृत गद्यकाव्यों में उपर्युक्त शास्त्रीय नियमों का सर्वात्मना पालन नहीं किया गया। तथापि समीक्षक गणों ने बाणभट्ट रचित कादम्बरी को कथा एवं हर्षचरित को आख्यायिका माना है।

गद्यकाव्य में भाषा की रचना अथवा संघटना की दृष्टि से भी शास्त्रकारों ने पर्याप्त विचार किया और गद्यबन्ध के विभिन्न भेदों का उल्लेख किया। वामन ने वृत्तगन्धि, चूर्ण तथा उत्कलिका—गद्यबन्ध के ये तीन प्रकार स्वीकार किए।[17] अग्निपुराण में भी यही वर्गीकरण उपलब्ध होता है।[18] आचार्य आनन्दवर्धन ने समास के आधार पर तीन प्रकार की संघटनाएँ स्वीकार की।[19] आचार्य विश्वनाथ ने उपर्युक्त तीनों के साथ-साथ एक भेद और परिकल्पित करके उनकी संख्या चार कर दी।[20] इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—

1. मुक्तक—जिस गद्यरचना में समासों का नितान्त अभाव हो, वह मुक्तक प्रकार का गद्य है। छोटे-छोटे वाक्यों के प्रयोग के कारण इस गद्य का शब्दार्थ अति सरल होता है। यह गद्य सर्वाधिक भाववाही होने के कारण संवाद के लिए उपयुक्त है।

2. वृत्तगन्धि—जहां गद्यरचना के मध्य में वृत्तों अर्थात् पद्यों के अंश स्वाभाविक प्रवाह में आ जाएँ, वह गद्य वृत्तगन्धि प्रकार का गद्य है। वाक्यों के संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया में इसकी रचना स्वतः हो जाती है।

3. उत्कलिका—गद्य के इस प्रकार में दीर्घ समासों की बहुलता पाई जाती है। इससे भाषा में ओजगुण एवं परुष वर्णों का भी प्राधान्य हो जाता है। दीर्घ समास के कारण

---

16. दण्डी, काव्यादर्श 1/28— तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥

17. वामन, काव्यालंकारसूत्र 1/3/22— गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायश्च।

18. अग्निपुराण 337/9— अपादः पदसन्तानो गद्यं तदपि गद्यते।
चूर्णकोत्कलिकावृत्तगन्धिभेदात् त्रिरूपकम्॥

19. ध्वन्यालोक 3/5— असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता॥

20. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण 6/330-331— वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्॥
आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्।
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम्॥

वाक्य भी दीर्घ बन जाते हैं। सुबन्धु की वासवदत्ता में विकटाक्षरबन्ध युक्त उत्कलिका गद्य प्राप्त होता है। बाण की कादम्बरी में भी उत्कलिका गद्य है किन्तु वह मनोरम है।

4. **चूर्णक**—जिस गद्यरचना में छोटे-छोटे समास होते हैं, वह चूर्णक प्रकार का गद्य है। अल्पसमास के कारण गद्यबन्ध भी शिथिल नहीं होता और भाव भी सुखावह बन जाते हैं। चूर्णक गद्य वैदर्भी रीति के उपयुक्त माना गया है।

संस्कृत के गद्यकाव्यों की विशेषताओं का समुचित आकलन करते हुए डॉ. भोलाशंकर व्यास ने अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया है—"वस्तुतः गद्यकवि का लक्ष्य सुसंस्कृत श्रोताओं का मनोरञ्जन होता है। यही कारण है कि काव्यों की तरह की यहाँ उदात्त अलंकृत आहार्य दिखाई देता है और उसी की तरह कथावस्तु को गौण बना कर वर्णनों को प्रधानता दे दी जाती है। काव्योपयुक्त लम्बे लम्बे समास, श्लेषवैचित्र्य, अनुप्रास और अर्थालंकार प्राचुर्य की ओर गद्य कवि विशेष ध्यान देता देखा जाता है। वह प्रकृति—बाह्य प्रकृति तथा अन्तःप्रकृति—के वर्णन करने की ओर अधिक ध्यान देता है। काव्योपयुक्त वातावरण की सृष्टि के लिए ही इन कवियों ने प्रायः प्रणयगाथा को चुना है। पर ध्यान देने की बात यह है कि प्रणय कथा के कथांश पर गद्यकवि इतना ध्यान देता नहीं दिखाई देता, जितना वर्णन शैली पर। संस्कृत गद्यकाव्यों की यह शैली जिस काव्य में सर्वप्रथम दिखाई पड़ती है, वह है सुबन्धु की 'वासवदत्ता।'[21]

सुबन्धु

सुबन्धु की तिथि का निश्चय ज्ञान नहीं है। संस्कृत गद्यकाव्य रचयिताओं में सुबन्धु, बाणभट्ट और दण्डी—ये तीन कवि ही सर्वप्रथम उपलब्ध होते हैं और तीनों ही कवियों के पौर्वापर्य के विषय में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। प्रोफेसर सिलवाँ लेवी, डॉ. कीथ, प्रोफेसर हार्नले, प्रोफेसर तैलंग, डॉ. एस. के.दे. आदि अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने सुबन्धु के स्थितिकाल पर पर्याप्त विचार किया है। डॉ. पी.वी. काणे ने कादम्बरी ग्रन्थ की भूमिका में बाण और सुबन्धु के सम्बन्ध में अनेकविध मीमांसा की है और सुबन्धु को बाण से पूर्ववर्ती माना है। यहाँ यह स्मरणीय है कि ये तीनों ही गद्यकार—सुबन्धु, बाण तथा दण्डी बहुत थोड़े अन्तर से प्रायः समसामयिक हैं, तथा 600 से 700 ईस्वी के मध्य के सौ वर्षों में हुए हैं।

यद्यपि ऐतिहासिक सामग्री की अल्पता अथवा अभाव तथा गहन शोध की जिज्ञासा के बिना यथार्थ समय निरूपण कर सकना दुष्कर ही है; तथापि विभिन्न अन्तरंग एवं बाह्य प्रमाणों के द्वारा विभिन्न विद्वानों ने सुबन्धु का समय छठी शती का अन्त अथवा सातवीं शती का प्रारम्भ माना है। सुबन्धु के समय की परवर्ती सीमा का यदि निश्चय करें तो जिन विभिन्न कवियों तथा लेखकों ने सुबन्धु का उल्लेख किया है, उनके उद्धरण ध्यातव्य हैं।

1. राघवपाण्डवीय के रचयिता कविराज (1200 ई.) ने सुबन्धु और बाण का नामपूर्वक उल्लेख करते हुए स्वयं को तीसरा वक्रोक्ति निपुण कवि कहा है। कविराज के

21. व्यास, भोलाशंकर—संस्कृत कविदर्शन, पृष्ठ 440-441

उद्धरण में यह विशेषतया द्रष्टव्य है कि वे पहले सुबन्धु का और उनके बाद बाणभट्ट का नामोल्लेख करते हैं।[22]

2. इसी प्रकार 'श्रीकण्ठचरित' में कवि मंख (लगभग 1150 ई.) भी इसी क्रम से दोनों कवियों की प्रशंसा करते है।[23]

3. वामन (800 ई.) ने अपने ग्रन्थ 'काव्यलंकारसूत्रवृत्ति' में सुबन्धु रचित वासवदत्ता से उदाहरण दिए हैं।

4. वाक्यपतिराज (736 ई.) के प्राकृत काव्य 'गउडवहो' में सुबन्धु की रचना का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु बाण का नहीं।[24]

5. जिनभद्र क्षमाश्रमण रचित विशेषावश्यक भाष्य (610 ई.) में वासवदत्ता का उल्लेख प्राप्त होता है।

6. स्वयं बाणभट्ट ने हर्षचरित में 'वासवदत्ता' काव्य को कवियों का दर्प नष्ट करने वाला ग्रन्थ कहा है,[25] विद्वान् इस 'वासवदत्ता' को सुबन्धुकृत वासवदत्ता ही मानते हैं।

7. कादम्बरी में बाणभट्ट ने अपने ग्रन्थ से पूर्व लिखे गए दो प्रसिद्ध कथाग्रन्थों का उल्लेख किया है।[26] कादम्बरी के टीकाकार भानुचन्द्र सिद्धचन्द्र ने इस उल्लेख में 'अतिद्वयी कथा' पद से 'गुणाढ्य की वृहत्कथा और सुबन्धु की वासवदत्ता से उत्कृष्ट कथा'—यह अर्थ लिया है। इन सारे तथ्यों से सुबन्धु के समय की परवर्ती सीमा बाणभट्ट के समय से तनिक पूर्व तक पहुँचती है।

स्वयं सुबन्धु की रचना में इस सम्बन्ध में एकाधिक प्रमाण प्राप्त होते हैं। सुबन्धु ने सुन्दरी युवती के सौन्दर्य वर्णन में 'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्' तथा 'बौद्धसंगतिमिवा-लंकारभूषिताम्'—इस प्रकार जो पद दिए हैं, उनसे विद्वज्जन का यह अर्थ निकालते हैं कि सुबन्धु ने श्लेष प्रयोग के द्वारा न्यायवर्तिककार उद्योतकर तथा 'बौद्धसंगत्यलंकार' ग्रन्थ के रचयिता धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है। ये दोनों बौद्ध दार्शनिक थे और इन दोनों का समय छठी शती का अन्तिम भाग माना जाता है। सुबन्धु ने अपने गद्यकाव्य में किसी विक्रमादित्य के कीर्तिशेष होने का उल्लेख अत्यन्त रुचिर तथा काव्यमय भाषा में किया

---

22. कविराज, राघवपाण्डवीय 1/40— सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा॥

23. मंख, श्रीकण्ठचरित 2/53— मेण्ठे स्वर्द्विरदाधिरोहिणि वशं याते सुबन्धौ विधेः।
शान्ते हन्त च भारवौ विघटिते बाणे विषादस्पृशः॥

24. गउडवहो 800— भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अजस्स रहुआरे।
सोबन्धवे अ वन्धम्मि हारियन्देअ आणन्दो॥

25. हर्षचरित 1/12—कवीनामगलद् दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरताम्॥

26. कादम्बरी, प्रस्तावना 20— अलब्धवैदग्ध्यविलासमुग्धया,
धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा।

है।[27] अधिकांश आलोचकों का मत है कि इस पद्य में सुबन्धु ने हूणों के पराक्रमी नरेश मिहिरकुल को पराजित करने वाले राजा यशोधर्मन् की ओर संकेत किया है, जिसका समय छठी शती ईस्वी का मध्य भाग है।

इन समस्त बाह्य तथा अन्तरंग प्रमाणों के सूक्ष्म परीक्षण से यही निष्कर्ष निकलता है कि सुबन्धु का स्थितिकाल 600 ईस्वी मानना ही सर्वाधिक समीचीन है तथा सुबन्धु बाण से तनिक पूर्ववर्ती हैं।

ग्रन्थ परिचय—सुबन्धु की एक ही रचना उपलब्ध होती है—वासवदत्ता। इसकी कथा युवक-युवती के प्रणय पर आधारित है। चिन्तामणि नामक एक अत्यन्त प्रतापी व गुणवान् राजा था, जिसके शासन में प्रजा नितान्त सन्तुष्ट थी। चिन्तामणि का पुत्र कन्दर्पकेतु भी पिता की भांति दयालु, गुणवान एवं प्रजाप्रिय था। एक अनुपम सुन्दरी कन्या को स्वप्न में देखकर कन्दर्पकेतु विरहव्याकुल हो कर अपने मित्र मकरन्द के साथ उस सुन्दरी की खोज में निकल पड़ता है। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे विन्ध्याटवी पहुँच जाते हैं। वहाँ एक जामुन के वृक्ष के नीचे रात्रि को विश्राम करते समय उन दोनों को शुक तथा सारिका का संवाद सुनाई देता है। इस संवाद से उन्हें ज्ञात होता है कि कुसुमपुर की राजपुत्री सुन्दरी वासवदत्ता स्वप्न में कन्दर्पकेतु को देखकर मुग्ध हो गई और वासवदत्ता ने कन्दर्पकेतु के मनोभावों को जानने के लिए अपनी प्रिय दासी तमालिका को पत्र देकर भेजा है। दोनों मित्र यह संवाद सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, और कन्दर्पकेतु अपने मित्र मकरन्द और तमालिका के साथ कुसुमपुर पहुँच जाता है। कुसुमपुर में कन्दर्पकेतु को वासवदत्ता की प्रिय सखी कलावती से ज्ञात होता है कि वासवदत्ता के पिता अपनी पुत्री का विवाह किसी विद्याधर से करना चाहते हैं। यह जान कर कन्दर्पकेतु वासवदत्ता को लेकर जादू के घोड़े पर बैठकर भाग जाता है। मकरन्द समाचार जानने के लिए कुसुमपुर में रह जाता है। कन्दर्पकेतु तथा वासवदत्ता विन्ध्याटवी में पहुँचकर थकान के कारण सो जाते हैं। वासवदत्ता पहले जाग जाती है और कन्दर्पकेतु को सोया हुआ छोड़कर कन्दमूल एकत्रित करने के लिए वन में निकल जाती है। वासवदत्ता को वन में घूमते हुए देखकर दो भिन्न-भिन्न किरातसमूह उसके सौन्दर्य से आकृष्ट हो जाते हैं और दोनों में वासवदत्ता को पाने के लिए युद्ध होता है। इस पारस्परिक युद्ध में एक ऋषि का आश्रम पूर्णतया ध्वस्त हो जाता है, जो उस समय समिधा एकत्रित करने के लिए अन्यत्र गए थे। लौटने पर ध्वस्त आश्रम को देखकर ऋषि अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं, और वासवदत्ता को इस विनाश का कारण समझ कर उसे शाप दे देते हैं जिससे वासवदत्ता पत्थर की शिला बन जाती है। उधर जागने पर कन्दर्पकेतु वासवदत्ता को न देखकर अत्यन्त तीव्र विराहावेश में आत्महत्या करने के लिए उद्यत होता है, किन्तु एक आकाशवाणी उसे आत्महत्या से विरत कर देती है। अपनी प्रिया को खोजता हुआ कन्दर्पकेतु ऋषि के आश्रम में उसी स्थल पर आ पहुँचता है और उसका हाथ लगते ही वासवदत्ता को पुनः मानवी रूप प्राप्त हो जाता है। उसी समय मकरन्द भी आकर इनसे

27. सुबन्धु, वासवदत्ता— सा रसवत्ता विहता न बका विलसन्ति चरति नो कंकः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

मिल जाता है। तब तीनों ही सानन्द राजधानी लौट कर सुखपूर्वक रहने लगते हैं।

इस संक्षिप्त कथास्वरूप से स्पष्ट है कि सुबन्धु ने अपने गद्यकाव्य में नितान्त काल्पनिक कथानक प्रस्तुत किया है। सुबन्धु के गद्यकाव्य की कथावस्तु का उदयन वासवदत्ता की लोकप्रिय कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। सुबन्धु के गद्यकाव्य का कथानक तो अत्यन्त संक्षिप्त था, किन्तु सुबन्धु ने पाण्डित्य प्रदर्शन पूर्वक लम्बे लम्बे वर्णनों से उसे अत्यन्त दीर्घ कर दिया। इस दृष्टि से सुबन्धु की यह रचना उन परवर्ती गद्यकाव्यों का प्रतिनिधित्व करती है, जिनमें कथानक अत्यल्प मात्रा में होता है किन्तु महाकाव्य के सदृश विभिन्न प्राकृतिक एवं अन्य वर्णन प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। 'वासवदत्ता' गद्यकाव्य में जितनी भी कथावस्तु है, उसमें रोचकता तथा घटनाओं के सरस एवं मनोरम घात प्रतिघात की संरचना भली प्रकार नहीं हो पाई। वस्तुतः कथानक की रोचकता की अपेक्षा सुबन्धु का मुख्य उद्देश्य वर्णनचातुर्य था। और अपने दीर्घ वर्णनचातुर्य के लिए सुबन्धु विख्यात भी हुए। नायक तथा नायिका की रूप सम्पत्ति के सूक्ष्म वर्णन में, उनके विभिन्न गुणगान में, संयोग एवं वियोग की विभिन्न तीव्र, आतुर एवं उत्कण्ठित दशाओं में—सभी वर्णनात्मक प्रसंगों में सुबन्धु ने चमत्कार दिखाया है। सुबन्धु केवल कथानक को सीधे स्पष्ट रूप में आगे बढ़ाते नहीं चलते, अपितु कथा के साथ साथ नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, युद्ध आदि के अत्यधिक कलात्मक एवं विस्तृत वर्णन भी करते चलते हैं। इन सारे दीर्घ वर्णनों से सुबन्धु के विशाल शास्त्रीय ज्ञान तथा समृद्ध कलावित्ता का तो साक्षात् परिचय प्राप्त हो जाता है, किन्तु इस वर्णनाधिक्य में भी अलंकारों एवं शास्त्रीय पाण्डित्य की बहुलता होने के कारण सुबन्धु के गद्यकाव्य में काव्य सौन्दर्य एवं रसोन्मेष की छटा में प्रायः न्यूनता आ गई। 'वासवदत्ता' को पढ़ते समय ऐसा अनुभव होता है कि सुबन्धु ने अपने गद्यकाव्य में भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष को प्रयत्नपूर्वक पुनः पुनः उभारा है। प्रसिद्ध काव्यशास्त्रकार आनन्दवर्धन ने ऐसे ही कवियों को ध्यान में रखते हुए कहा था—कतिपय कवि ऐसे भी रचना करते दीख पड़ते हैं कि उनके प्रबन्धों में केवल अलंकार आदि का ही कौशल प्रदर्शित होता है, रसाभिव्यक्ति नहीं हो पाती।[28]

वासवदत्ता का अंगीरस श्रृंगार है। संयोग एवं विप्रलम्भ—दोनों ही पक्षों का कवि ने पर्याप्त विस्तार किया है। नायक एवं नायिका में पूर्वराग की स्थिति विशेषतया द्रष्टव्य है। अन्य सभी रस श्रृंगार के ही अंग बनकर प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु रसनिर्भरता में भी कवि की वर्णनप्रियता एवं अलंकार बहुलता ने प्रायः ही व्याघात उत्पन्न कर दिया है। फिर भी किसी किसी स्थल पर श्रृंगार रस की भावकुता एवं कोमलता ने सुबन्धु की अलंकार प्रियता एवं पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति को दबा ही दिया है। ऐसे स्थलों पर सुबन्धु की कोमलकान्त पदावली एवं सहज शैली पाठक को बरबस ही आकृष्ट कर लेती है। स्वप्न में कन्दर्पकेतु के दर्शन करके काम परवशा बनी हुई वासवदत्ता का विरहव्यथित वर्णन देखिए—

मुग्धे मदनमंजरि! सिञ्चांगानि चन्दनवारिणा। सरले वसन्तसेने! संवृणु केशपाशम्। तरले तरंगवति! विकिरांगेषु कैतकधूलिम्। वामे मदनमालिनि! कलय वलयं शैवाल-

28. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक—दृश्यन्ते च कवयोऽलंकारनिबन्धनैकरसा अनपेक्षितरसाः प्रबन्धेषु।

कलापेन। चपले चित्रलेखे! चित्रपटे विलिख चित्तचोरं जनम्।.....

सुबन्धु ने अपने पात्रों के चरित्रचित्रण में भी विस्तृत वर्णन शैली का ही आश्रय लिया है। इसी कारण सुबन्धु का चरित्रचित्रण कृत्रिम सा जान पड़ता है। चरित्र चित्रण में भी पाण्डित्य एवं विचित्रता का समावेश कर देने के कारण उसकी सहजता नष्ट हो गई। सुबन्धु ने पात्रों के चरित्र की सूक्ष्म आन्तरिक वृत्ति का वर्णन न करके बाह्य आकार प्रकार के वर्णन पर ही मुख्यतया ध्यान दिया। कन्यारत्न के विलासविभ्रम का अतिरंजित चित्रण करते समय सुबन्धु ने पचहत्तर पंक्तियों का एक वाक्य लिखा है, जिससे उनके परिनिष्ठित शास्त्रीय ज्ञान एवं अलंकार प्रयोग की कुशलता तो भली प्रकार अभिव्यंजित होती है, किन्तु समस्त वर्णन नितान्त अम्वाभाविक-सा लगने लगा है। नायिका वासवदत्ता के रूपवर्णन का यह अंश देखिए, जो कवि के पाण्डित्य, पौराणिक संकेत तथा अलंकार प्रेम के भार से दुर्वह हो गया—

————उपनिषद्मिवानन्दमेकमुद्योतयन्तीम्, द्विजकुलस्थितिमिव चारुचरणाम्, विन्ध्यगिरिश्रियमिव सुनितम्बाम्, तारामिव गुरुकलत्रतयोपशोभिताम्, शतकोटिमुष्टिमिव मुष्टिग्राह्यमध्याम्, प्रियंगुश्यामासखीमिव प्रियदर्शनाम्, ब्रह्मदत्तमहिषीमिव सोमप्रभाम्, दिग्गजकरेणुकामिवानुपमाम्, रेवामिव नर्मदाम्, वेलामिव तमालपत्रप्रसाधिताम्, अश्वतर-कन्यामिव मदालसां वासवदत्तां ददर्श।

अर्थात् अपूर्व ब्रह्मानन्द देने वाले उपनिषद् की भाँति एकमात्र आनन्द को द्योतित करती हुई, सदाचरण सम्पन्न ब्राह्मण की सुन्दर कुलमर्यादा के समान सुन्दर चरणों वाली, शोभन तट प्रदेशों से युक्त विन्ध्यगिरि की शोभा की भाँति सुन्दर नितम्बों वाली, देवगुरु बृहस्पति की पत्नी रूप में शोभायान तारा की भाँति सघन नितम्बों से युक्त, वज्रयष्टि की भाँति मुष्टिग्राह्य कटि प्रदेश वाली, (नरवाहनदत्त की पत्नी) प्रियंगुश्यामा की सखी प्रियदर्शना के सदृश ही प्रिय दर्शन वाली, ब्रह्मदत्त की रानी सोमप्रभा के सदृश ही (सोम) चन्द्रमा की सी कान्ति से युक्त, दिग्गजवधू अनुपमा के समान उपमारहित, नर्मदा नाम से विख्यात रेवा नदी की भाँति (नर्म+दा) शृंगार का आनन्द देने वाली, तमालपत्रों से सुशोभित समुद्र तट की भाँति सुन्दर तिलक से प्रसाधित, अश्वतर की कन्या मदालसा के सदृश (यौवन) मद से आलस्य युक्त वासवदत्ता को देखा।

सुबन्धु के गद्यकाव्य में प्रकृति के कोमल एवं कठोर-दोनों ही पक्षों का पर्याप्त चित्रण हुआ है। सुबन्धु के वर्षावर्णन में सुन्दर उत्प्रेक्षा-प्रयोग देखिए—

जलददारुणि लोलतडिल्लाताकरपत्रदारिते पवनवेगनिर्धूताश्चूर्णनिकरा इव जलकणा बभुः। विच्छिन्नदिग्वधूहारमुक्तानिकरा इव, खरपवनवेगभ्रमितघनघरट्टघट्टन-संचूर्णिततारानिकरा इव, त्रिभुवनविजिगीषोर्मकरध्वजस्य प्रस्थानलाजञ्जलय इव करका व्यराजन्त।

अर्थात्-मेघ रूपी लकड़ी के चंचल विद्युत रूपी आरे से काटे जाने पर पवनवेग से उड़ाकर फैलाए गए बुरादे के समूह की भाँति (वर्षा) के जलकण सुशोभित हुए। दिशावधू के टूटे हुए मौक्तिक हार के मुक्ता समूह के सदृश, तीव्र पवनवेग से चलाई जाती हुई मेघ रूपी चक्की में पिसकर चूर्ण बने हुए तारा समूह के सदृश और त्रिभुवन को जीतने के

इच्छुक कामदेव के प्रस्थान के समय फेंकी जाती हुई लाजाञ्जलि के सदृश ओले सुशोभित हुए।

सुबन्धु का सन्ध्या वर्णन भी पर्याप्त सुन्दर है—

————विद्रुमलतेव चरमार्णवस्य, रक्तकमलिनीव गगनतटाकस्य, काञ्चनकेतुरिव कन्दर्परथस्य————भिक्षुकीव तारानुरक्ता, रक्ताम्बरधारिणी, वारमुख्येव पल्लवारक्ता——बभ्रुरिव कपिलतारका भगवती सन्ध्या समदृश्यत।

यह वर्णन कादम्बरी सन्ध्यावर्णन की भाँति उत्कृष्ट तो नहीं है किन्तु उसका स्मरण अवश्य करा देता है।

कतिपय अन्य प्रकृति वर्णनों में सुबन्धु ने शब्दों का ऐसा जाल गूँथा है जिसमें उलझकर प्राकृतिक सुषमा की मनोहारिता लुप्त ही हो गई है, यथा सूर्योदय का यह दृश्य—

————आन्दोलितकुसुमकेसरे केसरेणुमुषि रणितनूपुरमणीनां रमणीनां, विकचकुमुदाकरे मुदाकरे संगभाजि, प्रियविरहितासु रहितासु सुखेन मुर्मुरचूर्णमिव समन्तादर्पके दर्पकेष दहनस्य————

सुबन्धु ने अपने गद्यकाव्य में गौड़ी रीति का आश्रय लिया है। ओज, समास बहुलता, विकटपदबन्धता, पाण्डित्य प्रदर्शन तथा श्रमसाध्यता—ये सारे तत्त्व सुबन्धु के काव्य में पद पद पर परिलक्षित होते हैं। कवि ने प्रायः सभी शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का प्रयोग अपने काव्य में किया है। एक आनुप्रासिक पदबन्ध का उदाहरण देखिए—

कन्दर्पकेलिसम्पल्लम्पटलाटीललाटतटलुलितालकधम्मिल्लभारबकुलकुसुमपरिमल-मेलनसमृद्धमधुरिमगुणः, कामकलाकलापकुशलचारुकर्णाटसुन्दरीस्तनकलशघसृणधूलिपटल-परिमालामोदवाही, रणरणकरसितापरान्तकान्तकुन्तलोल्ललनसंक्रान्तपरिमलमिलितालिमाला-मधुरतरझंकाररवमुखरितनभः स्थलः... सुरतश्रमपरावशान्ध्रपुरन्ध्रीनीरन्ध्रपीनपयोधरभारनि-दाघजलकणनिकरशिशिरितो मलयमारुतो ववौ।

विरोधाभास अलंकार का भी कवि ने अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है—

धनदेनापि प्रचेतसा, गोपालेनापि रामेण, भरतेनापि लक्ष्मणेन, तिथिपरेणाप्यतिथि-सत्कारप्रवणेन, असंख्येनापि संख्यावता, अमर्मभेदिनापि वीरतरेण. निवासिजनेनानुगतम्।

यमक अलंकार का यह निरन्तर प्रयोग द्रष्टव्य है—

राजसेन राजसे नरहितो रहिता ध्रुवम्। विशारदा शारदाभुविशदा विशदात्मनां न महिमानमहिमानरक्षणक्षमा क्षमातिलक धीरता धीरता मनसि भूतता भूतता च वचसि। साहसेन सा हसेन कमला कमलालया यया जिता।

किन्तु श्लेष अलंकार सुबन्धु का सर्वाधिक प्रिय अलंकार है। कहीं कहीं श्लेष अलंकार का प्रयोग अत्यन्त मनोहर है—

एकदा तु कतिपयमासापगमे काकलीगायन इव समृद्धनिम्नगानदः, कुमार-मयूर इव समारूढशरजन्मा,...तापस इव धृतजलदकरकः, प्रलयकाल इव दर्शितानेकतरणिविभ्रमः... लंकेश्वर इव मेघनादः, विन्ध्य इव घनश्यामः, युवतिजन इव पीनपयोधरः समाजगाम वर्षासमयः।

स्वयं सुबन्धु ने गार्वोक्ति की है कि मेरे विलक्षण गद्यग्रन्थ में प्रत्येक अक्षर में श्लेष है-'प्रत्यक्षश्लेषमयप्रपंचविन्यासवैदग्ध्यनिधि प्रबन्धम' (वासवदत्ता, भूमिका श्लोक 13)। सुबन्धु की यह गर्वोक्ति सही अवश्य है किन्तु अलंकार बहुलता, दीर्घ समास, गम्भीर पौराणिक संकेत तथा पाण्डित्य प्रदर्शन के कारण सुबन्धु की यह रचना सरस की अपेक्षा दुरूह एवं बोझिल बन गई है।

इन विभिन्न दोषों के होने पर भी सुबन्धु के शास्त्रीय ज्ञान, विद्वत्ता एवं पाण्डित्य में सन्देह नहीं किया जा सकता। जहां भी सुबन्धु ने अपने श्लेषप्रेम तथा पाण्डित्यगर्व को छोड़ कर काव्यप्रणयन किया है, वहाँ उनकी शैली रोचक एवं रसप्रवण हो गई है। सुन्दर कविता की प्रशंसा में सुबन्धु ने जो पद्य कहा है वह कोमल काव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। (वासवदत्ता, भूमिका-श्लोक 11)—

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलाऽपि हि हरति दृशं मालतीमाला।।

सुबन्धु के गद्यकाव्य के गुणावगुणों की सुन्दर विवेचना डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने इस प्रकार की है—''सुबन्धु की शैली के कुछ विशेष गुण हैं, जिनके द्वारा वे विद्वानों में समादृत हुए हैं। सुबन्धु का श्लेष प्रयोग कलाकार की कलाकृति का प्रदर्शन करता है। विरोधाभास, परिसंख्या, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग कवि की नई सूझ बूझ और सूक्ष्म दृष्टि को सूचित करता है। सुबन्धु की रचना में संगीतात्मकता है, लयात्मकता है और नादसौन्दर्य है। यदि सुबन्धु ने एक ओर विलष्ट पदावली दी है तो दूसरी ओर कोमलकान्त पदावली का भी मिश्रण किया है। यदि एक ओर थकाने वाले श्लेष प्रयोग हैं, तो दूसरी ओर सुन्दर स्वभावोक्ति और उत्प्रेक्षाएँ भी हैं। कवि का भाषा पर अनूठा अधिकार है। वे कठिन के बाद सरल और सरल बाद कठिन पदावली का प्रयोग करते हैं। एक ओर ओज है तो दूसरी ओर प्रसाद और माधुर्य। एक ओर पाण्डित्य प्रदर्शन है तो दूसरी ओर सरस पदावली। इन विरोधी गुणों के समन्वय के कारण वासवदत्ता में मणिकांचन संयोग प्राप्त होता है।''[29]

आचार्य कुन्तक ने जिस विचित्र मार्ग का वर्णन किया था, उसका सुन्दर निदर्शन सुबन्धु का गद्यकाव्य है। बाणभट्ट ने 'वासवदत्ता' की अत्यन्त तथ्यपूर्ण प्रशंसा की है—

कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्।।

बाणभट्ट

सरस्वती के वरद पुत्र बाणभट्ट संस्कृत साहित्य के अत्यन्त प्रिय एवं बहुचर्चित कवि रहे हैं। मधुर भाषा, अद्भुत कथा शिल्प तथा रस प्रवणता के द्वारा बाणभट्ट ने संस्कृत गद्य को काव्यकला के जिस उच्चतम एवं श्रेष्ठ धरातल पर प्रतिष्ठित किया, वहाँ तक अद्यावधि कोई अन्य लेखक नहीं पहुँच सका। बाणभट्ट के गद्य में भाव पक्ष एवं कलापक्ष का जैसा अन्योन्यातिशय दृष्टिगोचर होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही रहा।

29. द्विवेदी, कपिलदेव—संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ 486

सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट ही एक ऐसे कवि हैं जिनके व्यक्तित्व, जीवन एवं कृतित्त्व के लिए हमें यथेष्ट ज्ञान उपलब्ध है। बाणभट्ट ने कादम्बरी के प्रारम्भिक श्लोकों में अपने वंशक्रम का संक्षेप में वर्णन किया है और हर्षचरित के प्रारम्भिक तीन उच्छ्वासों में आत्मकथा ही प्रस्तुत कर दी है। बाणभट्ट ने अपने वंश की उत्पत्ति पौराणिक बताई है कि सरस्वती के पुत्र सारस्वत के चचेरे भाई वत्स इनके वंशप्रवर्तक थे। वत्सवंश में कुबेर नामक एक प्रकाण्ड पण्डित हुए। कुबेर की विद्वत्ता तथा श्रुतिशास्त्रसम्पन्नता का वर्णन करते हुए बाणभट्ट ने लिखा है कि कुबेर के घर में पिंजरों में पाले गए शुक सारिका आदि भी इतने अधिक विद्वान् हो गए थे कि उस घर में पढ़ने वाले ब्रह्मचारी अत्यन्त सशंकित होकर वेदपाठ किया करते थे। क्योंकि अशुद्ध पाठ करने वालों को वे शुकादि पद पद पर टोक दिया करते थे।[30] इन्हीं कुबेर के पौत्र के भी पौत्र बाणभट्ट हुए। इनका वंश धन की दृष्टि से भी पर्याप्त सम्पन्न था। पण्डित एवं सम्पन्न वंश के पैतृक उत्तराधिकार के रूप में ही मानों बाणभट्ट पर सरस्वती एवं लक्ष्मी दोनों की कृपा रही। बाल्यावस्था में ही माता-पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर बाणभट्ट के ऊपर किसी का अनुशासन नहीं रहा और अतुल सम्पत्ति होने के कारण इनके अनेक मित्र बन गए। युवावस्था की अविवेकी आयु में बाणभट्ट ने अनेक प्रकार का उच्छृंखल आचरण किया। कुछ समय उपरान्त वे अनेक मित्रों के साथ देशाटन के लिए निकल पड़े। इस देश देशान्तर भ्रमण से बाण को पर्याप्त लाभ हुआ। उन्होंने अनेक गुरुकुलों में शिक्षा प्राप्त की, अनेक राजसभाओं को देखा-परखा तथा विभिन्न विद्वानों से वार्तालाप हुआ। इस प्रकार बाणभट्ट पर्याप्त लोकानुभव, बुद्धिनैपुण्य तथा सूक्ष्मदर्शी दृष्टि से सम्पन्न होकर अपने ग्राम लौट आए। घर पर भी वे विद्याध्ययन करते रहे। इस बीच कतिपय लोगों ने बाणभट्ट के विषय में उल्टी सीधी सूचनाएँ देकर सम्राट हर्षवर्धन को बाणभट्ट के विरुद्ध कर दिया था; किन्तु हर्षवर्धन के चचेरे भाई श्रीकृष्ण पूरी वास्तविकता से अवगत थे। उन्होंने ही पत्र भेजकर बाणभट्ट को बुलाया और हर्षवर्धन की सभा में बाणभट्ट का प्रवेश कराया। प्रारम्भ में तो राजा ने बाण की अवहेलना की, किन्तु कुछ ही दिनों में बाणभट्ट की विद्वत्ता और कवित्वशक्ति के कारण हर्ष उनसे प्रसन्न हो गए। धीरे-धीरे बाणभट्ट हर्ष के विश्वासपात्र और स्नेह भाजन बन गए। बहुत दिनों तक बाणभट्ट ने राजसभा को सुशोभित किया। इनके उपरान्त बाण अपने ग्राम में लौट आए। वहाँ मित्रों के बारंबार आग्रह करने उन्होंने हर्ष का चरित लिखना प्रारम्भ किया।

बाण के जीवन की यह कथा स्वयं उन्हीं के द्वारा लिखे गए हर्षचरित में प्राप्त होती है। बाण के कितने पुत्रादि हुए—इसका कोई उल्लेख हर्षचरित में नहीं है। सम्भवतः उस ग्रन्थ की रचना के समय तक उनके कोई पुत्र हुआ ही न हो। किन्तु उनके पुत्र थे अवश्य। बाणभट्ट अपनी कादम्बरी कथा की रचना पूर्ण नहीं कर सके थे। उस अपूर्ण कृति को बाण के पुत्र ने ही पूर्ण किया। बाण का यह पुत्र पिता के सदृश ही प्रतिभाशाली होने

---

30. बाणभट्ट, कादम्बरी—श्लोक 12—जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पंजरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणा बटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यत्र शंकिताः॥

पर भी नितान्त निस्पृह था, जिसने कादम्बरी के उत्तरार्ध की रचना करने पर भी कहीं अपना नामोल्लेख नहीं किया। उत्तरार्ध प्रारम्भ करते समय बाणभट के पुत्र ने लिखा है— 'पिताजी के स्वर्गलोक चले जाने पर जो कथा उनके साथ ही विच्छिन्न हो गई—उस असमाप्त कथा के प्रति सज्जनों की व्यथा को देखकर ही मैं यह कथा प्रबन्ध प्रारम्भ कर रहा हूँ, कवित्वदर्प के कारण नहीं। पिताजी के प्रभाव से ही मैं उनकी भाँति लिख सका हूँ। अन्यथा मैं तो कादम्बरी के रस से मदमत्त होकर कुछ भी नहीं समझ पाता हूं। मुझे भय है कि अपने रसवर्जित वाक्यों से पिता की विच्छिन्न कथा की पूर्ति करके कहीं मैं अवहेलना का पात्र न बन जाऊं।'[31] बाणभट्ट के इस सुयोग्य पुत्र का नाम 'पुलिन्द', 'पुलिन' अथवा 'पुलिन्द भट्ट' था। धनपाल ने अपनी तिलकमंजरी में श्लेषालंकार से बाण के पुत्र का नाम 'पुलिन्द' ही कहा है।'[32]

बाणभट्ट के सम्बन्ध में यह प्रामाणिक इतिहास प्राप्त होने के साथ-साथ पण्डितसमाज में एक किंवदन्ती और भी प्रचलित है जो महाकवि बाण का सम्बन्ध एक अन्य कवि मयूर से जोड़ती है। मयूर कवि के किसी आचरण से लज्जित और क्रुद्ध बाण ने उन्हें कोढी हो जाने पर शाप दिया और मयूर ने भी क्रुद्ध हो कर बाण को शाप दे डाला। शापमुक्त होने के लिए बाणभट्ट ने दुर्गा की स्तुति में चण्डीशतक लिखा और मयूर ने सूर्य के स्तवन में सूर्यशतक।

महाकवि बाणभट्ट के स्थितिकाल के सम्बन्ध में किसी प्रकार के विवाद अथवा अनुमान का कोई अवकाश नहीं है। बाणभट्ट सम्राट हर्षवर्धन के सभापण्डित थे। हर्षवर्धन का राज्यकाल 606 ईस्वी से 648 ईस्वी तक रहा। चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग के संस्मरणों तथा विभिन्न ताम्रपत्रों में प्राप्त तिथियों के आधार पर हर्षवर्धन का यह राज्यकाल ऐतिहासिक दृष्टि से सुनिश्चित है। अतः बाणभट्ट का भी यही समय होना चाहिए। अन्य अन्तरंग तथा बहिरंग प्रमाणों से भी बाणभट्ट का समय सातवीं शती का पूर्वार्ध ही निश्चित होता है। आचार्य रुय्यक (1150 ईस्वी) ने अपने ग्रन्थ 'अलंकारसर्वस्व' में हर्षचरित से उद्धरण दिए हैं। महाकवि क्षेमेन्द्र (1150 ईस्वी) ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर बाण का उल्लेख किया है। नमिसाधु (1069 ईस्वी) ने बाणभट्ट की कादम्बरी को कथा एवं हर्ष-चरित को आख्यायिका नामक भेद बताया है। भोज (1025 ईस्वी) ने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में बाण के गद्यबन्ध को उनके पद्य की अपेक्षा अधिक अच्छा कहा है—

---

31. कादम्बरी, उत्तरभाग, प्रस्तावना— याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं
विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
दुखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य
प्रारब्ध एष च मया न कवित्वदर्पात्॥
कादम्बरीरसभरेण समस्त एव, मत्तो न किंचिदपि चेतयते जनोऽयम्।
भीतोऽस्मि यन्न रसवर्णविवर्जितेन, तच्छेषमात्मवचसाप्यनुसंधानः॥

32. धनपाल, तिलकमंजरी 26— केवलोऽपि स्फुरन्बाणः करोति विमदान्कवीन्।
किं पुनः क्लृप्तसंधानं पुलिन्दकृतसन्निधिः॥

'यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः।' धनंजय (1000 ई.), आनन्दवर्धन (850 ईस्वी), वामन (800 ईस्वी) आदि ने अनेक प्रकार से बाण और उनके गद्यकाव्यों का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि बाण की ख्याति सातवीं शती के उत्तरार्ध तक पर्याप्त फैल चुकी थी। हर्षवर्धन के बयालीस वर्ष के राज्यकाल में भी बाणभट्ट का प्रवेश लगभग अन्त में ही हुआ होगा। हर्षचरित में बाणभट्ट ने राजा हर्ष के उन पराक्रमों और दानोत्सवों का रुचिर वर्णन किया है, जिन्हें हर्ष बाणभट्ट से मिलने के पूर्व सम्पन्न कर चुके थे। राजा हर्ष ने 643 ईस्वी में प्रयाग में अपना समस्त धनवैभव दान कर दिया था और उस अवसर पर चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग वहां उपस्थित था। अतः इन प्रमाणों के साक्ष्य से बाणभट्ट का समय सातवीं शती का पूर्वार्ध मानना अनुचित नहीं है।

रचनाओं की दृष्टि से हर्षचरित एवं कादम्बरी के अतिरिक्त बाणभट्ट की दो और भी रचनाएँ मानी जाती हैं। 'चण्डीशतक' स्तोत्रकाव्य है, जिसमें भगवती दुर्गा की सौ पद्यों में स्तुति की गई है। 'पार्वतीपरिणय' नाटक है, किन्तु इस नाटक के कर्तृत्व के विषय में आलोचकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ इसे बाणभट्ट की रचना मानते हैं तो कुछ अन्य इसे कवि वामनभट्ट बाण द्वारा (15 वीं शती ईस्वी) रचित मानते हैं। 'मुकुटताडितक' नामक नाटक भी बाण की रचना कहा जाता है, सम्प्रति यह अनुपलब्ध है। अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों तथा सूक्ति संकलनों में भी बाणभट्ट के नाम से अनेक सुन्दर श्लोक प्राप्त होते हैं, किन्तु वे श्लोक बाण की उपलब्ध रचनाओं में कहीं नहीं मिलते।

हर्षचरित—यह बाणभट्ट की प्रथम गद्यकृति है। स्वयं बाण ने इसको आख्यायिका' कहा है और तदनुरूप ही इसमें प्रख्यात कथावस्तु को ग्रहण किया है। गद्यकाव्य होने पर भी यह ग्रन्थ ऐतिहासिक काव्य की कोटि में आता है अतः इसका विशद विवेचन तत्सम्बद्ध अध्याय में किया जा चुका है। किन्तु हर्षचरित की अन्य भी अनेक विशेषताएँ हैं। इस ग्रन्थ में आठ उच्छ्वास हैं जिनमें बाणभट्ट ने प्रथम उच्छ्वास के प्रारम्भ में इक्कीस श्लोक रचे हैं। इन श्लोकों में अन्य तथ्यों के अतिरिक्त बाणभट्ट ने अपने से पूर्ववर्ती अनेक मान्य कवियों और सामान्य ग्रन्थों की प्रशंसा एवं स्तुति की है यथा व्यास, वासवदत्ता, भट्टार हरिचन्द्र, प्रवरसेन एवं उनका महाकाव्य सेतुबन्ध, भास, कालिदास, बृहत्कथा तथा आढ्यराज। बाणभट्ट की यह प्रशस्ति इन कवियों एवं ग्रन्थों के समय निर्धारण में महती भूमिका ग्रहण करती है। हर्षचरित ग्रन्थ के रूप में बाणभट्ट ने आत्मकथात्मक ग्रन्थ लिखने की पद्धति का सूत्रपात किया है। ऐतिहासिक काव्य के रूप में भी यह संस्कृत साहित्य का प्रथम प्रयास है, जिसमें तिथियों का उल्लेख न होने पर भी सप्तम शती के भारत का एक अत्यन्त प्रामाणिक चित्र प्राप्त हो जाता है। हर्ष चरित गद्यकाव्य के रूप में भी काव्यसौन्दर्य से परिपूर्ण है। इसका अंगी रस वीर है। मरणासन्न प्रभाकरवर्धन का चित्रण करते समय कवि ने करुण रस का अत्यन्त सुन्दर निर्वाह किया है। कादम्बरी में परिपूर्णशक्ति बाण की अद्‌भुत वर्णनाशक्ति हर्षचरित में भी स्थल-स्थल पर पाठक को मुग्ध कर लेती है। पति के मरण से पूर्व ही सती होने वाली यशोवती का वर्णन एवं विलाप, दिग्विजय हेतु जाते हर्षवर्धन का प्रयाण, विन्ध्याटवी, सन्ध्या, दिवाकरमित्र का आश्रम—सर्वत्र ही बाण की

वर्णना चातुरी की छटा बिखरी दीख पड़ती है। इस दृष्टि से हर्षचरित एक सुन्दर गद्यकाव्य है। बाण ने अपने चरितनायक हर्षवर्धन के निर्भीक, कर्तव्यपरायण, स्नेहमृदुल, साहसी एवं परोपकारी चरित्र का सुन्दर चित्रण किया है। इसलिए सोड्ढल ने हर्षचरित की समुचित ही प्रशंसा की—

बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य
शक्तिं न केऽत्र कवितास्त्रमदं त्यजन्ति।

कादम्बरी

ललित पदबन्ध, समास का लयपूर्ण सन्निवेश, हृदय के सुन्दरतम भावों की मुग्ध अभिव्यंजना आदि को समाहित किए हुए बाणभट्ट की कथा-कादम्बरी-वस्तुतः ऐसी स्वादु तथा आकर्षक मदिरा है, जिसके रस में आकण्ठ डूबकर सहृदय व्यक्ति को लौकिक भोगादि भी रुचिकर प्रतीत नहीं होते—'कादम्बरीरसाज्ञानामाहारोऽपि न रोचते।' यह संस्कृत का समुज्ज्वल हीरकमणिरूप सर्वोत्कृष्ट गद्यकाव्य है, इस कथन में कोई भी अतिशयोक्ति नहीं है। यह गद्यकाव्य भी युवक युवती के तारामैत्रक चक्षूराग से उत्पन्न उस अनुराग का चित्रण करता है, जो जन्म जन्मान्तर तक दृढ़ एवं भावस्थिर रहता है। चन्द्रापीड़-कादम्बरी तथा पुण्डरीक-महाश्वेता के प्रणय का चित्रण करने वाली कादम्बरी के दो भाग हैं। उत्तर भाग की रचना बाण के पुत्र पुलिन्द ने की थी, यह कहा जा चुका है। उत्तर भाग वस्तुतः सम्पूर्ण कादम्बरी का तृतीयांश मात्र है। कादम्बरी गद्यकाव्य का जटिल किन्तु मनोरम कथानक संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है—

विदिशा नरेश प्रतापी शूद्रक की राज्यसभा में अपूर्व रूपलावण्यसम्पन्न एक चाण्डालकन्या एक परम मेधावी शुक को लेकर पहुँचती है, और वैशम्पायन नामक वह तोता राजा शूद्रक को भेंट कर देती है। तोता विन्ध्यारण्य में अपने जन्म से लेकर महर्षि जाबालि के आश्रम पहुँचने तक का वृत्तान्त राजा शूद्रक को सुनाता है। महर्षि जाबालि से सुने हुए अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त को वह इस प्रकार बताता है—उज्जयिनी के राजा तारापीड़ और उनकी रानी ने तपस्या के द्वारा चन्द्रापीड़ नामक पुत्र पाया। विद्याध्ययन कर लेने के पश्चात् युवराज चन्द्रापीड़ अपने मित्र एवं अमात्यपुत्र वैशम्पायन के साथ दिग्विजय के लिए निकल पड़ता है। यात्रा के बीच ही चन्द्रापीड़ अपने साथ इन्द्रायुध नामक अश्व पर एक किन्नर-युगल का पीछा करते-करते अच्छोद सरोवर पहुँच जाता है। वहां चन्द्रापीड का परिचय महाश्वेता नामक तपस्विनी देवकन्या से होता है। महाश्वेता गन्धर्वराजकन्या थी, जिसका प्रेम पुण्डरीक नामक तापस युवक से हो गया था। किन्तु प्रेमविह्वल पुण्डरीक की मिलन से पूर्व ही मृत्यु हो गई। अपने प्रियतम से भविष्यत् मिलन की आशा में महाश्वेता उस अच्छोद सरोवर पर तपस्यारत थी। महाश्वेता की सखी कादम्बरी ने अपनी सखी की व्यथा से दुखी होकर आजन्म कौमार्यव्रत का संकल्प कर लिया था। महाश्वेता चन्द्रापीड को साथ लेकर कादम्बरी को समझाने जाती है। चन्द्रापीड एवं कादम्बरी प्रथम दर्शन में ही परस्पर गाढ अनुरक्त हो जाते हैं। किन्तु उसी समय पिता का आदेश पाकर

चन्द्रापीड राजधानी लौट जाता है और अपने मित्र वैशम्पायन को सेनासहित शीघ्र ही आने के लिए कह जाता है। राजधानी में चन्द्रापीड के पास कादम्बरी का प्रेम सन्देश आता है और कादम्बरी का पूर्व भाग यही समाप्त हो जाता है। उत्तर भाग में चन्द्रापीड अभी तक राजधानी न पहुँचे हुए अपने मित्र वैशम्पायन को खोजता हुआ पुनः अच्छोद सरोवर पहुँच जाता है। वहाँ महाश्वेता उन्हें बताती है कि वैशम्पायन को स्वयं में अनुरक्त जानकर मैंने उन्हें शुक बन जाने का शाप दे दिया। प्रिय मित्र के इस दुखद अवसान को सुनकर वहीं चन्द्रापीड के प्राण निकल जाते हैं। इसी समय कादम्बरी भी वहीं आ पहुँचती है और अपने प्रियतम को मृत पाकर प्राणविसर्जन के लिए तत्पर हो जाती है। किन्तु एक आकाशवाणी ऐसे अकृत्य के लिए कादम्बरी को रोकती है और आश्वासन भी देती है कि निकट भविष्य में ही महाश्वेता और कादम्बरी का अपने अपने प्रिय से मिलन होगा। महर्षि जाबालि द्वारा सुनाया गया वृत्तान्त यहीं समाप्त हो जाता है।

तदुपरान्त शुक स्वयं ही राजा शूद्रक को बताता है कि अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को सुनकर मेरे मन में महाश्वेता प्रणय की पूर्व स्मृति जाग उठी तथा मैं उससे मिलने के लिए आश्रम से उड़ा। किन्तु यह चाण्डालकन्या मुझे पकड़कर आपके पास ले आई, यही मेरी कथा है। तब चाण्डालकन्या ने बताया कि मैं पुण्डरीक की माता लक्ष्मी हूं। पुण्डरीक पूर्व जन्म में आपका मित्र वैशम्पायन बना और अब तोते के रूप में है। आप शूद्रक भी पूर्वजन्म के चन्द्रापीड़ हैं और अब आप दोनों के शाप की अवधि समाप्त हो गई है। यह सुनते ही राजा शूद्रक को पूर्वजन्म का कादम्बरी-प्रणय स्मरण हो गया और तत्काल उसके प्राण निकल गए। फलतः उधर चन्द्रापीड जीवित हो गए। इस प्रकार पुण्डरीक-महाश्वेता तथा चन्द्रापीड-कादम्बरी का पुनर्मिलन हुआ।

चाण्डालकन्या (लक्ष्मी) ने जिस शाप का संकेत किया था उसका रहस्य इस प्रकार है—महाश्वेता के प्रेमी पुण्डरीक ने चन्द्रमा को बार बार जन्म लेने का शाप दे दिया था जिससे चन्द्रमा ने भी पुण्डरीक को ऐसा ही शाप दे डाला। फलतः चन्द्रमा ने पहले चन्द्रापीड रूप में और फिर शूद्रक रूप में जन्म लिया। पुण्डरीक भी पहले वैशम्पायन और फिर शुक बना। शुक कथा समाप्ति के साथ ही शाप की अवधि भी समाप्त हो गई।

कादम्बरी की यह कथा स्वयं में तनिक जटिल-सी होते हुए भी उदात्त एवं मनोरम है। नवीनता के कुतूहल से अनुप्राणित होकर पाठक तथा श्रोता की रुचि निरन्तर बनी रहती है। सम्पूर्ण कथा में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए रहस्य का उद्घाटन कथा के अन्त में होता है। दो-दो प्रणय-कथाओं के ताने बाने को परस्पर अनुस्यूत करके भी बाणभट्ट ने उनका निर्वाह अत्यन्त कुशलता से किया है।

कतिपय आलोचकों ने गुणाढ्य की बृहत्कथा को कादम्बरी के कथानक का मूल स्रोत माना है। बृहत्कथा सम्प्रति अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं है, तथापि उसके संस्कृत रूपान्तर कथासरित्सागर के मकरन्दिकोपाख्यान में दी गई राजा सुमनस् की कथा और कादम्बरी की कथा में साम्य है अवश्य। समय क्रम की दृष्टि से कथासरित्सागर की रचना कादम्बरी के बाद हुई है। इसी कारण प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल की यह

आशंका उचित ही है कि 'कथासरित्सागर बाद में रची जाने के कारण यह कहना नितान्त कठिन है कि कथासरित्सागर की राजा सुमनस् की कथा में कितना अंश बृहत्कथा से लिया गया है और कितना अंश कादम्बरी के प्रभाव से उसमें जुड़ गया है।'

कादम्बरी की कथा का मूल स्रोत भले ही हम वृहत्कथा को मान लें, तथापि बाणभट्ट ने उस कथा मे आमूलचूल परिवर्तन कर दिया है। पात्रों के नाम, चरित्र, प्राकृतिक दृश्य, विभिन्न रमणीय स्थान, नायक नायिका के प्रेम का चित्रण आदि सभी कुछ बाण ने कादम्बरी में नितान्त परिवर्तित एवं कल्पना सुरभित रूप में प्रस्तुत किया है। कथा रस की दृष्टि से कादम्बरी के कथ्य मे उत्सुक भव्यता तो है ही, आलोचकों ने इस कथा के ध्येय को आध्यात्मिक धरातल पर भी प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध मनीषी डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार ''काव्यमयी शैली में कादम्बरी कथा का मर्म काम और प्रज्ञा का समन्वय स्थापित करना ही है। बाण ऋषि प्रज्ञा में निष्ठावान् थे, उनके सूत्र ऋषि प्रज्ञा की आध्यात्मिक विजय की ओर संकेत करते हैं। इस महती कथा के संयोजन में इन्होंने गतिशील भवचक्र या ब्राह्मचक्र का अतिसमृद्ध, रहस्यपूर्ण और साभिप्राय अंकन किया है।''[33]

बाण ने अपने पात्रों का चरित्र चित्रण अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया है। समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों को जिस सजीवता से बाण ने चित्रित किया है, वह कला अद्‌भुत है। वस्तुत: बाण ने युवावस्था में देश-देशान्तर भ्रमण से जीवन का जो विविधरंगी अनुभव पाया था, उसी के कारण उनके कथापात्र नितान्त जीवन्त हो उठे। चन्द्रापीड़ के प्रथम दर्शन में ही प्रणयासक्त कादम्बरी; प्रिय विरह में प्रतिक्षण निर्धूम अग्नि की भाँति सुलगती तपस्यारत महाश्वेता; शास्त्रज्ञ तथा व्यवहारकुशल शुकनास; तप: पूत ज्ञान वृद्ध जाबालि; कामविद्ध पुण्डरीक की स्नेहपूर्ण भर्त्सना करता हुआ मित्र कपिञ्जल—सभी पात्र तो बाण की मधुरसझरी तूलिका के स्पर्श से अद्‌भुत व्यक्तित्वसम्पन्न होकर हमारे नेत्रपट पर अवतरित हो जाते हैं। बाण ने जितनी कुशलता से समृद्ध राजसी जीवन को चित्रित किया, उतनी ही सहजता और निपुणता से तपस्वियों और गहन अरण्य के निवासियों का भी चरित्रांकन किया। 'कादम्बरी' के पात्र समाज के विभिन्न वर्गों से ग्रहण किए गए हैं। इसमें राजा, ऋषि, तपस्वी, मन्त्री, दास आदि सभी हैं। इतना ही नहीं, दिव्यलोक के पात्र भी इसमें अपना पर्याप्त योगदान देते हैं। चरित्र चित्रण के कौशल के कारण बाणभट्ट के सभी पात्र नितान्त वैयक्तिकता से मण्डित दीख पड़ते हैं, एवं फिर भी विशिष्ट एवं अविस्मरणीय हो जाते हैं।

बाण संस्कृत के रससिद्ध कवि हैं। कादम्बरी का प्रधान रस है शृंगार। बाणभट्ट ने रसराज शृंगार का ही बहुविध शृंगार किया है। प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम से लेकर प्रिय के विरह में प्राणोत्सर्ग तक कर देने की तत्परता के विभिन्न कोटिक तथा बहुपक्षीय शृंगार के चित्रण में बाणभट्ट अनुपम हैं। डॉ. एस.के. दे ने उचित ही कहा है—''बाण के रोमांस का मुख्य मूल्य कथावर्णन, चरित्रचित्रण एवं आलंकारिक योजना के उपस्थान में नहीं है

33. अग्रवाल वासुदेवशरण—कादम्बरी—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ 362

अपितु कवित्व एवं रस की अभिव्यंजना में है।'' सम्पूर्ण कादम्बरी में शृंगाररस का नितान्त शुद्ध, उदात्त तथा औचित्यपूर्ण विलास प्रस्फुटित होता है, जिसमें उद्दाम वासना के नग्न ताण्डव का दूर दूर तक कोई स्थान नहीं है। युवक-युवती का पारस्परिक प्रणय कहीं भी कुल और समाज की मर्यादा को अपमानित करके उच्छृंखल नहीं बनता। किशोरी बाला के हृदय में अंगड़ाई लेकर जागते हुए प्रथम प्रेम का टीस और व्याकुलता से भरा यह वर्णन किस रसिक को भावमग्न नहीं बना देता—

'गत्वा च प्रविश्य कन्यान्तःपुरमारुह्य कुमारीपुरप्रासादं विसर्ज्य च सखीजनं द्वारि निवारिताशेषपरिजनप्रवेशा सर्वव्यापारानुत्सृज्यैकाकिनी मणिजालगवाक्षनिक्षिप्तमुखी तामेव दिशं तत्सनाथतया प्रसाधितामिव पूर्णचन्द्रोदयालंकृतामिव दर्शनसुभगामीक्षमाणा, तस्माद्दिगन्तरादागच्छन्तमनिलमपि, वनकुसुमपरिमलमपि शकुनिध्वनिमपि तद्वार्ता प्रष्टुमीहमाना......कण्टकितैककपोलफलका निस्पन्दमतिष्ठम्।'

अर्थात्, कन्या अन्तःपुर में जाकर, कुमारी प्रासाद पर चढ़कर, सखियों को विसर्जित करके, द्वार पर किसी के भी प्रवेश का निषेध करके, सारे कार्यों को छोड़कर अकेली मैं मणियों की जाली वाले गवाक्ष में मुँह टिकाकर पुण्डरीक से युक्त होने के कारण मानों सजी हुई सी, मानों पूर्ण चन्द्रोदय से सुशोभित सी, देखने योग्य उसी दिशा की ओर देखती हुई, उस दिशा से आती हुई वायु से भी, वनपुष्पों की सुगन्ध से भी और पक्षियों के कलरव से भी उसी पुण्डरीक के समाचार को पूछने की कामना करती हुई.....रोमांचित एक कपोल होकर निश्चल खड़ी रही।

बाणभट्ट ने रस के विभिन्न उपादानों को एकत्रित करके विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि से संपुष्ट होते हुए शृंगार का अत्यन्त ही मार्मिक एवं भावसंवलित वर्णन किया है। पुण्डरीक को प्रथम बार गाढ़ दृष्टि से देखते ही महाश्वेता पर अनंग ने शरप्रहार करके किस प्रकार परवश बना दिया, यह वर्णन पठनीय है—

'विस्मृतनिमेषेण किंचिदामुकुलितपक्ष्मणा जिह्मिततरलतरतारासारोदरेण दक्षिणेन चक्षुषा सस्पृहमापिबन्तीव तमतिचिरं व्यलोकयम्। अनन्तरं च मेऽन्तर्मदनावकाशमिव दातुमाहितसन्ताना निरीयुः श्वासमरुतः। स्वेदसलिललवलेखाक्षालितेवागलल्लज्जा। मकरध्वजनिशितशरनिकरनिपातत्रस्तेवाकम्पत गात्रयष्टिः। तद्रूपातिशयद्रष्टुमिव कुतूहलादालिंगनलालसेभ्योऽङ्गेभ्यो निरगाद्रोमांचजालकम्। अशेषतः स्वेदाम्भसा धौतश्चरणयुगलादिव हृदयमविशद्रागः'

यहाँ शृंगार के निःश्वासोच्छ्वास, स्वेद, कम्पन, रोमांच आदि विविध अनुभावों तथा सात्त्विक भावों की कितनी सुन्दर अभिव्यंजना बन पड़ी हैं। ''कादम्बरी तथा चन्द्रपीड दोनों के मनःसंवेगों का अति सूक्ष्म चित्रण बाण ने किया है। काम की दसों दशाओं के निदर्शन स्वरूप इनकी चेष्टाएँ एवं अनुभाव बाण के शास्त्रीय सीमाओं के निर्वाह का परिचय [illegible] हैं। कादम्बरी के संकल्प विकल्प, सन्देश, विरहावस्था तथा चन्द्रापीड की प्रतिक्रिया [illegible]ब मन के विकार इस प्रकार प्रस्तुत किए गए हैं कि वे युग और देश की सीमाओं के पार सार्वभौम और सार्वयुगीन मानक बन गए हैं।''[34] कादम्बरी और महाश्वेता के पूर्वराग

34. त्रिवेदी, विजयलक्ष्मी—बाणभट्ट , पृष्ठ 164

तथा विप्रलम्भ के माध्यम से बाणभट्ट ने शृंगार के सभी पक्षों-सम्भोग तथा विप्रलम्भ का सर्वांगपूर्ण एवं सर्वातिशायी निदर्शन रच दिया है। पुण्डरीक की स्मृति एवं भविष्यत्मिलन की आशा में अपनी एकान्त सहचरी वीणा पर विरह गीत गाती हुई महाश्वेता और चन्द्रापीड के विरह में व्याकुल उत्कण्ठित कादम्बरी का अश्रुसिक्त आचरण—ये सारे ही स्थल विप्रलम्भ शृंगार के श्रेष्ठ स्थल हैं, और ऐसे सभी चित्रणों में बाणभट्ट सहृदय पाठकों के रसिक चित्त को उन्मथित एवं व्याकुल कर देने में पूर्णकाम हुए हैं। वास्तविक पर्यालोचन की दृष्टि से देखें तो यह कादम्बरी कथा प्रिय एवं प्रिया के संयोग-चित्रों की अपेक्षा वियोग संवलित मूक प्रणयवेदना की हृदयतलस्पर्शी कथा ही है। कादम्बरी के सम्पूर्ण कथा शिल्प के उत्तम संयोजन में करुण विप्रलम्भान्तर सम्भोग की ही अधिक अपेक्षा भी है। सम्भोग शृंगार के चित्रण के अनेक स्थल होते हुए भी बाणभट्ट ने उसको केवल अभिव्यंजित ही किया है। नैषधकार की भाँति सम्भोग शृंगार के विभिन्न अंग उपांगों सहित उसका स्पष्ट स्थूल विवेचन नहीं किया। कथासंघटना में बाणभट्ट ने यथास्थान पूर्वराग विप्रलम्भ, प्रवास विप्रलम्भ एवं करुण विप्रलम्भ का पर्याप्त चित्रण किया है। कादम्बरी की कथा में मान विप्रलम्भ के चित्रण का कहीं अवसर ही नहीं था, अत: मानविलम्भ प्राप्त नहीं होता। साहित्यदर्पणकार ने करुण विप्रलम्भ में "कादम्बर्यां पुण्डरीकमहाश्वेतावृत्तान्ते" कहकर कादम्बरी के करुण विप्रलम्भ को आदर्श रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है।

भारतीय पण्डितों एवं आलोचकों को तो 'कादम्बरी' सर्वप्रकारेण ग्राह्य हुई, किन्तु कतिपय पाश्चात्य आलोचकों एवं विद्वानों को यह कथा समास बहुल शैली के कारण उतनी रुचिकर नहीं हुई। वेबर ने बाण के गद्य को एक ऐसे जंगल के समान कहा जिसमें झाड़ झंकाड़ (समास बहुल दीर्घ वर्णन) के कारण आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। शैली की दुरूहता के साथ साथ पुनर्जन्म एवं भविष्यत् जन्म में पुनः मिलन की कथा का तत्त्व भी पाश्चात्य मनीषियों के मन को सम्भवत: आकृष्ट नहीं कर सका। फिर भी बाणभट्ट के प्रणयचित्रण एवं शृंगार रस की व्यंजना के प्रति पाश्चात्य मनीषियों के मन में भी अत्यधिक आकर्षण एवं सम्मान रहा। बाण ने स्थिर एवं एकाग्र प्रेम का अनन्य चित्रण किया। कादम्बरी कथा के प्रेमी पात्र अपने प्रिय या प्रिया से अनन्य एवं सम्पूर्ण प्रेम करते हैं, जिसमें किसी दूसरे के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। बाण की यह प्रणयकथा, शृंगार रस का अपूर्व चित्रण भौतिक सम्बन्ध की अपेक्षा आध्यात्मिक सम्बन्ध का परिचायक है, जिसको निष्ठुर काल भी विच्छिन्न करने में असमर्थ है तथा मृत्यु भी जिसके समक्ष पराजय स्वीकार करती है। शरीर भले ही किसी भी योनि का वरण क्यों न कर ले—प्रेम सर्वत्र एवं सदैव अनुगत एवं भासमान् है—यही बाण की कादम्बरी का सन्देश है।

शृंगार रस के सांगोपांग चित्रण के अतिरिक्त बाणभट्ट ने अन्य रसों का भी सुन्दर अवतरण किया है। कादम्बरी के अनेक स्थलों पर परिष्कृत हास्य की उत्फुल्लता रसिक जनों के हृदयों को मोद मग्न कर देती है। राजभवन की सुन्दरियों के सम्भ्रम एवं विभ्रम में, परिधान एवं अलंकारों के धारण किए जाने के अटपटे स्वरूप में हास्य की स्मित एवं विहसित छटा विद्यमान है। जरद्द्रविड धार्मिक का वर्णन उत्तम हास्य का सुन्दर निदर्शन

है। चन्द्रकेतु के दिग्विजय-प्रयाण का वर्णन वीर रस के सत्त्व और शौर्य मय ओजस्वी रूप को भली-भाँति प्रस्तुत करता है। करुणरस की अवतारणा कादम्बरी कथा के प्रारम्भ में ही शुककथा के अन्तर्गत कर दी गई है। इसके अतिरिक्त वैशम्पायन की मृत्यु पर चन्द्रापीड की मानसिक स्थिति एवं पुण्डरीक की मृत्यु पर मित्र कपिजंल एवं महाश्वेता की प्राणान्तक मर्मवेदना में करुण रस मूर्तिमान् हो उठा है। इसी प्रकार शबर सेनापति के वर्णन में भयानक एवं रौद्ररस तथा मृगया वर्णनों में वीभत्स रस का सुन्दर चित्रण हुआ है। सम्पूर्ण कादम्बरी में अनेक अतिमानवीय तत्त्वों ने अद्‌भुत रस की अद्‌भुत सृष्टि की है। शुक द्वारा मनुष्य वाणी में कथा सुनाना, पूर्वजन्म स्मृति, विभिन्न शापों द्वारा जन्म एवं मृत्यु पर नियन्त्रण, आकाश में कपिजंल का उड़ना आदि विभिन्न स्थल अद्‌भुत रस की व्यंजना कराके पाठकों एवं श्रोताओं को आश्चर्याभिभूत बना देने में पूर्णतया सफल हुए हैं। प्रणय की इस अद्‌भुत कथा कादम्बरी में शान्त रस का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है। महर्षि जाबालि के आश्रम का वर्णन मानों शान्त रस का मूर्त रूप है।

सभी विभिन्न काव्यरसों के सुन्दर निर्वाह के अतिरिक्त कादम्बरी के एक स्थल पर बाणभट्ट ने यौवन एवं धनलक्ष्मी के सम्बन्ध में जिन सत्यों का उद्‌घाटन किया है, वे सम्पूर्ण विश्व के मनीषियों को एक से प्रिय रहे हैं। यह स्थल है **शुकनासोपदेश**। सर्वशास्त्र ज्ञानसम्पन्न एवं संस्कार शील राजकुमार चन्द्रापीड को यौवराज्याभिषेक के अवसर पर मन्त्री शुकनास ने जो उपदेश दिया है, ज्ञान एवं विवेक की दृष्टि से वह अपूर्व एवं अतुलनीय है। बाणभट्ट ने शुकनास के व्यक्तित्व का जैसा सुन्दर चित्रण किया था[35] उसी के कारण शुकनासोपदेश जैसा सर्वयुगीन सत्य उद्‌घाटित हो सका। शुकनास ने अपने उपदेश में युवावस्था की विवेकहीनता और राजलक्ष्मी के दुर्निवार मद का साक्षात् चित्र ही आँक दिया है—

केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेमप्रदीपप्रभापनेयमति-गहनं तमो यौवन-प्रभवम्।.....यौवनारम्भे च प्रायः शास्त्रजलप्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः। ..... अपहरति च वात्येव शुष्कपत्रं समुद्‌भूतरजोभ्रान्तिरतिदूरमात्मेच्छया यौवनसमये पुरुषं प्रकृतिः।

लक्ष्मी का आगमन मनुष्य को कितना मदविह्वल, अविवेकी और दुराचरणपूर्ण बना सकता है, यह वर्णन भी द्रष्टव्य है—

न ह्येवविधमपरमपरिचितमिह जगति किंचिदस्ति यथेयमनार्या। लब्धापि खलु दुःखेन परिपाल्यते।.....न परिचयं रक्षति। नाभिजनमीक्षते। न वैदग्ध्यं गणयति। न त्यागमाद्रियते। .....एवं विधयाऽपि चानया दुराचारया कथमपि दैववशेन परिगृहीता विक्लवा भवन्ति राजानः सर्वाविनयाधिष्ठानतां च गच्छन्ति। तेषां दाक्षिण्यं प्रक्षाल्ये, हृदयं मलिनी भवति सत्यवादि-

35. तस्य च राज्ञो निखिलशास्त्रकलावगाहगम्भीरबुद्धिः आशैशवादुपारूढनिर्भरप्रेमरस, नीतिशास्त्रप्रयोग-कुशलः, भुवनराज्यभारनौकर्णधारः, महत्स्वपि कार्यसंकटेष्वविषण्णधीः, धाम धैर्यस्य, स्थितेः सेतुः सत्यस्य, गुरुर्गुणानाम्, आचार्य आचाराणां, धाता धर्मस्य,.....जरासन्ध इव घटित संधिविग्रह..... सकलवेदवेदांगवित्, अशेषराज्यमंगलैकसारः.....सर्वकार्येष्वाहितमतिरमात्यो ब्राह्मणः शुकनासो नामासीत्।

तापाह्रियते, गुणाश्चोत्सार्यन्ते।

मानव के हृदय, काव्य के रसों एवं प्रकृति के विविध दृश्यों में परस्पर अत्यन्त गाढ़ सम्बन्ध है। मनुष्य की रागात्मिका चित्तवृत्ति को उद्दीप्त करने और परितृप्त कर देने में प्रकृति के विविध उपादानों का अनिवार्य योगदान होता है। इसीलिए संस्कृत के प्रत्येक काव्य में विविध प्रकृति वर्णन अवश्य उपलब्ध होते हैं। बाणभट्ट ने भी कादम्बरी में प्रकृति नटी का विविध प्रकार से शृंगार किया है। कालिदास ने प्रकृति के कोमल एवं मंजुल पक्ष के चित्रण में यश पाया तो भवभूति प्रकृति के भयंकर एवं कठोर पक्ष का चित्रण करने में यशस्वी बने। किन्तु महाकवि बाणभट्ट प्रकृति के सभी विविध पक्षों का समान सुन्दर वर्णन करके कृतकार्य हुए। विन्ध्याटवी का यह भयावह रोमाञ्चक स्वरूप किस पाठक को रोमाञ्चित नहीं करता—

क्वचित् प्रलयवेलेव महावराहदँष्ट्रासमुत्खातधरणिमण्डला, क्वचिद्दशमुखनगरीव चटुल-वानरवृन्दभज्यमानतुंगशालाकुला, क्वचिदचिरनिवृत्तविवाहभूमिरिव हरितकुशसमित्कुसुमशमी-पलाशशोभिता, क्वचिदुन्मत्तमृगपतिनादभीतेव कण्टकिता।

इस बीहड़ वनवर्णन के उपरान्त प्रकृति के सुकोमल उपहार रूप एक पुष्पंजरी की अपूर्व कोमल शोभा का रसास्वादन कीजिए—

वसन्तदर्शनानन्दिताया: स्मितप्रभामिव वनश्रिय:, मलयमारुतागमनार्थलाजाञ्जलिमिव मधुमासस्य, यौवनलीलामिव कुसुमलक्ष्मया:, कृत्तिकातारास्तबकानुकारिणीम्, अमृतबिन्दु-निस्यन्दिनीम्, अदृष्टपूर्वां कुसुममंजरीमद्राक्षम्।

बाणभट्ट ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में तो चित्रित किया ही, साथ ही प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण करके भी उसका पर्याप्त अलंकृत वर्णन किया। बाणभट्ट का प्रभात-वर्णन एवं सन्ध्यावर्णन अपने साहित्यिक सौन्दर्य के लिए विख्यात रहा है—

अनेन च समयेन परिणतो दिवस:।...आलोहितांशुजालं जलशयनगतस्य मधुभिदो विगलन्मधुधारमिव नाभिनलिनं प्रतिमागतमपरार्णवे सूर्यमण्डलमलक्ष्यत।...अस्तमुपगते च भगवति सहस्रदीधितावपरार्णवतलादुल्लसन्ती विद्रुमलतेव पाटला सन्ध्या समदृश्यत। क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तनमाना सन्ध्या मुनिभिर-दृश्यत। ...अपरसागराम्भसि पतिते दिनकरे पतनवेगोत्थितमम्भ: सीकरनिकरमिव तारागण-मम्बरमधारयत्। क्षणेन चोन्मुखेन मुनिजनेनोर्ध्वविप्रकीर्णै: प्रणामांजलिसलिलै: क्षाल्यमान इवागलदखिल: सन्ध्याराग:।

अर्थात्, इसी समय दिवस का अवसान होने लगा। रक्तवर्णी किरण समूह वाला सूर्यमण्डल पश्चिम समुद्र में प्रतिबिम्बित होता हुआ ऐसे सुशोभित हुआ, मानो जल में शयन करते हुए, मधु राक्षस के नाशक विष्णु की नाभि से उत्पन्न मधुधारवर्षी कमल हो। भगवान् सहस्रकिरण के अस्त हो जाने पर पश्चिम समुद्र से ऊपर की ओर उठती हुई विद्रुमलता की भाँति पाटलवर्णी सन्ध्या सुशोभित हुई। दिनभर कहीं भटक कर दिन का अन्त होने पर लाल पुतलियों वाली तपोवन की गौ की भाँति आती हुई कपिला सन्ध्या को मुनियों ने देखा। पश्चिम समुद्र में सूर्य के गिर जाने पर पतनवेग से उछले हुए जलकण-

समूह की भाँति तारागणों को आकाश ने धारण किया। और क्षण भर में ही, ऊपर मुख किए हुए मुनि जनों के द्वारा ऊपर की ओर उछाले गए अर्घ्य के जल से धुल गए के सदृश सन्ध्या की सारी लालिमा लुप्त हो गई।

वस्तुतः बाण को जहाँ भी प्रकृति अथवा अन्य किसी भी वस्तु के वर्णन का अवसर मिला है, वहाँ उन्होंने अनुरूप एवं अनुकूल उपमानों की योजना करके प्रकृति के प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक रेखा एवं समग्र स्वरूप को स्पष्टतया वर्णित करने का प्रयास किया है। इस प्रवृत्ति के कारण बाणभट्ट के वर्णन प्रसंग अत्यधिक विस्तृत हो गए हैं, जिससे कथा की संश्लिष्टता एवं प्रवाह में कहीं कहीं बाधा उत्पन्न हो गई है। इसी प्रकार कतिपय स्थलों पर वर्णन विस्तार में शाब्दी चमत्कार उत्पन्न कर देने से रसानुभूति में भी विघ्न हुआ है। किन्तु अन्यत्र बाण की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति ने उर्वर कल्पना शक्ति से मिलकर अत्यन्त सुन्दर एवं सहज वर्णन चित्र प्रस्तुत किए हैं।

बाण की शैली में शब्द एवं अर्थ किंवा भाषा एवं भाव का अत्यन्त रुचिर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इसी लिए बाण ने पाञ्चाली रीति का आश्रय लिया, जो एक ओर ललित पदशय्या सम्पन्न वैदर्भी के और दूसरी और दीर्घ समास बन्ध तथा ओजगुण से विभूषित गौड़ी रीति के मध्य निरन्तर प्रवहणशील बनी रही है। पाञ्चाली रीति का यही लक्षण है और बाणभट्ट पाञ्चाली रीति के सर्वमान्य सिद्धहस्त आचार्य हैं। भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में ठीक ही कहा—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।
शिलाभट्टारिका वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥

स्वयं वाणभट्ट ने हर्षचरित के प्रारम्भ में गद्य शैली का एक आदर्श प्रस्तुत किया था।[36] यहाँ वाण के कथन के प्रतिपद विवेचन से बाण के गद्य की विशेषताएँ स्वतः परिस्फुट हो उठेंगी।

1. नवीन अर्थ—कथा का मुख्य आधार इतिहास अथवा लोक मानस से लेकर भी उसका ऐसा अवतरण कर देना, जिससे कौतूहल की सृष्टि से वह कथा नवीन हो उठे।

2. अग्राम्य प्रयोग—शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार अग्राम्य प्रयोग होने पर ही उदारता नाम गुण होता है। अतः सामान्य भाषा एवं सामान्य वर्णन शैली की अपेक्षा सर्वोत्तम भाषा एवं शैली का प्रयोग हो।

3. अक्लिष्ट श्लेष—श्लेष का उतना ही प्रयोग होना चाहिए, जितने में सहृदय पाठक उसे समझ सकें। दुर्बोध श्लेष प्रयोग त्याज्य है।

4. रस की स्फुटता—उत्तम गद्य में रस भी स्फुट होना चाहिए। वस्तु एवं अलंकारों के भार से रस की स्फुटता नष्ट नहीं होनी चाहिए।

5. विकटाक्षर पदबन्ध—पदबन्ध में ओजगुण एवं तदनुकूल भाषा के प्रयोग से गद्य में नीरन्ध्रता आ जाती है, अतः उत्तम गद्य में दृढ़ पदबन्ध आवश्यक है।

---

36. हर्षचरित, श्लोक 8— नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥

बाणभट्ट ने इन समस्त गुणों के एकत्र समवाय को स्वयं ही दुष्कर कह दिया था; किन्तु बाण के गद्य में ये सारी ही विशेषताएँ पाठक को एक साथ ही प्राप्त हो जाती हैं। बाण ने विषय के अनुरूप ही शब्द चयन किया है। मधुमास की मादक शोभा का वर्णन करते हुए बाण यदि सुकुमार वर्णविन्यास करते हैं—

अशोकतरुताडनारणितरमणीमणिनूपुरझंकारसहस्रमुखरेषु सकलजीवलोक हृदयानन्द-दायकेषु मधुमासदिवसेषु.....

तो भयानक एवं कठोर दृश्यों के वर्णन में उनका वर्णविन्यास भी कठोर एवं विकट समासयुक्त हो जाता है—

उन्मदमातंगकपोलस्थलगलितमदसलिलसिक्तेनेव.....प्रेताधिपनगरीव सदासंनिहित-मृत्युभीषणा महिषाधिष्ठिता च.....।

बाण ने दीर्घ समासों का बहुल प्रयोग किया है। कहीं कहीं उनकी समासप्रियता के कारण एक वाक्य अनेक पृष्ठों का भी बन गया है। किन्तु बाण की यह समासप्रियता वर्णनों में ही अधिक दीख पड़ती है। मानवहृदयगत भावाभिव्यक्ति के समय, उपदेश देते समय अथवा पारस्परिक संवाद के समय तो बाण ने बहुत छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है। महाश्वेता को देखते ही कामविद्ध हो जाने वाले पुण्डरीक की तीव्र भर्त्सना करते हुए मित्र कपिञ्जल का सरल और सहज वाणीप्रवाह दर्शनीय है—

सखे पुण्डरीक। नैतदनुरूपं भवतः। क्षुद्रजनक्षुण्ण एष मार्गः। धैर्यधनाः हि साधवः।... क्व ते तद्धैर्यम्। क्वासाविन्द्रियजयः। क्व तद्वशित्वं चेतसः। क्व सा प्रशान्तिः।...सर्वथा निष्फला प्रज्ञा। निर्गुणो धर्मशास्त्राभ्यासो, निरर्थकःसंस्कारो, निरुपकारको गुरुपदेशविवेको, निष्प्रयोजना प्रबुद्धता.....।

उपर्युक्त विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि पात्र एवं कथ्य के अनुरूप ही विभिन्न गद्यबन्धों की शैलियों का प्रयोग करना बाण की विशिष्टता है। साहित्यदर्पणकार ने गद्य की चूर्णक आदि जिन चार शैलियों का कथन किया था, वे सभी कादम्बरी कथा में विभिन्न उपयुक्त स्थलों पर स्वतः उपन्यस्त सी दृष्टिगोचर होती हैं। विन्ध्याटवी, शबर सेनापति, सेना प्रयाण आदि दृश्यों एवं स्थलों का वर्णन करते समय यदि विकटाक्षरबन्ध एवं दीर्घसमाससम्पन्न उत्कलिका गद्य शैली का प्रयोग हुआ है, तो स्नेहावेश अथवा उपदेश के समय मुक्तक गद्यशैली दीख पड़ती है। गद्य की वृत्तगन्धि शैली का प्रयोग कुछ स्थलों पर ही हुआ है।

बाण की शैली की एक और निजी विशेषता है—अलंकारों का बहुल किन्तु समुचित प्रयोग। काव्य में अलंकार न तो पृथक् रूप से कथ्य का आधान करते हैं और न ही भाव को वास्तविक रूप में अभिव्यक्त करते हैं, तथापि कथ्य और भावों को विभूषित करके अलंकार काव्य के सौन्दर्य को द्विगुणित अवश्य कर देते हैं। यह तथ्य बाणभट्ट की कादम्बरी में भली भाँति दृष्टिगोचर होता है। वर्णनों को संश्लिष्ट एवं अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए बाण ने उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, विरोधाभास, अतिशयोक्ति, परिसंख्या, अनुप्रास आदि विभिन्न अर्थालंकारों एवं शब्दालंकारों का सुन्दर प्रयोग किया है। तथापि

ये सारे ही अलंकार इस कादम्बरी कथा में स्वतः ही आते चले गए हैं, कहीं भी वे सायास प्रयुक्त किए गए नहीं जान पड़ते। महाश्वेता में यौवन के क्रमिक आगमन का यह अत्यन्त रुचिर एवं अलंकारमण्डित वर्णन देखिए, जिसे कुछ विद्वान् रसनोपमा कहते हैं तो कुछ एकावली अलंकार का सुन्दर प्रयोग मानते हैं—

क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पदम्।

चाण्डालकन्या एवं महाश्वेता के सौन्दर्यवर्णनों में बाणभट्ट ने उपमानों को प्रस्तुत करने में पराकाष्ठा ही कर दी है। 'उपमानों पर असम्भाव्य क्रियाओं की सम्भावना करके उपमा एवं उत्प्रेक्षा की श्लिष्ट छटा उत्पन्न कर दी है।' महाश्वेता के गौरवर्ण के लिए प्रयुक्त उत्कृष्ट उपमान देखिए—

शुक्लपक्षपरम्परामिव पुञ्जीकृतां, शंखादिवोत्कीर्णां, मुक्ताफलादिवाकृष्टां, मृणालैरिव विरचितावयवां, इन्दुकरकूर्चकैरिवाक्षालितां, अमृतफेनपिण्डैरिव पाण्डुरीकृतां, रजतद्रवेणेव निर्मृष्टां—इयत्तामिव धवलिम्नः...।

कादम्बरी में अनेक स्थलों पर श्लिष्ट पदों के प्रयोग से सुन्दर विरोधाभास लक्षित कराया गया है। बाण ने सुबन्धु की भाँति 'प्रत्यक्षरश्लेष' की दर्पोक्ति न करके भी श्लेष अलंकार का अत्यन्त सुन्दर एवं बहुल प्रयोग किया। उज्जयिनी नगरी के वर्णन में श्लेषगर्भित परिसंख्या अलंकार का यह सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है—

यस्यां चानिर्वृतिर्मणिदीपानां, तरलता हारलतानां, द्वन्द्ववियोगश्चक्रवाकनाम्नां, वर्णपरीक्षा कनकानाम्...

अर्थात् जिस उज्जयिनी नगरी में मणिदीपकों में ही अनिर्वृति (कभी न बुझना) थी, (जनता में अनिर्वृति अर्थात् सुख का अभाव नहीं था), हारलताओं में ही चंचलता थी (प्रजाओं के चित्त में चंचलता नहीं थी); चक्रवाक पक्षी युगल में ही वियोग होता था (युद्ध के कारण प्रजाओं में प्रिय प्रिया का परस्पर वियोग नहीं था); स्वर्ण की ही रंग परीक्षा होती थी (प्रजाओं में वर्णसंकरता दोष न होने के कारण ब्राह्मणादि वर्णों की परीक्षा नहीं होती थी)।

स्वयं बाणभट्ट ने ही अपनी अलंकार प्रियता को कादम्बरी में निम्नलिखित प्रकार से स्पष्टतः प्रस्तुत दिया था—

हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैः पदार्थैरुपपादिताः कथाः।
निरन्तरश्लेषघना सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव॥

बाणभट्ट ने कादम्बरी में जो शास्त्रीय उपमाएँ और पौराणिक संकेत प्रस्तुत किए हैं, उनसे बाणभट्ट का परिनिष्ठित एवं विपुल अध्ययन सम्यग्तया दृष्टिगोचर हो जाता है। विभिन्न पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को उन्मीलित करने में, प्रकृति वर्णन के सम्पूर्ण चित्र को प्रस्तुत करने में, हृदयगत सूक्ष्म भावों के मार्मिक उद्घाटन में—सर्वत्र ही शास्त्रीय एवं पौराणिक संकेतों की भरमार दिखाई देती है। पाश्चात्य विद्वानों को ये सारे सूक्ष्म संकेत सरलतया ग्रहण नहीं हुए, अतः वे बाणभट्ट के समासबहुल गद्य को भीषण अरण्य कहकर

इन पौराणिक संकेतों को गहन कन्दराएँ कह देते हैं। किन्तु संस्कार बद्ध भारतीयों के लिये पौराणिक संकेत कदापि क्लिष्ट नहीं हैं।

सांस्कृतिक अनुशीलन की दृष्टि से बाणभट्ट की कादम्बरी एक अमूल्य कोष है जिससे तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का विशद आकलन सहज ही हो जाता है। समाज में विभिन्न वर्गों की स्थिति, शिक्षा, नारी का स्थान, विभिन्न रूढ़ियाँ एवं परम्पराएँ, स्त्री तथा पुरुषों की वेशभूषा तथा आभूषण, विविध कलाएँ, विलास तथा मनोविनोद के साधन, राज्याभिषेक की परिपाटी, विभिन्न शक्ति, शैव एवं क्षपणक सम्प्रदाय, सती प्रथा आदि का बाणभट्ट ने कादम्बरी में स्थल स्थल पर सुन्दर और सजीव वर्णन किया है।

बाण के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध उक्ति '**बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्**' रही है। बाण ने प्रत्येक पात्र, स्थल तथा वस्तु आदि को ऐसे वर्णनात्मक रूप में प्रस्तुत किया है कि नेत्रों के सम्मुख उस पात्र अथवा घटना का सम्पूर्ण सजीव चित्र ही आ खड़ा होता है। बाण के कोष में किसी भी प्रसंग के वर्णन की कुछ भी सामग्री जब तक अवशिष्ट रही है, वे अपनी प्रतिभा से उसका वर्णन करते ही गए हैं। इसलिए परवर्ती कवि कितना ही प्रयत्न करें, उनके वर्णन के लिए सभी कुछ 'बाणोच्छिष्ट' मात्र है। वस्तुत बाण ने सम्पूर्ण सृष्टि के किसी भाव को तथा शब्दावली के किसी भी प्रकार को अपनी लेखनी के स्पर्श से अछूता नहीं छोड़ा है। सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, अद्भुत एव अलंकृत वर्णना प्रणाली, गाढ़ प्रकृति प्रेम, नव-नवोन्मेषशालिनी कल्पना, अबाध तथा अक्षय शब्दभाण्डार, सर्वत्र नवीन अर्थ की उद्भावना, परिष्कृत तथा विशद समास प्रयोग, सूक्ष्म रसाभिव्यंजना तथा सर्वत्र शब्द और अर्थ का सुन्दर एवं मंजुल समन्वय-इन सभी गुणों ने मिलकर वस्तुतः ही उपर्युक्त आभणक को सर्वतोभावेन सत्य सिद्ध कर दिया है।

बाणभट्ट की भावाभिव्यंजना एवं कलाचातुरी ऐसी सर्वव्यापी बनी कि प्रायः सभी भारतीय समालोचकों ने बाण की प्रशंसा में कोई न कोई कथन अवश्य किया है। गोवर्धनाचार्य का कथन है कि अधिक दक्षता प्राप्त करने के लिए ही सरस्वती ने बाण (पुरुष) के रूप में अवतार लिया—

जाता शिखण्डिनी प्राक् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूव ह॥

(आर्या सप्तशती, श्लोक 37)

जयदेव ने बाण को हृदय में रहने वाला कामदेव ही कह दिया—'हृदयवसतिः पंचबाणस्तु बाणः।' 'विदग्धमुखमण्डन' के रचयिता धर्मदास ने अत्यन्त ही विलक्षण रूप में बाण की प्रशंसा करते हुए बाण की वाणी को रमणीय रमणी सदृश कहा है—

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥

(विदग्धमुखमण्डन 4/28)

चन्द्रदेव की सम्मति है कि कुछ कविजन श्लेष प्रयोग में, कुछ शब्दों के सम्यक् गुम्फन में, कुछ अन्य कवि रसाभिव्यंजना में, कुछ अलंकार प्रयोग मे, कुछ कवि सुन्दर

अर्थ के प्रस्तुतीकरण में तथा अन्य कुछ कवि कथा के वर्णन में कुशल होते है; किन्तु बाणभट्ट तो कविता विन्ध्याटवी में संचरण करते हुए अन्य कविकुंजरों के मस्तक को विदीर्ण कर देने वाले सिंह ही हैं—

श्लेषे केचन शब्दगुम्फविषये केचिद्रसे चापरे
ऽलंकारे कतिचित्सदर्थविषये चान्ये कथावर्णने।
आ सर्वत्र गभीरधीरकविताविन्ध्याटवी चातुरी
संचारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पंचाननः॥

त्रिविक्रमभट्ट ने 'नलचम्पू' में बाण की लोकप्रियता का विशिष्ट उल्लेख किया है—

शश्वद् बाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा।
धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः॥

आधुनिक युग में प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने भी बाण की अनेकशः प्रशंसा की है—'बाण में वाल्मीकि का माधुर्य है, व्यास के महाभारत का प्रसाद गुण है, कालिदास की कोमल कल्पना है, दण्डी का पदलालित्य है, और सुबन्धु का ओज गुण है। इस प्रकार बाण ने काव्यामृतरुपी पंचगव्य का पान कराके एक नवीन समन्वय की धारा प्रस्तुत की है।'[37]

दण्डी

संस्कृत के अधिकांश कवियों की भाँति ही दण्डी का जीवन परिचय एवं स्थितिकाल पर्याप्त विवाद का विषय रहा है। दण्डी रचित 'अवन्तिसुन्दरी कथा' नामक ग्रन्थ से दण्डी के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है। कुछ आलोचक गण 'अवन्तिसुन्दरी कथा' को ही दण्डी की रचना स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे, किन्तु दण्डी के एक अन्य ग्रन्थ 'काव्यादर्श' की एक टीका में दण्डी कृत 'अवन्ति-सुन्दरी' नामक आख्यायिका का उल्लेख किया गया है। अतः दण्डी के इस कथाप्रबन्ध में उपलब्ध उनके जीवन परिचय की प्रामाणिकता में अधिक सन्देह करना उचित नहीं है।

'अवन्तिसुन्दरी कथा' के अनुसार दण्डी महाकवि भारवि अथवा उनके परम मित्र दामोदर के प्रपौत्र थे। ये दक्षिणात्य ब्राह्मण थे तथा कांची नगरी में रहते थे। बाल्यावस्था में ही माता पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण दण्डी आश्रयहीन हो गए थे। कांची नगरी में विप्लव हो जाने पर दण्डी नगर को छोड़कर वनों में इधर उधर भटकते रहे। जब पल्लवनरेश राजा नरसिंहवर्मा प्रथम ने कांची को पुनः जीत लिया तो महाकवि दण्डी भी नगर में लौट आए और पल्लवनरेश की छत्रछाया में रहे। वहीं उन्होंने अवन्तिसुन्दरी कथा नामक ग्रन्थ की रचना की।

अवन्तिसुन्दरी कथा के इस वर्णन से दक्षिण में प्रचलित एक किंवदन्ती की भी पुष्टि हो जाती है। एम. रंगाचार्य ने इस जनश्रुति का उल्लेख किया है कि दण्डी ने पल्लवनरेश

37. द्विवेदी, कपिलदेव—संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृष्ठ 505

के पुत्र को शिक्षित करने के लिए ही 'काव्यादर्श' नामक अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी।

दण्डी का स्थितिकाल निर्विवाद नहीं है। दण्डी और बाण के समय के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में विद्वान् अद्यावधि एकमत नहीं हो सके हैं। दण्डी का समय नवीं शती के अनन्तर तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि नवम शती के ग्रन्थों में दण्डी का पर्याप्त उल्लेख हुआ है। सिंहल के राजा सेन प्रथम (846-866 ईस्वी) ने सिंहली भाषा मे 'सिय-वस-लकर' (स्वभाषालंकार) नामक अलंकार ग्रन्थ की रचना की थी। डॉ. बार्नेट ने सयुक्तिक सिद्ध कर दिया है[38] कि इस ग्रन्थ की रचना महाकवि दण्डी के 'काव्यादर्श' के आधार पर हुई है। इससे भी पूर्व अमोघवर्ष नामक लेखक ने कन्नड़ भाषा में 'कविराजमार्ग' नामक अलंकार ग्रन्थ लिखा। इनका समय 815 ईस्वी के लगभग स्वीकार किया जाता है। कन्नड़ भाषा के इस अलंकार ग्रन्थ पर भी महाकवि दण्डी के 'काव्यादर्श' का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कतिपय अलंकारों के लक्षण दण्डी की परिभाषा से अक्षरश: मिलते हैं। अत: दण्डी का स्थितिकाल 800 ईस्वी से पूर्व होना चाहिए। यह इनके समय की अपर सीमा है।

दण्डी ने काव्यादर्श में कालिदास[39] तथा राजा प्रवरसेन कृत सेतुबन्ध[40] का उल्लेख किया है। अत: दण्डी के समय की पूर्व सीमा 500 ईस्वी है। इतिहास की दृष्टि से बाण का समय सातवीं शती का पूर्वार्ध सुनिश्चित है। कतिपय विद्वान् दण्डी को बाणभट्ट से पूर्ववर्ती मान कर महाकवि दण्डी का समय छठी शती का उत्तरार्ध घोषित करते हैं। उनकी यह स्थापना दोनों कवियों की गद्य शैली की तुलना तथा भारत की तत्कालीन वर्णित सामाजिक स्थिति पर आधारित है। इन विद्वानों के अनुसार दण्डी की गद्यशैली सरल एवं प्रसादगुणयुक्त होने के कारण बाणभट्ट से पूर्ववर्ती होनी चाहिए। दण्डी की शैली में बाण तथा सुबन्धु की शैली की कृत्रिमता तनिक भी नहीं है। बाणभट्ट से परवर्ती कवि को प्रसिद्ध होने के लिए यह आवश्यक था कि वह बाण जैसी समासबहुल वर्णनात्मक शैली का ही आश्रय लेता। साथ ही दशकुमारचरित में भारतवर्ष की जैसी अस्तव्यस्त राजनीतिक एवं सामाजिक दशा का चित्रण हुआ है, वह चित्रण गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् तथा हर्षवर्धन से पूर्व के भारत की ओर संकेत करता है। अत: इन दो प्रमुख प्रमाणों के आधार पर दण्डी का समय 600 ईस्वी के लगभग माना जाना चाहिए।

किन्तु इन विभिन्न आलोचकों का उपर्युक्त मत अन्य विपरीत प्रमाणों के साक्ष्य में निराधार सिद्ध हो जाता है। दण्डी दक्षिण भारत के निवासी थे। अवन्तिसुन्दरी कथा में स्वयं उन्होंने कांची नगरी की विप्लवमयी स्थिति का कथन किया है, जिसके कारण उन्हें

38. जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी—1906, पृष्ठ 861

39. दण्डी, काव्यादर्श, 1/45— लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः।
तुलना कीजिए—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, 1/20–
.....मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।

40. दण्डी, काव्यादर्श, 1/34—सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्।

नगर छोड़ कर वन में भटकना पड़ा। अतएव दशकुमारचरित की अव्यवस्थित सामाजिक दशा का चित्रण दण्डी के उन पूर्वानुभवों का परिणाम भी हो सकता है। काव्यादर्श में उल्लिखित राजवर्मा को राजा नरसिंहवर्मा प्रथम से अभिन्न माना जाता है, जिनका समय 690 ईस्वी से 715 ईस्वी था। प्रोफेसर आर. नरसिंहाचार्य[41] तथा डाक्टर बेल्वलकर[42] का भी यही मत है। अतः पल्लवनरेश नरसिंहवर्मा प्रथम के सभाकवि दण्डी का समय सातवीं शती का उत्तरार्ध मानना ही समीचीन है। उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् प्रोफेसर पाठक ने प्रतिपादित किया है कि काव्यादर्श में कर्मत्रैविध्य—निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य हेतु—का जो विभाजन दण्डी ने प्रस्तुत किया है, वह विभाजन भर्तृहरि (650 ईस्वी) के द्वारा विरचित 'वाक्यपदीय' के आधार पर हुआ है।[43] इससे भी यही सिद्ध होता है कि दण्डी 650 ईस्वी के अनन्तर ही हुए होंगे। डॉ. पीटर्सन एवं डॉ. याकोबी ने काव्यादर्श के एक श्लोक[44] में बाण की कादम्बरी की झलक मानी है। इन समस्त प्रमाणों के आधार पर महाकवि दण्डी का समय सातवीं शती का उत्तरार्ध मानना अधिक समीचीन है तथा दण्डी बाणभट्ट के परवर्ती हैं।

जीवन परिचय तथा स्थितिकाल की भाँति ही दण्डी की रचनाओं की संख्या के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। 'शार्ङ्गधर पद्धति' नामक ग्रन्थ में राजशेखर के नाम से एक श्लोक पाया जाता है, जिसमें दण्डी रचित तीन प्रबन्ध कहे गए है—

त्रयोऽग्न्यस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

ये तीन ग्रन्थ हैं—काव्यादर्श, दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरी कथा। इन तीनों ग्रन्थों में विषय, शैली तथा भावस्वर की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। सम्भवतः इसीलिए अनेक आलोचक जन इन तीनों ग्रन्थों को एक ही व्यक्ति की रचना नहीं मान पाते। काव्यादर्श अलंकारशास्त्र का प्रौढ़ ग्रन्थ है, तथा दशकुमारचरित सरस गद्यकाव्य है। ये दोनों निःसन्दिग्ध रूप से दण्डी की रचनाओं के रूप में स्वीकृत हैं किन्तु सारा विवाद दण्डी के तीसरे ग्रन्थ को लेकर है। अनेक आलोचक अभी भी अवन्तिसुन्दरी कथा को दण्डी की रचना नहीं मानते। प्रोफेस पिशेल प्रभृति अनेक विद्वानों ने काव्यादर्श एवं मृच्छकटिक

---

41. इण्डियन एण्टीक्वैरी, 1912, पृष्ठ 90
42. नोट्स ऑन काव्यादर्श, चैप्टर II, पृष्ठ 176-77
43. दण्डी काव्यादर्श 2/240— निर्वर्त्ये च विकार्ये च हेतुत्वं तदपेक्षया।
    प्राप्ये तु कर्मणि प्रायः क्रियापेक्षैव हेतुता॥
    तुलनात्मक द्रष्टव्य—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, 3/7/49...51
44. दण्डी, काव्यादर्श 2/197— अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
    दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥
    तुलनात्मक द्रष्टव्य—कादम्बरी में शुकनासोपदेश के अन्तर्गत—
    केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।

में समान रूप से पाए जाने वाले एक श्लोक के कारण[45], और मृच्छकटिक तथा दशकुमारचरित में सामजिक चित्रण समान होने के कारण मृच्छकटिक को दण्डी की तृतीय रचना कहा था; किन्तु भास के नाटकसमूह के प्रकाश में आ जाने पर यही श्लोक उनके 'दरिद्र चारुदत्त' नाटक में मिला, अतः पिशेल आदि का यह कथन स्वतः ही ध्वस्त हो गया। डॉ. याकोबी आदि विद्वानों ने काव्यादर्श में उल्लिखित 'छन्दोविचिति'[46] को दण्डी की तीसरी रचना माना। किन्तु उस प्रसंग विशेष में इस नाम से छन्दः शास्त्र अर्थ भी ग्रहण होता है। इसके अतिरिक्त सुबन्धु ने भी 'छन्दोविचिति' नाम का संकेत किया है—छन्दोविचितिमिव रम्यतनुमध्याम्'—अतः इस विषय में डॉ. कीथ का कथन ही स्वीकरणीय है कि 'छन्दोविचिति' का अर्थ या तो छन्दः शास्त्र है, अथवा काव्यादर्श में इस नाम से अलग परिच्छेद रहा होगा। राजा भोज ने 'शृंगारप्रकाश' मे 'द्विसन्धानकाव्य' को दण्डी की रचना कहा है[47], जिसमें श्लेष की सहायता से रामायण और महाभारत की कथाओं को एक साथ काव्यबद्ध किया गया था। किन्तु यह काव्य भी अनुपलब्ध है और भोज के उद्धरण से भी यह स्पष्ट है कि वे स्वयं दण्डीकृत 'द्विसन्धानकाव्य' के विषय में सन्दिग्ध थे। अतः अन्य पुष्ट विरोधी प्रमाणों के अभाव में उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों—काव्यादर्श, दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरी कथा—को ही दण्डी की रचना स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

अवन्तिसुन्दरी कथा की जो हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है, वह अपूर्ण भी है और त्रुटिपूर्ण भी। इसका प्रारम्भ बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के समान ही कतिपय श्लोकों से होता हैं जिनमें वाल्मीकि, व्यास, सुबन्धु, गुणाढ्य, शूद्रक, भास, प्रवरसेन, कालिदास, नारायण, बाण और मयूर का नाम आया है। जो श्लोक बीच में खण्डित हैं, उनमें किन कवियों का उल्लेख रहा होगा—यह नहीं कहा जा सकता। इन श्लोकों के उपरान्त काञ्ची नगरी के वर्णन से गद्य शैली में कथा आरम्भ होती है, जिसमें दण्डी आत्मपरिचय देते हैं।[48] तदनन्तर

---

45. दण्डी, काव्यादर्श 2/362; मृच्छकटिक 1/34— लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभः।
अमत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता॥

46. दण्डी, काव्यादर्श 1/11-12—पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा॥
छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपंचो निदर्शितः।
सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्॥

47. भोज, शृंगार प्रकाश, अध्याय 11—द्वितीयस्य (द्विसन्धानप्रकारस्य)
उदाहरणं यथा दण्डिनो धनञ्जयस्य वा द्विसन्धानप्रबन्धौ।

48. दण्डी, अवन्तिसुन्दरी कथा— मनोरथाह्वयस्तेषां मध्यमो वंशवर्धनः।
ततस्तनूजाश्चत्वारः स्रष्टुर्वेदा इवाभवन्॥
श्रीवीरदत्त इत्येषां मध्यमो वंशवर्धनः।
यवीयानस्य च श्लाघ्या गौरी नामाभवत्प्रिया॥
ततः कथञ्चित् सा गौरी द्विजाधिपशिखामणेः।
कुमारं दण्डिनामानं व्यक्तशक्तिमजीजनत्।
सः बाल एव मात्रा च पित्रा चापि व्ययुज्यत॥

मुख्य कथा प्रारम्भ होती है। इस ग्रन्थ की शैली प्रारम्भिक रूप में हर्षचरित से तथा वर्णन दृष्टि में कादम्बरी से बहुत मिलती जुलती है।

दशकुमारचरित—संस्कृत साहित्य मे दशकुमारचरित गद्यकाव्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, इसमें दस राजपुत्रों के विभिन्न विचित्र चरित्रों का संग्रह है। दशकुमारचरित का जो वर्तमान रूप उपलब्ध हैं उसके तीन भाग है—

1. **पूर्वपीठिका**—इसमें पाँच उच्छ्वास हैं तथा दो राजपुत्रों की कथा है।
2. **दशकुमारचरित**—इसमें आठ उच्छ्वास हैं तथा आठ ही राजपुत्रों की कथाएँ हैं, जिनमें विश्रुत कथा अपूर्ण है।
3. **उत्तरपीठिका**—इसमें विश्रुतचरित है तथा यह भाग अत्यन्त संक्षिप्त है।

ग्रन्थ के इन तीनों भागों में कथ्य, वर्णन, शैली आदि अनेक दृष्टियों से पर्याप्त अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण दशकुमारचरित के उपलब्ध स्वरूप के कर्तृत्व के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद भी रहे। प्रथम मत के अनुसार सम्पूर्ण दशकुमारचरित दण्डी की ही कृति है। द्वितीय मत केवल मध्यभाग को ही दण्डी की रचना स्वीकार करता है; जिसके आठ उच्छ्वासों में दस नहीं, वरन् आठ ही कुमारों की कथा है। डॉ. कीथ, प्रोफेसर विल्सन, डॉ. अगाशे, श्री एम.आर. कवि आदि विद्वान् द्वितीय मत के ही पोषक हैं। इन विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत की गई सबल युक्तियों के आधार पर यही विचार प्रबलतया पुष्ट होता है कि दण्डी ने अपने ग्रन्थ के नाम के अनुसार ही यद्यपि दस कुमारों का चरित वर्णन किया था, तथापि कालक्रम में ग्रन्थ का आदि भाग एवं अन्त भाग नष्ट हो गया। बाद में दण्डी के किसी चरम प्रशंसक कवि ने ग्रन्थ के नाम की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए पूर्वपीठिका में दो कुमारों का चरित रचा, और उत्तरपीठिका जोड़कर ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान की। ''इन दोनों भागों के नाम से ही तत्काल प्रतीत हो जाता है कि ये दण्डी की कृति के भाग नहीं हैं।......मूलग्रन्थ की अवतरणिका लिखने के अन्य प्रयत्न भी किए गए हैं, यह इस बात का अतिरिक्त प्रमाण है कि वर्तमान पूर्वपीठिका को दण्डी की रचना के रूप में सामान्य मान्यता नहीं दी गई थी। सम्भवत: स्वयं पूर्वपीठिका में भी दो व्यक्तियों की रचना का भेद किया जाना आवश्यक है।''[49] श्री एम.आर. कवि ने एक सम्भावना व्यक्त की है। उनका कथन है कि 1250 ई. में दण्डी के सम्पूर्ण दशकुमारचरित का तेलगू भाषा में अनुवाद किया था। बाद में कालक्रम से नष्ट हुए संस्कृत अंशों का किसी कुशल लेखक ने तेलगू से पुन: रूपान्तर करके संस्कृत ग्रन्थ को पूर्ण कर दिया।[50]

सम्पूर्ण दशकुमारचरित का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है। पुष्पपुरी के राजा राजहंस ने युद्ध में मालवाधीश मानसार को परास्त कर दिया। विजेता राजहंस ने पराजित एवं बन्दी मानसर पर दया करके उसे बन्धन से मुक्त भी कर दिया और उदारता पूर्वक उसका राज्य भी लौटा दिया। किन्तु पराजित मानसार तपस्या करके पुन: बलसम्पन्न हो

49. कीथ, ए.बी.—संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 371-373
50. द्रष्टव्य—1922 की ओरियण्टल कान्फ्रेंस की पुस्तिका, पृष्ठ 193-201

जाता है और पुष्पपुरी पर आक्रमण करके राजा राजहंस को पराजित कर देता है। आहत राजहंस अपनी पत्नियों सहित वन में रहने लगता है। वन में ही राजा राजहंस के पुत्र उत्पन्न होता है जिसका नामकरण राजवाहन किया जाता है। राजा के विभिन्न मन्त्रियों के भी सात कुमार उत्पन्न होते हैं। राजा राजहंस के मित्र मिथिलानरेश प्रहारवर्मा के शबरों के साथ युद्ध में मारे जाने पर उनके दो शिशु पुत्र भी भाग्यवशात् राजहंस के पास पहुँच जाते हैं। राजहंस इन दसों कुमारों—एक अपना पुत्र, सात मन्त्रिपुत्र और दो प्रहारवर्मा के पुत्रों—का पालन करते हैं। बड़े होकर ये दसों कुमार दिग्विजय अभियान पर निकल पड़े, और यात्रा के बीच भाग्यवैषम्य से परस्पर बिछुड़ कर अलग अलग स्थानों पर पहुँच गए। कुछ वर्षों बाद सभी कुमार एक एक करके राजवाहन से मिलते गए और अपनी यात्राओं, पराक्रमों और विविध विचित्र लोकानुभवों को अत्यन्त रोमांचक और मनोरंजक रूप में सुनाते रहे। इन्हीं साहसिक विजयगाथाओं का अतीव रोचक एवं अद्भुत संग्रह दशकुमारचरित है।

सम्पूर्ण उपलब्ध दशकुमारचरित ग्रन्थ में विभिन्न कुमारों के नाम-पूर्वक यह कथा और स्पष्टतया समझाई जा सकती है—

पूर्वपीठिका—प्रथम उच्छ्‌वास-राजा राजहंस की वन पहुँचने और दस कुमारों की प्राप्ति तक कथा इस उच्छ्‌वास में है।

द्वितीय उच्छ्‌वास—कुमारों का दिग्विजय हेतु प्रस्थान; एक ब्राह्मण का हित सम्पादन करने हेतु राजवाहन का गमन; अन्य कुमारों का परस्पर विछोह।

तृतीय उच्छ्‌वास—इसमें राजा राजहंस के अमात्य सितवर्मा के पौत्र सोमदत्त (कनिष्ठवर्मा का पुत्र) का चरित वर्णित है।

चतुर्थ उच्छ्‌वास—अमात्य पद्मोद्भव के पौत्र पुष्पोद्भव (रत्नोद्भव का पुत्र) का चरित्रवर्णन इसमें किया गया है।

पंचम उच्छ्‌वास—इसमें राजपुत्र राजवाहन का वर्णन प्रारम्भ हुआ है।

दशकुमारचरित—प्रथम उच्छ्‌वास-राजवाहन की कथा समाप्त।

द्वितीय उच्छ्‌वास—मिथिलानरेश प्रहारवर्मा के यमज प्रथम पुत्र अपहार वर्मा का चरित।

तृतीय उच्छ्‌वास—मिथिलाधिप प्रहारवर्मा के यमज द्वितीय पुत्र उपहार वर्मा के विविध अनुभवों की रोमाञ्चक कथा।

चतुर्थ उच्छ्‌वास—राजा राजहंस के मन्त्री धर्मपाल के पौत्र अर्थपाल (कामपाल का पुत्र) का चरितवर्णन इसमें प्राप्त होता है।

पंचम उच्छ्‌वास—इसमें अमात्य के पौत्र प्रमति (सुमति का पुत्र) की विविध अनुभवों से सम्पन्न कथा वर्णित है।

षष्ठ उच्छ्‌वास—मन्त्री धर्मपाल के पौत्र मित्रगुप्त (सुमन्त्र का पुत्र) का चरित्र सुन्दरतया इसमें वर्णित किया गया है।

सप्तम उच्छ्‌वास—मन्त्री धर्मपाल के मध्यमपुत्र सुमित्र के भी पुत्र मन्त्रगुप्त के रोचक अनुभवों की कथा इस उच्छ्‌वास में प्राप्त होती है।

अष्टम उच्छ्वास—पद्मोद्भव के पौत्र विश्रुत (सुश्रुत का पुत्र) की कथा इसमें प्रारम्भ हुई।

उत्तरपीठिका—इसमें विश्रुत चरित प्राप्त होता है।

दस कुमारों की कथाएँ तो प्रत्येक उच्छ्वास की मुख्य कथा हैं, किन्तु दशकुमारचरित में मुख्य कथाओं के साथ साथ अनेक अवान्तर कथाएँ भी साथ साथ ही चलती रहीं हैं, जिससे स्वत: ही पंचतन्त्र की कथाशैली का स्मरण हो आता है। इसी कारण हर्टेल आदि कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने यह विचार प्रस्तुत किया कि दशकुमारचरित को वास्तव में एक उपदेशात्मक कृति समझना चाहिए, जिसमें आकर्षक ढंग की कथाओं के माध्यम से नीतिशास्त्र की शिक्षा देना ही मुख्य प्रयोजन रहा है। किन्तु उन पाश्चात्य विद्वानों का यह कथन उचित नहीं है। दशकुमारचरित की विभिन्न कथाओं में कामशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं राजनीति के मार्मिक एवं गूढ़ विभिन्न सिद्धान्तों के द्वारा दण्डी का वैदुष्य अवश्य परिलक्षित होता है किन्तु दण्डी का उद्देश्य शुद्ध कविकर्म था, जिससे पाठक एवं श्रोता रसनिमग्न हो सकें; और दण्डी अपने काव्य के इस प्रयोजन को सिद्ध करने में शतप्रतिशत सफल हुए हैं। दशकुमारचरित में घटनाओं का सुश्लिष्ट प्रवाह, पात्रों का सहज चरित्र एवं प्रत्येक रस में हास्य एवं व्यंग की सूक्ष्म किन्तु तीक्ष्ण धार बरबस ही पाठक को काव्यरस में आकण्ठ स्नान करा के आनन्दानुभूति कर देती है।

दण्डी के गद्यकाव्य का कथानक विशुद्ध कल्पनात्मक है जिसे 'उत्पाद्य' कोटि का कहा जाता है। इस विषय में भी हर्टेल ने ही उस विचाराधारा को प्रस्तुत किया, कि सम्भवत: दण्डी ने गुणाढ्य की वृहत्कथा से इस प्रकार की कथावस्तु की प्रेरणा ग्रहण की थी। जिस प्रकार वृहत्कथा में नरवाहनदत्त और उसके मित्र परस्पर वियुक्त होकर विभिन्न देशों में विविध अनुभव प्राप्त करते हैं, और पुनः परस्पर मिल जाने पर अपने रोमांचक अनुभवों की कथा सुनाते हैं; उसी प्रकार दशकुमारचरित में राजवाहन और उसके मित्रों का आचरण दृष्टिगोचर होता है। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों की इस धारणा के लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। यों भी प्रत्येक मनुष्य की कल्पनाओं के मूल में संस्कार अथवा अनुभव का बीज तो होता ही है। अत: दण्डी के दशकुमारचरित पर गुणाढ्य की वृहत्कथा का कोई दाय है, अथवा नहीं—यह कहना कठिन है। सुन्दर, ललित एवं अत्यन्त रोचक गद्यकाव्य के रूप में दशकुमारचरित ने पण्डित समाज एवं रसिक वृन्द सभी से एक सी प्रशंसा अवश्य प्राप्त की है। इस गद्यकाव्य का कथानक घटना बहुल है, जिसमें तत्कालीन समाज के उदार किंवा अनुदार सभी पक्षों का अत्यन्त ही सजीव विनोदपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया गया है।

दण्डी ने अपने पात्रों का चरित्र चित्रण यथार्थ के धरातल पर किया है। उन्होंने आदर्श की असम्भाव्य ऊंचाइयों पर अपने पात्रों को स्थापित नहीं किया। कथानक के मध्य आए हुए महत्त्वपूर्ण अथवा गौण-सभी पात्रों का चित्रण अत्यन्त सजीव एवं यथार्थ हुआ है। पृथिवी के इस विस्तृत पटल पर जितने विभिन्न स्वभावों के मानव हैं, मानों सभी अपने समस्त गुणों एवं दोषों के साथ दशकुमारचरित के पात्र रूप में ढल गए हैं। समाज के विभिन्न वर्गों में से विशेषत: मध्यवर्ग की ओर दण्डी ने विशेष ध्यान दिया है। दैवी

पात्रों अथवा राजा रानियों के चरित्र अंकन करने में दण्डी का मन उतना नहीं रमा है जितना मध्यवर्ग का अंकन करने में । दम्भी तपस्वी, पाखण्डी साधु, हृदय शून्य वेश्या, कामान्ध युवक युवती, आदर्श प्रेमी, पतिवंचक क्रूरहृदया नारी, पतिप्राणा पतिव्रता गृहिणी, कञ्जूस श्रेष्ठी, स्वामी की कार्यसिद्धि के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले सेवक, विपत्ति में स्वामी का साथ छोड़ देने वाले भृत्य—आदि सभी प्रकार के पात्रों के चित्रण के द्वारा दण्डी का यह गद्यकाव्य अत्यन्त वास्तविक एवं सजीव हो गया है। ''लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि दण्डी आचारात्मक भित्ति के विरोधी हैं; किन्तु इस दृष्टि से दण्डी का आदर्श सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है। मानव जीवन के तीन लक्ष्यों-धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति में यदि वे तीनों का उपार्जन एक साथ नहीं कर पाते, तो किसी भी एक को छोड़ देने में नहीं हिचकिचाते।'' समाज में व्याप्त बुराइयों का चित्रण करके दण्डी जीवन की वास्तविकता का वर्णन तो करते ही हैं, साथ ही उन दोषों के प्रति हमें सचेत भी कर देते हैं। संस्कृत साहित्य में दण्डी ने नारी जीवन का जितना बहुरंगी पट प्रस्तुत किया है, उतना अन्य किसी कवि ने नहीं किया। समाज के प्रत्येक सम्भावित स्तर के नारीपात्रों को उनकी समस्त सूक्ष्म एवं गहन भावनाओं के साथ चित्रित कर देने में दण्डी अत्यधिक सफल हुए हैं। दण्डी ने वास्तविक रूप में नारी हृदय को पहचाना है।

समाज के सभी प्रकार के पात्रों का चरित्र चित्रण करने के कारण दशकुमारचरित में सभी रस सहृदयों को प्राप्त होते हैं। शृंगार, हास्य, वीर, करुण, वीभत्स, शान्त आदि सभी रसों का इस गद्यकाव्य में रुचिर सन्निवेश है। शृंगार रस के दोनों पक्षों—संयोग एवं विप्रलम्भ—का दण्डी ने सुन्दर चित्रण किया है, किन्तु संयोग शृंगार के चित्रण में वे कहीं कहीं कालिदास और श्रीहर्ष से भी आगे बढ़ गए हैं। विभिन्न कथानकों में कौतुक और विस्मयावह घटनाओं की प्रचुरता होने के कारण अद्भुत रस का तो सर्वतः ही प्रभूत प्रसार है। दण्डी ने अपने काव्य में निरन्तर हास्य रस के साथ साथ व्यंग का जो पुट दिया है, वह पाठकों और श्रोताओं को बरबस आकृष्ट कर लेता है। कुमारों के विचित्र अनुभवों का एक अनूठा ही हास्यात्मक वातावरण दशकुमारचरित में दण्डी ने रच दिया है, जिससे पाठक का हृदय निरन्तर प्रफुल्ल बना रहता है।

दण्डी के गद्यकाव्य में अनेक स्थलों पर सुन्दर प्रकृति वर्णन भी प्राप्त होता है। बाणभट्ट ने प्रकृति चित्रण करते समय वर्णनों को अत्यन्त दीर्घ बना दिया था, जिनसे बाण की कल्पना शक्ति की उर्वरता का ज्ञान तो होता है किन्तु साथ ही दीर्घता के कारण कभी कभी मन एवं मस्तिष्क को श्रान्ति भी अनुभव होने लगती है। दण्डी में यह दोष प्राप्त नहीं होता। राजवाहन वर्णन के अन्तर्गत वसन्त ऋतु की समृद्ध शोभा द्रष्टव्य है—

अथ सहकारकिसलयमकरन्दास्वादनरक्तकण्ठानां मधुकरकलकण्ठानां काकलीकल-कलेन दिक्चक्रं वाचालयन्, माकन्दसिन्दुवाररक्ताशोककिंशुकतिलकेषु कलिकामुपपादयन् मदनमहोत्सवाय रसिकमनांसि समुल्लासयन्...वसन्तसमयः समाजगाम।

इसी प्रकार तृतीय उच्छ्वास में उपहारवर्मा के द्वारा किए गए सूर्योदय वर्णन में कल्पना का चमत्कार मुग्ध कर देता है—

चिन्तयत्येव मयि महार्णवोन्मग्नमार्तण्डतुरंगश्वासरयावधूतेव व्यवर्तत त्रियामा। समुद्र-गर्भवासजडीकृत इव मन्दप्रतापो दिवसकरः प्रादुरासीत्।

अर्थात् मेरे इस प्रकार चिन्तन करते हुए ही मानों महासमुद्र से निकलते हुए सूर्य रूपी अश्व की श्वासवायु के वेग से उड़ा दी गई के सदृश रात्रि समाप्त हो गई। और मन्दप्रताप सूर्य उदित हुआ मानो समुद्र में वास करने के कारण उसका तेज शीतल हो गया हो।

संस्कृत गद्य के परिष्कृत प्रयोग में महाकवि दण्डी सिद्धहस्त हैं। शब्दाडम्बर एवं अलंकारबहुलता की कृत्रिमता से बच कर दण्डी ने सहज, प्रभावपूर्ण, प्राञ्जल, मुहावरेदार, सरल किन्तु ललित भाषा का प्रयोग करके अत्यन्त सुन्दर एवं व्यावहारिक संस्कृत का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसीलिए अधिकांश आलोचकों ने दण्डी को अत्यन्त मनोरम एवं ललित वैदर्भी रीति का आचार्य माना है। गद्य काव्य के इतिहास में शैली की दृष्टि से आचार्य दण्डी का अपना निजी मार्ग है। सुबन्धु की शैली 'प्रत्यक्षरश्लेषमय' थी, बाण ने समास बहुल पांचाली रीति का आश्रय लिया। किन्तु दण्डी की वैदर्भी रीति इन दोनों कवियों से नितान्त भिन्न है जिसमें स्पष्ट अर्थवत्ता, सुन्दर रसाभिव्यक्ति, दैनन्दिन प्रयोग क्षमता एवं पदों का सुन्दर विन्यास अनिर्वचनीय है। अपने वर्ण्य विषय एवं कथ्य के अनुरूप दण्डी की शैली का स्वर भी परिवर्तित होता चलता है।

शैली की सरलता के सदृश ही दण्डी को भाषा पर भी अद्भुत अधिकार था। कथा के वर्णन में वे सरल और सुबोध भाषा का प्रयोग करते है और पात्रों के पारस्परिक कथोपकथन में भी 'भाषा की जटिलता तथा विस्तार के दोष को सावधानी से दूर रखते हैं।' दण्डी की सरल भाषा एवं हृद्य शैली के एकाधिक उदाहरण अनुपयुक्त न होंगे। षष्ठ उच्छ्वास की धूमिनी कथा में भयंकर अकाल का एक दृश्य द्रष्टव्य है—

क्षीणसारं सस्यम्, ओषधयो वन्ध्याः, न फलवन्तो वनस्पतयः, क्लीबा मेघाः, भिन्न-स्रोतसः स्रवन्त्यः, पंकशेषाणि पल्वलानि, निर्निःस्यन्दान्युत्समण्डलानि, विरलीभूतं कन्दमूल-फलम्...।

अकाल की भयावहता को प्रगट करने के लिए ऐसी ही शैली एवं भाषा की आवश्यकता थी। दूसरी ओर एक सुन्दर कन्या का नखशिख वर्णन करते समय दण्डी का भाषा शैली का स्वर कैसा भिन्न दिखाई देता है (षष्ठ उच्छ्वास)

अस्याः खलु कन्यकायाः सर्व एवावयवा नातिस्थूला, नातिकृशा, नातिह्रस्वा, नाति-दीर्घा न विकटा मृजावन्तश्च। रक्ततलांगुली यवमत्स्यकमलकलशाद्यनेकपुण्यलेखालाञ्छितौ करौ...तन्वी कम्बुवृत्तबन्धुरा च कन्धरा, अनतिप्रौढ तिलकुसुमसदृशनासिकम्, असितधवल-रक्तत्रिभागभासुरमधुराधीरसंचारमंथरायतेक्षणम्...इन्द्रनीलशिलाकाररम्यालकपंक्ति, द्विगुण-कुण्डलितम्लाननालीकनाललिलितलम्बश्रवणपाशयुगलमाननकमलम्...।

दण्डी ने अपने गद्यकाव्य को अलंकारों से सायास नहीं सजाया है, वे तो स्वतः ही भाषा-शैली के प्रवाह में यथास्थान सन्निवेशित हो गए हैं। यमक अलंकार की यह सुन्दर छटा दर्शनीय एवं अभिराम है—

'कुमारा माराभिरामा रामाद्यपौरुषा रुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसितसमीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयाशंसं राजानमकार्षुः।'

इसी प्रकार राजा राजहंस का वर्ण ह्य अनुप्रास अलंकार का सुन्दर उदाहरण है।

दशकुमारचरित के कथानक की नूतनसृष्टि, चरित्र चित्रण की सहजता तथा शैली की भावप्रवणता एवं माधुर्य से महाकवि दण्डी का विविध ज्ञान, पाण्डित्य एवं बहुपक्षीय लोकानुभव स्वतः ही प्रकट हो जाता है। विविध घटनाओं के विन्यास एवं वर्णन से प्रगट होता हुआ दण्डी का राजनीति पाण्डित्य, कामशास्त्र के गूढ तथ्यों का अनुशीलन तथा चौरशास्त्र का अद्भुतज्ञान पाठक को चमत्कृत कर देता है। अष्टम उच्छ्वास में वसुरक्षित नामक मन्त्री ने सर्वगुणसम्पन्न राजा अनन्तवर्मा को दण्डनीति सम्बन्धी जो सारगर्भित उपदेश दिया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

तात! सर्वैवात्मसंपद् अभिजनात्प्रभृत्यन्यूनैवात्रभवति लक्ष्यते।...बुद्धिहीनो हि भूभृद् अत्युच्छ्रितोऽपि परैरध्यारुह्यमाणम् आत्मानं न चेतयते। न च शक्तः साध्यं साधनं च विभज्य वर्तितुम्। अयथावृत्तश्च कर्मसु प्रतिहन्यमानः स्वैः परैश्च परिभूयते।...

दण्डी व्याकरणशास्त्र के भी परमज्ञाता थे। सप्तम उच्छ्वास की मन्त्रगुप्त के द्वारा कथित कथा में ओष्ठ्य वर्णों का नितान्त अभाव ही हैं, क्योंकि प्रेयसी के द्वारा ओंठ पर दन्तक्षत कर देने के कारण वह ओष्ठ्य वर्णों का उच्चारण ही नहीं कर पा रहा था—

स किल करकमलेन किंचित्संवृताननो ललितवल्लभारभसदत्तदन्तक्षतव्यसनविह्वलाधरमणिर्निरोष्ठ्यवर्णमात्मचरितमाचचक्षे....आर्य कदर्यस्यास्य कदर्थनान्न कदाचिन्निद्रायाति नेत्रे। तर्जयति त्रासयति च...आदिश च तम्-सखे सैषा सज्जनाचरितां सरणिर्यदणीयसि कारणेऽनणीयानादरः संदृश्यते।

इस स्थल को कतिपय आलोचक दण्डी की शाब्दीक्रीड़ा का उदाहरण मानते हैं; किन्तु इससे दण्डी का अपरिमित व्याकरण ज्ञान और भाषा पर असाधारण अधिकार अवश्य सूचित होता है।

सांस्कृतिक अनुशीलन की दृष्टि से दण्डी का दशकुमारचरित एक अनुपम ग्रन्थ है। दण्डी ने तत्कालीन समाज का जो चित्र अंकित किया है उससे उनकी प्रखर निरीक्षण शक्ति की क्षमता का आकलन किया जा सकता है। विविध कुमारों के भिन्न भिन्न अनुभवों में समाज के विभिन्न वर्गों—विशेषतः मध्यवर्ग की स्थिति, स्त्रियों का आचरण एवं स्थान, वेषभूषा, आभूषण, परम्पराएँ, उत्सव, आर्थिक साधन, विदेशों से व्यापार तथा शैव, जैन एवं बौद्ध धर्म की उन्नत किंवा अवनत स्थितियाँ भली भाँति प्रतिबिम्बित हो उठी हैं।

संसार के वैविध्यपूर्ण अनुभव ने दण्डी की कल्पनाशक्ति को उर्वरा बना कर मानों वास्तविक रूप दे डाला था। इसीलिए दण्डी की सूक्तियाँ अत्यधिक सरस एवं लोकप्रिय हुई। इन सूक्तियों में दण्डी का स्वानुभूत लौकिक सत्य ही अत्यधिक प्रभावशाली भाषा में अभिव्यक्त हुआ है—"इह जगति हि न निरीहं देहिनं श्रियःसंश्रयन्ते", 'अभवदीयं हि नैव किंचित् मत्सम्बद्धम्', 'दुष्करसाधनं प्रज्ञा', 'स्वदेशो देशान्तरमिति नेयं गणना विदग्धस्य पुरुषस्यः' 'पतिरेव दैवतं वनितानाम्, विशेषतः कुलजानाम्;' 'जीवितं हि नाम जन्मवतां

चतुः पंचाप्यहानि' आदि।

अपने पदलालित्य के लिए दण्डी सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए—**दण्डिनः पदलालित्यम्।** सर्वाधिक उपयुक्त शब्दों के गुम्फन के द्वारा दण्डी इतनी सुन्दर वाक्य माला प्रस्तुत करते हैं कि उस पदयोजना के द्वारा वर्ण्यविषय मानों शब्दचित्र ही बन जाता है। पदलालित्य और माधुर्य का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

'अनवरतयागदक्षिणारक्षितशिष्टविशिष्टविद्यासम्भारभासुरभूसुरनिकरः विरचितारातिसन्तापेन प्रतापेन सतततुलितवियन्मध्यहंसः राजहंसो नाम घनदर्पकन्दर्पसौन्दर्यसोदर्यहृद्यनिरवद्यरूपो भूपो बभूव। तस्य वसुमती नाम सुमती लीलावती कुलशेखरमणी रमणी बभूव।'

दण्डी के इन्हीं विविध गुणों से आकृष्ट आलोचकों ने दण्डी की बहुमुखी प्रशंसा की। किसी ने 'कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः' कह कर सम्पूर्ण साहित्य का एकमात्र कवि दण्डी को घोषित किया, तो किसी अन्य आलोचक ने दण्डी को वाल्मीकि तथा व्यास के समकक्ष कवि कह कर साहित्य में दण्डी के महत्त्व का आकलन किया—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

सुबन्धु, बाण तथा दण्डी की रचनाओं के रूप में संस्कृत गद्यकाव्य ने चरमोत्कर्ष प्राप्त किया। परवर्ती समय में भी गद्य रचनाएँ की जाती रहीं, किन्तु कोई भी उस उत्कर्ष तक नहीं पहुँच सकी। दण्डी ने सहज, मनोरंजक तथा मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करके जिस सरल शैली का प्रवर्तन किया था, वह शैली परवर्ती लेखकों में अधिक प्रिय नहीं हुई। बाण की समासबहुल तथा चित्रण प्रधान शैली को ही अधिकांश परवर्ती गद्यलेखकों ने अपनाया। दण्डी के पश्चात् होने वाले कतिपय प्रसिद्ध गद्यलेखकों का विवरण इस प्रकार है।

धनपाल

दशमशती के उत्तरार्ध एवं एकादश शती के पूर्वार्ध में जैन कवि धनपाल ने तिलकमंजरी नामक गद्यकाव्य की रचना की। इन्होंने सीयक, सिन्धुराज, मुंज एवं भोज की सभाओं में अन्यतम स्थान प्राप्त किया था, अतः धनपाल के स्थिति समय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। राजा मुंज ने धनपाल की काव्यछटा से अभिभूत होकर उन्हें 'सरस्वती' विरुद देकर सम्मानित किया था।[51] धनपाल ऋषभपंचाशिका, पाइयलच्छीनाममाला (प्राकृतलक्ष्मी नाममाला), वीर स्तुति आदि अन्य लघु रचनाएँ भी कीं, किन्तु धनपाल की कीर्ति 'तिलकमंजरी' गद्यकाव्य के कारण ही प्रसारित हुई।

धनपाल के इस काव्य पर बाण की कादम्बरी का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता

---

51. तिलकमञ्जरी—उपोद्घात— तज्जन्मा जनकाङ्घ्रिपंकजरजः सेवाप्तविद्यालवो
विप्रः श्रीधनपाल इत्यविशदामेतामबध्नात् कथाम्।
अक्षुण्णोऽपि विविक्तसूक्तिरचने यः सर्वविद्याब्धिना
श्रीमुञ्जेन सरस्वतीति सदसि क्षोणीभृता व्याहृतः॥

है। तिलकमंजरी गद्यकाव्य में मुख्य कथा राजकुमार हरिवाहन और विद्याधरी तिलकमंजरी की प्रेम गाथा है। इसी कथा के लगभग समानान्तर समरकेतु एवं मलयसुन्दरी की प्रणयकथा भी मुख्य कथा का साहाय्य करती चलती है। इन दोनों कथाओं के जटिल विकास में धनपाल ने अनेक काव्य रूढ़ियों यथा श्राप, अपहरण, आत्महत्या योजना, देवयोनियों, पुनर्जन्म आदि का समुचित आश्रय लिया है। धनपाल ने अपनी इस कथा को किस स्रोत से ग्रहण किया, यह स्पष्ट नहीं है। किन्तु स्वयं रचनाकार ने 'जिनागभोक्ता:' कह कर सम्भवत: यहाँ संकेतित किया है कि जैन आगमों में वर्णित कथाएँ ही इस गद्यकाव्य की मूल स्रोत हैं। इस दृष्टि से तिलकमंजरी गद्यकाव्य को कथा की श्रेणी में रखा जा सकता है।

'तिलकमन्जरी' में पात्रों का चरित्रचित्रण भी उत्कृष्ट कोटिक है। अनेक पात्रों के आत्मकथ्य के रूप में कथा का प्रवाह क्रमश: आगे बढ़ा है। इस काव्य का प्रमुख रस प्रणयानुकूल शृंगार रस ही है, किन्तु हास्य, वीर, अद्‌भुत आदि अन्य सभी रस विभिन्न स्थलों पर गौण रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

धनपाल के गद्यकाव्य में तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बित हुई है। गद्यकाव्य के भूमिका भाग में धनपाल ने वाल्मीकि, व्यास, प्रवरसेन, कालिदास, बाण, माघ, भारवि, भवभूति, वाक्पतिराज और राजशेखर आदि कवियों का प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन भारत में प्रस्तरकला, चित्रकला तथा अन्य कला कौशलों के अनुशीलन का सुन्दर चित्रण 'तिलकमञ्जरी' में प्राप्त होता है। वस्तुत: यह गद्यकाव्य धनपाल के पाण्डित्य, कलामर्मज्ञता एवं सुन्दर काव्यकौशल का निदर्शन रूप है; इसीलिए सोमेश्वर ने धनपाल की प्रशंसा करते हुए कहा—

वचनं धनपालस्य चन्दनं मलयस्य च।
सरसं हृदि विन्यस्य कोऽभून्नाम न निर्वृत: ॥

ओड्यदेव वादीभसिंह

इनका समय ग्यारहवीं शती माना जाता है। ये पुष्पसेन मुनि के शिष्य थे। इनका मूलनाम ओड्यदेव था तथा वादीभसिंह उपनाम। इस उपनाम का अर्थ हुआ वादी (विरोधियों) रूपी इभ (हाथियों) के लिए सिंह। इन्होंने गद्य चिन्तामणि नामक गद्य ग्रन्थ और क्षत्र चूड़ामणि नामक पद्यग्रन्थ लिखा, किन्तु दोनों ग्रन्थों का कथानक एक ही है। गद्य चितान्तामणि की कथा ग्यारह लम्बों में विभक्त है और उसमें तीर्थंकर महावीर के समकालीन एक राजकुमार जीवन्धर का जीवनवृत्त है। ओड्यदेव ने अपने गद्यकाव्य की कथा जिनसेन (897 ई.) के महापुराण से ग्रहण की थी। पदों के लालित्य, सुन्दर शब्दसन्निवेश, विस्मयावह कल्पाएँ, धर्मसम्पन्न नीति उपदेश आदि विशिष्ट गुणों के कारण गद्य चिन्तामणि ग्रन्थ आलोचकों में पर्याप्त प्रशंसित हुआ।

वामनभट्ट बाण

इनका समय पन्द्रहवीं शती है। इनके ग्रन्थ का नाम **वेमभूपालचरित** अथवा वीरनारायणचरित है। राजा वेमभूपाल स्वयं गुणी कवि भी थे और कवियों के आश्रयदाता भी। वामनभट्ट बाण इन्हीं के सभाकवि थे। वामनभट्ट बाण ने अपने गद्यकाव्य की रचना बाण के हर्षचरित के आधार पर की थी। अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में उन्होंने स्वयं कहा है कि 'सुन्दर, ललित गद्य लेखन में बाण के समक्ष अन्य कवि काने हैं—संसार में प्रचलित इस अपयश को वत्सकुलोत्पन्न वामनभट्ट बाण ने दूर कर दिया।'[52] वेमभूपालचरित नामक इस गद्यकाव्य में पदविन्यास, अलंकारयोजना एवं अर्थ की अभिव्यंजना मधुर एवं सरस है।

विश्वेश्वर पाण्डेय

अठारहवीं शती के पूर्वार्ध में श्री विश्वेश्वर पाण्डेय नामक एक व्युत्पन्न गद्यलेखक हुए। ये बाल्यकाल से ही अत्यन्त तीव्र बुद्धि थे। इन्होंने व्याकरण, दर्शन, साहित्य आदि से सम्वद्ध लगभग बीस ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें से कुछ पूर्ण रूप से तथा कुछ अपूर्ण रूप में प्रकाशित हो पाए हैं; शेष ग्रन्थ अप्रकाशित ही रह गए हैं। **मन्दारमञ्जरी** इनका प्रौढ़ गद्यकाव्य है। बाणभट्ट की कादम्बरी के सदृश ही इस काव्य का पूर्वभाग तो विश्वेश्वर पाण्डेय रचित है; किन्तु उत्तरार्ध उनके किसी शिष्य ने लिख कर ग्रन्थ पूर्ण किया। पूर्वार्ध प्रकाशित भी हो चुका है, किन्तु उत्तरभाग अभी अमुद्रित ही है। यों भी वह अन्य कवि की रचना है।

'मन्दारमञ्जरी' गद्यकाव्य अनेक अंशों में बाणभट्ट की कादम्बरी से मिलता जुलता जान पड़ता है। इसका कथानक काल्पनिक है। पुष्पपुर के राजा राजशेखर एवं रानी मलयवती के पुत्र चित्रभानु तथा विद्याधर चन्द्रकेतु एवं पत्नी चन्द्रलेखा की पुत्री मन्दारमञ्जरी के प्रणयाकर्षण एवं विवाह का इसमें चित्रण किया गया है। कवि पाण्डेय ने बाणभट्ट की शैली का ही अनुसरण करते हुए मुख्य कथा के साथ अनेक उपकथाओं का भी संयोजन किया है। गद्यकाव्य की भाषा सरस एवं माधुर्यगुणपूर्ण है। विभिन्न वर्णन अत्यन्त व्यापक हैं जिनसे कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय प्राप्त होता है। स्थल स्थल पर कवि के व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष तथा पुराणसम्बन्धी ज्ञान का भी स्वतः उद्घाटन हो जाता है। श्लेष, रूपक, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलंकारों का प्रयोग सुन्दर बन पड़ा है। किन्तु कुछ न्यूनताएँ भी इस गद्यकाव्य में दृष्टिगोचर होती हैं। कवि ने इस काव्य के माध्यम से अपने वैदिक, पौराणिक तथा व्याकरणसम्बन्धी वैदुष्य को इतना अधिक प्रस्तुत किया है, जिससे गद्यकाव्य की सरसता एवं कथानक के प्रवाह में पर्याप्त बाधा पड़ी है। कलापक्ष को सायास उभारने के कारण अनेक स्थलों पर भावपक्ष बहुत दुर्बल रह गया है। फिर भी गद्य की प्रौढ़ता एवं कमनीयता की दृष्टि से यह गद्यकाव्य पर्याप्त चर्चित हुआ है।

---

52. वेमभूपालचरित, श्लोक 6— बाणादन्ये कवयः काणाः खलु सरसगद्यसरणीषु।
इति जगति रूढमयशो वामनबाणोऽपमार्ष्टि वत्सकुलः॥

अम्बिकादत्त व्यास

माँ भारती के अनेक स्वनामधन्य पुत्रों ने निरन्तर ही इस देवभाषा के साहित्य को अपनी रचनाओं से अलंकृत किया है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में पण्डित अम्बिकादत्त व्यास एक ऐसे ही बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति हुए।

श्री व्यास के पूर्वज राजस्थान के निवासी थे। इनके पितामह पण्डित राजाराम जयपुर से ग्यारह मील दूर स्थित अपने पैतृक ग्राम मानपुर को छोड़कर विद्याध्ययन एवं अर्थोपार्जन के लिए काशी जाकर बस गए थे, किन्तु परिवार के विवाह सम्बन्ध राजस्थान में ही होते रहे। श्री अम्बिकादत्त व्यास का जन्म जयपुर में हुआ। अपनी विद्वत्ता, प्रतिभा एवं बहुज्ञता से भारत के साहित्याकाश को आलोकित कर देने वाले इस महनीय सरस्वतीपुत्र का जीवन समय अत्यल्प ही रहा। 1858 ईस्वी में जन्म लेकर 1900 ईस्वी मे स्वर्गारोहण कर जाने वाले पण्डित व्यास ने बयालीस वर्ष की अल्पायु में ही बहुत अधिक साहित्य रचना कर डाली। इन्होंने संस्कृत एवं हिन्दी-दोनों भाषाओं में 80 से भी अधिक रचनाएँ लिखीं; किन्तु इनमें केवल बावन रचनाएँ ही उपलब्ध एवं प्रकाशित हो सकी हैं। पण्डित व्यास का साहित्य संख्या की दृष्टि से ही विपुल नहीं है अपितु विविध भाषात्मक, नानाविधात्मक एवं विभिन्न स्वरूपात्मक भी है।

शिवराजविजय एक ऐतिहासिक उपन्यास है। उपन्यास नामक यह विधा पारम्परीण गद्यकाव्य-लक्षणों में कहीं भी वर्णित नहीं है। 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग तो काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में है, किन्तु वह अन्यत्र प्रसंगों में है। नाट्य की प्रतिमुख सन्धि के तेरह अंगों में से एक उपन्यास है।'[53] आचार्य विश्वनाथ ने भाणिका उपरूपक के जो सात अंग कहे, उनमें भी एक का नाम उपन्यास है।[54] किन्तु गद्यकाव्य की विशिष्ट विधा के रूप में यह नाम किसी आचार्य ने उल्लिखित नहीं किया। मूलतः गद्यकाव्य की इस विधा का प्रसार ही विदेशी प्रभाव से हुआ है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध तक अंग्रेजी भाषा में नॉवेल लेखन का पर्याप्त प्रचार था। अंग्रेजी राज्य सर्वप्रथम बंगाल में दृढ़ हुआ था अतः अंग्रेजी नॉवेल के स्वरूप के समान ही बंगभाषा में भी ग्रन्थ लिखे गए और उन कथाग्रन्थों को उपन्यास नाम दिया गया। इसका प्रभाव अन्य भारतीय भाषाओं पर भी पड़ा। उस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी भाषा में उपन्यास लेखन को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास भारतेन्दु के घनिष्ट सम्पर्क में थे। व्यास जी ने संस्कृत में भी गद्यलेखन की इस नवीन विधा का प्रयोग किया, और इस प्रकार 'शिवराजविजय' उपन्यास की रचना हुई।

पण्डित अम्बिकादात्त व्यास ने उपन्यास नामक इस नवीन गद्यविधा की उपस्थापना हेतु 'गद्यकाव्यमीमांसा' नामक एक शास्त्रग्रन्थ की भी रचना की; जिसमें प्राचीन शास्त्र परम्परा का भी किंचित् अनुसरण था और नवीन सिद्धान्तों का प्रणयन भी। 'गद्यकाव्य मीमांसा' मे व्यास जी ने स्वतंत्र रूप से गद्य और गद्यकाव्य के स्वरूप का विशद विभाजन

53. दशरूपक 1/30-32, 35
54. साहित्यदर्पण 6/308, 309

किया। इस शास्त्र ग्रन्थ में गद्यकाव्य की नवीन विधा उपन्यास के स्वरूप, निबन्धन एवं भेदोपभेदों को विलक्षणतया प्रस्तुत किया गया है।[55]

उपन्यास वस्तुतः गद्यकाव्य होते हुए भी संस्कृत के प्राचीन गद्यकावयों से स्वरूपतः ही पर्याप्त भिन्न है। उपन्यास में एक शृंखलाबद्ध कथानक में जनमानस की अनुभूतियों और जीवन का चित्रण होता हैं। इसमें जनजीवन के परस्पर सम्बद्ध चित्रों एवं कार्यों का ही मुख्य प्रतिनिधित्व होता है। व्यासजी से पूर्व का संस्कृत गद्य सामान्यतः राजाश्रित कवियों द्वारा रचा गया था अतः उसमें जनसामान्य से सम्पर्क कम था। स्वभावतः ही उसमें जनसाधारण की हृदयानुभूतियाँ कम ही प्रस्तुत हो सकीं। किन्तु व्यासजी हर धरातल पर जनसामान्य के अत्यधिक निकट थे और राजाश्रित भी नहीं थे, अतः अपने इस उपन्यास के माध्यम से जनसामान्य की पीड़ा, उद्वेलन, आशा, आकांक्षा, कदर्यता, उत्साह आदि सभी का यथातथ्य काव्यमय प्रस्तुतीकरण वे भली भाँति कर सके। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में भारत में जो सांस्कृतिक पुनर्जागरण हुआ, उसमें भारतीय जनता का मानस पराधीनता एवं जातीय गौरव के नाश की व्यथा से नितान्त उद्वेलित एवं पीड़ित था। यही उद्वेलन एवं व्यथा ''शिवराजविजय'' में स्थान-स्थान पर उजागर हुई है। जनसामान्य की इन्हीं भावनाओं का चित्रण उपन्यास विधा की विशेषता है।

आधुनिक आलोचनाशास्त्र की दृष्टि के उपन्यास के छः प्रमुख तत्त्व होते हैं— कथा, संवाद, चरित्र-चित्रण, देशकाल, रचनाशैली एवं उद्देश्य अथवा प्रयोजन। पंडित व्यास के उपन्यास में ये सारे ही तत्त्व प्राचीन परम्परा एवं नवीन धाराप्रवर्तन के विचित्र किन्तु हृदयावर्जक समन्वय पूर्वक उपलब्ध होते हैं। द्रष्टव्य यही है कि 'शिवराजविजय' में लेखक प्राचीन गद्यकाव्यों का अनुकरण न करके क्या स्थापनाएँ कर सका है।

1. कथा—किसी भी काव्यरचना की आधारभित्ति कथा अथवा कथानक होता है। व्यासजी ने अपने उपन्यास की कथा इतिहास के एक ऐसे पृष्ठ से ग्रहण की, जो परोक्ष अतीत का न होने के कारण जनमानस में चिर-परिचित भी था और समय के संदर्भ में सर्वाधिक उपयुक्त भी। भारत में गौ, ब्राह्मण, जाति तथा देश के उद्धारक एवं धर्म के संस्थापक के रूप में मराठा शिवाजी परम समादृत हैं। उनकी कथा प्रत्येक भारतीय के लिए स्वतः ही हृदयग्राही एवं उत्साहप्रद है। शिवाजी को अपना कथानायक बनाकर व्यासजी ने उनकी कथा को ही अपने उपन्यास की आधारभित्ति के रूप में चुना। ऐतिहासिक कथा होने के कारण समस्त कथानक बहुश्रुत एवं पाठकों के सन्निकट था, इसलिए उसमें कौतूहल तत्त्व के लिये अधिक अवकाश न था। प्राचीन गद्यकाव्यों में तो अलौकिक उपायों के सहारे चमत्कार अथवा कौतूहल की सृष्टि कर दी जाती थी; किन्तु व्यासजी ने कुछ काल्पनिक पात्रों की कथा मात्र से उपन्यास में कौतूहल की सृष्टि कर दी। इसी प्रकार प्राचीन गद्यकाव्यों में वर्णनों के विस्तार से कथा की गति प्रायः ही मन्द अथवा अवरुद्ध पाई जाती है, किन्तु प्रस्तुत उपन्यास में वर्णन संक्षिप्त होने के कारण कथा गति कहीं भी मन्द अथवा शिथिल नहीं होने पाई है। इस उपन्यास में दो स्वतंत्र कथाधाराएँ समानान्तर

55. गद्यकाव्यमीमांसा, पृष्ठ 32-53

चलीं हैं—महावीर शिवाजी की ऐतिहासिक कथा, एवं रघुवीर-सौवर्णी की काल्पनिक कथा। किन्तु व्यासजी ने दोनों ही कथा-धाराओं को परस्पर सापेक्ष एवं संश्लिष्ट कर दिया है। उपन्यास में ऐतिहासिक मान्यताओं तथा तथ्यों का पूर्ण निष्ठा से पालन किया गया है। किन्तु कहीं-कहीं कथा में राग-निबन्धन हेतु अथवा नायक की गरिमा की दृष्टि से व्यासजी ने कुछ परिवर्तन भी कर दिए हैं, यथा-रसनारी (रोशन आरा) का शिवाजी के प्रति अनुराग अथवा शिवाजी के सैनिकों के द्वारा मुअज्जम का अपहरण आदि।

2. **संवाद**—आधुनिक उपन्यास गद्य विधा में संवाद अथवा कथोपकथन का अत्यधिक महत्त्व है। प्राचीन गद्यकाव्यों में संवादों का यह रूप प्राप्त नहीं होता। वस्तुतः प्राचीन गद्यकाव्यों में भी संवाद हैं अवश्य, किन्तु उनका स्वरूप नितान्त भिन्न है। उच्चकोटि के प्राचीन गद्यकारों—दण्डी, बाण, सुबन्धु—ने संवादों को विशेष महत्त्व नहीं दिया। किन्तु आधुनिक उपन्यास में कथा प्रवाह एवं चरित्र-चित्रण की सहजता के लिए संवाद तत्त्व अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भी है और सर्वाधिक आनन्ददायी भी। ''शिवराजविजय'' में भी संवाद एक ओर पात्रगत व्यक्तित्व के स्तर की अभिव्यक्ति करते हैं, तो दूसरी ओर कथा की सम्बद्धता, प्रवाह, राग तथा भावाभिव्यक्ति की नाटकीय सामर्थ्य को भी अभिव्यंजित करते हैं। अतः प्रस्तुत उपन्यास के नाटकीय एवं प्रभावशाली संवाद संस्कृत गद्य-काव्य के लिए नूतन दिशा निर्देश हैं। रसनारी (रोशन आरा) एवं शिववीर का यह संवाद द्रष्टव्य है—

रसनारी—वीर! अतिसादृताऽपि सुखं स्थापिताऽपि दुःखिताऽस्मितमाम्, यतो यत्नैरपि न ज्ञातुमशकम्, निजधन्यवादभाजनं धन्यधन्यं मान्यवदान्यम्।

शिववीर—आर्ये! अपि कस्यापि महाराष्ट्रवीरस्य शिवराज इति नामधेयं श्रीमत्याः कर्णशष्कुलीम् अस्प्राक्षीत्?

रसनारी—किं पार्वतोन्दुरुः शिव इति।

शिववीर—भद्र! महाराष्ट्रराजः शिववीरः।

रसनारी—तत् किं पार्वतोन्दुरुः कोऽप्यन्यः।

3. **चरित्रचित्रण**—पात्र का चरित्रचित्रण उपन्यास का प्राणभूत तत्त्व है। वस्तुतः किसी भी काव्य के समग्र पात्रों को दो प्रकार के वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक, व्यक्तित्व प्रधान पात्र, जो निजी विशेषताओं से मंडित होकर केवल अपना ही प्रतिनिधित्व करते हैं; दूसरे, प्रतिनिधिपात्र, जो निजी विशेषताओं से मंडित होकर भी वर्गविशेष के गुणों को प्रतिबिम्बित करते हैं। संस्कृत के प्राचीन गद्यकाव्यों में प्रायः व्यक्तित्व प्रधान पात्रों का ही प्रामुख्य रहा। इन पात्रों के चित्रण में भी प्राचीन कवियों ने प्रायः प्रत्यक्ष अथवा विश्लेषणात्मक प्रणाली का आश्रय लिया अर्थात् कवि ने स्वयं ही पात्र के गुणावगुणों का वर्णन कर दिया। किन्तु पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने ''शिवराजविजय'' में अधिकांशतया प्रतिनिधि पात्रों को ही प्रस्तुत किया। व्यासजी के उपन्यास लेखन की मूल प्रेरणा जातीय, धार्मिक तथा राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि थी, अतः उन्होंने पात्रों का चयन भी इसी दृष्टि से किया। उनके कथानायक शिवाजी तथा सहायकगण देशप्रेमी, वीर, धर्म-

प्रेमी तथा सच्चरित्र व्यक्तियों के प्रतिनिधि हैं, तो औरंगजेब, अफजलखान तथा अन्य मुसलमान सेनापति अंहकारी, विलासी, विश्वासघाती एवं उत्पीडक व्यक्तियों के प्रतिनिधि रूप में चित्रित हुए हैं। गौरसिंह, श्यामसिंह आदि पात्र राजपूत जाति के विशेषताओं को व्यंजित करते है। इस प्रकार व्यासजी ने प्राचीन परंपरा से भिन्न प्रकार के पात्रों का चरित्रचित्रण किया। इस चरित्रचित्रण में भी उन्होंने प्राचीन कवियों की प्रत्यक्ष प्रणाली का आश्रय नहीं लिया, अपितु अप्रत्यक्ष प्रणाली का आश्रय लेकर पात्र की विशेषताएँ उसी की क्रियाओं अथवा अन्य पात्रों के संवादों से ही व्यंजित करा दीं। यही चरित्रचित्रण की अभिनयात्मक या क्रियात्मक प्रणाली है और आधुनिक उपन्यासों में इसी का अधिक आश्रय लिया जाता है।

4. **देशकाल**—प्रत्येक कथावस्तु में विभिन्न पात्रों का समस्त क्रियाकलाप किसी स्थान विशेष अथवा समय विशेष में ही होता है—यही उपन्यास का देशकाल तत्त्व है। इसी तत्त्व के अन्तर्गत वातावरण, आचार-विचार, प्राकृतिक दृश्य, रहन-सहन आदि सभी का समावेश होता है। प्राचीन कवियों ने अपने गद्यकाव्यों में स्थान एवं समय का यह वर्णन अत्यन्त विस्तृत, अतिशयोक्तिपूर्ण एवं अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया। किन्तु व्यासजी ने अपने उपन्यास को यथासंभव इस दोष से मुक्त ही रखा है। ''शिवराजविजय'' ऐतिहासिक उपन्यास है अत: उसमें देशकाल का यह तत्त्व अन्य गद्यकाव्यों तथा उपन्यासों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण था। व्यासजी ने देश काल के वर्णन में अतिरंजना त्याग कर इतिहास एवं काव्यकला का सुन्दर समन्वय भी प्रस्तुत किया है और उसे अधिक प्रामाणिक भी बना दिया है।

5. **रचना शैली**—आधुनिक साहित्य में शैली शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया जाता है, संस्कृत समालोचना में उसका समानार्थक रीति शब्द है। किन्तु फिर भी शैली एवं रीति भिन्न-भिन्न हैं। आधुनिक दृष्टि से शैली के दो मूल-तत्त्व हैं—वस्तु तत्त्व एवं व्यक्ति तत्त्व। शैली का वस्तुतत्त्व तथा संस्कृत की रीति लगभग एक ही हैं, किंन्तु व्यक्तितत्त्व रीति में समाहित नहीं होता। संस्कृत समालोचकों ने रीति की जो विस्तृत व्याख्या की, उनमें कवि के व्यक्तित्व का कहीं स्थान नहीं है। इस व्यक्तितत्त्व को छोड़ देने पर रचना शैली में भाषा, गुण, अलंकार, रीति एवं रसाभिव्यक्ति आदि अन्तर्भूत होते हैं। रचनाशैली की दृष्टि से भी व्यासजी का उपन्यास प्राचीन गद्यकाव्यों से पर्याप्त भिन्न है। बाण एवं सुबन्धु के दीर्घ समासों के स्थान पर व्यासजी ने अल्प समासों का प्रयोग करते हुए मुख्यतया वैदर्भी रीति को ही अपनाया। पूर्ववर्ती गद्यकारों में भाषा को क्लिष्ट, कृत्रिम तथा अलंकार बोझिल बनाने की प्रवृत्ति थी। शिवराजविजय की भाषा में क्लिष्टता कहीं नहीं है। अलंकारों का प्रयोग तो पर्याप्त है किन्तु श्लेषमूलक अलंकार बहुत कम हैं। वाक्य-विन्यास, अलंकार-प्रयोग, वर्णन प्रकार आदि दृष्टियों से व्यासजी बाणभट्ट की कादम्बरी से प्रभावित से दिखाई देते हैं, किन्तु उनके उपन्यास का सम्पूर्ण रूप शिल्प बंकिमचन्द्र के उपन्यासों के अधिक निकट है। इस प्रकार प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों शैलियों के सुन्दर सम्मिश्रण से ''शिवराजविजय'' में एक अपूर्व शैली का सृजन हो गया है।

पण्डित अम्बिकादत्त व्यास का शब्दभाण्डार अक्षय है। संस्कृत की शब्द सम्पत्ति से तो वे धनवान् थे ही, अनेक नवीन शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने अत्यन्त सहजता से किया है। यथा काचमंजूषा (लालटेन), तानपूरिका (तानपूरा नामक वाद्य), निष्ठ्यूतादानभाजन (पीकदान), आदरसूचकसंकेत (सलाम), अरुणश्मश्रु (मुसलमान), चिल्लीभूत (चकाचौंध), उपनेत्र (चश्मा), चक्षुभ्रमरिका (नेत्रभ्रम) आदि।[56]

व्यासजी ने अनेक व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का भी संस्कृत रूपान्तर कर लिया यथा अपजलखान (अफज़लखाँ), राजपुत्रदेश (राजपूताना), पुण्यनगर (पूना), चित्रपूरदुर्ग (चित्तौड़), रामयान (रमज़ान), भज्जित (मस्जिद), रसनारी (रोशनआरा), मायाजिह्म (मुअज्ज़म), गिरिग्राम (गुड़गाँव) आदि।[57]

6. **उद्देश्य**—संसार में प्रत्येक कार्य सोद्देश्य होता है। अतः प्राचीन अथवा आधुनिक—प्रत्येक दृष्टि से काव्यरचना का भी कोई उद्देश्य होना चाहिए। विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने चतुर्वर्ग प्राप्ति आदि अनेक काव्योद्देश्यों का कथन किया था, किन्तु आचार्य मम्मट द्वारा कथित काव्य के प्रयोजन समन्वयात्मक होने के कारण सर्वाधिक समादृत हुए।[58] आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार काव्य का प्रयोजन है—लेखक या कवि के जीवन-दर्शन तथा विशिष्ट विचारों की अभिव्यक्ति, किन्तु इस अभिव्यक्ति से कथा की रोचकता व्याहत नहीं होनी चाहिये। उद्देश्य के संबंध में इन दोनों प्राचीन एवं अर्वाचीन दृष्टिकोणों को यदि सूक्ष्मतया देखें, तो अधिक वैभिन्य नहीं है। ''शिवराजविजय'' उद्देश्य की दृष्टि से भी पर्याप्त सफल रचना है। कवि के जीवन का विशेष आदर्श भी उपन्यास के पात्रों के क्रियाकलाप में निरन्तर प्रतिबिम्बित हुआ है और अन्य प्रयोजन भी सहज ही सिद्ध हो गए हैं।

वस्तुतः ''शिवराजविजय'' उपन्यास की भूमिका में स्वयं पंडित अम्बिकादत्त व्यास ने ''निर्माणहेतु'' लिखकर इस रचना का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है।[59] तदनुरूप व्यासजी ने अपनी रचना का मुख्य प्रयोजन संस्कृत में नई काव्य विधा की रचना करना, हिन्दू धर्म पर होने वाले अत्याचारों का प्रदर्शन करना, जातीय गौरव एवं धर्म की प्रतिष्ठा करना तथा

---

56. शिवराजविजय; पृष्ठ 61, 208; 76; 87; 88; 110; 111; 170, 503, 508; 263

57. शिवराजविजय, पृष्ठ 38; 39, 89; 35, 85; 127; 208; 245, 287, 462; 280; 314; 449

58. काव्यप्रकाश—1/2— काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

59. शिवराजविजय-निर्माणहेतुः—परं मया तु सनातनधर्मधूर्वह—शिवराज—वर्णनेन रसना पावितैव, प्रसंगतः सदुपदेशानिर्देशैः स्वब्राह्मण्यं सफलितमेव, ऐतिहासिककाव्यरुचीनि स्वमित्राणि रंजितान्येव, चिरमस्मत्पूर्वजैः पराशरपाराशरादिभिरुपासिता संस्कृतभाषा सेवितैव, चक्षुषी निमील्य, सविशेषं साक्षात्कृता पीयूष-पूर-पूर्णैरिव दृक्पातै-रुज्जीवयन्ती पारिजातकुसुम-वर्णिभिरिव वचनैरुपदिशन्ती जननी सरस्वती समाराधितैव, सद्यः परनिर्वृत्तिश्च समासादितैव।.....

अपने संदेश को जन-जन तक पहुँचाना ही निर्धारित किया। ''शिवराजविजय'' का अध्ययन मनन करने वाले सभी रसिक विद्वान एक स्वर में सहमत होंगे कि पंडित अम्बिकादत्त व्यास अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णकाम हुए।

अन्ततः भारतरत्न डॉ. भगवानदास ने इस उपन्यास की प्रशंसा मे जो उद्गार व्यक्त किये थे, उन्हीं को उद्धृत करना सर्वाधिक समीचीन होगा—''शिवराजविजय में भाषा उत्तमोत्तम, ओजस्विनी भी, अर्थपूर्ण भी, सुबोध्य भी; यथास्थान, यथावसर, उद्दाम भी, कोमल भी। नवों रस भी इसमें बहुत औचिती और दक्षता से रखे हैं; वीररस, जिसका अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में प्रायः अभाव ही है, वह इस ग्रन्थ में प्रधान है:शृंगार भी है और सर्वथा सात्विक, सुश्लील, कोमल, प्रीतिरूप, कहीं भी अश्लीलता आने नहीं पाई है; युद्धों के प्रसंग में रौद्र, भयानक, बीभत्स का और वीर के सम्बन्ध में अद्भुत का रूप बहुत पर्याप्त मात्रा में दिखा दिया है। राजनीति और चारचातुर्य और रण-कौशल का भी निरूपण बहुत सुन्दर है। सर्वोपरि गुण इसका यह है कि विषय ऐतिहासिक, अधिकांश वास्तविक हैं:जिन भावों का अर्वाचीन संस्कृत ग्रन्थों में सर्वथा अभाव है।......इसका जितना प्रचार हो, उतना अच्छा है।''

हृषीकेश भट्टाचार्य

श्री व्यास के उपरान्त पण्डित हृषीकेश भट्टाचार्य शास्त्री उल्लेखनीय संस्कृत गद्यकार हैं जिन्होंने समसामयिक विषयों पर सुन्दर निबन्ध लिखकर संस्कृत साहित्य में निबन्ध लेखन की नवीन विधा का सूत्रपात किया। श्री भट्टाचार्य का समय 1850 ई. से 1913 ईस्वी था। इन्होंने 'विद्योदय' नामक संस्कृत पत्रिका में सहज, सरस एवं व्यंगविनोदपूर्ण शैली में अनेक निबन्ध लिखे, जिनके विषयों की विविधता एवं नूतनता की विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर भी इनके निबन्धों से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। 1930 ईस्वी में श्री पद्मसिंह शर्मा तथा डॉ. हरिदत्त शास्त्री एकादशतीर्थ ने श्री हृषीकेश शास्त्री भट्टाचार्य के निबन्धों का संग्रह 'प्रबन्धमंजरी' नाम से प्रकाशित किया। यह ग्यारह निबन्धों का संग्रह है जिनमें उद्भिज्ज परिषद, उदरदर्शनम्, महारण्यपर्यवेक्षणम्, संस्कृतभाषाया वैशिष्ट्यम् मुख्य हैं। श्री हृषीकेश भट्टाचार्य की शैली वैदर्भी है। पदविन्यास सरल एवं सहज है। भाषा के प्रवाह, शैली की सुबोधता तथा रसाभिव्यक्ति के द्वारा ये निबन्ध सहृदय जनों को मुग्ध कर देते हैं। संस्कृत में व्यंग्यशैली (सैटायर) का प्रथम प्रादुर्भाव इन्हीं निबन्धों से माना जाएगा।

पण्डिता क्षमाराव

आधुनिक संस्कृत गद्यकारों में पण्डिता क्षमाराव का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनका समय 1890 ईस्वी से 1954 ईस्वी है। इन्होंने छोटी बड़ी मिलाकर पचास से अधिक पुस्तकें संस्कृत में लिखीं। 1933 ईस्वी में इनका प्रथम कथासंग्रह 'कथापंचक', 1954 ईस्वी में द्वितीय कथासंग्रह 'ग्रामज्योतिः' तथा 1956 ईस्वी में तृतीय कथासंग्रह

'कथामुक्तावली' प्रकाशित हुए। इनके अन्य विभिन्न ग्रन्थ साहित्य की अन्य विधाओं में उपलब्ध होते हैं। क्षमाराव की रचनाओं में प्रसाद और माधुर्य गुण अत्यधिक मात्रा में हैं। प्रकृतिवर्णन बहुत रोचक एवं व्यापक है। पण्डिता क्षमाराव ने देश-विदेश का पर्याप्त भ्रमण किया था अत: उन स्थलों के वर्णन में वहाँ का सजीव वातावरण प्रस्तुत किया गया है। इनकी भाषा एवं शब्दावली भावानुरूप है। रचनाओं में क्षमाराव की विविध शास्त्रज्ञता तो स्थल स्थल पर परिलक्षित होती है किन्तु पाण्डित्य प्रदर्शन का दुराग्रह कहीं नहीं है। इनके ग्रन्थों में स्त्री शिक्षा, देशभक्ति, भारतीय संस्कृति, अहिंसा दर्शन, विधवा विवाह, सामाजिक कुरीतियों आदि का पर्याप्त चित्रण है। पण्डिता क्षमाराव का गद्य उत्कृष्ट साहित्यिक गद्य का निदर्शन है।

वर्तमान युग में भी निरन्तर संस्कृत गद्यकाव्य रचे जा रहे हैं। इनमें पण्डित मेधाव्रताचार्य का 'कुमुदनी चन्द्र', श्रीमती राजम्मा का 'चन्द्रमौलि', पण्डित वृद्धिचन्द्र शास्त्री का 'आदर्शदम्पती', भट्ट मथुरानाथ शास्त्री का 'आदर्शरमणी', टी.के. गणपति शास्त्री का 'सेतुयात्रानुवर्णनम्', श्री नारायण शास्त्री खिस्ते का 'विद्वच्चरित्रपंचकम्' तथा डॉ. रामशरण त्रिपाठी का 'कौमुदीकथाकल्लोलिनी' आधुनिक गद्यकाव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने अपनी पुस्तक में बीसवीं शती के गद्यकारों तथा गद्यकाव्यों की एक पर्याप्त विस्तृत सूची देकर अत्यन्त सराहनीय कार्य किया है।

7

कथा साहित्य

कथा-आख्यान-कहानी मानव जीवन का अभिन्न अंग है। इतिहास के किसी अत्यन्त सुदूरपूर्व समय में अवकाश के समय बैठे किसी सहृदय रसिक मानव ने कल्पना के रेशमी तन्तुओं का ताना बाना बुन कर जिस मनोरंजक, कौतूहलपूर्ण घटना अथवा पात्र का एक सजीव-सा आकर्षक साहित्य-चित्र प्रस्तुत किया होगा, उसी दिन कथा ने जन्म ले लिया। आबालवृद्ध सभी के मनों के अपार कौतूहल और उत्सुकता को शान्त करने में समर्थ तथा रोचकता एवं मनोरंजकता से परिपूर्ण कथा या कहानी समय व्यतीत करने का सुन्दर साधन है। परिवार के बच्चों से घिर कर उन्हें परीलोक, दैत्यलोक अथवा देवताओं के मध्य विचरण कराती हुई नानी या दादी की कहानियाँ सुनने का लोभ किसे नहीं हो आता। इस प्रकार इस साहित्य विधा—कथा की महत्ता सर्वविदित ही है।

सम्पूर्ण विश्वसाहित्य में भारतीय कथासाहित्य का अपना एक विशिष्ट स्थान है। कथा साहित्य का उद्गम भारत भूमि पर ही हुआ था, यद्यपि इसकी महत्ता एवं गौरव को हमने पाश्चात्य विद्वानों के स्वीकार करने के बाद ही सराहा। विश्व-साहित्य को भारतीय साहित्य की जो देन है, उसमें कथा साहित्य का बहुत बड़ा योगदान है। भारत से ही आख्यान अथवा कथा ने अपना भ्रमण प्रारम्भ किया और अत्यन्त त्वरित गति से सभी सभ्य देशों के साहित्य में व्याप्त हो गई। ग्रीस की विख्यात ईसप की कहानियों तथा अरब की मनोरंजक कथाओं 'अरेबियन नाइट्स' की आधारभूत भारतीय कथाएँ ही हैं। "भारत वर्ष के तीनों महनीय धार्मिक सम्प्रदायों ने कथा तथा आख्यान का उपयोग अपने सिद्धान्तों के विशद प्रचार-प्रसार के लिए किया है। वैदिक, जैन तथा बौद्ध—ये तीनों ही कथा-कहानियों के धनी हैं, जिनका उद्देश्य केवल धार्मिक तथ्यों का विवरण देना न होकर व्यावहारिक उपदेश देना भी अन्यतम तात्पर्यों में से है।"[1]

भारत में कथा का उद्गम पूर्व वैदिक युग से भी पूर्व पहुँचता है। ऋग्वेद में अनेक आख्यान प्राप्त होते हैं। ये आख्यान संवाद सूक्तों के रूप में है जिनमें दो या तीन पात्रों में परस्पर कथात्मक संवाद हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न स्तुतिपरक सामान्य सूक्तों में भी विभिन्न देवों के सम्बन्ध में अनेक मनोरंजक किंवा शिक्षाप्रद आख्यानों के संकेत प्राप्त होते

1. उपाध्याय, बल्देव—संस्कृत साहित्य का इतिहास-द्वितीय खण्ड-पृष्ठ 43।

हैं। संहिता में जो कथाएँ अत्यन्त संक्षिप्त रूप में दी गई हैं अथवा संकेतमात्र हैं, उनका विस्तृत वर्णन एवं स्वरूप शौनक ऋषि के 'बृहद्देवता' में उपलब्ध होता है। यास्क ने अपने निरुक्त में, षड्गुरुशिष्य ने कात्यायन सर्वानुक्रमणी की अपनी 'वेदार्थदीपिका' व्याख्या में तथा सायण ने अपने वेदभाष्य में इन कथाओं के रूप तथा आधार को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। पन्द्रहवीं शती ईस्वी में गुजरात के द्याद्विवेद नामक विद्वान् ने "नीतिमंजरी" नामक ग्रन्थ में वैदिक आख्यानों को नीतिकथाओं के रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें वैदिक कथा भाग गद्य में दिया गया है और उनसे प्राप्त उपदेशात्मक अंश पंचतंत्र के सदृश ही पद्य में उपनिबद्ध किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी संहिता के ही आख्यानों ने विकसित होकर किंचित् परिवर्तित स्वरूप धारण कर लिया है। उपनिषदों में विभिन्न कथाएँ पशु पक्षी आदि पात्रों के माध्यम से अधिक विकसित रूप में प्राप्त होती हैं।[2] कल्पना तथा अतिशयोक्ति से समन्वित पुराण साहित्य अनेक कथाएँ प्रस्तुत करता है। रामायण में अनेक विस्तृत कथाएँ भी हैं और अनेक कथाएँ उपमाओं के द्वारा संकेतित भी की गई हैं। महाभारत तो कथाओं का भाण्डार रूप ही है, जिसमें 'पंचतन्त्र' की कथा के लिए उपयोगी पूरी सामग्री मिलती है। पुराणों, रामायण एवं महाभारत में उन वैदिक आख्यानों का स्वरूप अवश्य परिवर्तित हो गया है किन्तु स्वरूपगत मूल संकेत पुरातन ही है। भरहुत के स्तूप (3 री शती ईसा पूर्व) पर पशुकथाओं के नाम उत्कीर्ण हैं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'काकोलूकीयवत्' तथा 'काकतालीयवत्' आदि कह कर कथाओं को ही संकेतित किया है।[3]

जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों ने भी अपने धर्म एवं दर्शन के प्रसार के लिए कथाओं का पर्याप्त आश्रय लिया तथा इन दोनों धर्मों के संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा में लिखे गए विभिन्न ग्रन्थ कथा साहित्य में समृद्ध हैं। इस दृष्टि से बौद्धों की जातक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। ये संख्या में 550 हैं। तथागत बुद्ध के पूर्व जन्मों की ये कथाएँ वस्तुतः बुद्ध उपदेशों से सम्बद्ध हैं जिन्हें अधिक स्पष्ट कर देने के लिए कथा के रूप में कहा गया है। ये जातक कथाएँ भारतीय परम्परा में निरन्तर विकसित होती हुई लोक कथाओं का सुन्दर दिग्दर्शन करती हैं। अनेक जातक कथाओं का पंचतन्त्र की कथाओं से अद्भुत साम्य है। जैन साहित्य भी कथाओं की दृष्टि से परम उपयोगी है। अत्यन्त प्रारम्भ से ही जैन मुनियों ने अपने धार्मिक उपदेशों को जनमानस में गहरे उतार देने के लिए कथाओं का पर्याप्त अवलम्ब लिया। हरिषेण रचित वृहत्कथा कोश में एक एक जैन सिद्धान्त के लिए अनेक कथाएँ कही गई हैं। इस प्रकार भारत में वैदिक समय के पूर्व से लेकर निरन्तर कथा-साहित्य के सूत्र उपलब्ध होते चलते हैं जो कथा की लोकप्रियता का ज्ञान कराते हैं।

संस्कृत में कथासाहित्य के महत्त्व और अनुपमेयता के अनेक कारण हैं। साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति इसमे इतिहास अथवा पौराणिक वस्तु नहीं होती, अपितु कवि मन की शुद्ध कल्पनाओं का रुचिर विस्तार होता है। इस कल्पना में घटनाओं की

2. छान्दोग्य उपनिषद 1/12/2; 4/1-; 4/5, 7, 8-
3. अष्टाध्यायी 2/1/3; 2/49, 5/3/106 आदि पर महाभाष्य

मौलिकता, विविधता, हास्य विनोद, गम्भीर उपदेश, सारपूर्ण नीति तथा सरस कविता का ऐसा सुन्दर समन्वय होता है जो पाठक अथवा श्रोता को हठात् अपनी ओर आकृष्ट करके एक ऐसे विचित्र लोक में ले जाता है जहाँ मानव की सहज कौतुक वृत्ति को विश्रान्ति प्राप्त होती है।

सम्पूर्ण संस्कृत कथा साहित्य को स्वरूप की दृष्टि से प्रमुखतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. उपदेश परक नीति कथाएँ
2. मनोरंजनात्मक लोककथाएँ

डॉ. कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार ''कथा साहित्य को चार भागों में बाँटा जाता है—अद्भुत कथा (Fairy Tales), लोककथा (Marchen), कल्पितकथा (Myths) और पशु कथा (Fables)। व्यावहारिक दृष्टिकोण से संस्कृत कथा साहित्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है—1. नीतिकथा (उपदेशात्मक पशुकथा) (Didactic Fables) और 2. लोककथा (Popular Tales)। लोककथा में ही अद्भुत कथा और कल्पित कथा का भी समावेश हो जाएगा।''[4]

नीति कथाएँ

भारतभूमि मे सदैव ही धर्म तथा कर्त्तव्य पालन पर अत्यधिक बल दिया गया है। धर्म एवं सदाचरण आदि के संस्कार भारत में व्यक्ति को बाल्यावस्था से ही दिए जाने लगते हैं। संस्कारों को हृदय में बद्धमूल कर देने के लिए आदर्श कथन की प्रवृत्ति प्रायः कथाओं के रूप में ढल जाया करती है। इसी का हृदयावर्जक परिपाक नीतिकथा में हुआ। इन नीतिकथाओं के द्वारा धर्म, अर्थ तथा काम—इस त्रिवर्ग की व्यावहारिक शिक्षा प्रदान की जाती है। सदाचार, राजनीति, लौकिक व्यवहार आदि के सहज अथवा गम्भीर, सरल अथवा गूढ़ सभी विषयों को मनोरंजनात्मक शैली में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि कोमल तथा सरल बुद्धि बालक भी उन विषयों को भली प्रकार समझ कर व्यवहारकुशल बन सकें। जीवन की दुर्गम राह पर पगे पगे जिस छल-कपट-प्रवचंना में फँस कर व्यक्ति अनायास धन-सम्पत्ति, सम्मान-सुख तथा शान्ति से हाथ धो बैठता है, उन स्थितियों से भी ये नीतिकथाएँ मनुष्य को सावधान कर देती हैं। इन नीतिकथाओं के पात्र मानव जाति के न होकर पशु एवं पक्षी रखे गए हैं जो नितान्त मनुष्यवत् ही आचरण करते हैं। इन पशुपक्षियों में राग-द्वेष, मित्रता-शत्रुता, लोभ, छल आदि सारे भाव मनुष्य सदृश ही होते हैं और वे अपने हित अनहित, मान-अपमान आदि का ध्यान भी मनुष्यों के समान ही रखते हैं। मनुष्य की अपेक्षा पशु पक्षी पात्रों के कारण इन नीतिकथाओं में एक विशिष्ट रोचक तथा मनोरंजक वातावरण की अनायास सृष्टि हो गई है। इन कथाओं की भाषा भी सरल एवं बोधगम्य तथा शैली हृदयावर्जक तथा प्रवाहमय है। कहीं भी कवि का पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं दिखाई देता। नीतिकथाओं का मुख्य वर्णन प्रायः गद्य में होता है किन्तु

4. द्विवेदी, कपिलदेव—संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास-पृष्ठ 571

उपदेशात्मक तत्त्व अथवा सार रूप नीति को पद्य में प्रस्तुत किया जाता है। वक्तव्य की पुष्टि में कहे गए ये श्लोक विभिन्न नीतिग्रन्थों से संगृहीत हैं। प्रसंग के अनुसार स्थल स्थल पर नीतिग्रन्थों से सुभाषित भी दिए गए हैं। इन कथाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक कथा प्रधान होती है जिसमें से स्थल स्थल पर सहज रूप में अवान्तर कथाएँ उद्‌भूत होती रहती हैं। मुख्य कथा के पात्र अपने कथन अथवा व्यवहार के सम्बन्ध में अवान्तर गौण कथाओं का पुट देते चलते हैं जिससे कथा में आकर्षण एवं मनोरंजकता की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती है।

पशु पक्षियों के माध्यम से नीतिकथन की प्रथा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। वेद, उपनिषद्, रामायण आदि में अनेक नीतिकथाएँ उपलब्ध होती हैं। महाभारत में विदुर ने अनेक नीतिकथाएँ कही हैं। भरहुत के स्तूप (तृतीय शती ईसा पूर्व) पर अनेक नीतिकथाओं के नाम खुदे हैं। बौद्ध जातकों तथा जैन साहित्य में भी नीति या उपदेशात्मक कथाएँ प्रचुरता से प्राप्त होती हैं। डॉ. मैक्डानल ने अपने संस्कृत साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ में 668 ई. के एक चीनी विश्वकोष का उल्लेख किया है जिसमें 200 बौद्ध ग्रन्थों से ग्रहण की गई अनेक भारतीय कथाओं का अनुवाद प्राप्त होता है।[5] यहाँ नीतिकथात्मक प्रमुख ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

पंचतन्त्र

संस्कृत नीतिकथा साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पंचतन्त्र है। यह जिन कथाओं का संग्रह है, वे भारत में बहुत प्राचीन हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह उल्लेख आया है कि दक्षिण के महिलारोप्य नामक नगर में अमरकीर्ति नामक राजा थे। अपने तीन मूर्ख पुत्रों को, विद्वान् तथा नीतिज्ञ बना देने के लिए उन्हें एक योग्य गुरु की खोज थी। पण्डित विष्णुशर्मा ने छह महीने में यह कठिन कार्य सम्पन्न कर देने का प्रण किया तथा नीतिपूर्ण एवं लोकव्यवहार से सम्पन्न विभिन्न मनोरंजक कथाओं के द्वारा अत्यल्प समय में ही उन तीनों राजकुमारों को चतुर, सदाचारसम्पन्न तथा नीतिकुशल बना दिया। 'कथाच्छलेन बालानां नीतिः तदिह कथ्यते।' यही कथा भण्डार पंचतन्त्र है।

सम्प्रति, पंचतन्त्र अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं होता। इसका समय भी विवादास्पद ही है। अपने मूल रूप में प्राप्त न होने से ही पंचतन्त्र का रचनाकाल निर्धारण कर सकना अत्यन्त कठिन है। छठी शती ईस्वी में भारत एवं फारस का घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर वहाँ के प्रसिद्ध तथा न्यायी राजा खुसरो अनुशेरखाँ (531-579 ई.) का ध्यान पंचतन्त्र की ओर आकृष्ट हुआ। उनकी सभा में संस्कृत के ज्ञाता 'बुरजोई' नामक हकीम थे। इसी व्यक्ति ने राजा की आज्ञा से सर्वप्रथम पंचतन्त्र का अनुवाद पहलवी (प्राचीन फारसी) भाषा में 533 ई. में किया। किन्तु यह प्रथम अनुवाद भी आज उपलब्ध नहीं है। इस अनुवाद के पचास वर्ष के भीतर ही 'बुद' नामक एक ईसाई पादरी के पंचतन्त्र के पहलवी अनुवाद से सीरियन भाषा में अनुवाद (750 ई.) किया , जिसका नाम 'कलिलग दमनग'

5. मैक्डॉनल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर-पृष्ट 370

था। 750 ई. में अब्दुल्ला बिन अलमुकफ्फा नाम एक मुसलमान ने सीरियन से अरबी भाषा में अनुवाद किया जिसका नाम 'कलीलह दिमनह' था। 780 ई. में अब्दुल्ला बिन हवाजी ने पंचतन्त्र के प्रथम पहलवी भाषा के अनुवाद को अरबी भाषा में अनूदित किया। पंचतन्त्र के अरबी भाषा के ये प्रसिद्ध अनुवाद हैं। इन सारे अनुवादों से यह स्पष्ट हो जाता है कि छठी शती तक पंचतन्त्र की कथाएँ भारत से बाहर भी अत्यन्त लोकप्रिय हो चुकी थीं। इससे यह भी प्रत्यक्ष है कि छठी शती ई. से कई सौ वर्षों पूर्व 'पंचतन्त्र' भारत में प्रसिद्ध हो चुका होगा। 'पंचतन्त्र' में चाणक्य का उल्लेख आया है अत: यह रचना तृतीय शती ईसा पूर्व से पहले की नहीं हो सकती। पंचतन्त्र पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। पाश्चात्य विद्वान् 'अर्थशास्त्र' का रचनाकाल द्वितीय शती ईस्वी स्वीकार करते हैं। पंचतन्त्र में 'दीनार' शब्द का प्रयोग आया है किन्तु इस प्रयोग को विद्वान बाद में जोड़ा गया मानते हैं। इन आधारों पर पञ्चतंत्र का रचनाकाल 300 ई. के लगभग स्वीकार किया जाता है।

"पंचतन्त्र के परीक्षण से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में इस ग्रन्थ में बारह भाग रहे होंगे"[6], किन्तु सम्प्रति इसमें पाँच तन्त्र ही प्राप्त होते हैं। ग्रन्थ के नामकरण में आया हुआ यह 'तन्त्र' शब्द ग्रन्थ के खण्डों अथवा विभागों का द्योतक हैं; साथ ही यह शब्द 'नीतिपूर्ण शासनविधि' अर्थ को भी प्रगट करता है। 'पंचतन्त्र में नीतियुक्त शासनविधि के पाँच तन्त्र (गुर) बताए गए हैं।'

पंचतन्त्र के पाँचों तन्त्रों में मुख्य कथा तो एक-एक है किन्तु उस मुख्य कथा की पुष्टि के लिए बीच बीच में अनेक गौण कथाएँ आई है। ये पाँच तन्त्र संक्षिप्तत: इस प्रकार हैं—

1. **मित्रभेद**—इस तन्त्र की मुख्य कथा में पिंगलक नामक सिंह तथा संजीवक नामक बैल की मित्रता को दमनक तथा करटक नामक दो सियार प्रपंचपूर्वक नष्ट करा देते हैं। यही मित्रभेद इस तन्त्र की नीति शिक्षा है जिसे अन्य बाईस गौण कथाओं से अत्यन्त रोचक नीति प्रतिपादन के द्वारा पुष्ट किया गया है। इन विभिन्न कथाओं में कौआ, सियार, बन्दर, बगुला, केकड़ा, शेर, जूँ, खटमल, ऊंट, टिट्टिभ, कछुआ, साँप, नेवला आदि पशु पात्र हैं जो मानववत् आचरण करते हैं। कुछ कथाओं के पात्र मनुष्य भी हैं।

2. **मित्रसंप्राप्ति**—जीवन में मित्र की उपयोगिता रूपी नीति शिक्षा देने वाले इस द्वितीय तन्त्र में मुख्य कथा लघुपतनक कौआ, मन्थरक कछुआ,चित्रांगमृग तथा हिरण्यक नामक मूषक की है जिसे छह अन्य गौण कथाओं के द्वारा अत्यन्त आकर्षक बना दिया गया है।

3. **काकोलूकीय**—इस तृतीय तन्त्र में मेघवर्ण नामक कौआ पहले स्वार्थसिद्धि के लिए अरिमर्दन नामक उलूकराज से मित्रता करता है और फिर कपटपूर्वक उसका नाश कर देता है। इस मुख्य कथा के द्वारा साम, दान, दण्ड, भेद आदि चारों उपायों के समुचित प्रयोग की राजनीति शिक्षा प्राप्त होती है तथा सत्रह गौण कथाएँ इस मुख्य कथा

6. मैकडॉनल—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ 370

का पोषण करती हैं।

4. लब्ध प्रणाश—कार्य उपस्थित होने पर जो अपनी बुद्धि का सही उपयोग कर पाता है वही संकट से बचता है—यह नीति शिक्षा इस चतुर्थतन्त्र में रक्तमुख नामक वानर और करालमुख नामक मगर की मुख्य कथा से स्पष्ट होती है। ग्यारह अवान्तर कथाएँ भी इसी नीति की उद्घोषणा करती हैं। इस तंत्र में वानर का चातुर्य आश्चर्यजनक है।

5. अपरीक्षितकारक—भली प्रकार विचार किए बिना कोई कार्य नहीं करना चाहिए—इस नीति की शिक्षा देने वाली पंचम तन्त्र की मुख्य कथा के पात्र मनुष्य जाति के मणिभद्र नामक सेठ एवं एक नाई हैं। चौदह अन्य गौण कथाएँ मुख्य कथा का ही साहाय्य करती हैं। इस तन्त्र की अधिकांश (14 में से 11) कथाओं में मानव पात्र ही हैं।

जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है, पंचतन्त्र विश्वसाहित्य का समादृत रत्न है। पंचतन्त्र को यह समादरणीय स्थान अपनी कथा उपस्थापन की अभूतपूर्व रोचक शैली के कारण प्राप्त हुआ है। अधिकांश कथाओं के पात्र तिर्यक् योनि के प्राणी हैं इसी कारण ये कथाएँ व्यक्ति, समाज, धर्म, जाति, देश आदि की सीमाओं से ऊपर उठकर सम्पूर्ण विश्व की सम्पत्ति बन सकीं। मूलतः बालकों को शिक्षा देने के लिए इस कथाग्रन्थ का प्रणयन हुआ था, इसीलिए इसकी भाषा एवं शैली नितान्त सरल एवं प्रसादपूर्ण है। संवाद अत्यन्त विनोदपूर्ण एवं सरस हैं। पाँचों तन्त्रों में गद्य भाग के अतिरिक्त लगभग ग्यारह सौ पद्य हैं जिनमें से अनेक पद्य रामायण, महाभारत, पाली के जातक संग्रह तथा अनेक प्राचीन ग्रन्थों से ग्रहण किए गए हैं। लगभग तीस पद्य ऐसे भी हैं जो पुनरावृत्त हुए हैं।

अर्थ, धर्म, काम, लोक, दण्ड तथा राजनीति आदि की हृदयावर्जक शिक्षा देना पंचतन्त्र का वैशिष्ट्य है। इसीलिए भिन्न भिन्न विषयों से सम्बद्ध तथा अति प्रसिद्ध रहे इसके कुछ पद्यों को देना प्रासंगिक एवं समुचित ही है।

वर्तमान जीवन की भौतिकता ने धन को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। पंचतन्त्र के समय में भी धन का परम महत्त्व था। सदाचरण, पवित्रता, सहनशीलता, उदारता, मधुरता, कुलीनता आदि गुण धनहीन व्यक्ति में सुशोभित नहीं होते थे—

शीलं शौचं क्षान्तिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म।
न विराजन्ति हि सर्वे वित्तहीनस्य पुरुषस्य॥ (5/2)

धन से सम्बद्ध प्रत्येक कार्य ही कष्टदायी है फिर भी इस धन के लिए प्रत्येक लालायित रहता है अतः इस धन को धिक्कार है—

अर्थानामर्जने दुखमर्जितानां च रक्षणे।
आये दुखं व्यये दुखं धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः॥ (1/174)

संसार में भाग्य सर्वाधिक प्रबल होता है। भाग्य से रक्षा होने पर ही व्यक्ति सुरक्षित रहता है और भाग्य के विपरीत हो जाने पर नष्ट हो जाता है—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति॥ (1/20)

पंचतन्त्र में भाग्यवाद का प्रबल समर्थन है इसीलिए लेखक ने उपस्थापित किया है कि

विधाता ने मनुष्य का जो प्राप्तव्य निश्चित कर दिया है, उसे कोई दूसरा ले ही नहीं सकता—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः, दैवोऽपि तं लंघयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे, यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम॥ (2/112)

जीवन में शत्रु और रोग इन दोनों को उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिए अन्यथा ये दोनों बढ़ जाने पर जीवन ही नष्ट कर देते हैं—

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिं च प्रशमं नयेत्।
अतिपुष्टांगयुक्तोऽपि स पश्चात्तेन हन्यते॥ (3/3)

अवशिष्ट रहे हुए ऋण, अग्नि, शत्रु और व्याधि को सम्पूर्णतया निःशेष कर देने वाला बुद्धिमान् कभी दुखी नहीं होता—

ऋणशेषं चाग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च।
व्याधिशेषं च निःशेषं कृत्वा प्राज्ञो न सीदति॥ (3/241)

कन्या के विवाह के लिए व्याकुल पिता अथवा अभिभावक को वर में किन किन गुणों का सन्धान करना चाहिए—इसके लिए यह अपूर्व श्लोक द्रष्टव्य है—

कुलं च शीलं च सनाथता च, विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च।
एतान्गुणान्सप्त विचिन्त्य देया, कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्॥ (3/210)

जीवन में सच्चा मित्र पा सकना अत्यन्त कठिन है। पंचतन्त्र में सन्मित्र का संक्षिप्त लक्षण कितने सरल किन्तु सारगर्भित शब्दों में प्रस्तुत किया गया है—

ददाति प्रतिगृह्णाति, गुह्यमाख्याति पृच्छति च।
भुङ्क्ते भोजयते चैव, षड्विधं सन्मित्रलक्षणम्॥ (2/51)

जीवन के बहुरंगे रंगमंच पर सुख दुख के विभिन्न अनुभवों से परिपक्व बने हुए कवि के निम्नांकित श्लोक प्रत्येक रसिक के मन में गहरे उतर जाते है—

गुणवत्तरपात्रेण छाद्यन्ते गुणिनां गुणाः।
रात्रौ दीपशिखाकान्तिर्न भानावुदिते सति॥ (1/310)
बहूनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः।
तृणैरावेष्ट्यते रज्जुर्येन नागोऽपि बध्यते॥ (1/361)
मूर्खाणां पंडिता द्वेष्या निर्धनानां महाधनाः।
व्रतिनः पापशीलानामसतीनां कुलस्त्रियः॥ (1/449)
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नाति विश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति॥ (2/45)

पंचतन्त्र का यह सरल विषय प्रतिपादन, भावगाम्भीर्य तथा भाषा का सरल प्रवाह सहज ही श्रोता तथा पाठक के मन को अपने आकर्षण में बाँध लेता है।

यह पहले भी कहा जा चुका है कि पंचतन्त्र अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं होता किन्तु उसके कई परिवर्तित संस्करण उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर मूल ग्रन्थ की भाषा शैली तथा विषय का आभास हो जाता है। पहलवी भाषा में पंचतन्त्र का जो अनुवाद हुआ था

उससे अनूदित सीरियन एवं अरबी संस्करणों का कथन किया ही जा चुका है। गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' में भी पंचतन्त्र का उपयोग हुआ था। 'वृहत्कथा' भी अनुपलब्ध है; किन्तु वृहत्कथा के ही रूपान्तर ग्यारहवीं शती ईस्वी के सोमदेव कृत 'कथा सरित्सागर' में पंचतन्त्र के पाँचों ही भाग तनिक विषयान्तर सहित प्राप्त हो जाते हैं। 'तन्त्राख्यायिका' (300 ई.) नामक ग्रन्थ में पंचतन्त्र के मूल रूप का बहुत भाग सुरक्षित है। महाकवि भारवि (600 ई.) के बाद का एक दक्षिण भारतीय संस्करण भी प्राप्त होता है जिसमें कथाएँ संक्षिप्त रूप में दी गई हैं। पूर्णभद्र जैन (1199 ई.) के संस्करण में इक्कीस नई कथाएँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार थोड़े से फेरबदल के साथ सम्प्रति पंचतन्त्र के आठ संस्करण उपलब्ध होते हैं। इन सभी संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर प्रो. एफ. एटगर्टन ने पंचतन्त्र का एक संस्करण सम्पादित किया जो सर्वाधिक प्रामणिक माना जाता है। पंचतन्त्र की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि विश्व की पचास से अधिक भाषाओं में इस ग्रन्थ के 250 से भी अधिक संस्करण प्राप्त होते हैं।

हितोपदेश

पंचतन्त्र के पश्चात् नीतिकथाओं का सर्वाधिक प्रचलित संकलन 'हितोपदेश' नामक ग्रन्थ है। कई विद्वान् तो इसे पंचतन्त्र का ही लघु संस्करण मानते हैं। बंगाल के राजा धवलचन्द्र के आश्रित कवि नारायण पण्डित हितोपदेश के रचयिता हैं। इस ग्रन्थ की रचना 14वीं शती से पूर्व हो चुकी थी क्योंकि 1373 ई. की 'हितोपदेश' की एक पाण्डुलिपि उपलब्ध होती है। डॉ. कीथ के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना 11 वीं शती के बाद की नहीं हो सकती क्योंकि इसमें रुद्रभट्ट का एक पद्य उद्धृत है। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में यह स्वीकार किया है कि पंचतन्त्र तथा अन्य ग्रन्थों के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा जा रहा है—

'पंचतंत्रात्तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते।' इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, सन्धि और विग्रह। प्रथम दो परिच्छेद पंचतन्त्र के प्रथम दो तन्त्रों से ही प्रायः ग्रहण किए गए हैं। इसमें कुल 43 कथाएँ हैं जिनमें से 25 पंचतन्त्र से ही ग्रहण की गई हैं। 'हितोपदेश' में पंचतन्त्र की अपेक्षा पद्यों का अधिक प्रयोग किया गया है। इसमें 679 नीतिविषयक पद्य हैं जो महाभारत, धर्मशास्त्र, पुराण तथा कामन्दकी नीतिसार आदि अनेक ग्रन्थों से ग्रहण किए गए हैं। भारत में संस्कृत के सुगम पठन पाठन की दृष्टि से पंचतन्त्र की अपेक्षा हितोपदेश का प्रचार ही अधिक रहा है। इसी तथ्य से इस ग्रन्थ की सुगमता एवं मनोरंजकता का ज्ञान हो जाता है।

लोककथाएँ

पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत का समस्त कथासाहित्य, नीतिकथा तथा लोककथा में द्विविध रूप में विभाजित किया जा सकता है। नीतिकथा का प्रमुख उद्देश्य उपदेश कथन है जिसमें सरस कथावस्तु के पात्र अधिकांशतया पशु-पक्षी होते हैं किन्तु मनुष्य के सदृश ही भावों, विचारों, घटनाओं आदि का आचरण करते हैं। परन्तु लोककथा

का उद्देश्य शुद्ध मनोरंजन है। साथ ही लोककथा के पात्र पशु-पक्षी न होकर मनुष्य होते हैं। इन मनोरंजक लोककथाओं का वृहत् संग्रह संस्कृत में विद्यमान है।

वृहत्कथा

यह लोककथाओं का सर्वाधिक वृहत् तथा प्राचीनतम संग्रह है। भारतीय परम्परा के अनुसार इसकी रचना महाराज हाल के सभाकवि गुणाढ्य ने की थी। मूल रचना में एक लाख पद्य थे तथा वह पैशाची प्राकृत में उपनिबद्ध थी; किन्तु वह मूल वृहत्कथा अब उपलब्ध नहीं है। इस विशाल कथा संग्रह की रचना कब हुई, यह विषय नितान्त विवादास्पद रहा है। कतिपय विद्वान् इसे पाँचवी शती ईस्वी की रचना स्वीकार करते हैं। डॉ. कीथ के अनुसार यह रचना चतुर्थ शती के बाद की नहीं हो सकती। डॉ. व्यूहलर के अनुसार वृहत्कथा प्रथम अथवा द्वितीय शती ईस्वी की रचना है। भारतीय परम्परा तथा जनश्रुतियों के अनुसार वृहत्कथा की रचना विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुई। नई खोजों से भी इसका समय 78 ईस्वी ही सिद्ध किया जाता है। इस विशाल ग्रन्थ की मूल कथावस्तु संक्षेप में इस प्रकार है—महाराज उदयन का पुत्र राजकुमार नरवाहनदत्त अत्यधिक शक्तिशाली तथा गुणवान् था। एक बार वह अपने परम मित्र गोमुख के साथ वन में परिभ्रमण करने जाता है। वन में वह परम रूपवती विद्याधर राजकुमारी मदनमंजूषा से विवाह कर लेता है। कुछ समय पश्चात् मानसवेग नामक विद्याधर रानी मदनमंजूषा को हरण करके ले जाता है। नरवाहनदत्त अपने स्वामीभक्त मन्त्री गोमुख की सहायता से प्रियतमा को पुनः प्राप्त करता है और विद्याधरों का साम्राज्य प्राप्त करने में भी समर्थ होता है।

यद्यपि वृहत्कथा की मूलकथा में राजकुमार राजकुमारी की प्रणयकथा का चित्रण है, फिर भी इसका कथानक केवल राजसभाओं अथवा राजपरिवारों तक ही सीमित नहीं रहा है। सामान्य मानव जीवन के आनन्द, उल्लास, दुख, व्यथा, आश्चर्य, कुतूहल, वीरत्व, कायरता आदि के विविध भावों से वृहत्कथा की विभिन्न कथाएँ भरी पड़ी हैं। एक में एक परस्पर गुँथे हुए विविध प्रणय प्रसंगों तथा रोमांचकारी अद्भुत यात्रा विवरणों से परिपूर्ण यह लोककथासंग्रह एक रुचिर वातावरण की सृष्टि करता है। यही कारण है कि वृहत्कथा ने परवर्ती संस्कृत किंवा भारतीय साहित्य पर स्थायी प्रभाव अंकित किया। विभिन्न नाट्यकारों, गद्यकारों तथा कवियों ने वृहत्कथा से प्रभूत मात्रा में प्रचुर सामग्री ग्रहण की। जिस प्रकार रामायण एवं महाभारत परवर्ती साहित्य के लिए उपजीव्य काव्य रहे; उसी प्रकार वृहत्कथा ने भी भारतीय साहित्य को निरन्तर अनुप्राणित किया।[7] वृहत्कथा तो अनेक कथाओं का अतलसागर है जिसके बिन्दु मात्र को ग्रहण करके अनेक ग्रन्थ रचे जाते रहे हैं।[8] उदयन और वासवदत्ता के कथा से युक्त भास और हर्ष की नाट्य रचनाएँ

---

7. आर्या सप्तशती 34— श्रीरामायणभारत-वृहत्कथानां कवीन्नमस्कुर्मः।
त्रिस्त्रोतसा इव सरसा सरस्वती स्फुरति यैर्भिन्ना॥

8. धनपाल, तिलकमन्जरी-21— सत्यं वृहत्कथाम्भोधेर्बिन्दुमादाय संस्कृतः।
तेनेतरकथाः कन्था प्रतिभान्ति तदग्रतः॥

वृहत्कथा की ही ऋणी हैं। हर्ष रचित 'नागानन्द' की कथा वस्तु भी वृहत्कथा से ही ली गई है; क्योंकि वृहत्कथा से प्रसिद्ध रूपान्तरों—वृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सागर—दोनों में जीमूतवाहन की कथा उपलब्ध है। शूद्रक के मृच्छकटिक के अनेक पात्रों तथा वर्णनों में वृहत्कथा से अद्भुत साम्य है। दण्डी ने भी दशकुमारचरित की कथावस्तु की संयोजना वृहत्कथा के सदृश ही की है।

संस्कृत साहित्य पर 'वृहत्कथा' के दाय को स्वीकार करते हुए विभिन्न आचार्यों एवं कवियों ने इस ग्रन्थ की अनेकविध भूरि भूरि प्रशंसा की है। आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में 'वृहत्कथा' का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है।[9] बाणभट्ट तो वृहत्कथा को भगवान शिव की लीला के सदृश ही विस्मयावह मानते हैं।[10] त्रिविक्रम भट्ट ने श्लेष प्रयोग करते हुए गुणाढ्य की उपमा धनुष से दी।[11] धनञ्जय (दसवीं शती ई.) ने नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ दशरूपक में तथा गोवर्धनाचार्य (बारहवीं शती ई.) ने आर्या सप्तशती में रामायण और महाभारत के समान ही वृहत्कथा को भी प्रसिद्ध एवं उपजीव्य ग्रन्थ माना और इनके रचनाकारों की सरस्वती को नमस्कार किया।[12] धनपाल ने तिलकमंजरी में 'वृहत्कथा' को एक ऐसा उदधि कहा जिसके एक एक बिन्दु से अन्य कितनी ही कथाओं की रचना हो गई।[13] आजकल 'वृहत्कथा' के तीन संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध होते हैं।

1. वृहत्कथा श्लोक संग्रह—यह बृहत्कथा का प्राचीनतम उपलब्ध अनुवाद है। इसकी रचना नेपाल के बुद्धस्वामी ने आठवीं अथवा नवीं शती में की थी। यह ग्रन्थ भी पूर्ण प्राप्त नहीं हुआ है। जितना अंश उपलब्ध है, उसमें 28 सर्ग और 4524 श्लोक हैं। इसमें यत्र तत्र प्राकृत रूप भी पाए जाते हैं जो सम्भवतः मूल ग्रन्थ के लिए गए होंगे। डॉ. कीथ इसी ग्रन्थ को बृहत्कथा का विशुद्ध रूपान्तर मानते हैं, तथा उन्होंने बुधस्वामी की बहुत प्रशंसा की है—"निस्सन्देह रूप से अपनी कला के लिए बुद्धस्वामी प्रशंसा के योग्य हैं। वे गुणाढ्य के ऋणी है—ऐसा मान लेने पर भी जीवन के प्रति उनकी उल्लासपूर्ण दृष्टि, उनके द्वारा साहस और अद्भुत कार्यों का विचित्र चित्रण, अथवा उनके सुचिन्तित

---

9. काव्यादर्श 1/38—कथा हि सर्वभाषाभिःसंस्कृतेन च बध्यते।
भूतभाषामयीं प्राहुरदभुतार्थां वृहत्कथां॥
10. हर्षचरित—भूमिका श्लोक 17—समुद्दीपितकंन्दर्पा कृतगौरी प्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय वृहत्कथा॥
11. नलचम्पू—धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः।
12. दशरूपक 1/68-रामायणादि च विभाव्य वृहत्कथां च.....।
आर्यासप्तशती— श्रीरामायणवृहत्कथानां कवीन् नमस्कुर्मः।
त्रिस्रोतसा इव सरसा सरस्वती स्फुरति यैर्भिन्ना॥
अतिदीर्घजीविदोषाद् व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त।
कैर्नोच्येत गुणाढ्यः स एवं जन्मान्तरापन्नः॥
13. तिलकमन्जरी 21—सत्यं बृहत्कथाम्भोधेर्बिन्दुमादाय संस्कृतः।
तेनेतरकथाः कन्थाः प्रतिभान्ति तदग्रतः॥

पात्रों का प्रेममय वातावरण और तीव्रता से परिवर्तनशील उन दृश्यों का नानारूपीय प्रदर्शन जिनका वे पात्र भाग्य अथवा अपने ही कृत्यों के कारण अनुभव करते हैं—इन सबसे प्राप्त होने वाले आनन्द में कोई कमी नहीं आती।...वे अपने कलाविषयक प्रावीण्य का प्रदर्शन अंशतः अपने विशाल शब्दकोश द्वारा और अंशतः लुङ्सदृश अप्रयुक्त रूपों के पुनरुद्धार द्वारा करते हैं। उनके विशाल शब्दकोश में अनेक शब्द प्राकृत रूपों के संस्कृतीकरण के लिए गए हैं।.....सामान्यतः उनकी शैली सरल, स्पष्ट और शब्दाडम्बर के बिना प्रवाहयुक्त है। सामान्य रूप से उनमें अलंकार प्रियता प्रायेण नहीं दिखाई देती, परन्तु जो कार्य उन्होंने अपने हाथ में लिया था उसकी विशालता को दृष्टि में रखते हुए उनकी यह कमी बिल्कुल क्षम्य मानी जा सकती है।''[14]

2. बृहत्कथामंजरी—कश्मीर के राजा अनन्त के आश्रित कवि क्षेमेन्द्र ने 1037 ई. में इस ग्रन्थ की रचना की। इसमें अठारह लम्बक तथा 7500 श्लोक हैं। काव्य की दृष्टि से यह उच्चकोटि का ग्रन्थ है किन्तु कथानक में अस्पष्टता है। अतः यह कहना कठिन है कि इसमें मूल कथानक की कितनी रक्षा हो सकी है। कवि ने काव्य को रोचक एवं मनोरम बना देने की दृष्टि से अनेक नवीन कथाओं को भी समाविष्ट कर दिया है जो सम्भवतः उस समय कश्मीर में लोक कथाओं के रूप में प्रचलित रहीं होगी। किन्तु इन नवीन कथाओं से भी इस ग्रन्थ में अधिक सरसता नहीं आ सकी है।

3. कथासरित्सागर—क्षेमेन्द्र के लगभग समसामयिक सोमदेव ने 1063 ई. से 1081 ई. के मध्य इस ग्रन्थ की रचना की थी। सोमदेव भी कश्मीर के राजा अनन्त के ही आश्रित कवि थे। कथासरित्सागर कथा साहित्य का शिरोमणि ग्रन्थ है तथा वृहत्कथा के विभिन्न संस्कृत रूपान्तरों में यही सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ है। इस ग्रन्थ में 18 लम्बक (अथवा लम्भक) हैं जो पुनः 124 तरंगों में विभक्त हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में लगभग बाईस हज़ार (21388) पद्य हैं। विश्वसाहित्य का यह सबसे बड़ा कथा संग्रह है।

कथासरित्सागर के प्रारम्भ में ही सोमदेव ने अपनी ग्रन्थरचना के प्रयोजन को स्पष्ट कर दिया है—''औचित्य तथा प्रतिपाद्यार्थ की रक्षापूर्वक काव्य रस के अविघात को ध्यान में रख कर ही यथाशक्ति काव्यांश की योजना की गई है। मेरा यह उद्यम पाण्डित्य की कीर्ति प्राप्ति के लोभवश नहीं है अपितु विभिन्न कथाओं के समूह को सरलता पूर्वक स्मरण रखने के लिए हैं।''[15] सोमदेव अपने इस प्रयोजन की पूर्ति में वस्तुतः सफल हुए हैं। तत्कालीन भारतीय समाज का अत्यन्त यथार्थ एवं रुचिर चित्रण कथासरित्सागर में हुआ है। क्षेमेन्द्र के विपरीत सोमदेव कथानक संयोजन में अधिक कुशल दिखाई देते हैं। सोमदेव की शैली रसप्रधान, प्रवाहमयी तथा प्रसादगुण सम्पन्न है। एकाधिक उदाहरणों से

---

14. कीथ, ए.बी—संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ 341
15. कथासरित्सागर 1/11-12— औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते।
कथारसाविघातेन काव्यांशस्य च योजना॥
वैदग्ध्यख्यातिलोभाय मम नैवायमुद्यमः।
किन्तु नानाकथाजालस्मृतिसौकर्यसिद्धिये ॥

यह अधिक स्पष्ट हो सकेगा—

विद्येव कन्यका मोहादपात्रे प्रतिपादिता।
यशसे न न धर्माय जायेतानुशयाय तु॥ (5/26)

अर्थात् 'अज्ञानवश कुपात्र को दी गई विद्या की भाँति ही कुपात्र को दी गई कन्या न कीर्ति के लिए होती है और न ही धर्म के लिए; अपितु वह पश्चात्ताप के लिए ही होती है।'

कन्दुको भित्तिनिक्षिप्त इव प्रतिफलन् मुहुः।
आपतत्यात्मनि प्रायो दोषोऽन्यस्य चिकीर्षितः॥ (3/213)

अर्थात् 'जिस प्रकार दीवार पर मारा गया कन्दुक पलट कर फेंकने वाले पर ही आ गिरता है उसी प्रकार दूसरे का बुरा चाहने वाले का अपना ही बुरा हो जाता है।'

कथासरित्सागर अपनी इसी सरलता, रोचकता तथा कल्पनाशीलता आदि गुणों के कारण ही परवर्ती भारतीय साहित्य पर एक अमिट छाप छोड़ सका।

बृहत्कथा के उपर्युक्त तीन रूपान्तरों के अतिरिक्त भी संस्कृत में अनेक लोककथा-संग्रह उपलब्ध होते हैं।

वेतालपंचविंशतिका

यह ग्रन्थ पच्चीस रोचक और कौतूहलपूर्ण कथाओं का एक सुव्यवस्थित संग्रह है। ये कथाएँ मूल बृहत्कथा में थीं अथवा नहीं—इस विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी तथा सोमदेव के कथासरित्सागर में तो इन कथाओं का अस्तित्त्व है, किन्तु बृहत्कथा के प्राचीनतम अनुवाद बुधस्वामी के बृहत्कथाश्लोकसंग्रह में ये कथाएँ प्राप्त नहीं होतीं। डॉ. बल्देव उपाध्याय के अनुसार 'यह बृहत्कथा का अंश नहीं है प्रत्युत यह एक स्वतंत्र कथाचक्र है जिसका सम्बन्ध लोककथाओं के साथ पूर्णतया स्थापित किया जा सकता है।' वेतालपंचविंशतिका के कई संस्करण उपलब्ध होते हैं—

1. शिवदास कृत संस्करण—यह संस्करण गद्य-पद्यात्मक है। क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामंजरी के अनेक श्लोक इसमें प्राप्त होते हैं। कथाओं का मूलस्वरूप गद्यपद्यात्मक था अथवा केवल पद्यात्मक ही था, यह निर्धारण करना कठिन है।

2. जम्भलदत्त कृत संस्करण—इसमें एक भी पद्य नहीं है, सम्पूर्ण रचना केवल गद्यात्मक है। इस संस्करण में प्राप्त होने वाली कथाओं का स्वरूप दूसरे संस्करणों में पाई जाने वाली कथाओं के रूप से अपेक्षाकृत प्राचीन जान पड़ता है।

3. वल्लभदास कृत संस्करण—यह संस्करण मूल ग्रन्थ का संक्षिप्त रूपान्तर प्रतीत होता है। किन्तु आधुनिक भारतीय लोकभाषाओं में सर्वाधिक भावानुवाद इसी के पाए जाते हैं।

इन तीन संस्करणों के अतिरिक्त एक संस्करण ऐसा भी है जो 'वृहत्कथामंजरी' के आधार पर प्रस्तुत किया गया गद्य रूपान्तर मात्र है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

वेतालपंचविंशतिका की ये सारी ही कथाएँ अत्यन्त रोचक एवं बुद्धिवर्धक हैं। प्रत्येक कथा पहेली के रूप में प्रस्तुत हुई है। मुख्य कथा संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है—

राजा त्रिविक्रमसेन के पास एक सिद्ध पुरुष प्रतिदिन रत्नगर्भित फल देकर जाता है। राजा इस अनुग्रह का कारण पूछता है तो वह सिद्ध राजा से किसी सिद्धि में सहायता करने का वचन ले लेता है। सिद्ध के कथनानुसार राजा को एक पेड़ पर लटकते हुए शव को उतार कर लाना है। इस शव पर एक वेताल का आधिपत्य है। मौन रहने पर ही राजा शव को ले जा सकता है किन्तु पेड़ से उतार कर लाए जाते समय वेताल राजा को विचित्र कथाएँ सुनाकर अन्त में पहेली पूछ कर उसका उत्तर मांगता है। राजा को भी प्रत्येक बार उत्तर देना ही पड़ता है और उसका मौन भंग हो जाता है। प्रत्येक बार राजा का मौन भंग होते ही वेताल उड़ कर पुनः पेड़ पर लटक जाता है। अन्ततः राजा हार मान कर मौन ही रहता है। तब वेताल परिश्रमी राजा को उस सिद्ध पुरुष के वचन का रहस्य और स्वयं सिद्धि प्राप्त करने का उपाय बता देता है। इस संग्रह की प्रत्येक कथा सरस एवं रोचक है। प्रत्येक कथा के अन्त में वेताल के प्रश्न जितने जटिल तथा विषम हैं, राजा के उत्तर भी उतने ही विद्वत्तापूर्ण, सांसारिक अनुभव सम्पन्न तथा चातुर्ययुक्त हैं।

सिंहासनद्वात्रिंशिका

इस कथाग्रन्थ के तीन अन्य नाम भी है—द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, विक्रमार्कचरित तथा विक्रमचरित। यह बत्तीस मनोरञ्जक कथाओं का संग्रह है। राजा भोज पृथिवी में दबे हुए राजा विक्रम के सिंहासन को निकलवाता है। शुभ मुहूर्त में राजा भोज उस सिंहासन पर बैठना चाहता है तो सिंहासन में बनी हुई बत्तीस पुतलियों में से प्रत्येक पुतली राजा विक्रम के गुणों तथा पराक्रम की एक एक कथा सुनाकर राजा को सिंहासन पर बैठने से पुनः पुनः रोकती हैं। इस कथासंग्रह की कहानियाँ मनोरंजक अवश्य है किन्तु उनमें चातुर्य एवं बुद्धि वैभव उत्कृष्टकोटिक नहीं है। इसके लेखक का नाम एवं समय अज्ञात है; किन्तु प्रत्येक कथा राजा भोज को सुनाई गई है अतः ग्रन्थ का समय ग्यारहवीं शती ईस्वी के अनन्तर ही माना जाता है।

इस ग्रन्थ की उत्तरी एवं दक्षिणी-दो वाचनिका प्राप्त होती हैं। दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। उत्तरी वाचनिका के भी तीन संस्करण उपलब्ध हैं—(1) चौदहवीं शती ईस्वी के जैन मुनि क्षेमंकर द्वारा रचित संस्करण में कथा भाग गद्यात्मक है एवं कथा के प्रारम्भ एवं अन्त में विषय का वर्णन करने वाले पद्य हैं। (2) क्षेमंकर के संस्करण पर ही आधारित एक बंगाली पाठान्तर भी प्राप्त होता है जो किसी वररुचि नामक कवि का रचित कहा जाता है। (3) संक्षिप्त संस्करण। दक्षिणी वाचनिका के भी गद्यात्मक एवं पद्यात्मक दो रूप उपलब्ध होते हैं। इन दोनों वाचनिकाओं में कौन सी मूल तथा प्राचीन है, इस सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद पाया जाता है।

शुकसप्तति

यह भी कथाओं का एक रोचक संग्रह है। जैन आचार्य एवं काव्यशास्त्रकार हेमचन्द्र इस ग्रन्थ से परिचित थे; इस तर्क के आधार पर इसका रचना समय ग्यारहवीं शती से पूर्व समझा जाता है। इस कथासंग्रह का एक अनुवाद चौदहवीं शती में फारसी भाषा में भी

हुआ था।

शुकसप्तति में सत्तर कथाएँ संगृहीत हैं। मदनसेन नामक एक युवक अपनी सुन्दरी पत्नी में बहुत अनुरक्त था। व्यापार करने के लिए एक बार मदनसेन विदेश जाता है और अपने पालतू तोते को पत्नी के पास छोड़ जाता है। पति की अनुपस्थिति में विरहिणी एवं कामसंतप्त पत्नी को दुराचरण से बचाने के लिए वह तोता प्रत्येक रात्रि को एक एक नवीन तथा रोचक कथा सुनता है। इस प्रकार सत्तर रात्रियाँ व्यतीत हो जाती हैं और मदनसेन भी अपना कार्य पूरा करके घर लौट आता है।

लोकव्यवहार को जानने के लिए यह कथा ग्रन्थ परम उपयोगी है। विशेषत: नारी स्वभाव का इसमें विस्तृत चित्रण हुआ है। स्त्रियों का सहज चंचल एवं कपटपूर्ण व्यवहार, वैवाहिक सम्बन्धों का भंग होना आदि विषय इसमें पुन:पुन: ग्रहण किए गए हैं। ग्रन्थ का अधिकांश भाग गद्यमय है किन्तु बीच बीच में संस्कृत एवं प्राकृत के उपदेशात्मक पद्यों का भी प्रयोग हुआ है। सामान्यत: ग्रन्थ की भाषा सरल है तथा शैली रोचक तथा मधुर है।

इस कथासंग्रह की भी दो वाचनिका प्राप्त होती हैं—परिष्कृत (विस्तृत) तथा सामान्य (संक्षिप्त)। परिष्कृत संस्करण ही प्राचीनतर माना जाता है तथा इसके रचयिता चिन्तामणि भट्ट हैं। सामान्य संस्करण किसी जैन लेखक की रचना है तथा वह परिष्कृत संस्करण का ही संक्षिप्त रूप है।

उपर्युक्त प्रसिद्ध कथासंग्रहों के अतिरिक्त भी और अनेक कथाग्रन्थ प्राप्त होते हैं। 14वीं शती के उत्तरार्ध में प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति ने '**पुरुषपरीक्षा**' नामक ग्रंथ की रचना की जिसमें 44 कथाएँ हैं। इनका विषय नैतिक अथवा राजनैतिक है। शिवदास रचित '**कथार्णव**'नामक ग्रन्थ प्राप्त होता है, जिसमें चोरों तथा मूर्खों की 35 कथाएँ हैं। 1451 ई. में श्रीवर कवि ने 'कथाकौतुक' नामक ग्रंथ की रचना की, जो पद्यात्मक है। बल्लालसेन रचित '**भोजप्रबन्ध**'(16वीं शती) भी अत्यधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमें संस्कृत के प्राय: सभी प्रसिद्ध कवियों कालिदास, माघ, दण्डी, भवभूति, मल्लिनाथ आदि को राजा भोज की सभा में एकत्रित कर दिया गया है। इसमें संस्कृत के कवियों की अनेक रोचक दन्तकथाएँ वर्णित हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रंथ अनुपयोगी है किन्तु इसके पद्य अत्यन्त लालित्यपूर्ण हैं। अनेक पाश्चात्य कथाग्रन्थों का भी संस्कृत अनुवाद किया जा चुका है। प्रसिद्ध अरबी कथा '**अरेबियन नाइट्स**'का अनुवाद जगद्बन्धु पण्डित ने '**आख्ययामिनी**' नाम से किया। नारायण बालकृष्ण कृत '**ईसब्नीतिकथा**'में ईसप की कथाओं का अनुवाद है।

बौद्ध लेखकों ने भी संस्कृत के कथासाहित्य को समृद्धतर बनाया। इन लेखकों ने प्राय: नीति प्रधान कथा साहित्य में योगदान दिया। इस दृष्टि से बौद्धों का '**अवदान साहित्य**' बहुत प्रसिद्ध है। 'अवदान' का अर्थ है महनीय कार्य की कथा। 'अवदान' में लेखक भगवान् बुद्ध के विभिन्न पूर्व जन्मों के शोभन गुणों का कथा रूप में चित्रण करता है। '**अवदान शतक**' ऐसा ही प्राचीनतम बौद्ध कथासंग्रह है। इसका समय ईसा की द्वितीय शती माना जाता है। तृतीयशती ईस्वी का इसका चीनी भाषा में अनुवाद प्राप्त होता

है। '**दिव्यावदान**' ग्रंथ में भी कथाएँ उपलब्ध होती हैं। यह बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय का अनुयायी ग्रंथ है। इसका समय अनिश्चित है, किन्तु जिन बौद्ध सिद्धान्तों का इसमें विस्तृत कथन है, उनकी दृष्टि से यह प्रथम शती ईस्वी के बाद की रचना ही हो सकती है। आर्यशूर ने चतुर्थ शती ईस्वी में 'जातकमाला' की रचना की जिसमें 34 जातकों (बुद्ध के पूर्व जन्मों) का वर्णन सुन्दर काव्यशैली तथा अत्यन्त साहित्यिक भाषा में है। इनमें कुछ जातक पालिजातकों पर आधारित हैं, किन्तु अन्य जातकों का आधार प्राचीन बौद्ध अनुश्रुतियाँ ही हैं। 668 ई. के एक चीनी विश्वकोश में ऐसी अनेक नीति कथाओं का अनुवाद प्राप्त होता है जो 200 बौद्धग्रंथों से ग्रहण की गई थीं।

बौद्ध लेखकों की भाँति जैन लेखकों ने भी संस्कृत में कथा संग्रहों रचना की। जैन सिद्धान्तों की व्याख्या अनेकशः कथा रूप में की गई है। लोक में प्रचलित धूर्त, विट, मूर्ख, स्त्री चातुर्य, ब्राह्मण पाखण्ड आदि की कथाएँ प्रस्तुत करने में भी जैन लेखकों की प्रतिभा विशेष दिखाई देती है। इन कथाओं में साहित्यिक सौन्दर्य की अपेक्षा नैतिकता का प्रचार तथा जैन धर्म का विवरण अधिक पाया जाता है। सिद्ध अथवा सिद्धर्षि नामक जैन ग्रन्थकार ने **उपमिति-भव-प्रपंच-कथा** नामक कथाग्रन्थ की 906 ई. में रचना की। डॉ. याकोबी ने इसे '**रूपकात्मक आख्यान**' माना है जब कि डॉ. बलदेव उपाध्याय के अनुसार इस वृहत् संस्कृत काव्य को 'काव्यात्मक उपन्यास' की संज्ञा दी जा सकती है। इस ग्रन्थ के आठ प्रस्तावों में जीव के संसार में परिभ्रमण तथा विभिन्न दुःखादि के सहन का चित्रण रूपक कथाओं के द्वारा किया गया है। इसकी भाषा सरल तथा दैनन्दिन व्यवहार की संस्कृत है। आचार्य हेमचन्द्र (1088-1172 ई.) ने ग्रंथ के पूरक अथवा परिशिष्ट रूप में '**परिशिष्टपर्वन्**'नामक ग्रंथ की रचना की, जिनमें जैन सन्तों के जीवनवृत्तों के मध्य अनेक मनोहर कथाओं का सन्निवेश किया गया है। प्रसिद्ध जैन विद्वान् मेरुतुंगाचार्य ने 14वीं शती के प्रारम्भ में **प्रबन्धचिन्तामणि** नामक ग्रन्थ रचा, जिसमें ऐतिहासिक तथा अर्ध ऐतिहासिक प्रख्यात पुरुषों की जीवनी रोचक कथा के रूप में लिखी गई है। राजशेखर सूरि ने इसी प्रकार के एक अन्य ग्रन्थ **प्रबन्धकोश** की रचना की। ग्रन्थ के अन्तिम पद्य के अनुसार इसकी रचना 1405 विक्रम संवत् (1348 ई.) में हुई। इस ग्रन्थ में दस प्रसिद्ध जैनाचार्यों, चार संस्कृत के मान्य कवियों, सात प्राचीन अथवा मध्यकालीन राजाओं और तीन जैनधर्मानुरागी गृहस्थ पुरुषों को मिलाकर कुल चौबीस प्रसिद्ध पुरुषों के सम्बन्ध में प्रबन्ध हैं, अतः इसका एक और प्रसिद्ध नाम चतुर्विंशति प्रबन्ध भी है। राजशेखर सूरि के इस ग्रन्थ पर पूर्ववर्ती तीन ग्रन्थों—प्रभावक चरित (1277 ई.) प्रबन्धचिन्तामणि (1305 ई.) तथा विविध तीर्थकल्प (1333 ई.)—का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। 17वीं शती ईस्वी में जैन हेमविजय गणि ने जैन धर्म के प्रचार और प्रसार की दृष्टि से **कथारत्नाकर** की रचना की, जिसमें छोटी छोटी 256 कथाओं का संग्रह है। इन समस्त कथासंग्रहों के अतिरिक्त असंख्य छोटे बड़े संस्कृत कथा संग्रह और उपलब्ध होते हैं। भारतवर्ष में आज भी संस्कृत भाषा में निरन्तर कथाएँ रची जा रही हैं।

❑❑❑

8

संस्कृत नाट्य साहित्य

संस्कृत साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा कमनीय अंग है-नाट्य। संस्कृत साहित्य की रसमयता एवं सम्पूर्ण महत्ता को उजागर कर देने वाला एवं सम्पूर्ण विश्व में संस्कृत का प्रचार एवं प्रसार कर देने वाला संस्कृत नाट्य साहित्य ही है, क्योंकि अभिज्ञानशाकुन्तल के मानवीय संस्पर्श, नाट्य कौशल तथा रमणीय रस पेशलता ने ही प्रारम्भिक स्तर पर विश्व के विभिन्न विद्वानों को चमत्कृत करके उन्हें संस्कृत के अनुशीलन की ओर हठात् प्रेरित किया ।

काव्य के अन्य समस्त भेद जहाँ श्रव्य कोटि में आते हैं, वहाँ नाट्य श्रव्य होने के साथ साथ दृश्य काव्य है। नाट्य में मुख्यता दृश्यत्व की ही है। अन्य समस्त इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण किया गया प्रभाव अधिक स्थायी होता है-यह सर्वविदित मनोवैज्ञानिक तथ्य है । इसलिए यह नाट्य साहित्य नेत्र से देखा जाकर सीधा हृदय को स्पर्श करता है। वेशभूषा, आंगिक संचालन, रंगमंच-सज्जा, तथा भावप्रदर्शन आदि समवेत सुन्दर अभिनय से प्रस्तुत किया जाता हुआ अतीत कालिक पात्र नट में जीवन्त होकर दर्शक को तादात्म्यानुभूति करा देता है और दर्शक अनायास ही रससमुद्र में निमग्न हो जाता है। यही कारण है कि विद्वान् एवं साधारण-बुद्धि सभी जन श्रव्य काव्य की अपेक्षा नाट्य की ओर अधिक आकृष्ट हो जाते है। रसपरक नाट्य का इतना महत्त्व होने के कारण ही काव्य की समस्त विधाओं में नाट्यरचना करना ही सर्वाधिक कठिन कहा गया-.नाटकान्तं कवित्वम्। और साथ ही समस्त काव्यों में नाट्य को सर्वाधिक रमणीय, आकर्षक एवं रस प्रभाव सम्पन्न भी स्वीकार किया गया—काव्येषु नाटकं रम्यम्।

साहित्य के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग-नाट्य की भारत में कब और किस प्रकार उत्पत्ति हुई; नाट्य के विभिन्न तत्त्व कहाँ कहाँ से संग्रहीत किए जा सके; आदि प्रश्नों पर आधुनिक काल के संस्कृतानुरागी पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों में तीव्र मतवैभिन्य रहा है। भारतीय परम्परा तो नाट्य की उत्पत्ति दैवी स्वीकार करती है। किन्तु संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने इस दैवी उत्पत्ति को सर्वथा अग्राह्य मानकर नाट्य के विभिन्न तत्त्वों तथा समाज एवं प्रकृति के विभिन्न विकासशील परिवर्तनों के आधार पर संस्कृत नाट्योत्पत्ति के अनेक भिन्न भिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किए। स्वभावतः ही

इन सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में उस विद्वान् की निज विचारधारा एवं उनके देश में प्रचलित नाट्यपरम्परा का प्रभाव अवश्य ही रहा होगा। किन्तु उन सारे सिद्धान्तों में से एक भी सर्वग्राह्य अथवा स्वीकृत नहीं हो सका है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान श्री मैक्डॉनल ने इसीलिए स्पष्टतया लिखा "भारत में नाटकीय साहित्य के सर्व प्राचीन स्वरूपों का प्रतिनिधित्व ऋग्वेद के उन सूत्रों द्वारा होता है जिनमें संवाद विद्यमान हैं। ...हाँ, अभिनयपरक नाटक का प्रारम्भ अन्धकार से आवृत्त है।"[1]

संस्कृत नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राप्त विभिन्न सिद्धान्त इस प्रकार है-

1. नृत्य से नाट्योत्पत्ति का सिद्धान्त - मैक्डॉनल ने इस धारणा का प्रतिपादन किया कि .नृत्. धातु से निष्पन्न नृत्य शब्द सम्भवतः भारतीय नाटक की उत्पत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। निश्चय ही इसमें सर्वप्रथम असंस्कृत मूकाभिनय रहा होगा जिसमें शरीर की नृत्यपरक चेष्टाओं के साथ साथ हाथ और चेहरे के मौन अभिनयात्मक संकेत जुड़े रहते थे।[2]

किन्तु श्री मैक्डॉनल का यह नृत्यवाद ग्राह्य नहीं हो सका। क्योंकि भावात्मक नृत्य एवं रसात्मक नाट्य परस्पर नितान्त भिन्न हैं।

2. वीरपूजा से नाट्योत्पत्ति सिद्धान्त - इस सिद्धान्त के प्रवर्तक पाश्चात्य विद्वान् डॉ रिज़वे थे। उन्होने प्रतिपादित किया कि वीर पुरुषों के प्रति जातीय आदर प्रगट करने की भावना से नाट्य प्रणयन प्रारम्भ हुआ।[3] जिस प्रकार मृत वीर पुरुषों के प्रति सम्मान प्रगट करने के लिए ग्रीक दुखान्त नाटकों की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार वीर पूजा की भावना से ही भारत में भी नाट्योंद्गम हुआ। डॉ. रिजवे ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में कृष्ण लीला एवं राम लीला का उदाहरण दिया।

किन्तु यह सिद्धान्त अन्य किसी भी विद्वान को मान्य नहीं हुआ क्योंकि संस्कृत नाट्य का प्रमुख लक्ष्य रसाभिव्यक्ति है, वीरों के प्रति सम्मान प्रदर्शन नहीं।

2. नाट्योत्पत्ति का प्राकृतिक परिवर्तन सिद्धान्त- डॉ. कीथ ने इस नवीन मत का प्रवर्तन किया। उन्होंने कहा कि प्राकृतिक परिवर्तन को मूर्त रूप देने की इच्छा से ही नाट्य का जन्म हुआ।[4] डॉ. कीथ ने अपने मत की पुष्टि में महाभाष्य में निर्दिष्ट कंसवध नामक नाट्य के अभिनय का उदाहरण दिया। इस अभिनय में कृष्ण के पक्ष के लोग रक्त मुख धारण करते थे और कंस पक्ष के लोगे काले मुख। डॉ. कीथ ने वर्णों के आधार पर इस अभिनय को हेमन्त ऋतु पर वसन्त ऋतु की विजय का निर्देश माना।

डॉ. कीथ का यह विचित्र सिद्धान्त भी प्रामाणिक नहीं माना गया।

3. मे पोल नृत्य से नाट्योत्पत्ति सिद्धान्त- प्रोफेसर स्टेन कोनो ने इस सिद्धान्त

---

1. मैक्डॉनल—संस्कृत साहित्य का इतिहास (अनु, डॉ. रामसागर त्रिपाठी) पृष्ठ 331
2. मैक्डॉनल—संस्कृत साहित्य का इतिहास(अनु, डॉ. रामसागर त्रिपाठी) पृष्ठ 331-332
3. रिजवे—ड्रामा् एण्ड ड्रेमेटिक डान्सेज ऑफ नान योरोपियन रेसेज
4. डॉ. कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ 38

का उल्लेख अपने ग्रन्थ में [5] करते हुए बताया कि कतिपय विद्वान् मे पोल नृत्य से भारतीय नाट्य की उत्पत्ति मानते हैं। पाश्चात्य देशों में शिशिर ऋतु बीत जाने पर मई मास में बसन्त आगमन को विविध उल्लास पूर्वक मनाया जाता है। किसी खुले मैदान में एक लम्बा बांस गाड़ कर स्त्री पुरुष उसके चारों ओर नाचते-गाते उल्लास मनाते हैं। इस सिद्धान्त को मानने वाले विद्वानों ने भारत के इन्द्रध्वज पर्व को मे पोल नृत्य का ही प्रतिरूप माना और उपस्थापित किया कि शीतकाल के बाद होने वाले वसन्तोत्सवों से ही भारतीय नाट्य उत्पन्न हुआ।

किन्तु यह मत भी मान्य नहीं हो सकता । भारत में इन्द्रध्वजोत्सव वसन्त में नहीं, वरन् वर्षा ऋतु के अन्त होने पर मनाया जाता है। नेपाल आदि देशों में प्रचलित इस उत्सव का रूप भी पाश्चात्य उत्सव से नितान्त भिन्न है।

4. छाया नाटकों से नाट्योत्पत्ति सिद्धान्त-डॉ. ल्यूडर्स एवं डॉ. कोनो ने यह प्रतिपादित किया कि नाट्य की उत्पत्ति और विकास छाया नाटक से हुआ। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने छायानाट्य के प्राचीन उल्लेख प्रस्तुत किए कि महाभाष्य में वर्णित 'शौभिक' छाया नाटकों की छाया मूर्तियों के व्याख्याकार थे।

किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है। भारत में छायानाटकों की प्राचीनता कथमपि सिद्ध नहीं हो पाती। 'दूतांगद' नामक उपलब्ध छाया नाटक प्राचीनता एवं महत्त्व की दृष्टि से इस सिद्धान्त को पुष्ट नहीं कर पाता।

5. पुत्तलिका नृत्य से नाट्योत्पत्ति सिद्धान्त-डा पिशेल इस सिद्धान्त के उद्भावक हैं। डॉ. पिशेल ने पुत्तलिका नृत्य की भारत में ही उत्पत्ति का कथन करते हुए प्रतिपादित किया कि पुत्तलिका नृत्य से उत्पन्न होने के कारण ही सूत्र-धार (डोरा पकड़ने वाला) तथा स्थापक (किसी वस्तु को लाकर रखने वाला) आदि शब्द नाट्य में आए।

किन्तु पिशेल का यह मत ग्राह्य नहीं है। पुत्तलिका नृत्य एक सामान्य नृत्य है, उससे सम्पूर्ण रस निर्भर, विभिन्न जटिल नाट्यांग सम्पन्न नाट्य की उत्पत्ति मानना सर्वथा अनुचित है।

6. संवाद सूक्तों से नाट्योत्पत्ति सिद्धान्त-अनेक विद्वानों ने इस सिद्धान्त को भिन्न भिन्न तर्कों पूर्वक प्रतिपादित किया। डॉ. वॉन श्रोदर, डॉ. हर्टल, डॉ. विण्डिश, ओल्डेनबर्ग आदि ने ऋग्वेद में पाए जाने वाले ऐसे अनेक सूक्तों से नाट्योंत्पति मानी, जो सूक्त एक से अधिक वक्ता पाए जाने के कारण 'संवादसूक्त' कहलाते हैं। यम-यमी, पुरुरवा उर्वशी, इन्द्र सरमा, अगस्त्यलोपामुद्रा, इन्द्र मरुत् आदि प्रसिद्ध संवादसूक्त हैं। इन विद्वानों ने यह धारणा की, कि इन सूक्तों को नृत्य गीत संवलित करके यज्ञीय कर्मकाण्ड के अवसर पर श्रान्त पूजकों एवं दर्शकों के मनोविनोदार्थ प्रस्तुत किया जाता था। तथा उस समय इन सूक्तों का स्वरूप गद्यपद्यात्मक था। गद्यात्मक अंश वर्णनात्मक होने के कारण कालान्तर में स्मृतिपथ से लुप्त हो गया, केवल पद्यात्मक भाग अवशिष्ट रह गया। इसी

5. डॉ. स्टेन कोनो—दास इण्डिश ड्रामा।

कारण आज भी नाट्य गद्यपद्यात्मक ही पाए जाते है।

यह सिद्धान्त भी स्वीकरणीय नहीं है। ऋग्वेद के सूक्त की तो शंसना मात्र होती थी। गेय तो सामवेद के सूक्त थे। इसके अतिरिक्त वेदों को उनके मूल स्वरूप में सुरक्षित रखने की जो परिपाटी हमारे मनीषी ऋषियों ने स्थापित की थी उसके कारण वेद का कोई अंश स्मरणपथ से लुप्त होने की सम्भावाना ही नहीं है। किन्तु इस सिद्धान्त में इतना सार अवश्य है कि नाट्य में संवाद का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

7. **ग्रीक रूपकों से नाट्योत्पत्ति सिद्धान्त**—डॉ. वेबर ने सर्वप्रथम इस मत का प्रवर्तन किया और प्रो. विण्डिश ने विभिन्न तर्कसरणियों के द्वारा इसका बल पूर्वक समर्थन किया। इनके विभिन्न तर्कों का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है। संस्कृत नाट्य ईस्वी संवत् से पूर्व नहीं था। सिकन्दर अत्यन्त नाट्यप्रेमी राजा था। उसी ग्रीस प्रभाव को ग्रहण करके ग्रीक नाटकों से संस्कृत नाट्योत्पत्ति हुई। इसी कारण दोनों में बहुत अधिक समानता है। संस्कृत नाटकों में अंक विभाजन, पात्रों का सूचनापूर्वक प्रवेश और पर्दा गिरने से पूर्व पात्र निर्गमन, उत्तमादि त्रिविध पात्र-विभाजन, मंच निर्देश के भेद, विदूषक तथा प्रतिनायक जैसे विशिष्ट पात्र, प्रतिहारिणी रूप में यवन-स्त्रियाँ तथा यवनिका शब्द—यह सभी ग्रीक रूपकों के प्रभाव को प्रतिबिम्बित करते है। सीतावेंगा गुफा का रंगमंच भी ग्रीक मंच के सदृश है। इन आधारों पर ग्रीक नाटकों से संस्कृत नाट्य की उत्पत्ति माननी चाहिए।

प्रो. पिशेल ने इस ग्रीक प्रभाववादी सिद्धान्त का प्रबलतया खण्डन किया। वास्तविक दृष्टि से देखने पर तो ग्रीक और संस्कृत नाट्य में समानता के स्थान पर वैषम्य ही अधिक दृष्टिगोचर होता है (1) संस्कृत नाट्यों का परिमाण ग्रीक नाटकों को अपेक्षा बहुत अधिक है (2) संस्कृत में दुखान्त नाटक है ही नहीं, जब कि ग्रीक रूपक सुखान्त एवं दुखान्त दोनो प्रकार के है। (3) ग्रीक नाटकों में कोरस का एक अनूठा स्थान है किन्तु संस्कृत नाट्यों में कोरस पाया नहीं जाता। (4) ग्रीक नाटकों में स्थान, समय तथा कार्य-इस अन्वितित्रय का पूरा ध्यान रखा जाता था। संस्कृत नाट्यों में कार्यान्विति का तो पूरा ध्यान रखा जाता है किन्तु काल और स्थान की अन्विति अनिवार्यतया प्राप्त नहीं होती। भवभूति और कालिदास जैसे श्रेष्ठ नाटककारों में भी यह अन्विति प्राप्त नहीं होती। इस अन्विति का पालन न होना संस्कृत नाट्य में दोष भी नहीं है। (5) रंगमंच पर लटकाए गए परदे को जवनिका या यवनिका कहा जाता है। किन्तु यह शब्द नाट्यशास्त्र का परिभाषिक शब्द नहीं है। अमरकोशकार ने जवनिका का अर्थ पटवेश्म (ढक लेने वाला परदा) किया है। यूरोपीय विद्वान् यवनिका शब्द की समीक्षा करके ही यह प्रतिपादित कर देते है, कि ग्रीक प्रभाव से संस्कृत नाटक उत्पन्न किं वा प्रभावित हुआ; किन्तु मूल शुद्ध शब्द तो जवनिका है, यवनिका नहीं। जवनिका शब्द की व्युत्पत्ति 'जु' धातु से हुई है जिसका अर्थ है गति तथा वेग। शास्त्रों अथवा अन्य ग्रन्थों में भी जवनिका शब्द का प्रयोग आवरण अर्थ में हुआ है। व्याकरण नियम की दृष्टि से संस्कृत शब्द का प्रारम्भिक 'य' प्राकृत में 'ज' होता है (आदेर्यो जः) किन्तु प्राकृत 'ज' को सर्वत्र संस्कृत में 'य' नहीं परिवर्तित किया

जा सकता। मूल जवनिका को यवनिका कर देने पर ही यह भ्रम उत्पन्न हुआ है।[6] इसके अतिरिक्त जिस शब्द पर ग्रीक प्रभाव सिद्ध किया जा रहा है, उसका तो ग्रीक नाटक में सर्वथा अभाव है। ग्रीक नाटकों में यवनिका (परदा) होता ही नहीं । ग्रीक नाटकों का अभिनय खुले मैदान में ऊँचे रंगमंच पर बिना परदे के होता था। अत: जवनिका शब्द से भी किसी भी प्रकार ग्रीक प्रभाव सूचित नहीं हो सकता ।

८. नाट्योत्पत्ति का भारतीय मत—भारतीय परम्परा नाट्य की उत्पत्ति दैवी मानती है। भरत नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कथात्मक विवरण उपलब्ध होता है, तथा नाट्य का महत्त्व भी प्रगट होता है।

सत्ययुग के समाप्त होने और त्रेतायुग के प्रारम्भ हो जाने पर यह संसार सुख, दुख तथा आनन्द में शोक मिश्रित हो जाने से तथा नानाविध जातियों से भर जाने के कारण व्याकुल हो गया। तब इन्द्रादि प्रमुख देवताओं ने ब्रह्मा से एक ऐसा मनोरंजनात्मक तथा श्रव्य एवं दृश्य,पंचम वेद बनाने की प्रार्थना की जिसे सारे ही वर्ण देख सुन सकें। क्योंकि ऋग्वेदादि वेदों को तो शूद्रादि सुन नहीं सकते थे।[7] देवों की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने विभिन्न वेदों से विभिन्न अंगों को ग्रहण करके नाट्य नामक पंचम वेद बनाया।[8] इन्द्र के आग्रह पर ब्रह्मा ने भरत मुनि को इस नाट्य के प्रचार का भार दिया। भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों सहित इस नाट्य का श्रवण, धारण एवं ज्ञान प्राप्त किया और ब्रह्मा की सभा में प्रथम प्रयोग दिखाया जिसमें केवल भारती, आरभटी एवं सात्वती वृत्तियाँ थीं।[9] आचार्य बृहस्पति ने नाट्य में कैशिकी वृत्ति भी जोड़ने की प्रेरणा दी। तब ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त अप्सराओं को भी अभिनय शिक्षा देकर भरत ने पुन: इन्द्रध्वजोत्सव के अवसर पर समस्त सभा के सम्मुख इन्द्र विजय से सम्बद्ध नाट्य प्रस्तुत किया। देवता तो इससे प्रसन्न हुए किन्तु नाट्य में अपना ऐसा अपकर्ष देखकर दानवों ने क्षुब्ध हो कर नाट्य में विध्न डाला। इन्द्र ने अपने ध्वज से समस्त विघ्नों को नष्ट कर दिया किन्तु प्रत्येक नाट्यप्रयोग के समय विघ्नों की आशंका से ब्रह्मा ने भरत की प्रार्थना पर विश्वकर्मा को प्रेक्षागृह बनाने का आदेश दिया।[10] और क्षुब्ध दैत्यों दानवों को नाट्य का विविध महत्त्व समझाया।[11] सर्व प्रथम जिन रूपकों

---

6. संम्पूर्णतथा प्राकृत भाषा में निबद्ध नाटिका सट्टक कहलाती है। राजशेखर की 'कर्पूररमञ्जरी' सट्टक है, जिसमें अवान्तर अंको के नाम जवनिकान्त हैं। यह नाम प्राकृत ही है। सट्टक का संस्कृतीकण किए जाने पर 'जवनिकान्तर' के स्थान पर 'यवनिकान्तर कर दिया जाने से ही यह भ्रम हुआ होगा।
7. नाट्यशास्त्र—1/11-12— क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यञ्च यद् भवेत्।
   न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्य: शूद्रजातिषु।
   तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्॥
8. नाट्यशास्त्र 1/17— जग्राह्य पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
   यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि ॥
9. नाट्यशास्त्र 1/43— अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय।
10. नाट्यशास्त्र 1/79— ततः स विश्मकर्माणं ब्रह्मोवाच प्रयत्नत:।
   कुरु लक्षणसम्पनं नाट्यवेश्म चकार स:॥
11. नाट्यशास्त्र 1/104....125

का अभिनय किया गया, वे त्रिपुरदाह नामक डिम तथा समुद्रमन्थन नामक समवकार थे।

परम्परा से प्राप्त नाट्योत्पत्ति के इस सिद्धान्त को सर्वथा अग्राह्य नहीं किया जा सकता। इस कथा को भले ही ज्यों का त्यों हम स्वीकार न करें, किन्तु इससे भारतीय नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध हो जाते है। (1) ब्रह्मा मामक अथवा उपाधिधारी व्यक्ति ने मनोरंजन के साधन रूप में नाट्य का अविष्कार किया एवं तदर्थ विभिन्नस्वरूपात्मक नाट्यशास्त्र रचा। (2) नाट्य की रचना में चारों वेदों से विभिन्न पाट्य, गीत, रस, अभिनय आदि अंग ग्रहण किए गए थे। (3) प्राचीनतम नाट्यों का स्वरूप धार्मिक था और धार्मिक उत्सवों, यात्राओं, तथा पर्वों पर उन नाट्यों का अभिनय प्रस्तुत किया जाता था। (4) नाट्य में मूलतया भले ही पुरुष नट ही रहे हों, किन्तु अत्यन्त शीघ्र ही स्त्री और पुरुष दोनों ही अपनी अपनी भूमिका नाट्य में अभिनीत करने लगे थे। (5) नाट्य मूलतः लोक जीवन पर आधारित था।

संस्कृत नाट्य की विशेषताएँ — समग्र संस्कृत नाट्य साहित्य के अनुशीलन से उनकी कतिपय विशिष्टताएँ उजागर होती हैं, जिन्होंने संस्कृतनाट्य को अत्यन्त उत्कृष्ट धरातल पर अवस्थित कर दिया है। स्वयं कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में नाट्य की बहुमुखी प्रशंसा की है।[12]—.मुनिजन नाट्य को देवताओं के लिए शान्त चाक्षुष यज्ञ मानते हैं। शिव ने पार्वती से संयुक्त अपने (अर्धनारीश्वर)शरीर को दो प्रकार से विभक्त किया (अर्थात् नाट्योंपकारक नृत्यों में ताण्डव शिव के द्वारा और लास्य पार्वती के द्वारा प्रयुक्त होता है।) इस नाट्य में सत्व-रजस्-तमस- तीनों गुणों से उत्पन्न नाना रसात्मक लोक चरित का दर्शन होता है। यह नाट्य भिन्न भिन्न रुचि वाले समग्र जनों का अद्वितीय समाराधन स्वरूप है।

संस्कृत नाट्य की विशिष्टताएँ संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है—

1. रस-भाव-क्रिया के अभिनय हेतु संस्कृत नाट्य विकसित हुआ। इस नाट्य का चरम उद्देश्य था—सहृदय प्रेक्षकों को आनन्द प्रदान करना। त्रिगुणात्मक सृष्टि में भले ही रजस् अथवा तमस् की प्रबलता हो जाए किन्तु सत्त्व की प्रबलता ही स्पृहणीय है, अतः नाट्य में भी सत्त्व को ही सर्वाधिक प्रमुख स्थान मिला। नाट्य में जीवन के विभिन्न घात-प्रतिघात, दुख, शोक आदि का चित्रण करके भी सर्वत्र आशा का एक सूक्ष्म सूत्र साथ ही अनुस्यूत रहता है। इसीलिए संस्कृत नाट्य रससंवलित होने के साथ ही आदर्शवादी भी है।

2. ब्रह्मानन्दसहोदर रस को ही नाट्य की आत्मा स्वीकार कर लेने के कारण ही संस्कृत में दुखान्त नाटकों की रचना नहीं हुई। पाप पर पुण्य की विजय तथा अधर्म के नाशपूर्वक धर्म की स्थापना के मन्त्र का अनुपालन करते हुए शास्त्रकारों ने नाट्य में नायक

12. मालविकाग्निमित्रम्— देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥

की मृत्यु का सर्वथा निषेध किया था। नायक को अन्ततोगत्वा लक्ष्यसिद्धि होनी ही चाहिए। वह तो नाट्य के फल का अधिकारी है, जो समस्त विघ्नों तथा आपत्तियों से उबर कर स्वयं भी कार्यसिद्धि करता है और दर्शकों के मन-प्राण को भी आनन्द निमग्न और सौख्यपूर्ण कर देता है। संस्कृत नाट्य सुखान्त ही हैं इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भवभूति का उत्तररामचरित है। यह एक ओर तो करुण रस प्रधान है और दूसरी ओर परम्परा से प्राप्त दुखान्त रामकथा को भी चामत्कारिक ढंग से सुखान्त रूप में प्रस्तुत करता है। नाट्य का सुखान्त स्वरूप भारतीय दर्शन की उस भावना को प्रतिफलित करता है जो जीवन का अवसान सुख में देखती है। इसीलिए सम्पूर्ण नाट्य में जीवन के विविध रूपात्मक पक्षों का उद्घाटन करके भी नाट्य का पर्यवसान सौख्य में होता है।

3. संस्कृत नाट्य में कथावस्तु, नेता तथा रस तीन तत्त्व प्रमुख माने गए। ये तीनों परस्पर संश्लिष्टतया अन्योन्याश्रित हैं। एक तत्त्व में न्यूनता आने पर स्वतः ही अन्य दोनों तत्त्वों का अपकर्ष हो जाता है। फिर भी इन तीनों में रस का स्थान सर्वोच्च है। नाट्य का स्वरूप ही रसात्मक है। रस के इस परिपाक को ध्यान में रखते हुए यह स्वाभाविक था कि नाट्यकार कदाचित् रसोद्रेक कराने में इतना विस्मृत हो जाए कि कथावस्तु एवं नेता—इन दो अन्य तत्त्वों का उतना स्वाभाविक निर्वाह न हो सके। इसीलिए नाट्यशास्त्रकारों ने यह स्पष्ट विधान किया कि न तो रस का इतना परिपोष हो कि कथावस्तु विच्छिन्न हो जाए, और न ही वस्तु, अलंकार अथवा लक्षणों से रस ही तिरोहित होने पाए।[13] अतः कथावस्तु, नायक-चरित्र एवं रस-इन तीनों का समन्वित निर्वाह संस्कृत नाट्य की विशेषता बन गई।

4. संस्कृत नाट्य का कथानक प्रख्यात अथवा काल्पनिक किसी भी प्रकार का हो सकता था। प्रख्यात कथा किसी पुराण, रामायण या महाभारत आदि से ग्रहण की जा सकती है। किन्तु प्रख्यात कथा में नाट्यकार रस अथवा चरित्र के उत्कर्ष की दृष्टि से विभिन्न परिवर्तन करने में समर्थ है। यही कारण है कि रामकथा विभिन्न नाट्यकारों द्वारा बहुशः ग्रहण किए जाने पर भी सर्वत्र नवीन सी दृष्टिगोचर होती है। पौराणिकता, मौलिकता तथा नवीनता का इसमें विचित्र सम्मिश्रण है।

5. नाट्य में कथावस्तु की संश्लिष्टता तथा क्रमबद्धता भी संस्कृत में नितान्त अनिवार्य है। इतिवृत के रसात्मक निर्वाह के लिए ही संस्कृत नाट्य में विभिन्न अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं और सन्धियों का समायोजन किया गया है।

6. संस्कृत नाट्य में पात्र केवल मर्त्य नहीं होते। दिव्य, मर्त्य, अर्धदिव्य-सभी प्रकार के पात्र नाट्य में प्रस्तुत किए जा सकते है। दिव्य पात्र भी संस्कृत नाट्य में आकर साधारण मानव के सदृश सुख, दुख, ईर्ष्या, स्नेह आदि विभिन्न मानवीय भावों से संवलित दीख पड़ते है।

7. समाज में औचित्य एवं मर्यादा पालन एवं रस निर्वाह की दृष्टि से अनेक प्रकार

13. दशरूपक 3/32-33— न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलंकारलक्षणैः॥

के दृश्य संस्कृत नाट्य में वर्जित हैं।[14] किन्तु यदि कदाचित् निषिद्ध दृश्यों की कथावस्तु में अनिवार्यता हो तो उन की सूचना मात्र दी जा सकती है। सूचना देने के लिए शास्त्रकारों ने विष्कम्भक आदि पाँच अर्थोपक्षेपकों का विधान संस्कृत नाट्य में कर दिया।

8. अपने अत्यन्त प्रारम्भिक स्वरूप में भले ही संस्कृत नाट्यों का अभिनय खुले मैदान में हुआ हो, किन्तु संस्कृत नाट्य के अभिनयार्थ प्रेक्षागृहों का निर्माण भी बहुत शीघ्र ही कर दिया गया था। स्वयं भरत का नाट्यशास्त्र इस तथ्य का प्रमाण है। प्रेक्षागृह बनाए जाने के विभिन्न नियमों एवं प्रकारों का वर्णन भरत नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में प्राप्त होता है। राजागण, सम्पन्न जन तथा सामान्य जनों के लिए विभिन्न प्रकार के बड़े-छोटे प्रेक्षागृह बना करते थे।

9. संस्कृत नाट्य का भाषा विधान विलक्षण एवं अपूर्व है। विभिन्न प्रकार के पात्र भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग करते है। लोक व्यवहार को ध्यान में रखकर ही यह भाषागत विधान किया गया था। पणिनि के समय से पूर्व ही संस्कृत बोलचाल की भाषा के रूप में शिष्ट जनों के मध्य ही रह गई थी। सामान्य जनता संस्कृत भाषा को समझ तो लेती थी किन्तु दैनन्दिन व्यवहार में प्राकृत भाषा का प्रयोग होता था। संस्कृत नाट्य में भी भाषा विधान का यही स्वरूप है। उत्तम कोटिक पात्र संस्कृत का प्रयोग करते है और स्त्रियाँ तथा अन्य पात्र अपने अपने प्रदेशानुकूल प्राकृत भाषा बोलते हैं।

10. संस्कृत नाट्यों में विदूषक की कल्पना भी सर्वथा अनूठी है। सामान्य लोकरूढ़ि में विदूषक का अर्थ सरकस के जोकर की भाँति हो गया है। किन्तु संस्कृत नाट्य में जोकर की भाँति हास्य का भोंडा अथवा अश्लील प्रदर्शन तो सर्वथा अवांछनीय था। भरत ने विदूषक पात्र की रक्षा में स्वयं ओंकार को नियुक्त माना है।[15] सर्वशक्तिमान् परब्रह्म की शक्ति से परिवेष्टित विदूषक पात्र नाट्य के समस्त वातावरण को हास्य की निर्मल छटा से प्रफुल्लित बनाए रखता है। वह नायक का दास नहीं है वरन् विपत्ति से बचाने वाला मित्र, प्रणय व्यथाओं को सुनकर सान्त्वना देने वाला सखा, समय समय पर उचित मन्त्रणा देकर मार्ग निर्देश करने वाला मन्त्री—सभी कुछ है। स्वप्नवासवदत्तम् का विदूषक इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

11. रंगमंच पर संस्कृत नाट्य का प्रारम्भ करने की पद्धति भी विशिष्ट है। जीवन के प्रत्येक कार्य में मंगल एवं कल्याण की भावना होनी चाहिए- भारतीय संस्कृति की यही विशेषता नाट्य प्रारम्भ करने में दीख पड़ती है। नाट्य का प्रारम्भिक अंश इस प्रकार का होता है जिससे आशीर्वाद अथवा नमस्कार अथवा कथावस्तु का निर्देश होता हो। इस प्रकार मंगल रूप में नाट्य प्रारम्भ होकर समाप्त भी मंगल रूप में होता है। समग्र विश्व के कल्याण की भावना से प्रत्येक नाट्य के अन्त में भरतवाक्य पाया जाता है।

---

14. दशरूपक 3/34-35— दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्॥

15. नाट्यशास्त्र 1/97— विदूषकमथोङ्कारः।

उपर्युक्त समस्त विशेषताओं से स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि संस्कृत नाट्य का साहित्य में कितना महनीय एवं गौरवपूर्ण स्थान है।

नाट्य के भेद अथवा प्रकार— आजकल हिन्दी भाषा में अंग्रेजी शब्द 'ड्रामा' के अनुकरण पर सारे दृश्यकाव्य के लिए 'नाटक' शब्द प्रचलित हो गया है। किन्तु संस्कृत में 'ड्रामा' अर्थ को बोधित कराने वाला शब्द 'नाट्य' है, नाटक नहीं। 'नाटक' तो 'नाट्य' के विभिन्न प्रकारों में से एक प्रकार है। नाट्य शब्द के दो पर्याय और है—रूपक एवं रूप। दृश्यकाव्य के लिए नाट्य, रूपक अथवा रूप—ये तीन शब्द थे, जिनमें से रूप शब्द का प्रचलन ही कम हुआ। रूपक अथवा नाट्य के विभिन्न नियमों का विधान करने वाले शास्त्रकारों ने रूपक के दस भेद अथवा प्रकार परिगणित किए तथा कतिपय उपरूपक भी स्वीकार किए। उपरूपकों की संख्या तो भिन्न भिन्न शास्त्रकारों ने अठारह या बीस मानी किन्तु रूपक दस ही हैं। दृश्यकाव्य के इन भेदों से नाट्य की लोकप्रियता तथा विस्तृत विकास का सहज ही आभास हो जाता है। रूपक भेद इस प्रकार हैं—

1. नाटक यथा भवभूति का उत्तररामचरित
2. प्रकरण यथा शूद्रक का मृच्छकटिक
3. भाण यथा वामनभट्ट वाण का शृंगार भूषण भाण
4. प्रहसन यथा महेन्द्रविक्रम का मत्तविलास
5. डिम यथा वत्सराज का त्रिपुरविजय
6. व्यायोग यथा भास का मध्यमव्यायोग अथवा दूतवाक्यम्
7. समवकार यथा वत्सराज का समुद्रमन्थन
8. वीथी यथा रविपति का प्रेमाभिराम
9. अंक अथवा उत्सृष्टिकांक यथा भास्कर का उन्मत्तराघव
10. ईहामृग यथा वत्सराज का रुक्मिणीहरण

उपरूपक भेद—उपरूपकों के विभिन्न भेदों में कुछ के ही उदाहरण उपलब्ध होते हैं—अन्य उपरूपक नाम शास्त्रग्रन्थों में तो उद्धृत हुए हैं किन्तु वे अद्यावधि उपलब्ध नहीं हैं।

1. नाटिका यथा हर्ष की रत्नावली
2. सट्टक यथा राजशेखर की कर्पूरमंजरी
3. त्रोटक यथा कालिदास का विक्रमोर्वशीय
4. गोष्ठी यथा रैवतमदनिका
5. नाट्यरासक यथा विलासवती
6. प्रस्थान यथा शृंगारतिलक
7. उल्लाप्य यथा देवीमहादेव
8. काव्य यथा यादवोदय
9. प्रेक्षणक यथा बालिवध
10. रासक यथा मेनकाहित

11. संलापक यथा मायाकापालिक
12. श्रीगदित यथा क्रीडारसातल
13. शिल्पक यथा कनकावतीमाधव
14. विलासिका
15. दुर्मल्लिका यथा बिन्दुमती
16. हल्लीसक यथा केलिरैवतक
17. प्रकरणिका
18. भाणिका यथा कामदत्ता

दृश्यकाव्य के सारे भेदों- उपभेदों में रचना की दृष्टि से नाटक, प्रकरण, भाण तथा नाटिका ही अधिक विख्यात हुए। इनमें भी रससंवलित तथा समस्त नाट्य संविधानों से युक्त नाटक ही सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित हुआ, क्योंकि नाट्य साहित्य में नाटकों की संख्या सबसे अधिक है, अन्य भेद कम पाए जाते है।

नाट्य का उद्‌भव एवं विकास— संस्कृत नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न मतमतान्तरों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उन सभी मतों से भी वैदिक युग में नाट्य सम्बन्धी तत्त्वों के अस्तित्व का परिज्ञान तो हो ही जाता है।

ऋग्वेद के सूक्तों से ज्ञात होता है कि उस समय सोमविक्रय के अवसर पर एक प्रकार का अभिनय हुआ करता था जिससे दर्शकों का मनोरंजन हो सके। ऋग्वेद के विभिन्न संवादसूक्तों में नाटकीय कथोपकथन के तत्त्व उपलब्ध होते ही है। सामवेद गेय है अत: गीति अंश सामवेद से ग्रहण हो जाता है। वाजसनेयी संहिता (30/4) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/4/2) में 'शैलूष' शब्द प्राप्त होता है, जिसका नर्तक, गायक अथवा नट— कुछ भी अर्थ ग्रहण करना सम्भव है। कौषीतकी ब्राह्मण में मुख्य विद्याओं के अन्तर्गत नृत्य, गीत तथा संगीत को भी परिगणित किया गया है। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में नाट्य के लिए आवश्यक तत्त्वों में से नृत्य, गीत, अभिनय तथा संवाद आदि की सत्ता तो थी, किन्तु नाट्य का सम्पूर्ण विकसित रूप तब स्थिर नहीं हो सका था।

रामायण महाभारत युग में नाट्य तथा नाट्यकला के सबल प्रमाण प्राप्त होते हैं। रामायण ने स्पष्ट कहा है कि अराजक जनपद में नट और नर्तक प्रसन्न नहीं रहते।[16] रामायण कालीन समय में नट तथा नर्तकों के समाज हुआ करते थे[17] जिसका तात्पर्य गोष्ठी तथा मनोरंजन हैं। महाभारत में तो नटों का विविध उल्लेख प्राप्त होता है।[18] विराट पर्व में साक्षात् रंगशाला का उल्लेख है। हरिवंश में रामचरित के नाटक रूप में खेले जाने का वर्णन आया है जिसमें कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न ने राम की भूमिका ग्रहण की थी। कौटिल्य के

16. वाल्मीकि रामायण 2/67/15—नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तका:।
17. वाल्मीकि रामायण 2/69/3-4
18. महाभारत 2/15/13 —आनर्तश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायका:।
2/12/36 —नाटका: विविधा: काव्या: कथाख्यायिककारका:।

अर्थशास्त्र में नट अथवा अभिनेता के अर्थ में 'कुशीलव' शब्द का प्रयोग हुआ है। पाणिनि के समय तक नाट्य का इतना विकास हो चुका था कि नटों को शिक्षा देने के लिए नटसूत्र रचे जाने लगे थे। पाणिनि ने स्वयं शिलालि तथा कृशाश्व रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है।[19] इन नटसूत्रों से पूर्व नाट्य भी अवश्य रचे गए होंगे क्योंकि लक्षणग्रन्थ की रचना लक्ष्यग्रन्थ के आधार पर ही होती है। नाट्य में बौद्धों की अभिरुचि भी थी क्योंकि अवदानशतकों में नाट्यकला का निर्देश है। पतंजलि के महाभाष्य में कंसवध तथा बलिबन्ध नामक दो रूपकों का उल्लेख है। पतंजलि से पूर्व बहुत संख्या में नाट्य रचे जाने लगे थे, यह भास के रूपकों से प्रमाणित हो जाता है। पतंजलि के समय से पूर्व ही नाट्यगृहों का निर्माण भी होने लगा था। छोटा नागपुर की पहाड़ियों में सीताबेंगा गुफा में एक प्राचीन प्रेक्षागृह प्राप्त हुआ है जो नाट्यशास्त्र के निर्देशों के सर्वथा अनुकूल निर्मित है तथा पुरातत्त्ववेता इसका समय ईसा पूर्व द्वितीय या तृतीय शती स्वीकार करते हैं। नाट्यशास्त्र में 'त्रिपुरदाह' तथा 'समुद्रमन्थन' नामक दो रूपकों का उल्लेख है। नाट्यशास्त्र में प्राप्त नाट्य का सांगोपांग विस्तृत और सैद्धान्तिक विवेचन ही इस तथ्य का पुष्ट प्रमाण है कि उस समय तक नाट्यकला अत्यन्त समृद्ध एवं उन्नत स्थिति में थी।

इस समस्त साक्ष्यों से स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि वैदिक युग से विभिन्न तत्त्वों को ग्रहण करती हुई नाट्यकला का पूर्ण परिपाक अनेक शताब्दियों में हो पाया। समय समय पर अनेक नाट्य भी रचे जाते रहे जिनके अब नाममात्र ही अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम नाट्यकार के रूप में भास ही स्वीकृत हैं। किन्तु भास की नाट्यकला का सौष्ठव एवं परिष्कार ही इस तथ्य का द्योतक है कि उनसे पूर्व भी नाट्य रचे अवश्य गए थे जो कालक्रम में लुप्त हो गए।

भास

संस्कृत भाषा का नाट्यसाहित्य परिमाण एवं गुणवत्ता—दोनों दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है। आज से लगभग सत्तर वर्ष पूर्व तक कालिदास एवं अश्वघोष ही ऐसे नाट्यकार थे, जिनकी कृतियाँ उपलब्ध थीं। इन से भी पूर्ववर्ती अनेक नाट्यकारों के नाम तो प्राप्त होते थे, अन्य ग्रन्थों में उद्धरण भी प्राप्त होते थे, किन्तु ग्रन्थ उपलब्ध नहीं थे। ऐसे लब्धप्रतिष्ठ नाट्यकारों में 'भास' एक बहुचर्चित नाम था।

1912 ईस्वी में तिरूवांकुर नगर के निवासी महामहोपाध्याय टी. गणपति शास्त्री को त्रावणकोर के विभिन्न नगरों में भोजपत्रों पर लिखे हुए कतिपय नाटक मिले, जिसे उन्होंने अनन्तशयन ग्रन्थमाला (त्रिवेन्द्रम) से प्रकाशित किया। गणपति शास्त्री ने यह मत भी प्रतिपादित किया कि विभिन्न कवियों तथा शास्त्रकारों द्वारा समादरपूर्वक उल्लिखित कवि भास ही इन तेरहों नाट्यों के रचयिता हैं। शास्त्री का यह मत अनेक तर्कों पर आधारित था।

19. अष्टाध्यायी 4/3/110—पराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः।
4/3/111—कर्मन्दकृशाश्वादिभिः।

इस नाट्यसमूह के प्रकाशित होने के कुछ समय उपरान्त ही विद्वत्समाज में इनके सम्बन्ध में भारी वादविवाद उठ खड़ा हुआ। इस नाट्यसमूह का कर्तृत्व एवं साथ ही विभिन्न अन्तरंग-वाह्य साक्ष्यों के आधार पर भास का समय निर्धारित करने में विद्वानों ने पर्याप्त परिश्रम किया। तेरहों नाट्यों के कर्तृत्व एवं भास के स्थितिकाल के सम्बन्ध में यह समस्त वादविवाद इसीलिए रहा क्योंकि अन्य प्राचीन महाकवियों के समान ही इन रचनाओं में भी लेखक के नाम अथवा स्थितिकाल के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। सरलता की दृष्टि से इस समस्त वादविवाद को चार श्रेणियों में प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. ये तेरहों नाट्य भास की रचनाएँ हैं।

2. ये नाट्य भास की रचनाएँ नहीं हैं वरन् किसी अन्य व्यक्ति ने इन्हें लिख कर भास के नाम से प्रचारित कर दिया।

3. ये उपलब्ध तेरह नाट्य भास के मूल वृहत् नाट्यों के संक्षिप्त रंगमंचीय रूप हैं।

4. ये तेरहों नाट्य भास के मूल नाट्यों के आधार पर लिखे गए नाट्य हैं।

इन तेरह नाट्यों के एक कवि की रचना होने में तो किसी को सन्देह नहीं है। तेरहों नाट्यों की पारस्परिक समानता उनके एक कर्तृत्व को स्पष्टतया प्रकट करती है। ये समानताएँ इस प्रकार दृष्टिगोचर होती है—

1. इन तेरह नाट्यों में 'चारुदत्त' नाटक को छोड़कर अन्य सभी 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस वाक्य से आरम्भ हुए हैं।

2. इन नाट्यों में आमुख की पारिभाषिक संज्ञा 'प्रस्तावना' के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग मिलता है। केवल 'कर्णभार' में ही 'प्रस्तावना' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

3. तेरह में से पाँच नाट्यों के प्रारम्भिक श्लोक में मुद्रालंकार है, जिसमें देवस्तुति के साथ ही कथानक का संकेत तथा मुख्य पात्रों का नामोल्लेख है।

4. प्रायः सभी नाट्यों का स्थापना अंश अत्यल्प है तथा सूत्रधार के द्वारा कहे गए प्रारम्भिक वाक्य एक से हैं।

5. तेरह नाट्यों में से दो — चारुदत्त एवं दूतघटोत्कच में भरतवाक्य नहीं है। सभी नाट्यों के भरतवाक्य में शाब्दिक तथा भाव सम्बन्धी सादृश्य है।

6. अनेक नाटकों में कंचुकी का नाम बादरायण तथा प्रतिहारी का नाम विजया है।

7. भरत ने नाट्यशास्त्र में अनेक नियम ऐसे प्रस्तुत किए थे जिनके अनुसार कतिपय दृश्य यथा मृत्यु, अग्निदाह, आक्रमण, वध, शयन, लड़ाई-झगड़ा आदि रंगमंच पर साक्षात् प्रदर्शित नहीं किए जाने चाहिएँ। इन नियमों का एक सा उल्लघंन इन तेरह नाट्यों में से अनेक में प्रायः पाया जाता है। 'उरुभंग' में दुर्योधन की, 'अभिषेक' में बालि की तथा 'प्रतिमा' नाटक में दशरथ की मृत्यु रंगमंच पर दिखाई गई है। 'बालचरित' में कृष्ण और अरिष्ट के भयंकर युद्ध को भी रंगमंच पर दिखाया गया है। स्वप्नवासवदत्ता में शयन दृश्य भी प्राप्त होता है।

8. इन सभी नाट्यों में प्रायः 'आकाशभाषित' नाट्यधर्म के द्वारा ही विस्तृत कथांश प्रस्तुत कर दिया गया है। दूतवाक्यम् में तो लगभग आधा रूपक ही 'आकाशभाषित' के

सहारे आगे बढ़ा है, जिसमें एक ही पात्र उत्तर प्रत्युत्तर बोलता रहता है।

9. प्रायः सभी नाट्यों में अपाणिनेय आर्ष प्रयोग प्राप्त होते हैं।

10. इन सभी नाट्यों में परस्पर समान भावों, शब्दों, वाक्यों तथा दृश्यों की अवतारणा की गई है। सूर्यास्त, युद्ध तथा युद्धक्षेत्र आदि की वर्णनपद्धति में आश्चर्यजनक समानता है।

11. इन सभी नाटकों की सामाजिक परिस्थितियों, भाषा तथा शैली में भी व्यापक साम्य है।

12. इन सभी नाट्यों में सूत्रधार अपने वार्तालाप में कहीं भी नाट्यकार का नाम अथवा रूपक का नाम नहीं बताता। नाटकों के नामों का उल्लेख केवल अन्त में प्राप्त होता है।

13. इन तेरहों नाट्यों के कुछ पदों और वाक्यांशों में एकरूपता है। डॉ. सुकथनकर ने 127 ऐसे समान वाक्य खोज निकाले हैं जो इन रूपकों में प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त विभिन्न साम्यों के कारण यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि त्रिवेन्द्रम के तेरहों रूपक एक ही व्यक्ति की रचना हैं। किन्तु ये नाट्य भास रचित हैं अथवा नहीं—यह प्रश्न विवादास्पद ही बना रहा। प्रो. कीथ एवं डॉ. पुशलकर प्रभृति विद्वानों ने इन नाट्यों को भासकृत स्वीकार किया; कुन्हनराजा, देवधर एवं डॉ. विण्टरनित्ज ने इन्हें भास की रचना नहीं माना: तथा डॉ. सुकथनकर आदि विद्वानों ने मध्यम मार्ग अपनाते हुए इन तेरह नाटकों में से कुछ को तो भासकृत माना तथा अन्य नाट्यों को भास के नाम से सम्बद्ध कर दिया गया माना। पिशरोतियों के अनुसार इन रूपकों के स्थापना भाग बाद में जोड़े गए हैं और मुख्य दृश्यों में स्थानीय रंगमंच के अनुकूल इन रूपकों का मूल स्वरूप अथवा संक्षिप्त रूप सुरक्षित है। डॉ. बार्नेट इस रूपक समूह को पाण्ड्य राजाओं के सभाकवियों द्वारा रचित मानते हैं। कुछ आलोचकों ने इन नाटकों को केरलीय रंगमंच के अभिनेता—चाक्यारों की रचना माना।

किन्तु इन नाट्यों को भासकृत न मानने का यह आग्रह अधिक युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इन नाटकों के भासरचित होने के अनेक प्रबल एवं पुष्ट प्रमाण हैं। संस्कृत साहित्य के अनेक आचार्यों एवं कवियों ने भास एवं उनकी रचनाओं के उल्लेख अपने अपने ग्रन्थों में किए हैं: अथवा भासकृत नाट्यों में से अपने ग्रन्थों में उद्धरण दिए हैं।

1. रामचन्द्र-गुणचन्द्र (बारहवीं शती उत्तरार्ध) ने 'नाट्यदर्पण' में 'स्वप्नवासवदत्तम्' नामक नाटक का भासकृत होना स्पष्ट किया है—'यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकाशिलातलमालोक्य वत्सराज....'

2. जयदेव (बारहवीं शती) ने 'प्रसन्नराघव' में भास के काव्य की मुख्य विशेषता हास मानी है—'भासो हासः....' इस विशेषण से हास्य रस वर्णन में भास की प्रवीणता ध्वनित होती है। इन तेरहों नाट्यों में हास्य रस के प्रसंग सुन्दर रूप में प्रदर्शित किए गए है। प्रतिमा नाटक, मध्यमव्यायोग, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्तम् आदि में हास्य के उद्धत और सुकुमार दोनों ही रूपों का समुचित वर्णन है।

3. शारदातनय (बारहवीं शती) ने 'भावप्रकाशन' में प्रशान्त नाटक के लक्षण एवं व्याख्या देते हुए 'स्वप्नवासवदत्तम्' का सम्पूर्ण कथानक दिया है।

4. भोजदेव (ग्यारहवीं शती) ने 'शृंगार-प्रकाश' में स्पष्ट उल्लेख किया है— 'स्वप्नवासवदत्ते पद्मावतीमस्वस्थां द्रष्टुं राजा समुद्रगृहकं गतः।'

5. राजशेखर (नवीं शती) ने 'सूक्तिमुक्तावली' में भास नामक नाटककार द्वारा लिखे गए अनेक नाटकों (नाटक चक्र) का कथन करते हुए उनमें भी विशिष्टतम स्वप्नवासवदत्तम् को बताया है।[20]

6. वाक्पतिराज (आठवीं शती) ने 'गउडवहो' (गौडवध) में भास को 'जलणमित्त' (ज्वलनमित्र) कहा है।[21] त्रिवेन्द्रम के इस नाट्यसमूह के रचयिता के लिए यह विशेषण बहुत सटीक है क्योंकि कई नाटकों के कथानक में अग्निदाह का दृश्य अथवा वर्णन है।

7. बाणभट्ट (सातवी शती) ने 'हर्षचरित' में यशस्वी भास का उल्लेख करते हुए उनके नाटकों की कतिपय विशेषताओं का वर्णन किया है।[22] ये सारी ही विशेषताएँ यथा पात्रों की बहुलता, नाट्य का सूत्रधार से प्रारम्भ होना आदि इन तेरह नाट्यों के समूह पर घटित हो जाती हैं।

8. इसी प्रकार दण्डी ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में भास एवं उनके नाटकों के जो गुण वर्णित किए हैं,[23] वे पूर्णतया इस नाट्य समूह में प्राप्त होते हैं।

9. कालिदास ने स्वयं मालविकाग्निमित्र में भास का नामोल्लेख आदरपूर्वक किया है—'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य.....।' इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि कालिदास के समय में अपनी उच्च कोटि की नाट्य रचना के कारण भास एक लब्धप्रतिष्ठ नाटककार थे।

10. अनेक अलंकारशास्त्रियों ने अपने सिद्धान्तों के उदाहरण के रूप में भास नाट्य समूह से श्लोक उद्धृत किए हैं। वामन ने स्वप्नवासवदत्ता (4/8), चारुदत्त (1/2) एवं प्रतिज्ञायौगन्धरायण (4/2) से उदाहरण दिए है। भामह ने प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक की आलोचना की है। दण्डी ने बालचरित (1/15) तथा चारुदत्त से पद्य उद्धृत किए हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोकलोचन में स्वप्नवासवदत्तम् का उल्लेख भी किया है और एक पद्य उद्धृत भी किया है।

---

20. भासनाटकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः।

21. गउडवहो 800— भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे तहावि रहुवारे।
सो बन्धेव आ बन्धाम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो॥

22. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव॥

23. सुविभक्तमुखाद्यंगैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः ।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः॥

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट निश्चित किया जा सकता है कि केरल से प्राप्त तेरह नाट्यों का समूह उसी भास कवि द्वारा रचित है जिसकी नाट्यकला, रसोपेतता तथा नाट्य संविधान की चर्चा एवं प्रशंसा परवर्ती कवियों और आचार्यों ने मुक्त कण्ठ से की थी।

स्थितिकाल— कर्तृत्व के समान ही भास का स्थितिकाल भी अद्यावधि विवादास्पद ही रहा है। अन्य किसी भी संस्कृत कवि के समय के सम्बन्ध में इतनी विषमताएँ प्राप्त नहीं होतीं। छठी शती ईसा पूर्व से लेकर दसवीं-ग्यारहवीं शती ईस्वी तक के बीच पन्द्रह सौ वर्षों के दीर्घ विस्तार में भिन्न-भिन्न विद्वान् भास का समय निर्धारित करते हैं। डॉ. पुशलकर ने भास के स्थितिकाल के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक में निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत की है—

भास स्थितिकाल	विभिन्न मत के विद्वान्
छठी शती से चौथी शती ईसा पूर्व	टी. गणपति शास्त्री, हरप्रसाद शास्त्री, पुशलकर, खुपेकर, मैक्डॉनल; गोल्डस्टकर, किरत, टटके, भिण्ड, दीक्षितार;
तीसरी शती ईसा पूर्व	जागीरदार, कुलकर्णी, शेम्गवनेकर, चौधरी, जायसवाल;
दूसरी शती ईसा पूर्व	कोनो, लिण्डेन्यू, सरूप, सौली, वेबर;
तीसरी शती ईस्वी	बनर्जी, भण्डारकर, कीथ, याकोबी, सुकथनकर;
चौथी शती ईस्वी	लेस्नी, विण्टरनित्ज;
पाँचवीं छठी शती ईस्वी	शंकर;
सातवीं शती ईस्वी	बार्नेट, देवधर, हीरानन्द शास्त्री;
नवीं शती ईस्वी	पी. वी. काणे;
दसवीं शती ईस्वी	रामावतार शास्त्री;
ग्यारहवीं शती ईस्वी	रेड्डी शास्त्री।

इन विभिन्न विद्वानों के द्वारा दिए गए विभिन्न तर्कों और उनके खण्डन के विस्तार में न जाकर कतिपय उन बिन्दुओं का परीक्षण अधिक समीचीन रहेगा जिनसे भास का समय सुगमता पूर्वक निश्चित हो सके।

1. कौटिल्य (चौथी शती ईसा पूर्व) ने युद्धक्षेत्र में सुभटों के उत्साह को बढ़ाने के लिये जो श्लोक उद्धरण रूप में दिए हैं, उनमें से एक श्लोक भासरचित प्रतिज्ञायौगन्धरायण में प्राप्त होता है।[24] किन्तु स्वयं भास ने अर्थशास्त्र के रचयिता रूप में कौटिल्य का उल्लेख न करके कौटिल्य से पूर्ववर्ती वृहस्पति का नामोल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि भास के समय तक या तो कौटिल्य अर्थशास्त्र रचा नहीं गया था अथवा लिखे जाने पर भी इतना प्रसिद्ध नहीं हो सका था कि पूर्ववर्ती बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के महत्त्व को कम कर सके।

24. प्रतिज्ञायौगन्धरायण 4/2: अर्थशास्त्र 10/3—
नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्या मा भून्नरकं च गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥

2. प्रतिमा नाटक में रावण ने स्वयं को अनेक विद्याओं का ज्ञाता कहा है।[25] इन उल्लिखित विद्याओं का काल छठी शती विक्रम पूर्व से प्राचीन ही है। गौतम (छठी ई. पूर्व) ने बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का बहुश: उल्लेख किया है। मेधातिथि का न्यायशास्त्र मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका नहीं है अपितु गौतम रचित प्राचीन न्यायशास्त्र है। अतः इन प्राचीन विद्याओं और ग्रन्थों के उल्लेख के कारण तथा परवर्ती महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का उल्लेख न होने के कारण भास का समय प्राचीनतर ही होना चाहिए।

3. भास के अनेक अपाणिनेय प्रयोग भास को पाणिनि (चौथी शती ई. पू.) से पूर्ववर्ती सिद्ध करते हैं।

4. भास ने राजगृह का उल्लेख राजधानी रूप में किया है और पाटलिपुत्र का उल्लेख एक सामान्य नगर के रूप में। अत: भास निश्चय ही पाटलिपुत्र के राजधानी बनने से पूर्व हुए होंगे।

5. भास के रूपकों में जिस तरह की सामाजिक दशा का चित्रण है, वह चित्रण छठी से चौथी शती ईसा पूर्व के भारत की दशा की ओर संकेत करता है। यथा मन्दिरों के घेरे में बालू डालने (प्रतिमा नाटक) की प्रथा आपस्तम्ब (पाँचवीं शती विक्रम पूर्व) में निर्दिष्ट है।

6. भास के नाटकों में आए भरतवाक्य में उल्लिखित 'राजसिंह' पद व्यक्ति - वाचक नहीं है। हिमाचल से लेकर विंध्याचलपर्यन्त तथा समुद्र पर भी राज्य करने वाले राजा की ऐसी प्रशस्ति नन्दवंशीय राजाओं में से किसी राजा की ओर संकेत करती है।

7. प्रतिमा नाटक, अविमारक तथा स्वप्नवासवदत्तम् में निर्दिष्ट राजवंश नन्दवंश तथा मौर्य वंश के समकालीन प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त विभिन्न अतरंग एवं वहिरंग साक्ष्यों के आधार पर भास का समय ईसापूर्व पाँचवी-चौथी शती निश्चित करना ही युक्तिसंगत दीखता है।

भास की जो तेरह नाट्यरचनाएँ उपलब्ध होती हैं, उन सबका कथावस्तु की दृष्टि से चार भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है।

(क) रामायण पर आधारित कथानक— अभिषेक नाटक एवं प्रतिमा नाटक का उद्गम रामायण है, किन्तु भास ने रामायण से कथानक का ढाँचा मात्र ग्रहण करके अपनी कल्पना के द्वारा पात्रों का चरित्र विविध रूप से सज्जित किया है।

(ख) महाभारत पर आधारित कथानक—मध्यमव्यायोग, दूतवाक्यम्, कर्णभार, उरुभंग, दूतघटोत्कच तथा पंचरात्रम् की कथा मूलरूप में महाभारत से ग्रहण की गई है। कवि ने नाटकीय रचना के अनुकूल उसमें अनेक परिवर्तन एवं परिवर्धन किए हैं। लोकमानस में धीरोद्धत पात्रों यथा दुर्योधन एवं कर्ण के चरित्रों को भास ने उदात्त गुणों से भी भूषित किया है।

---

25. प्रतिज्ञायौगन्धरायण 5/8 के उपरान्त गद्यांश—
भो: काश्यपगोत्रोऽस्मि। सांगोपांगं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं; मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं, प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।

(ग) कृष्णकथा पर आधारित कथानक— अनेक विद्वान् .बालचरित. नाटक का मूलस्रोत हरिवंश पुराण, भागवत अथवा विष्णु पुराण को मानते है; किन्तु भास का समय इन ग्रन्थों से बहुत पूर्व होने के कारण यह कथन तर्कसम्मत नहीं जान पड़ता। सम्भवत: इसमें लोकपरम्परा से प्राप्त कृष्णकथा को ग्रहण किया गया है।

(घ) कल्पना पर आधारित कथानक— अविमारक, दरिद्रचारुदत्त, प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण तथा स्वप्नवासवदत्तम् की कथा कविकल्पनाप्रसूत है।

भास ने अपने विभिन्न नाट्यों की कथा भले ही ऐतिहासिक ली अथवा दन्तकथाओं से ग्रहण की, किन्तु सभी कथाओं में भास की मौलिक कल्पना शक्ति एवं अद्भुत नाट्यकुशलता का परिचय पदे-पदे प्राप्त होता है। डॉ. पुशलकर ने नाटकों की शैली, पद्धति, संवाद, नाट्यकौशल आदि के आधार पर भास के तेरह नाट्यों का एक विशिष्ट रचनाक्रम स्वीकार किया है। डॉ. पुशलकर के द्वारा दिए गए रचनाक्रम के अनुसार भास के नाट्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हैं।

1. **दूतवाक्य—** यह एक अंक का व्यायोग नाट्य है। इसमें पाण्डवों की ओर से स्वयं श्रीकृष्ण कौरवों की सभा में संधि प्रस्ताव लेकर जाते हैं। सभा में दुर्योधन श्रीकृष्ण का अपमान करता है। कृष्ण विराट् रूप धारण करके दुर्योधन को मारने के लिए तत्पर होकर भी शांत हो जाते हैं, और विफल मनोरथ होकर पाण्डवों के पास लौट आते हैं। यह रूपक आरभटी वृत्ति युक्त है, तथा राजनीतिक सिद्धान्तों का कोश रूप है।

2. **कर्णभार—**यह एक अंक का उत्सृष्टिकांक रूपक है। डॉ. कीथ इसे व्यायोग रूपक मानते हैं। इसमें कर्ण के द्वारा ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र को कवचकुण्डल दे डालने की कथा है। इस नाट्य के नामकरण का कोई पुष्ट तर्कसम्मत कारण नहीं दीख पड़ता। समय और स्थान की अन्विति का अत्यन्त सुन्दर पालन इस रूपक में हुआ है।

3. **दूतघटोत्कच—**यह एक अंक का उत्सृष्टिकांक रूपक है। डॉ. कीथ इसे भी व्यायोग रूपक स्वीकार करते है। अनेक महारथियों के व्यूह में जयद्रथ के द्वारा अभिमन्यु का वध हो जाने पर घटोत्कच के दौत्य की घटना कविकल्पना पर आश्रित है।

4. **उरुभंग—**यह संस्कृत साहित्य का एकमात्र दु:खान्त रूपक है। उरुभंग उत्सृष्टिकांक रूपक है। इसमें भीम और दुर्योधन के अन्तिम गदायुद्ध और नायक की मृत्यु का करुणापूर्ण वर्णन है। इसी कारण इसका प्रमुख रस करुण है।

5. **मध्यम व्यायोग—**यह एक अंक का व्यायोग रूपक है। घटोत्कच अपनी माँ के भोजन के लिए ब्राह्मण के मध्यम पुत्र को ले जा रहा है। दैवयोग से भीम उधर आ निकलते हैं, और ब्राह्मणपुत्र को अभयदान देकर स्वयं घटोत्कच के साथ हिडिम्बा के पास चले जाते हैं। भीम को अचानक देखकर हिडिम्बा बहुत प्रसन्न होती है। भास का नाट्यकौशल इस रूपक में अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। रूपक का नाम भी नितान्त सार्थक है। क्योंकि भीम भी कुन्ती के मध्यम पुत्र ही थे।

6. **पंचरात्र—**यह समवकार रूपक है तथा इसमें तीन अंक हैं। इसका कथानक महाभारत के विराटपर्व से सम्बद्ध होने पर भी कवि ने उसे परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है।

आचार्य द्रोण पाण्डवों को आधा राज्य देने के लिए दुर्योधन से आग्रह करते हैं। उस समय पाण्डव अज्ञातवास कर रहे थे। दुर्योधन ने आधा राज्य देने के लिए पाण्डवों के पाँचरात में पता चल जाने की शर्त रखी। द्रोणाचार्य के प्रयत्नों से पाण्डव मिल जाते हैं, और दुर्योधन अपना वचन पालन करते हुए आधा राज्य उन्हें दे देता है। इस नाट्य में भास ने दुर्योधन का रूप अत्यन्त उदात्त प्रदर्शित किया है। वस्तुतः भास ने इस रूपक की कथा को महाभारत के वातावरण में अवश्य ग्रथित किया है, किन्तु सम्पूर्ण कथा कविकल्पित ही है।

7. अभिषेक नाटक— इसमें छ:अंक हैं। इसमें बालिवध से लेकर राम के राज्यभिषेक तक की कथा अर्थात् रामायण के किष्किन्धा काण्ड से युद्ध काण्ड तक की घटनाएँ संक्षिप्त रूप में वर्णित हैं। इस नाटक में भास रामकथा में विशेष नाटकीयता उत्पन्न नहीं कर पाए हैं।

8. बालचरित—यह पाँच अंक का नाटक है जो श्रीकृष्ण की बाललीलाओं पर आधारित है। इसमें कृष्णजन्म से लेकर कंसवध तक की घटनाएँ वर्णित है। काव्य परिपाक की दृष्टि इस नाटक की पर्याप्त प्रशंसा हुई है। इस नाटक का एक श्लोक 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि.....' प्राय: ही आलंकारिकों ने उत्प्रेक्षा अलंकार तथा संसृष्टि के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

9. अविमारक- लोक कथा पर आश्रित यह छ: अंकों का एक नाटक है जिसमें सौवीर राजकुमार अविमारक का राजा कुन्तीभोज की पुत्री कुरंगी से प्रणय व्यापार एवं प्रच्छन्न विवाह का नाटकीय वर्णन है। इस नाटक की भाषा सरल है तथा सम्पूर्ण नाट्य नितान्त अभिनेय है। अविमारक का संकेत कामसूत्र में प्राप्त होता है।

10. प्रतिमा नाटक— भास के सर्वोत्तम नाट्यों में परिगणित प्रतिमा नाटक में सात अंक हैं। राम के युवराज पद पर अभिषेक से प्रारम्भ करके रावण वध तथा वन से लौट कर राज्याभिषेक तक की कथा इसमें प्रस्तुत की गई है। इक्ष्वाकुवंशीय मृत राजाओं की प्रतिमाएँ देवकुल में रखे जाने की घटना को अत्यन्त महत्त्व देकर उसी आधार पर इसका नाम प्रतिमा नाटक रखा गया। प्रतिमा निर्माण की कथा भास की निजी मौलिकता है और प्रतिमा दर्शन से ही भरत को दशरथ की मृत्यु का समाचार प्राप्त होता है।

11. प्रतिज्ञायौगन्धरायण— यह चार अंक का नाटक है जिसमें उदयन व वासवदत्ता के प्रेम एवं विवाह की लोककथा को भास ने नाटकीय रूप प्रदान किया है। इस नाटक को स्वप्नवासवदत्ता नाटक की कथा से पूर्वकथा का नाटक भी कहा जा सकता है। काव्यकलापरिपाक एवं नाटककलाप्रौढ़ि—दोनों दृष्टियों से यह सफल नाटक है। राजा उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण की दो दुष्कर प्रतिज्ञाओं के कारण इसका नामकरण प्रतिज्ञायौगन्धरायण हुआ है।

12. स्वप्नवासवदत्तम्— यह भास का सर्वोत्कृष्ट नाटक है। परवर्ती लेखकों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसमें छ: अंक हैं। घटनाक्रम की दृष्टि से यह प्रतिमानाटक का परवर्ती भाग है। यौगन्धरायण द्वारा वासवदत्ता के अग्नि में जल कर भस्म हो जाने का प्रवाद प्रचारित करके उदयन का मगधराज पुत्री पद्मावती से विवाह और छिने हुए राज्य

की पुनः प्राप्ति की कथा इसमें वर्णित है। स्वप्न दृश्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और नाटकीय कौशल से परिपूर्ण है। उसी के नाम पर इस नाटक का नामकरण हुआ है। इस नाटक में कथोपकथन, चरित्रचित्रण, रसोन्मेष तथा नाटकीय संविधान सभी उत्कृष्ट कोटिक है।

13. चारुदत्त— यह चार अंक का नाट्य है। नाट्य की सहसा समाप्ति से यह अपूर्ण जान पड़ता है। सम्भवतः भास की मृत्यु के कारण यह पूरा न हो सका। संभवतः इसी कथा की पूर्ति शूद्रक ने अपने मृच्छकटिक में की है। इस नाट्य की कथा का आधार भी लोक कथा है जिसमें निर्धन किन्तु गुणी ब्राह्मण चारुदत्त तथा रूपवती गणिका वसन्तसेना के प्रणय का उपक्रम मात्र वर्णित है।

इन तेरह नाट्यों के अतिरिक्त भी भास के नाम से 'यज्ञफल' नामक एक और रूपक प्रकाशित किया गया था। किन्तु विद्वानों ने उसे भास की मौलिक रचना स्वीकार नहीं किया।

नाट्यकला वैशिष्ट्य— नाट्य के क्षेत्र में भास ने एक विशिष्ट स्थान ग्रहण कर रखा है। उपलब्ध नाटककारों में वे प्रथम हैं और परवर्ती कालिदास, बाण आदि महाकवियों ने मुक्त कण्ठ से उनकी प्रशंसा की है। उनके नाटकों की विविधता तथा अनेकता ही भास के नाट्यकौशल और मौलिकता की परिचायक है। उनके रूपकों में नाट्यनियमों का सुदृढ़ पालन भले ही न हो, किन्तु रोचकता की कमी नहीं है।

कथावस्तु— कथावस्तु की दृष्टि से भास का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। पुराण, इतिहास, रामायण, महाभारत, कृष्णकथा, आख्यायिका, लोककल्पना—प्रत्येक क्षेत्र से भास ने कथानक ग्रहण करके उसको नाट्योंपयोगी बना दिया है। भास के रूपकों के संक्षिप्त परिचय में उस कथावस्तु के उपजीव्य ग्रन्थ का संकेत कर दिया गया है। सूक्ष्मतया अवलोकन करने पर विभिन्न नाट्यों में भास के नाट्यकौशल के भिन्न भिन्न स्तर परिलक्षित होते है। रामकथा से सम्बद्ध भास के दो नाटक हैं— अभिषेक एवं प्रतिमा; दोनों में ही यद्यपि भास ने अपनी कल्पना का तो किंचित् चमत्कार दिखाया है किन्तु कथावस्तु के निर्वाह में सुश्लिष्टता दृष्टिगोचर नहीं होती; शिथिलता ही दिखाई देती है। कृष्णचरित पर आधारित बालचरित के कथासंविधान की भी लगभग यही दशा है। इस दृष्टि से भास की नाट्यप्रतिभा एवं कथा कौशल उन नाट्यों में अधिक उभरे हैं, जिनकी कथावस्तु महाभारत पर आधृत है। ऐसे नाट्यों में भास ने अपनी कल्पना से कथा को आमूलचूल परिवर्तित करके अपनी मौलिकता का परिचय भी दिया है और नाटकीय संविधान की भी रक्षा की है। प्रख्यात कथावस्तु की घटनाओं के क्रम में फेरबदल करके उन्हें भिन्न रूप में प्रस्तुत कर सकने में भास निष्णात हैं। दूतवाक्यम्, दूतघटोत्कच, पंचरात्रम् आदि की कथा वस्तु इसकी ज्वलन्त उदाहरण है। फिर भी भास जिन रूपकों के कारण सर्वाधिक चर्चित एवं प्रशंसित हुए, वे 'अविमारक', 'प्रतिज्ञायौगन्धराण' तथा 'स्वप्नवासवदत्तम्' नाटक कविकल्पित शृंगारिक कथा से ही सम्बद्ध हैं। इन रूपकों की कथावस्तु सर्वत्र ही तीव्र व्यापारपूर्ण है। कथानक का प्रवाह न मन्द होता है और न ही अवरुद्ध होता है। विविध अर्थप्रकृतियों एवं नाटकीय अवस्थाओं के संयोग से विविध नाट्य सन्धियों का निर्वाह भी कुशलता पूर्वक हुआ है।

चरित्रचित्रण— भास के नाट्यों में जीवन वैविध्य प्रचुर मात्रा में है। सम्भवत: इसीलिए उनमें पात्रों की संख्या भी बहुत अधिक है। किन्तु एकाधिक को छोड़कर सभी पात्र अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं और कथावस्तु की गति में सार्थक हैं। भास के पात्र किसी वर्ग विशेष के प्रतिनिधि बन कर नहीं, वरन् अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता के साथ हमारे सम्मुख प्रगट होते हैं। उनके पात्र किसी एक सुनिश्चित साँचे में ढल कर नहीं निकले हैं अपितु सभी पात्रों के 'व्यक्तित्व में बड़ी ही विभेदक प्राणवन्त रेखाएँ हैं।' भास ने कई रूपकों में भावों को अथवा अनेक जड़ वस्तुओं को भी पात्र के रूप में रंगमंच पर प्रविष्ट कराया है; यथा 'बालचरित' में शाप, अलक्ष्मी, महानिद्रा आदि भाव कंस के घर में साक्षात् रूप में प्रविष्ट होते हैं; अथवा 'दूतवाक्यम्' में विष्णु के अस्त्र सुदर्शन चक्र, शार्ंग धनुष, कौमोदकी गदा, पांचजन्य शंख तथा नन्दक असि रंगमंच पर पात्र रूप में आते हैं और संवाद भी बोलते है।

भास की चरित्रचित्रण कला की एक अन्य विशेषता है कि पात्रों के चरित्रांकन में उनका आदर्श अत्यन्त उदात्त रहा। उन्होंने पात्रों के चरित्र को यथासम्भव उज्जवल रूप में ही प्रदर्शित करने का प्रयास किया। इतिहास में कुछ चरित्र ऐसे हैं जो अपनी दुष्टता एवं औद्धत्य के लिए विख्यात हैं। कैकेयी तथा दुर्योधन ऐसे ही चरित्र हैं। ऐसे प्रख्यात चरित्रों के चित्रण में अधिक स्वतन्त्रता न होने पर भी भास ने उनमें कुछ ऐसे गुणों का समावेश कर दिया जिससे उनका कलुषित आचरण उज्ज्वल हो उठा है और सहज ही दर्शकों की उन पात्रों से सहानुभूति हो जाती है। प्रतिमा नाटक में कैकेयी के कलंक को भास ने कुशलतापूर्वक हटाने का प्रयत्न किया है। सीताहरण का समाचार पाकर भरत कैकेयी के पास जाकर व्यंगपूर्वक उसकी क्रूरता बताते हैं—

य: स्वराज्यं परित्यज्य त्वन्नियोगात् वनं गत:।
तस्य भार्या हता सीता पर्याप्तस्ते मनोरथ:॥ (6/13)

यह सुन कर कैकेयी सम्पूर्ण रहस्य अनावृत्त करती है कि 'दशरथ को पुत्रशोक (पुत्र की मृत्यु के दु:ख) में मरने का शाप मिला था। मैने पुत्र प्रवास शोक के द्वारा मुनि के शाप को समाप्त कर देने के लिए राम को वन भिजवाया था, स्वयं राज्य की कामना से नहीं। 14 दिन कहना चाहती थी, मुख से 14 वर्ष निकल गया।' कैकेयी के उत्तर से सन्तुष्ट भरत भी उन्हें अपराधरहित मान लेते हैं—'दिष्ट्यानपराद्धात्र भवती।'

इसी प्रकार 'पंत्ररात्रम्' में दुर्योधन का चरित अतीव उदात्त चित्रित किया गया है जो गुरुदक्षिणा के रूप में अपने वचन पालन के लिए पाण्डवों को आधा राज्य दे देता है। 'उरुभंग' में भी मरणासन्न दुर्योधन को अपनी अनीति और द्वेष पर पश्चाताप करते हुए दिखाकर भास ने उसका चरित्र उज्ज्वल कर दिया है।

भास ने सभी प्रकार के पात्रों के चित्रण में कौशल प्रदर्शित किया है किन्तु उदयन कथा सम्बन्धी उनके रूपकों-स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, अविमारक एवं दरिद्रचारुदत्त- में समानतया एक पात्र का चरित्र नायक के सर्वोत्तम सहायक के रूप में चित्रित हुआ है और वह पात्र है विदूषक। नाट्य में विदूषक पात्र के महत्त्व को सुप्रतिष्ठित

कर देने के लिए ही भास ने 'अविमारक' नाटक के नायक से यह कहलाया—

गोष्ठीषु हासः समरेषु योधः शोके गुरुः साहसिकः परेषु।
महोत्सवो मे हृदि किं प्रलापैर्द्विधा विभक्तं खलु मे शरीरम्॥ (4/29)

रसपरिपाक— आचार्य भरत ने नाटक को 'सर्वरसाढ्य' कहा था। भरत का यह कथन भास के नाटकों के लिए शतशः सही है। भास के रूपकों में रसपरिपाक उच्चकोटि का है। अत्यन्त निपुणता से सभी रसों की यथावसर सिद्धि की गई है। फिर भी महाभारत पर आधारित रूपकों में वीररस का एवं काल्पनिक इतिवृत्त सम्पन्न रूपकों में शृंगार रस का चित्रण अधिकांशतया प्राप्त होता है। भास ने युद्ध के लिए वीरों का आह्वान करते हुए युद्ध को यज्ञसदृश ही चित्रित कर दिया है—

करिवरकरयूपो बाणविन्यस्तदर्भो, हतगजचयनोच्चो वैरवह्निप्रदीप्तः।
ध्वजविततवितानः सिंहनादोच्चमन्त्रः, पतितपशुमनुष्यः संस्थितो युद्धराजः॥

(ऊरुभंग 1/6)

अर्थात 'श्रेष्ठ हाथियों की सूँड रूपी यूप वाला, बाण रूपी बिखेरी गई कुशाओं वाला, मारे गए गजों रूपी समिधा समूह वाला, प्रज्वलित वैर रूपी अग्निसम्पन्न, ध्वजाओं रूपी फैले शामियाने वाला, सिंहनाद रूपी मन्त्र पाठयुक्त, मृत मनुष्य रूपी बलि पशु वाला युद्ध रूपी यज्ञ प्रारम्भ हो चुका है।'

भास ने प्रायः सभी रूपकों में स्थल-स्थल पर घटनाओं के संयोजन द्वारा अथवा पात्रों की वाक्पटुता के द्वारा हास्य रस एवं अद्भुत रस का अत्यन्त सफल निर्वाह किया है जिससे इस रूपकसमूह में चमत्कार उत्पन्न हो कर दर्शकों का आकर्षण बढ़ जाता है।

संवाद—भास के कथोपकथन विशेष प्रभावशाली हैं। प्रत्येक पात्र उतना ही बोलता है, जितना आवश्यक है। यदि किसी विशेष प्रयोजन से समय गँवाना ही अभीष्ट हो, तो भास के पात्र अनर्गल प्रलाप युक्त संवादों से हास्य की सृष्टि कर देते है। ऐसे अनेक स्थलों पर भारती वृत्ति के अंग वीथी के विभिन्न अंग सफलतया प्रयुक्त हुए हैं। कथोपकथन में आकाशभाषित का प्रयोग भी प्रायः ही किया गया है। इन्हीं कारणों से विभिन्न विद्वानों ने भास की संवाद कला की पर्याप्त प्रशंसा की है। प्रत्येक रूपक के कथानक की गति में सरल, संक्षिप्त एवं भावोत्तेजक संवादों के द्वारा एक विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न हो गया है।

प्रकृतिचित्रण एवं अन्य वर्णन—भास ने अपने नाट्यों में अवसर मिलने पर सन्ध्या, रात्रि, समुद्र, ऋतु आदि के सुन्दर प्रकृति वर्णन प्रस्तुत किए हैं। भास के ये वर्णन इतने सजीव हैं कि सम्पूर्ण दश्य का वास्तविक बिम्ब ही ग्रहण करा देते हैं। समुद्र की विशालता एवं विविधता को सँजोए हुए निम्नलिखित वर्णन का आनन्द लें जो भाषा की सरलता के कारण तुरन्त ही हृदय का स्पर्श करता है—

क्वचित् फेनोद्गारी क्वचिदपि च मीनाकुलजलः
क्वचिच्छंखाकीर्णः क्वचिदपि च नीलाम्बुदनिभः।
क्वचिद् वीचीमालः क्वचिदपि च नक्रप्रतिभयः
क्वचिद् भीमावर्तः क्वचिदपि च निष्कम्पसलिलः॥ (अभिषेक 4/17)

'स्वप्नववासदत्तम्' में तपोवन की सन्ध्या का निम्नलिखित वर्णन स्वभावोक्ति का सुन्दर उदाहरण माना गया है, क्योंकि यथातथ्य वर्णन के अतिरिक्त इसमें नेत्रों के सम्मुख चित्र उपस्थित कर देने की क्षमता भी है—

खगा वासोपेता सलिलमवगाढो मुनिजन:
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावृत्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥ (स्वप्नवासवदत्तम्1/16)

अन्धकार प्रसार का एक अत्यन्त हृद्य दृश्य अवलोकनीय है जहाँ भास ने तिमिरसमूह को नाव से पार करने योग्य वर्णित कर दिया—

तिमिरमिव वहन्ति मार्गनद्यः,पुलिननिभाः प्रतिभान्ति हर्म्यमालाः।
तमसि दशदिशो निमग्नरूपाः, प्लवतरणीय इवायमन्धकारः॥

(अविमारक 3/4)

प्रकृति वर्णन के अतिरिक्त भास के अन्य वर्णन भी अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़े हैं। भयभीत नायिका के विभिन्न अंगों के सौन्दर्य वर्णन से युक्त नायक की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

उरः स्तनतटालसं जघनभारखिन्ना तनुः
मुखं नयनवल्लभं प्रकृतिताम्रबिम्बाधरम्।
भयेऽपि यदि तादृशं नयनपात्रपेयं वपुः
कथं नु सुरतान्तप्रचुरविभ्रमं तद् भवेत्॥ (अविमारक 2/6)

भाषा-शैली एवं अलंकार—भास के रूपकों की भाषा सरल एवं भावाभिव्यंजक है। उनकी शैली में ओज, प्रसाद एवं माधुर्य—तीनों ही गुण रसानुकूल प्राप्त होते हैं। सरलता एवं समासराहित्य के कारण उनके नाटकों में वैदर्भी रीति का सुन्दर रूप निखरा है। वाग्विस्तार की अपेक्षा परिमित शब्द प्रयोग के द्वारा भास ने भावों की मार्मिक अभिव्यंजना प्रस्तुत कर दी है। भास ने प्रायः सरल एवं प्रचलित अलंङ्कारों यथा अनुप्रास, उपमा, स्वभावोक्ति, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि का ही अधिक प्रयोग किया है। निम्नलिखित श्लोक में 'म' वर्ण की आवृत्ति से अनुप्रास अलंकार की सुन्दरता देखिए—

मधुमदकला मधुकरा मदनार्ताभिःप्रियाभिरुपगूढाः।
पादन्यासविषण्णा वयमिव कान्तावियुक्ताः स्युः॥ (स्वप्नवासवदत्तम् 4/3)

शरत्काल के स्वच्छ नीलाकाश में उड़ती हुई श्वेत सारसों की पंक्ति के वर्णन में भास ने अत्यन्त सुन्दर रूप में स्वभावोक्ति एवं उत्प्रेक्षा को परस्पर समन्वित कर दिया है—

ऋज्वायतां च विरलां च नतोन्नतां च
सप्तर्षिवंशकुटिलां च निवर्तनेषु।
निर्मुच्यमानभुजगोदरनिर्मलस्य
सीमामिवाम्बरतलस्य विभज्यमानाम्। (स्वप्नवासवदत्तम् 4/2)

भास का निम्नलिखित उत्प्रेक्षा प्रयोग बहुत प्रसिद्ध रहा है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता॥ (बालचरित 1/15)

शिक्षाप्रद लोकोक्तियाँ—भास ने अर्थान्तरन्यास के माध्यम से एवं अन्यथा भी मार्मिक लोकोक्तियों का प्रभावशाली प्रयोग किया है जो अमूल्य रूप से शिक्षाप्रद हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

1. कर्तव्यो भ्रातृषु स्नेहो विस्मर्तव्या गुणेतराः।
   सम्बन्धो बन्धुभिः श्रेयाँल्लोकयोरुभयोरपि॥ दूतवाक्यम् 1/29
2. शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्, सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः।
   जलं जलस्थानगतं च शुष्यति, हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति॥ कर्णभार 1/22
3. मृते ऽपि हि नराः सर्वे सत्ये तिष्ठन्ति तिष्ठति। पञ्चरात्र 3/25
4. अकारणं रूपमकारणं कुलं, महत्सु नीचेषु च कर्म शोभते पञ्चरात्र 2/33
5. प्राज्ञस्य मूर्खस्य च कार्ययोगे, समत्वमभ्येति तनुर्न बुद्धिः। अविमारक 5/5
6. कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना,
   चक्रारपँक्तिरिव गच्छति भाग्यपँक्तिः। स्वप्नवासवदत्तम् 1/4
7. प्रद्वेषो बहुमानो वा सङ्कल्पादुपजायते। स्वप्नवासवदत्तम् 1/7
8. दुखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुखं नवत्वम्।
   यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह वाष्पं प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम्॥ स्वप्नवासवदत्तम् 4/7
9. गुणानां वा विशालानां सत्काराणां च नित्यशः।
   कर्तारः सुलभा लोके विज्ञातारस्तु दर्लभाः॥ स्वप्नवासवदत्तम् 4/10
10. कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति।
    एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां काले काले छिद्यते रुह्यते च॥ स्वप्नवासवदत्तम् 6/10

अभिनेयता—भास की नाट्यकला का सर्वप्रधान गुण अभिनेयता है। नाट्य का स्वरूप अभिनय से ही स्पष्ट होता है क्योंकि नाट्य दृश्य काव्य है। किन्तु संस्कृत नाट्यों के साथ विप्रतिपत्ति यही है कि संस्कृत के अधिकांश रूपक रंगमंच के उपयुक्त प्रतीत नहीं होते। किन्तु भास के प्रायः सभी रूपक रंगमंच के सर्वथा उपयुक्त हैं। पद्यों की योजना स्वल्प है, संवादों में स्वाभाविकता है तथा आंगिक, वाचिक एवं सात्विक—तीनों प्रकार के अभिनयों की योग्यता भास के रूपकों में है। नाट्यशास्त्र ने कतिपय दृश्यों को रंगमंच पर दिखाने का निषेध किया था, किन्तु भास के अनेक रूपकों में ऐसे निषिद्ध दृश्य भी प्राप्त होते हैं यथा उरुभंग एवं अभिषेक नाटक में युद्ध एवं मृत्यु; बालचरित में कंसवध; प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में अग्निदाह; अविमारक एवं स्वप्नवासवदत्ता में शय्या पर शयन; अविमारक में आलिङ्गन आदि। वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो भास के नाट्यों के इन विभिन्न दृश्यों का दर्शकों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। अतः ऐसे निषिद्ध दृश्यों के भी सहज प्रस्तुतीकरण के लिए तो भास की प्रशंसा ही होनी चाहिए।

भास के नाट्यों की विविधता एवं बहुरूपता के कारण जहाँ एक ओर उन्हें कुशल नाटककार के रूप में समादृत किया जाता है, वहीं कतिपय आलोचक भास के रूपकों में अनेक न्यूनताओं का भी दिग्दर्शन कराते हैं यथा अपाणिनेय प्रयोग, अप्रचलित शब्दप्रयोग,

भाव-अस्पष्टता आदि। किन्तु ये न्यूनताएँ विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। ऐसी न्यूनताएँ तो सभी कवियों और नाटककारों में न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध होती हैं। सरल भाषा-शैली, सुन्दर भावाभिव्यंजना एवं उदात्त चरित्र-चित्रण आदि गुणों के कारण भास का स्थान संस्कृत नाट्यसाहित्य में अप्रतिम है। भास के नाटक संस्कृत नाट्यकला के उस स्वस्थ युग के सूचक हैं, जब रंगमंच, नाट्य एवं नाटककार एक दूसरे के परिपूरक एवं परिपोषक थे। महाकवि कालिदास ने भास की महनीय नाट्यकला से प्रभावित होकर ही उनको 'प्रथितयशसाम्' कह कर सम्मानित किया है।

शूद्रक

अत्यन्त रोचक एवं बहुरंगी प्रकरण 'मृच्छकटिक' के रचयिता के रूप में शूद्रक संस्कृत नाट्य साहित्य में विख्यात हैं। संस्कृत नाट्य के क्षेत्र में मृच्छकटिक जितना सुन्दर, सजीव, घटनासम्पन्न, जीवन्त पात्रयुक्त तथा रसपेशल है, उसके लेखक का व्यक्तित्व उतना ही विवादास्पद तथा कल्पनासम्मिश्रित है। शूद्रक ऐतिहासिक व्यक्ति तो निश्चय ही हैं, क्योंकि संस्कृत साहित्य के कथा, आख्यायिका, नाट्य, काव्य—सभी क्षेत्रों में शूद्रक का नाम संस्कृतज्ञों का सुपरिचित रहा है। हर्षचरित, कादम्बरी, राजतरंगिणी, कथासरित्सागर, स्कन्दपुराण, वेतालपंचहविंशतिका, दशकुमारचरित आदि विभिन्न ग्रन्थों में शूद्रक का उल्लेख हुआ है। किन्तु फिर भी शूद्रक के जीवन तथा समय के सम्बन्ध में प्रामाणिकतापूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यह विषय ऐतिहासिक अनुसंधान की अपेक्षा रखता है। मृच्छकटिक के रचयिता के रूप में शूद्रक के काल और व्यक्तित्व को लेकर इसी नाट्य की प्रस्तावना में आए हुए तीन श्लोकों के कारण और भी अधिक कठिनाई उत्पन्न हो गई है। इनमें शूद्रक के लिए लिट् (परोक्षे लिट्) लकार का प्रयोग किया गया है और शूद्रक के द्वारा स्वेच्छया अग्नि में प्रविष्ट होने का कथन है तथा उसमें भी भूतकाल का ही प्रयोग है। स्वयं अग्नि में प्रविष्ट हो हाने के उपरान्त व्यक्ति नाट्यरचना कैसे कर सकता है? ये महत्त्वपूर्ण किन्तु विवादास्पद श्लोक इस प्रकार है।[26] 'गजेन्द्र तुल्य गतिवाले, चकोर सदृश नेत्रयुक्त, पूर्ण चन्द्रमा जैसे मुखवाले, सुन्दर देहधारी, द्विजों (ब्राह्मणों) में प्रमुख, अगाध शक्तिशाली तथा प्रख्यात शूद्रक नाम के कवि हुए। वे ऋग्वेद, सामवेद, गणित, वैशिकी कला (संगीत आदि) तथा हस्तिविद्या में कुशल थे। शिव की कृपा से अज्ञानतिमिर के

---

26. मृच्छकटिक 1/3—5—द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः॥
ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां।
ज्ञात्वां शर्वप्रसादात् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य॥
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा।
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥
समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनश्च।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव॥

नाशपूर्वक दिव्य दृष्टि पाकर, पुत्र को राजसिंहासन देकर, अत्यन्त उन्नतिशाली अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करके, सौ वर्ष तथा दस दिन की आयु प्राप्त करके शूद्रक अग्नि में प्रविष्ट हो गए (स्वेच्छया मरण-वरण किया)। युद्ध व्यसनी, प्रमादरहित, वेदज्ञानियों में श्रेष्ठ, तपस्वी तथा शत्रुओं के हाथियों से बाहुयुद्ध के इच्छुक, शूद्रक नामवाले राजा थे।'

इन श्लोकों के सम्यक् अनुशीलन से दो ही सम्भावनाएँ ग्रहण की जा सकती है—

1. यह मृच्छकटिक शूद्रक नामधारी राजा की ही रचना है, किन्तु प्रस्तावना के श्लोक किसी परम शूद्रक भक्त ने बाद में जोड़ दिए। अत: प्रक्षिप्त है।

2. मृच्छकटिक की रचना किसी अन्य व्यक्ति ने की, किन्तु प्रसिद्धि-प्राप्ति की इच्छा से इस नाट्यरचना का नाम शूद्रक के साथ जोड़ दिया। डॉ. कीथ ने इस दूसरी सम्भावना का ही समर्थन किया। किन्तु अधिकांश विद्वान् प्रथम सम्भावना के ही प्रबल पोषक हैं कि प्रस्तावना के ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। तथा मृच्छकटिक की रचना राजा शूद्रक ने की है।

मृच्छकटिक का रचनाकाल भी अत्यन्त विवाद का विषय है। उसके रचनाकाल का अद्यावधि कोई प्रामाणिक निश्चय नहीं हो पाया है। तृतीय शती ईसा पूर्व, प्रथम शती ईसा पूर्व, तृतीय शती ईस्वी, तथा पंचम शती ईस्वी आदि अनेक समय शूद्रक के स्थितिकाल के रूप में भिन्न भिन्न विद्वानों ने प्रस्तुत किए हैं। किन्तु प्रत्येक के ही तर्क विशेष प्रभावयुक्त अथवा प्रामाणिक नहीं हैं। समय निर्धारण की दृष्टि से मृच्छकटिक नाट्य अथवा शूद्रक की पूर्व सीमा तथा अपर सीमा तो सरलतया निश्चित की जा सकती है।

1. प्रसिद्ध नाटककार भास का समय ईसा पूर्व पाँचवी शती निश्चित है और शूद्रक भास के बाद ही हुए हैं। क्योंकि भास ने 'दरिद्र चारुदत्त' अथवा 'चारुदत्त' नामक चार अंकों का नाटक लिखा था। यह नाटक अपूर्ण है। शूद्रक के मृच्छकटिक में दस अंक है तथा प्रथम चार अंकों में भास के नाटक 'चारुदत्त' की ही कथा लगभग ज्यों की त्यों ग्रहण की गई है। इसी प्रारम्भिक कथा को शूद्रक ने अगले छह अंकों में आगे बढ़ाया है, अत: शूद्रक भास के परवर्ती है।

2. वररुचि ने प्राकृत व्याकरण के जो नियम प्रस्तुत किए थे, उन नियमों से मृच्छकटिक की भाषा का बहुत साम्य है। वररुचि का समय ईसापूर्व तृतीय शती माना जाता है। अत: शूद्रक वररुचि से भी परवर्ती हैं।

3. मृच्छकटिक के नवें अंक में हत्या के अपराधी चारुदत्त के अभियोग का निर्णय मनुस्मृति के प्रमाण पर किया गया है।[27] मनु का समय ईसा पूर्व द्वितीय शती माना जाता है। अत: शूद्रक प्रसिद्ध स्मृतिकार मनु के उपरान्त ही हुए हैं।

---

27. मृच्छकटिक 9/39— अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात् तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह॥

मनुस्मृति 8/380— न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षयम्॥

इन प्रमाणों के आधार पर शूद्रक के समय की पूर्वसीमा ईसापूर्व द्वितीय शती ठहरती है।

1. वामन (800 ईस्वी) ने काव्यालंकारसूत्र में शूद्रकरचित प्रबन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है।[28] अतः शूद्रक वामन से पहले हुए होंगे।

2. भारत में वराहमिहिर (589 ईस्वी) का वृहज्जातक ग्रन्थ फलित ज्योतिष का सर्वमान्य ग्रन्थ है, जिसके अनुसार बृहस्पति एवं मंगल (अंगारक) को परस्पर शत्रुग्रह कहा गया है।[29] यह स्थिति वराहमिहिर से पहले की होनी चाहिए। अतः शूद्रक वराहमिहिर से पूर्व हो चुके थे।

इन प्रमाणों के आधार पर शूद्रक के समय की अपर सीमा छठी ईस्वी है। ईसापूर्व द्वितीय शती से लेकर छठी शती ईस्वी तक के लगभग सात सौ वर्षों के मध्य शूद्रक का समय दोलायमान है। मृच्छकटिक में संस्कृत भाषा की सरलता एवं प्राकृत भाषाओं की भिन्नरूपता तथा बहुलता; राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा की अस्थिरता; वैदिक धर्म का सम्मान तथा बौद्ध धर्म के प्रति किंचित् हेय दृष्टि ; नाट्यशास्त्र के भाषा सम्बन्धी नियमों का कठोरतया पालन आदि अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर विद्वज्जन मृच्छकटिक का रचनाकाल प्रथम शती ईसापूर्व स्थिर करते हैं।[30]

मृच्छकटिक की संक्षिप्त कथा—मृच्छकटिक रूपक का एक भेद-प्रकरण है। इसमें दस अंक हैं, जिनमें दरिद्र किन्तु अत्यन्त गुणी ब्राह्मण चारुदत्त तथा अपरूप रूपवती एवं गुणसम्पन्न गणिका वसन्तसेना का पारस्परिक प्रणय प्रमुख कथारूप में वर्णित है। उसी के साथ शूद्रक ने राज्यक्रान्ति की अवान्तर कथा को अनुस्यूत करके कुशलतया प्रस्तुत कर दिया है। इस सम्पूर्ण कथानक में वसन्तसेना के द्वारा बालक की मिट्टी की गाड़ी में स्वर्णाभूषण भरे जाने की घटना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः इसी घटना के आधार पर इस प्रकरण का नामकरण किया जाना अत्यन्त सार्थक है। संक्षिप्त रूप में कथा इस प्रकार है—

अंक 1.अलंकार न्यास—उज्जयिनी नगरी में अत्यन्त गुणवान् एवं सुदर्शन ब्राह्मण चारुदत्त रहता है जो भाग्यवशात् निर्धन हो गया है। उसी नगरी की अत्यन्त रूपवती एवं प्रसिद्ध गणिका वसन्तसेना चारुदत्त के गुणों पर मुग्ध होकर उससे प्यार करती है।राजा का साला शकार वसन्तसेना को धनादि के प्रलोभन से वशीभूत करना चाहता है। एक अंधेरी रात में शकार वसन्तसेना का पूछा करता है, जिससे भयभीत वसन्तसेना चारुदत्त के घर में शरण ले लेती है। चोरों तथा धूर्तों के भय का बहाना करके वसन्तसेना अपने सारे स्वर्णाभूषण चारुदत्त के पास धरोहर रखकर चली जाती है।

अंक 2.द्यूतकर-संवाहक— चारुदत्त का एक पुराना सेवक संवाहक जुए में हार कर जुआरियों से छिपता हुआ वसन्तसेना के घर में आश्रय लेता है। वसन्तसेना जुआरियों को धन देकर उसे ऋणमुक्त कर देती है। किन्तु ग्लानि में वह संवाहक संसार त्याग कर

---

28. काव्यांलकारसूत्र 3/2/4—शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेष्वस्य भूयान् प्रपञ्चो दृश्यते।

29. मृच्छकटिक 9/33—अंगारकविरुद्धस्य प्रक्षीणास्य बृहस्पतेः।

30. द्विवेदी, कपिलदेव—संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास पृष्ठ 305—307

बौद्ध भिक्षु बन जाता है। **अंक 3. संधिच्छेद—** शर्विलक नामक ब्राह्मण वसन्तसेना की दासी मदनिका से प्यार करता है। अपनी प्रिया को दासीत्व से मुक्ति दिलाने के लिए शर्विलक चारुदत्त के घर में सेंध लगाकर धरोहर रूप में रखे हुए वसन्तसेना के आभूषणों को चुरा ले जाता है। चारुदत्त की पत्नी अपने पति को लोकनिन्दा से बचाने के लिए अपनी बहुमूल्य रत्नमाला उन आभूषणों के बदले दे देती है और विदूषक वह रत्नमाला लेकर वसन्तसेना के यहां जाता है। **अंक 4. मदनिका-शर्विलक—** शर्विलक चुराए हुए आभूषण लेकर वसन्तसेना के यहां जाता है। वसन्तसेना सारी स्थिति समझ कर भी आभूषण रख लेती है और मदनिका को दासीत्व से मुक्त कर देती है। अपनी प्रिया को वधू बनाकर ले जाते समय शर्विलक अपने मित्र आर्यक के राजबन्दी बनाए जाने का समाचार सुनता है। वह तुरन्त रथवान् के साथ अपनी पत्नी को बन्धुजनों के घर भेज देता है और स्वयं आर्यक को बन्दीगृह से बचाने चल पड़ता है। (ज्योतिषियों ने आर्यक को भविष्यत् राजा उद्घोषित किया था।) विदूषक वसन्तसेना को आभूषणों के बदले धूता की रत्नमाला दे देता है। वसन्तसेना विदूषक को आभूषण प्राप्ति का समाचार नहीं बताती, स्वयं रात्रि में चारुदत्त से मिलने के लिए आने का सन्देश भेजती है। **अंक 5-दुर्दिन—** इस अंक में वर्षा का अत्यन्त सुन्दर और विस्तृत वर्णन है। वसन्तसेना वर्षा में भीगती हुई ही चारुदत्त के घर पहुँचती है और वहीं रात्रि बिताती है। **अंक 6. प्रवहण विपर्यय—** अगली प्रात: काल ही चारूदत्त एक उद्यान में चला जाता है और वसन्तसेना को वहीं उद्यान में बुलाने के लिए अपना रथ भेजता है। इधर चारुदत्त के घर में वसन्तसेना चारुदत्त के पुत्र को मिट्टी की गाड़ी से न खेलकर स्वर्ण-शकटिका के लिए हठ करता पाती है, तो उसकी मिट्टी की गाड़ी को अपने स्वर्णाभूषणों से भर कर कहती है कि इनसे सोने की गाड़ी बनवा लेना। उद्यान में मिलने के चारुदत्त के सन्देश को सुनकर वसन्तसेना घर से निकलती है, किन्तु भूल से वहीं खड़े हुए शकार के रथ पर आरूढ़ हो जाती है। बन्दीगृह से भागा हुआ आर्यक चारुदत्त के खाली खड़े रथ में छिप कर बैठ जाता है और रथ उद्यान की ओर चल पड़ता है। मार्ग में चन्दनक नामक एक सिपाही आर्यक को पहचान कर भी अभयदान देकर रथ को आगे जाने देता है। और इसी क्रम में एक दूसरे सिपाही वीरक से चन्दनक की मारपीट हो जाती है। वीरक न्यायालय में चला जाता है। **अंक 7-आर्यकापहरण—** आर्यक उद्यान में चारुदत्त से मिलता है। चारुदत्त आर्यक को अभयदान देता है और उसके बन्धन कटवा कर अपने ही रथ में उसे विदा कर देता है। **अंक 8-वसन्तसेना-मोटन—** शकार के रथ में भूल से बैठी हुई वसन्तसेना उद्यान में पहुँचकर वस्तुस्थिति समझ पाती है। दुष्ट शकार पुन: वसन्तसेना से प्रणययाचना करता है। वसन्तसेना द्वारा ठुकरा दिए जाने पर वह वसन्तसेना का गला घोंट देता है। उसे मरा समझकर सूखे पत्तों से ढक देता है और चारुदत्त पर इस हत्या का झूठा अभियोग चलाने के लिए न्यायालय जाता है। इसी बीच बौद्ध भिक्षु संवाहक वहाँ आता है और मृतप्राय वसन्तसेना को देखकर सेवापूर्वक उसको पुनरुज्जीवित कर देता है। संवाहक वसन्तसेना को विश्राम के लिए बौद्ध विहार में ले जाता है। **अंक 9-व्यवहार—**इस अंक में न्यायालय का सुन्दर

एवं सजीव वर्णन है। शकार चारुदत्त के विरुद्ध अभियोग प्रस्तुत करता है। चारुदत्त बुलाया जाता है और अपनी निर्दोषिता का कथन करता है। किन्तु विभिन्न परिस्थितियाँ एवं प्रमाण चारुदत्त के ही विरुद्ध प्राप्त होते हैं और चारुदत्त को मृत्युदण्ड दिया जाता है। **अंक 10-संहार(उपसंहार)**— वधस्थान पर पहुँच कर जब चारुदत्त को सूली पर चढाया जा रहा था, तभी बौद्ध भिक्षु के साथ वसन्तसेना उस स्थल पर पहुँच कर अभियोग को ही मिथ्या प्रमाणित कर देती है और शकार की दुष्टता वर्णित करती है। आर्यक भी अपने मित्रों के साहाय्य से राजा पालक को मारकर स्वयं राजा हो जाता है। शकार को उसकी दुष्टता के लिए मृत्युदण्ड मिलता है किन्तु चारुदत्त शकार को क्षमा कर देता है। राजा की अनुमति से वसन्तसेना चारुदत्त की वधू बनती है और भरतवाक्य के साथ ही यह नाट्य समाप्त हो जाता है।

नाट्यकला-वैशिष्ट्य— मृच्छकटिक संस्कृत नाट्य साहित्य की एक अद्भुत रचना है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है, यह नाट्य के दस भेदों में से प्रकरण नाट्य है। प्रकरण की रचना के जो भी नियमादि नाट्यशास्त्र में प्राप्त होते हैं, उन सभी का मृच्छकटिक में कुशलतया पालन किया गया है, मानों शास्त्रनियमों की सिद्धि हेतु ही यह प्रकरण रचा गया हो।

कथावस्तु— मृच्छकटिक की कथावस्तु शास्त्रीय दृष्टि से उत्पाद्य अर्थात् कविकल्पित है। कल्पित कथा भी लोकसंश्रित ही होनी चाहिए।[31] इस दृष्टि से मृच्छकटिक की कथावस्तु शास्त्रीय निकष पर खरी उतरती है। शूद्रक से पूर्व किसी ब्राह्मण अथवा वैश्य एवं गणिका के प्रणय की कथा जनमानस में अवश्य ही अनुभूत एवं प्रचलित थीं, क्योंकि भास ने भी उसी कथा को 'दरिद्रचारुदत्त' रूपक का आधार बनाया था। शूद्रक ने उस कथा को विभिन्न घटनाओं से संवलित करके अत्यन्त यथार्थ और सजीव बना दिया। चारुदत्त एवं वसन्तसेना का पारस्परिक प्रणय तो इस रूपक की मुख्य कथा है ही; शूद्रक ने उसमें शर्विलक एवं मदनिका की प्रेमगाथा तथा पालक एवं आर्यक की राजनीतिक कथा को भी परस्पर इतने संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया, कि किसी एक कथा को दूसरी कथा से अलग नहीं किया जा सकता। विभिन्न घटनाओं की निरन्तर गत्यात्मकता के कारण कथानक के प्रवाह में एक अपूर्व कौतूहल एवं औत्सुक्य की सृष्टि हो गई है जो पाठक एवं दर्शक को नाट्य की ओर एकाग्रतया उन्मुख बनाए रखती है।

घटनाओं के सुश्लिष्ट संयोजन के साथ साथ मृच्छकटिक की कथावस्तु में एक ऐसी और विशेषता है जो संस्कृत नाट्यों में प्राप्त नहीं होती है। कालिदास, हर्ष, भवभूति, आदि के रूपकों की कथावस्तु राजाओं और राजसभाओं की पृष्ठभूमि को लेकर विकसित होती है। उनके पात्र राजा या राजपुरुष होते हैं। किन्तु मृच्छकटिक की कथा मध्यवर्ग के जीवन को लेकर पल्लवित हुई हैं। इसीलिए मध्यवर्ग के जीवन के सुख दुख, आशा निराशा तथा हर्ष शोक को सम्यग्तया उजागर करती हुई मृच्छकटिक की कथा तुरन्त ही हृदय का स्पर्श करती है।

---

31. दशरूपक 3/39—अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रितम्।

समाज के मध्यग वर्ग से सम्बद्ध होने के कारण ही मृच्छकटिक की कथावस्तु का धरातल अत्यन्त यथार्थवादी है, आदर्शवादी नहीं। यथार्थ जीवन की विभिन्न अनुभूतियों के साथ साथ शूद्रक ने प्रेम की उदात्तता को भी अक्षुण्ण बनाए रखा है। गणिका नायिका होने पर भी मुख्य प्रणयकथा में कहीं अश्लीलता की गन्ध भी नहीं है। वसन्तसेना के एकाग्र प्रेम, निर्धनता के कारण चारुदत्त की संकोचशीलता, वर्षाऋतु में मिलन की रमणीयता आदि ने मिल कर मृच्छकटिक की कथा में वास्तविकता के साथ साथ कोमलता, उदारता एवं गम्भीरता को भी समाविष्ट कर दिया है।

मृच्छकटिक में प्रासंगिक कथाएँ भी पर्याप्त मात्रा में हैं। किन्तु शूद्रक उन सभी का निर्वाह करने में सफल हुए हैं। ''मृच्छकटिक में वहुरंगी वृत्त संख्या में अगणित हैं। इन सबको चूल में चूल मिला कर एक सुवीत नाट्यकथा के रूप में प्रस्तुत कर देने का कौशल एक अनुत्तम सा सफल प्रयास प्रतीत होता है।''[32] इस विवेचन से स्पष्ट है कि शूद्रक ने इस प्रकरण की कथा को विविध, व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध तथा दैनन्दिन जीवन में प्राप्त एवं अनुभूत पात्रों को ग्रहण करके रचा है।

चरित्रचित्रण—मृच्छकटिक में पात्रों की संख्या तो अधिक है ही, साथ ही इसके पात्रों में जितनी विविधता पाई जाती है, उतनी अन्य किसी संस्कृत नाट्य में प्राप्त नहीं होती। इसके पात्र समाज के सभी वर्गों का और जीवन के सभी क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। शूद्रक ने एक ओर द्यूतकर, चोर, धूर्त, शकार आदि निम्नकोटिक पात्रों को ग्रहण करके और दूसरी ओर ब्राह्मण नायक, गुणवती वेश्या नायिका, शीलवती पत्नी, स्नेही मित्र आदि उच्चकोटिक पात्रों की उदात्त अभिव्यक्ति से सम्पूर्ण नाट्य को अत्यधिक रोचक एवं गतिशील बना दिया। सुशिक्षित न्यायाधीश से लेकर चाण्डाल तक, कुलजा से लेकर वेश्या तक और उदात्त चरित्र ब्राह्मण से लेकर अधम शकार तक पात्र होने के कारण इस प्रकरण में तत्कालीन समाज का अत्यन्त सजीव एवं यथार्थवादी चित्रण प्राप्त होता है। इसके पात्र मानों आज के जाने पहचाने व्यक्तित्व दीख पड़ते हैं। इसीलिए मृच्छकटिक को संस्कृत का सर्वाधिक सफल चरित्र चित्रण प्रधान रूपक माना जाता है।

डॉ. भोलाशंकर व्यास ने शूद्रक की चरित्रचित्रण कला के सम्बन्ध में अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया है। उनके शब्दों में ''मृच्छकटिक के चरित्रों की एक प्रमुख विशेषता है, जो अन्य संस्कृत के रूपकों में नही मिलती। संस्कृत के रूपकों के पात्र प्रायः ''प्रतिनिधि पात्र'' (Type) होते हैं। किन्तु मृच्छकटिक के पात्र 'व्यक्ति' (Individual) हैं। प्रत्येक पात्र अपना निजी व्यक्तित्व लेकर सामने आता है। पवित्र हृदय विट, जिसे रोजी के लिए नीच शकार का नौकर बनना और अपमान सहना पड़ता है; ब्राह्मण पुत्र शर्विलक, जिसे प्रेम के कारण न चाहते हुए भी चोरी तक करनी पड़ती है; सुवर्णलोभ को छोड़कर दरिद्र ब्राह्मणयुवा चारुदत्त से प्रेम करने वाली गणिका वसन्तसेना, सभी पात्र अपनापन लेकर आते हैं, जो उसी वर्ग के अन्य लोगों में मिलना कठिन हैं।''[33]

32. उपाध्याय, रामजी—संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास द्वितीय भाग—पृष्ठ 173
33. व्यास, भोलाशंकर—संस्कृत कविदर्शन—पृष्ठ 289-290

मृच्छकटिक के कतिपय प्रमुख पात्रों के चरित्र को संक्षिप्त रूपेण इस प्रकार उन्मीलित किया जा सकता है—

चारुदत्त—शास्त्रकारों ने प्रकरण नाट्य में धीरशान्त कोटि के नायक का विधान किया था जो ब्राह्मण, वैश्य अथवा मन्त्री हो सकता है।[34] तदनुरूप ही मृच्छकटिक प्रकरण में चारुदत्त नायक है जो जन्मना ब्राह्मण होकर भी अपने पिता आदि की भाँति सार्थवाह का व्यवसाय करता है। भाग्यवशात् उसका समस्त धन नष्ट हो गया है किन्तु दरिद्रता की अग्नि में ही चारुदत्त के विभिन्न गुण अधिक भास्वर रूप में प्रगट हुए है। चारुदत्त के गुणों से सम्पूर्ण उज्जयिनी नगरी वशीभूत हो गई है और नगर की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी गणिका वसन्तसेना चारुदत्त के गुणों से आकृष्ट होकर उससे प्यार करने लगी है। चारुदत्त ने अपनी सम्पत्ति विलासादि में नष्ट नहीं की थी अपितु दानशीलता के कारण वह दरिद्र हो गया है।[35] चारुदत्त को दरिद्र हो जाने की चिन्ता नहीं है, केवल एक ही सन्ताप है कि अब वह इच्छानुसार दान नहीं दे पाता और याचक गण उसकी दरिद्रता के कारण उसके घर नहीं आते। चारुदत्त की दरिद्रता के व्याज से शूद्रक ने दरिद्रता के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर एवं मार्मिक कथन प्रस्तुत किए हैं। सम्पूर्ण प्रथम अंक इनसे भरा पड़ा है।[36] शूद्रक ने दरिद्रता को छठा महापातक कहा है। इस कथन की हृदयद्रावक वास्तविकता को भुक्तभोगी ही भली प्रकार अनुभव कर सकता है—

संगं नैव हि कश्चिदस्य कुरुते सम्भाषते नादरात्
सम्प्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमालोक्यते।
दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया
मन्ये निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम्॥ (1/37)

चारुदत्त दरिद्र अवश्य हो गया है किन्तु गुणग्राहकता नष्ट नहीं हुई है। द्वितीय अंक में दुष्ट हाथी का दमन करने वाले कर्णपूरक पर प्रसन्न होकर चारुदत्त आभूषण रहित होने के कारण अपना प्रावारक ही उसे दे डालता है—

'एकेन शून्यानि आभरणस्थानानि परामृश्य ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वस्य अयं प्रावारको ममोपरि क्षिप्तः।'

तृतीय अंक में चोर के द्वारा वसन्तसेना के आभूषण चुरा लिए जाने पर चारुदत्त

---

34. दशरूपक 3/39, 40— अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम्।
धीर प्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम्॥

35. मृच्छकटिक 1/46— सोऽस्मद्विधानां प्रणयैः कृशीकृतो, न तेन कश्चित् विभवैर्विमानितः।
निदाघकालेष्विव सोदको हृदो, नृणां स तृष्णामपनीय शुष्कवान्॥

36. मृच्छकटिक 1/8 सर्वं शून्यं दरिद्रस्य
1/11 अल्पक्लेशं हि मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्।
1/13 नष्टधनाश्रयस्य यत् सौहृदादपि जनाः शिथिली भवन्ति।
1/14 निर्धनता सर्वापदामास्पदम्।
1/15, 1/36, आदि

उद्वेग के आधिक्य से मूर्च्छित हो जाता है कि 'इस चोरी में धरोहर चली जाने से मेरा चरित्र ही दूषित हो गया। मेरी दरिद्रता के कारण कोई भी चोरी का विश्वास नहीं करेगा—

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तूलयिष्यति।
शंकनीया हि लोकेऽस्मिन् निष्प्रतापा दरिद्रता॥ (3/24)

गुणसम्पन्न चारुदत्त अपने औदार्य, परोपकारशीलता एवं स्नेहिल स्वभाव के कारण राजा के कारागृह से भागे हुए आर्य्यक को न केवल अभयदान देता है[37] अपितु अपने ही रथ में बिठा कर उसे शीघ्रता से भाग जाने का अवसर भी देता है। चारुदत्त के इन्हीं गुणों के कारण श्यालक शकार के सम्मुख ही विट चारुदत्त की प्रशंसा में निम्नलिखित श्लोक कह पाता है—

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः, सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः, शीलवेलासमुद्रः॥
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्वो
ह्येकःश्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये॥ (1/48)

वसन्तसेना—शास्त्रीय दृष्टि से प्रकरण नाट्य में कुलजा एवं गणिका-दोनों ही नायिकाएँ वर्णित हो सकती हैं[38] किन्तु प्रहसन-भिन्न नाट्य में यदि गणिका नायिका हो, तो वह नायक में अनुरक्ता ही चित्रित होनी चाहिए।[39] मृच्छकटिक में वसन्तसेना गणिका नायिका है, और नायक से एकनिष्ठ प्रेम करती है। वस्तुतः सम्पूर्ण प्रकरण में कहीं भी वसन्तसेना के चरित्र में वेश्या की धूर्तता, स्वार्थ अथवा कामुकता परिलक्षित नहीं होती। नितान्त कुलीन पत्नी की ही भाँति वसन्तसेना का चरित्र भी सदाशयता, सरलता, शील एवं मृदुता से सम्पन्न है। रूपवती एवं कला निपुण वसन्तसेना का हृदय अत्यन्त कोमल है। द्वितीय अंक में द्यूतकर की कष्टगाथा सुनकर वह अपना हस्ताभरण देकर उसकी विपत्ति दूर करती है और चतुर्थ अंक में अपनी दासी मदनिका और चोर शर्विलक के पारस्परिक प्रणय को जानकर वह मदनिका को दास वृत्ति से मुक्त करके शर्विलक के साथ विदा कर देती है।

विदूषक—मृच्छकटिक के विदूषक पात्र मैत्रेय का चरित्रचित्रण भी अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। भासकृत 'अविमारक' के विदूषक की ही भाँति मैत्रेय भी नायक चारुदत्त का 'सर्वकालमित्र' है। स्वयं चारुदत्त के शब्दों में मैत्रेय 'सुखदुखसुहृत्' (3/28) है।

प्रथम अंक में दारिद्र्यावस्था से खिन्न एवं सन्तप्त चारुदत्त के मन को मैत्रेय अपने सान्त्वनावचनों और प्रशंसात्मक कथनों से निरन्तर धैर्य बंधाता रहता है—

'भो वयस्य! अलं सन्तापेन! प्रणयिजनसंक्रामितविभवस्य सुरलोकपीतशेषस्य प्रतिपच्चन्द्रस्येव परिक्षयोऽपि ते अधिकतरं रमणीयः।' (1/11 के पश्चात् गद्यभाग)

37. मृच्छकटिक 7/6—अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम्।
38. दशरूपक 3/41 क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्।
39. दशरूपक 2/23 रक्तैव त्वप्रहसने....।

शकार जो कुछ अपमानजनक सन्देश चारुदत्त को कहलाता है, वह सब विदूषक चारुदत्त को नहीं कहता कि कहीं चारुदत्त अधिक दुखी न हो जाए—

'भो रदनिके! न खलु ते अयमपमानस्तत्रभवश्चारुदत्तस्य निवेदयितव्यः, दौर्गत्यपीडितस्य मन्ये द्विगुणातरा पीडा भविष्यति।' (1/52 के पश्चात् गद्य भाग)

चतुर्थ अंक में वसन्तसेना के महल के विभिन्न कक्षों में जाते हुए विदूषक की उक्तियाँ एक ओर तो सुन्दर हास्य की छटा बिखेरती चलती हैं और दूसरी ओर उसके विविध अनुभवों, कलाप्रियता एवं पाण्डित्य का भी उद्घाटन करती हैं।

नवम अंक में न्यायालय में चारुदत्त के प्रति लगाए गए मिथ्या आरोप से क्रोधाविष्ट होकर वह शकार को डण्डे से मारता है और चारुदत्त को मृत्युदण्ड सुना दिए जाने पर स्वयं भी प्राण त्यागने को तत्पर होता है—

'भो वयस्य! अहं ते प्रियवयस्यो भूत्वा त्वया विरहितान् प्राणान् धारयामि?'

दशम अंक में तो विदूषक चारुदत्त की पत्नी धूता के अग्निप्रवेश से पूर्व ही स्वयं अग्नि प्रवेश का उद्यम करता है—

'समीहितसिद्ध्यै प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यः, अतो भवत्या अहम् अग्रणीर्भवामि।'

इन विभिन्न आचरणों एवं गुणों के कारण मैत्रेय चारुदत्त का परम सहायक सिद्ध होता है, और एक सहृदय मित्र का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

शकार—मृच्छकटिक का यह पात्र शूद्रक की उत्कृष्ट कला का सजीव प्रमाण है। यह पात्र इसी प्रकरण में प्रथम वार दृष्टिगोचर होता है। राजा की निम्नवर्गोत्पन्न उपपत्नी का भाई शकार हो सकता है। यद्यपि सम्पूर्ण प्रकरण में शकार के वर्ण का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

मृच्छकटिक का यह पात्र अभिमान, अहंकार, अकारण शत्रुता, क्रूरता, मूर्खता, कायरता, प्रवंचना चातुर्य आदि अवगुणों से सम्पन्न अत्यन्त नीच प्रकृति का पात्र है। एक ही तथ्य का गर्व भी और बल भी पुनः पुनः वह प्रचारित करता है कि वह राजा का साला है 'राजश्यालोऽहं'। इसी बल से दर्पित होकर वह प्रत्येक व्यक्ति को अपमानित करता है और स्वयं को चाहा जाने योग्य श्रेष्ठ पुरुष समझता है—'अहं देवपुरुषो मनुष्यो वासुदेवः कामयितव्य।' फिर भी उसका अधम स्वभाव तथा कायरता स्थल स्थल पर प्रगट होते ही रहते हैं।

शकार की भाषा एवं वाक्यप्रयोग भी विचित्र ही है। शकारी भाषा को प्राकृत भाषाओं में सबसे अधम स्थान दिया जाता है। शकार के कथन भी अर्थरहित, क्रमरहित, व्यर्थ, पुनरुक्त और लोकन्याय के विरुद्ध ही होते है। मृच्छकटिक के प्रथम, अष्टम, नवम एवं दशम अंक शकार की परस्पर विरुद्ध एवं मूर्खतापूर्ण उक्तियों से भरे पड़े हैं। ऐसे विचित्र किन्तु सजीव पात्र की सृष्टि के द्वारा शूद्रक ने मृच्छकटिक की नाटकीय अभिव्यंजना को चरम परिपाक तक पहुँचा दिया है।

इन के अतिरिक्त मृच्छकटिक में संवाहक, शर्विलक, सभिक, विट, चन्दनक एवं वीरक (दोनों रक्षक) आर्यक, धूता, चेटी आदि छोटे-बड़े सभी पात्रों के चरित्रचित्रण में

शूद्रक की मनोवैज्ञानिक एवं सूक्ष्म दृष्टि नितान्त सफल दृष्टिगोचर होती है।

रसपरिपाक—मृच्छकटिक का प्रमुख रस शृंगार है। नायिका के गणिका स्वरूप के कारण इस नाट्य के शृंगार रस में दो वैशिष्ट्य उत्पन्न हो गए। प्रथमतः, पंचम अंक में नायिका के अभिसरण पूर्वक संयोग शृंगार की पुष्टि हो गई और द्वितीयतः, विप्रलम्भ शृंगार की व्याकुलता तथा दैन्य से नाट्य के वातावरण में खिन्नता उत्पन्न नहीं हुई। पंचम अंक के वर्षा वर्णन में दो चार श्लोक अवश्य ही वियोग शृंगार का किंचित् सा दृश्य उपस्थित करते हैं। सम्पूर्ण प्रकरण में शृंगार का साहाय्य करते हुए गौण रूप में अथवा प्रधानरूप में हास्य रस की उज्ज्वल एवं उत्फुल्ल छटा विद्यमान है। शकार की उक्तियाँ तो हास्य उत्पन्न करती ही हैं, साथ ही विदूषक ने भी हास्य का वातावरण बनाए रखने एवं व्यंग में पर्याप्त सहयोग दिया है। चोर शर्विलक ने यज्ञोपवीत के परम उपयोग का उद्‌घाटन करके सुन्दर हास्य की सृष्टि की है—

यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यं विशेषतोऽमद्विधस्य। कुतः—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गम्
एतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान्।
उद्‌घाटनं भवति यन्त्रदृढ़े कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनश्च॥ (3/16)

प्रथम अंक में दरिद्रता वर्णन में एवं दशम अंक में चारुदत्त के पुत्र रोहसेन के अपने पिता से मिलन के दृश्य में करुण रस भी निष्पन्न हुआ है।

प्रकृति चित्रण एवं अन्य वर्णन—घटनाओं के तीव्र घात प्रतिघात से सम्पन्न मृच्छकटिक की कथा में प्रकृति चित्रण अथवा दीर्घ वर्णनों के लिए अधिक अवकाश नहीं था। फिर भी शूद्रक ने कतिपय स्थलों पर वर्णनों के द्वारा अपनी काव्यशक्ति का सफल परिचय दिया है। प्रथम अंक में दरिद्रता वर्णन, चतुर्थ अंक में स्त्रीस्वभाव वर्णन तथा वसन्तसेना-प्रासाद वर्णन, पंचम अंक में वर्षावर्णन तथा नवम अंक में न्यायालय वर्णन आदि ऐसे ही स्थल हैं, जहाँ कथानक की गतिशीलता बनाए रखकर भी शूद्रक ने कवित्वपूर्ण वर्णन प्रस्तुत करके अपने काव्य कौशल का भी परिचय दिया है। वर्षावर्णन का एक सुन्दर श्लोक द्रष्टव्य है।

गता नाशं तारा उपकृतमसाधाविव जने
वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः।
प्रकामान्तस्तप्तं त्रिदशपतिशस्त्रस्य शिखिना
द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम्॥ (5/25)

अर्थात् 'दुष्ट व्यक्ति के प्रति किए गए उपकार के सदृश तारे लुप्त हो गए। पति से बिछुड़ी स्त्रियों की भाँति (सूर्य से रहित) दिशाएँ शोभित नहीं हो रहीं। इन्द्र के शस्त्र (वज्र) की अग्नि से अत्यधिक अन्तःतप्त होकर आकाश मानों जल के रूप में बरस रहा है।'

शूद्रक ने न्यायालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं दुर्नीति की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए न्यायालय का अत्यन्त सजीव एवं चित्रात्मक वर्णन किया है—

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशंखाकुलं
पर्यन्तस्थितचारमक्रनकरं नागाश्वहिंसाश्रयम्।
नानावाशककंकपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटश्च राजकरणं हिंस्त्रैः समुद्रायते॥ (9/14)

अर्थात् 'चिन्ता में निमग्न मन्त्रियों रूपी जल वाला, दूतगण रूपी तरंगों और शंखों वाला, चारों ओर बैठे हुए गुप्तचरों रूपी घड़ियालों तथा भंवरों वाला, हाथी घोड़े रूपी हिंसक जलजन्तुओं वाला, अनेक वादी-प्रतिवादी रूपी कंकपक्षियों वाला, कायस्थ (लेखक) रूपी सर्प वाला तथा दुर्गम नीति रूपी टूटते कगारों वाला यह न्यायालय हिंसात्मक कार्यों के कारण समुद्र सदृश है।'

संवाद एवं भाषा शैली—मृच्छकटिक नाट्य के संवाद अत्यन्त मार्मिक एवं भावाभिव्यंजना में सफल हैं। इनकी विशेषता यह है कि सामान्यतः ही छोटे वाक्यों का प्रयोग किया गया है। कथोपकथन कहीं भी लम्बे नहीं है। संवादों में हास्य एवं व्यंग का सुन्दर पुट प्राप्त होता है।

संवादों की सजीवता का मूल कारण शूद्रक की भाषा-शैली है। मृच्छकटिक की भाषा सरल एवं सुबोध है। यत्र तत्र लोकोक्तियों के सुन्दर प्रयोग ने भाषा को अधिक प्रभावोत्पादक बना दिया है। भाषा के अनुरूप ही शूद्रक की शैली सरस, स्पष्ट और अकृत्रिम है। सम्पूर्ण प्रकरण में प्रसाद गुण सम्पन्न वैदर्भी रीति का साम्राज्य है, केवल एकाधिक वर्णन प्रसंगों में ही गौड़ी रीति के दर्शन होते हैं।

मृच्छकटिक की एक अन्यतम विशेषता है विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग। शूद्रक ने सात प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग मृच्छकटिक में किया है। प्राकृत की इतनी भाषाओं और विभाषाओं का प्रयोग संस्कृत के अन्य किसी भी उपलब्ध रूपक में दृष्टिगोचर नहीं होता। टीकाकार पृथ्वी धर ने मृच्छकटिक में प्रयुक्त प्राकृतों को दो कोटियों में विभक्त कर दिया है। शौरसेनी, मागधी, प्राच्या और अवन्तिका को उसने प्राकृत भाषा कहा है तथा शकारी, चाण्डाली एवं ढक्की को विभाषा कहा है। किन्तु पृथ्वीधर का यह विभाजन किसी प्राकृत व्याकरण में उपलब्ध नहीं होता। भरत के नाट्यशास्त्र में देश और पात्र के अनुसार विभिन्न प्राकृतों के प्रयोग का जो निर्देश दिया गया था, शूद्रक ने तदनुकूल ही प्राकृतों का प्रयोग कर दिखाया है।

मानवीय भावों के घात-प्रतिघात तथा जीवन के समस्त उदात्त अथवा निकृष्ट मनोभावों की वास्तविक अभिव्यक्ति इस नाट्य में होने के कारण ही मृच्छकटिक पाश्चात्य जगत् में भी अत्यन्त ही लोकप्रिय हुआ है। एक ओर चरम पतिभक्ति, वचन पालन, गुणग्राहकता, उदारता, मित्रसाहाय्य, शरणागतरक्षा जैसे उत्कृष्ट गुणों का पालन है तो दूसरी ओर छल, कपट, प्रवंचना, निर्दयता, हत्या, क्रूरता, मूर्खता जैसे निकृष्ट अवगुण भी पर्याप्त रूपेण प्रदर्शित हुए हैं। संस्कृत के अन्य नाट्यों में प्रायः उच्चवर्ग अथवा राजवर्ग के हासविलास अथवा दुख का ही चित्रण हुआ; किन्तु मृच्छकटिक में शोषित, दलित तथा उपेक्षित वर्ग के लोगों का भी शूद्रक ने इतना सुन्दर और जीवन्त चित्रण किया कि अनायास

ही वे सारे पात्र दर्शक की सहानुभूति और रुचि को आकृष्ट कर लेते हैं। इस नाट्य में मनुष्य का महत्त्व उसके गुण और कर्म के आधार पर निश्चित हुआ है, जन्म अथवा कुल के आधार पर नहीं। देश और समय की सभी सीमाओं का अतिक्रमण करके यह नाट्य प्रत्येक सहृदय के हृदय को रसनिर्भर कर देने में पूर्णतया समर्थ है। विश्व के किसी भी भाग में मृच्छकटिक के पात्र, परिस्थितियाँ, समस्याएँ, आचरण और कार्यव्यापार किसी भी समय में उपलब्ध हो सकते हैं। यही इस नाट्य का सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन स्वरूप है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में दण्डी को छोड़कर अन्य कोई भी कवि शूद्रक की भांति अपनी रचना को इस सार्वभौमिकादि स्वरूप तक नहीं पहुँचा पाया। मनुष्य जीवन की इन विविध वास्तविक घटनाओं के सहज एवं रोचक चित्रण के कारण ही मृच्छकटिक रंगमंच पर प्रस्तुतिकरण के सर्वथा उपयुक्त सिद्ध हुआ है। कतिपय दीर्घ वर्णनस्थलों को छोड़ कर सम्पूर्ण मृच्छकटिक का अभिनय रूस, अमेरिका, फ्रांस आदि देशों में भी अनेक बार किया जा चुका है।

अश्वघोष

'महाकाव्य' अध्याय में अश्वघोष के समय आदि का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

डॉ. ल्यूडर्स ने मध्य एशिया के तुरफान नामक स्थान से तालपत्रों पर लिखित तीन रूपकों को खोजा। इनमें से एक का नाम शारिपुत्रप्रकरण अथवा शारद्वतीपुत्र प्रकरण है। इस प्रकरण की पुष्पिका में इसके लेखक का नाम अश्वघोष दिया गया है तथा अंक संख्या भी दी गई है। तदनुसार शारिपुत्रप्रकरण में नौ अंक थे।

नाट्यशास्त्र की दृष्टि से यह प्रकरण कोटि का नाट्य है। अश्वघोष के काव्यों की ही भाँति इस प्रकरण में भी बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता एवं उपादेयता का ही प्रतिपादन हुआ है। इसमे बुद्ध के द्वारा शारिपुत्र एवं मौद्गलायन के बौद्ध धर्म में दीक्षित किए जाने का नाटकीय चित्रण है। तदनुसार ही इसकी कथा काल्पनिक न होकर प्रख्यात कोटि की हो गई है। यह कथा सर्वप्रथम महावग्ग में प्राप्त होती है और अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' महाकाव्य में भी इस कथा को ग्रहण किया है।

नाट्यशास्त्रीय नियमों की दृष्टि से इस प्रकरण में कतिपय प्रमुख तत्त्वों का अनुवर्तन नहीं किया गया है। इसकी कथा उत्पाद्य न होकर प्रख्यात है एवं अंगी रस भी शृंगार न होकर शान्त रस है। इस प्रकरण में नायिका सम्बन्धी विषमता भी है। केवल नायक अवश्य ब्राह्मण एवं धीर प्रशान्त कोटि का है। किन्तु इन सभी विषमताओं का समाधान तो अश्वघोष ने स्वयं ही कर दिया है कि 'यह कृति मोक्षार्थ है, शृंगारार्थ नहीं।'[40] व्यक्तित्व

40. सौन्दरनन्द 18— इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः
श्रोतृणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।
यन्मोक्षात् कृतमन्यदत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति॥

के विकास की क्रमिक प्रक्रिया के द्वारा शान्ति की खोज कर सकना ही इस प्रकरण का फल है।

शारिपुत्र प्रकरण के साथ प्राप्त हुए अन्य दो नाटकों को भी डॉ. ल्यूडर्स ने अश्वघोष रचित ही माना। किन्तु विद्वानों में इस विषय पर ऐकमत्य नहीं है।

कालिदास

महाकवि कालिदास के स्थितिकाल आदि के सम्बन्ध में महाकाव्य के अन्तर्गत पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है अत: पुनरुक्ति अनावश्यक है।

महाकाव्य के क्षेत्र में रसोद्रेक, भावाभिव्यंजना, वर्णन आदि दृष्टियों से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने वाले महाकवि कालिदास का वर्चस्व नाट्य के क्षेत्र में भी उसी श्रेष्ठता से स्वयंसिद्ध है। पाश्चात्य तथा भारतीय सभी आलोचकों ने कालिदास को एक स्वर से सर्वश्रेष्ठ नाटककार माना है। डॉ. सुधीरकुमार गुप्त नाटककार एवं महाकाव्यकार कालिदास को भिन्न भिन्न मानते हैं किन्तु अधिकांश मनीषी दोनों को एक ही मानते हैं।

महाकवि कालिदास प्रणीत तीन नाटक प्राप्त होते हैं। इन तीनों नाटकों से कालिदास का परिनिष्ठित लोकव्यवहार ज्ञान एवं व्यापक सांसारिक अनुभव स्पष्टतया पता चल जाता है। किसी भी अन्य देश का लेखक कालिदास के सदृश अपने देश की संस्कृति का इतना समुज्ज्वल, भव्य और रमणीय रूप अपने नाटकों में प्रस्तुत नहीं कर सका। कालिदास ने अपने तीनों ही नाटकों की कथावस्तु में प्रणय को ही मुख्यतया ग्रहण किया है। मानव जीवन में प्रेम का महत्त्व सर्वविदित है। प्रेम से सम्बद्ध रस—शृंगार इसीलिए रसराज है। कालिदास के नाटकों में प्रणय की सभी विभिन्न दशाओं, स्थितियों, विकारों आदि का प्रस्फुटन एवं विकास नितान्त हृदयस्पर्शी रूप में हुआ है। भाषा शैली तथा रचना संविधान की दृष्टि से सभी आलोचकों ने कालिदास के नाटकों को एक ही क्रम में रखा है। "यदि हम कालिदास की प्रतिभा का मानवलोक से देवलोक की ओर उत्तरोत्तर विकास कालक्रम से मानें तो उनके रूपकों में मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान शाकुन्तल का क्रम स्पष्ट प्रतीत होता है।"[41] "मालविकाग्निमित्र कवि की नाट्यकला का अंकुर है, विक्रमोर्वशीय में वह पुष्पित हुई है तथा अभिज्ञान शाकुन्तल के रूप में वह समस्त संस्कृत नाट्य कला के मधुरतम फल के रूप में परिणत हुई है।"[42]

मालविकाग्निमित्र—यह पाँच अंक का एक नाट्य है। इसकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है। शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र के अन्त:पुर में विदर्भराज की पुत्री मालविका दैवदुर्विपाक से दासी बन कर रह रही है। राजा की पत्नी धारिणी रूपवती मालविका को राजा के दृष्टिपथ से बचाकर रखती है। किन्तु एक दिन मालविका का चित्र देखकर राजा उसके अनुपम सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। विदूषक मालविका को राजा के सम्मुख लाने की योजना बनाता है। तदनुसार मालविका की नाट्यकला का प्रदर्शन होता है, जिसे

41. उपाध्याय, रामजी—संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—द्वितीय भाग—पृष्ठ 232
42. व्यास, भोलाशंकर—संस्कृत कवि दर्शन—पृष्ठ 251

देखकर तो राजा मालविका के प्रणय में आकण्ठ डूब जाता है। रानी इस प्रणय को जानकर ईर्ष्या करती है। विदूषक की सहायता से राजा अपनी प्रेमिका मालविका से मिलने के अनेक प्रयत्न करता है और राजा की पत्नियाँ—धारिणी तथा इरावती बार-बार उन प्रयत्नों में विघ्न डालती हैं। अन्तिम अंक में विदर्भ देश से आई हुई दो सेविकाओं से मालविका का वास्तविक परिचय ज्ञात हो जाता है। और महारानी धारिणी स्वयं ही मालविका और राजा अग्निमित्र का पाणिग्रहण करा देती हैं।

नाट्य रचना के क्रम में मालविकाग्निमित्र कालिदास की प्रथम रचना है अत: इसमें कालिदास की नाट्यप्रतिभा का सम्पूर्ण विकास दृष्टिगोचर नहीं हो पाया। किन्तु प्रथम रचना होने पर भी इसका नाट्यस्तर पर्याप्त सन्तोषजनक है। सम्पूर्ण कथा ऐतिहासिक न होने पर भी इसके पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। क्योंकि इसका नायक अग्निमित्र शुंगवंशीय नरेश पुष्यमित्र (185 ईस्वी पूर्व के लगभग) का पुत्र है। शृंगार रस इस नाटक का प्रमुख रस है। विदूषक ने अनेक स्थलों पर हास्यरस की सुन्दर अवतारणा की है। कथोपकथन संक्षिप्त एवं प्रभावोत्पादक हैं। इसी प्रथम नाटक में ही कालिदास की संवाद-प्रयोग की सिद्धहस्तता कुशलतापूर्वक उभरी है। मालविकाग्निमित्र में राजप्रासादों के प्रणयसम्बन्धी षड्यन्त्रों का बहुत सजीव वर्णन है। रानियों की पारस्परिक ईर्ष्या, विदूषक का नर्मसाचिव्य तथा राजा की कामुक प्रवृत्ति—सभी का इसमें अनुभवपूर्ण चित्रण प्राप्त होता है।

कालिदास की यह प्रथम नाट्यरचना शास्त्रीय दृष्टि से देखे जाने पर नाटक की अपेक्षा 'नाटिका' उपरूपक के अधिक सदृश जान पड़ती है। इसका अंगी रस शृंगार है, जिसमें नायक-नायिका का पारस्परिक पूर्व राग, ज्येष्ठा नायिका की ईर्ष्या, अन्त:पुर के षड्यन्त्र, नायक-नायिका मिलन के लिए विदषूक के विभिन्न उपाय आदि ही प्रमुखतया वर्णित हैं। परवर्ती युग की रत्नावली, कर्पूरमन्जरी, चन्द्रकला आदि नाटिकाएँ इसी प्रकार के वस्तु संविधान एवं नाट्य संयोजन से सम्पन्न हैं।

कालिदास नाटककार के साथ-साथ काव्यकार भी थे। किन्तु मालविकाग्निमित्र में उन्होंने नाट्य को अत्यधिक महत्त्व देते हुए उसे यज्ञ के समकक्ष घोषित किया है। यह देवों की दृष्टि को भी शान्ति देता है और विभिन्न रुचि वाले व्यक्तियों के मनोरंजन का एकमात्र साधन है। (मालविकाग्निमित्र 1/4)—

देवानमिदमामनन्ति मुनय: शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥

इसी प्रकार कालिदास ने इस नाटक के प्रारम्भ में ही अत्यन्त साहसिक किन्तु सत्य उद्घोषणा की है कि प्राचीन होने मात्र से ही सब कुछ उत्तम नहीं हो जाता और न ही नवीन होने से कोई काव्य निरादरयोग्य होता है। बुद्धिमान् व्यक्ति गुण-दोष का विवेचन करके ही उपयुक्त को ग्रहण करते हैं किन्तु मूर्ख तो दूसरों के कहने मात्र पर चलता है। (मालविकाग्निमित्र 1/2)—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्तरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

विक्रमोर्वशीय—कालिदास की यह द्वितीय नाट्यरचना पाँच अंकों का त्रोटक है, जिसमें अप्सरा उर्वशी और राजा पुरुरवा के पारस्परिक प्रणय की कथा है। इस कथा का मूल रूप वैदिक आख्यान (ऋग्वेद 10/95 तथा शतपथ ब्राह्मण 11/5/1) में तो उपलब्ध होता ही है; साथ ही महाभारत, विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण आदि में भी पुरुरवा-उर्वशी की यह कथा प्राप्त होती है। संक्षिप्त वैदिक आख्यान को कालिदास ने सुन्दर भाव, भाषा तथा शैली के द्वारा कमनीय नाटक का स्वरूप प्रदान कर दिया। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है—राजा पुरुरवा केशी नामक दैत्य से उर्वशी को छुड़ाते हैं किन्तु उर्वशी के अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे प्यार करने लगते हैं। उर्वशी भी पुरुरवा में आसक्त हो जाती है। अपने प्रमाद के कारण उर्वशी को मृत्यु लोक में रहने का शाप मिलता है जिसे इन्द्र कृपा करके पुत्र दर्शन तक सीमित कर देते हैं। विरही पुरुरवा से उर्वशी का मिलन होता है। विभिन्न स्थलों पर भ्रमण करता हुआ प्रणयी युगल गन्धमादन पर्वत पर कर्तिकेय के सुरक्षित उपवन के समीप पहुँचता है। उस उपवन में प्रविष्ट होते ही कार्तिकेय के नियमानुसार उर्वशी लता के रूप में परिणत हो जाती है। उर्वशी के विरह में व्याकुल पुरुरवा प्रलाप करता हुआ उसे ढूंढ़ता फिरता है। सम्पूर्ण चतुर्थ अंक पुरुरवा के विरहोद्गारों से भरा पड़ा है। संगमनीयमणि के प्रभाव से उर्वशी पुन स्त्रीरूप प्राप्त करती है और पति पत्नी राजधानी लौट आते हैं। कुछ समय बाद आश्रम से एक तापसी उर्वशी-पुरुरवा के पुत्र कुमार आयु को लेकर राजा के समीप आती है। विस्मित राजा को उर्वशी सारी कथा सुनाती है कि उत्पन्न होते ही पुत्र को मैंने इसीलिए आश्रम में रख दिया था कि उस पुत्र का मुख यदि आप देख लेंगे तो मुझ उर्वशी को स्वर्ग लौट जाना पड़ेगा। दुखी राजा से उर्वशी स्वर्ग जाने की आज्ञा माँगती है। विषाद युक्त राजा कुमार आयु के यौवराज्याभिषेक के साथ स्वयं वन जाने का संकल्प करता है किन्तु तभी देवर्षि नारद का आगमन होता है। नारद इन्द्र का सन्देश सुनाते है कि इन्द्र ने राजा को आजीवन सहधर्मचारिणी के रूप में उर्वशी को रखने की अनुमति दे दी है। इस सन्देश से उत्पन्न प्रसन्नता के साथ ही नाटक समाप्त हो जाता है।

नाट्यरचना के क्रम में यह कालिदास की द्वितीय कृति है। इसमें मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा कालिदास की नाट्यकला अधिक विकसित है। कवि ने वैदिक आख्यान को अपने नाट्य के कथानक का आधार अवश्य बनाया है, किन्तु अपनी कल्पना का उसमें पर्याप्त सम्मिश्रण करके कथा को एक नवीन परिवर्तित रूप प्रदान कर दिया है। कथा को गति देने के लिए और रसोद्रेक की दृष्टि से किए गए ये परिवर्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, यथा भरत मुनि के द्वारा उर्वशी को मृत्युलोक में जाने का शाप; कार्तिकेय के उपवन में जाने वाली स्त्री का लता बन जाने का नियम; उर्वशी के लता बन जाने पर पुरुरवा का विलाप आदि। इस नाट्य में शृंगार रस की सभी दशाओं—अयोग, संयोग और विप्रयोग—का अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। मानवीय मनोभावों की पृष्ठभूमि में प्रकृति की संवेदनात्मक

सहानुभूति अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। कवि ने प्रणय एवं प्रणयोन्माद-वर्णन को अपना मुख्य प्रतिपाद्य बनाया है, इस कारण नाट्य गति में तनिक शिथिलता आ गई है। किन्तु ऐसे स्थलों पर भावों के अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक दशा का सुन्दर विश्लेषण हुआ है।

कथावस्तु के सदृश इस नाटक का अंगीरस शृंगार है जिसमें अयोग, संयोग एवं वियोग—सभी शृंगार दशाएँ प्राप्त होती हैं। किन्तु संयोग शृंगार की अपेक्षा इस नाटक में अयोग एवं विप्रलम्भ की विभिन्न दशाओं का रूप ही अधिक निखरा है। प्रथम तीनों अंकों में अयोग शृंगार ही है जिसमें नायक पुरुरवा की नायिका उर्वशी के प्रति अभिलाष, चिन्तन आदि विभिन्न शृंगार-अवस्थाओं एवं तीव्र कामदशा को चित्रित किया गया है। तृतीय अंक के अन्त में नायक नायिका का मिलन होता है किन्तु चतुर्थ अंक में नायिका के लता बन जाने के कारण पुरुरवा के विलाप में पुनः करुण विप्रलम्भ शृंगार ही दृष्टिगोचर होता है।

विक्रमोर्वशीय में सर्वत्र कालिदास की कल्पनाओं की मनोज्ञता दृष्टिगोचर होती है। उर्वशी के अनुपम लावण्य का वर्णन करने वाला यह श्लोक द्रष्टव्य है, (विक्रमोर्वशीय 2/3)

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः॥

अर्थात् 'हे मित्र! उस उर्वशी का शरीर आभरणों का भी आभरण है, प्रसाधन विधि का प्रसाधन है और उपमानों का भी उपमान है।'

अभिज्ञानशाकुन्तल—यह कालिदास की सर्वश्रेष्ठ नाट्यकृति है। 'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्' तथा 'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला' आदि सूक्तियाँ इन नाटक के लिए सुप्रसिद्ध रही हैं। विद्वानों ने एक स्वर में इसे संस्कृत साहित्य का ही नहीं, अपितु विश्वसाहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक स्वीकार किया है। यह सात अंकों का नाटक है, जिसमें चन्द्रवंशी राजा दुष्यन्त तथा महर्षि कण्व की पालिता पुत्री शकुन्तला के मुग्ध प्रणय, वियोग तथा पुनर्मिलन की अत्यन्त ही रसपेशल तथा मार्मिक कथा विभिन्न नाटकीय मोड़ों के साथ वर्णित है।

अंक 1—हस्तिनापुर का राजा दुष्यन्त मृगया करते हुए कण्व के तपोवन में जा निकलता है। कण्व ऋषि किसी विशिष्ट साधना के लिए तपोवन से अन्यत्र गए हुए थे। दुष्यन्त उस तपोवन में अपनी सखियों सहित वृक्ष सींचती हुई शकुन्तता के अपूर्व सौन्दर्य से आकृष्ट होता है। शकुन्तला का परिचय राजा को मिलता है कि वह अप्सरा मेनका और विश्वामित्र की पुत्री है तथा कण्व ने उसका पालन-पोषण किया है। दुष्यन्त एवं शकुन्तला मन ही मन परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। **अंक 2**—राजा अपने मित्र विदूषक से शकुन्तला के रूप-सौन्दर्य तथा अनुराग का कथन करता है। **अंक 3**—शकुन्तला मदनताप से सन्तप्त होकर अस्वस्थ है। सखियों के कहने पर वह राजा को प्रेमपत्र लिखती है। संयोगवश उसी स्थल पर दुष्यन्त पहुँच जाता है और शकुन्तला के प्रेम को जानकर उससे विवाह की इच्छा व्यक्त करता है। गुरुजनों को बिना बताए ही दोनों गान्धर्व विवाह कर लेते हैं। **अंक 4**—कार्यवशात् राजा दुष्यन्त हस्तिनापुर लौट जाता है और शकुन्तला

को अपनी नामांकित अंगूठी पहना कर शीघ्र बुलाने का आश्वासन दे जाता है। पति के चले जाने से उदास एवं शून्य-हृदय शकुन्तला तपोवन में आए अतिथि दुर्वासा ऋषि की ओर ध्यान नहीं दे पाती। क्रुद्ध दुर्वासा शकुन्तला को शाप देते हैं कि समय आने पर तेरा पति तुझे नहीं पहचानेगा। शकुन्तला इस शाप को भी नहीं सुनती किन्तु उसकी सुखियाँ सुन लेती हैं। सखियों की प्रार्थना पर दुर्वासा इतना आश्वासन देते हैं कि अभिज्ञान (पहचान) की वस्तु दिखा देने पर शाप निवृत्त हो जाएगा। तीर्थ—यात्रा से लौटकर महर्षि कण्व आकाशवाणी के द्वारा शकुन्तला-दुष्यन्त विवाह और गर्भस्थिति जान जाते हैं और गर्भवती शकुन्तला को पतिगृह भेजने का प्रबन्ध करते हैं। इस अंक में तपोवन से शकुन्तला की विदाई का अत्यन्त हृदयद्रावक दृश्य है। **अंक 5**—दो ऋषियों और गौतमी के साथ शकुन्तला हस्तिनापुर में राजा दुष्यन्त के सम्मुख पहुँचती है, किन्तु दुर्वासा के शाप से नष्ट-स्मृति राजा अपनी गर्भवती पत्नी को पहचान ही नहीं पाता। शकुन्तला अपनी उंगली में पहनी राजा की अंगूठी शचीतीर्थ के जल में गिर जाने के कारण अभिज्ञान भी नहीं प्रस्तुत कर पाती। अपमानित एवं क्रन्दन करती हुई शकुन्तला को राजा के सम्मुख से हटते ही कोई दिव्य ज्योति (उसकी माता मेनका) उठा ले जाती है। **अंक 6**—शकुन्तला की गिरी हुई अंगूठी एक मछुए को मछली के पेट से मिली। बाजार में बेचते समय राजा की नामांकित अंगूठी देख कर सिपाही मछुए को पकड़ लेते हैं। नगररक्षक उस धीवर से अंगूठी-प्राप्ति की कथा सुन कर अंगूठी लेकर राजा के पास जाता है। अंगूठी देखते ही राजा को सारा पूर्व-वृतान्त—शकुन्तला से प्रणय एवं विवाह आदि—याद हो आता है। राजा विरहदग्ध होकर अहर्निश शकुन्तला की स्मृति में ही समय व्यतीत करने लगता है। स्वर्ग से इन्द्र का सारथि मातलि रथ लेकर राजा दुष्यन्त के पास आता है और असुरसंहार के लिए इन्द्र का आदेश सुनाता है। राजा तुरन्त ही स्वर्ग के लिए प्रस्थान करता है। **अंक 7**—राक्षस-संहार करके स्वर्ग से लौटते समय राजा दुष्यन्त मारीच—अदिति के आश्रम में रुकता है और वहाँ पुत्र भरत और पत्नी शकुन्तला से दुष्यन्त का मिलन हो जाता है। राजा अपने अपराध के लिए क्षमा माँगता है। मारीच ऋषि दोनों को आशीर्वाद देते हैं और राजा दुष्यन्त पत्नी पुत्र सहित हस्तिनापुर को वापस चल पड़ते हैं, और नाटक समाप्त हो जाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल की कथावस्तु प्रख्यात कोटि की है। कालिदास ने महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से कथानक ग्रहण किया है जो आदि पर्व के आठ अध्यायों (अध्याय 67 से अध्याय 74 तक) में वर्णित है। किन्तु मूल कथा और कालिदास के कथानक में बहुत अधिक भिन्नता है। महाभारत के लघु आख्यान में विभिन्न आवश्यक परिवर्तन एवं परिष्कार करके कालिदास ने अपनी अद्भुत कल्पनाशक्ति के द्वारा एक ऐसे अपूर्व नाटक की सृष्टि कर दी, जिसकी नाट्यप्रतिभा, भाषा-लालित्य, कल्पना-प्राचुर्य, रसपेशलता तथा मानव के हृदयगत भावों की सूक्ष्म मार्मिक विश्लेषण क्षमता अतुलनीय है। कथानक की गतिशीलता, चरित्रचित्रण की कुशलता और रस-निर्वाह की दृष्टि से दुर्वासा के शाप और अंगूठी गिरने और प्राप्त होने की घटना की कल्पना तो अनूठी है ही। किन्तु विशेषतया

नायक के चरित्र को प्रस्तुत करने में कालिदास ने विशेष प्रशंसनीय कार्य किया। महाभारत का दुष्यन्त विलासी, कामुक, छली व्यक्ति है जो समाज से भयभीत हो कर अपनी पत्नी और पुत्र को पहचान कर भी स्वीकार नहीं करता; सब कुछ स्मरण करके भी असत्य भाषण करता रहता है। किन्तु शाकुन्तल का नायक दुष्यन्त पराक्रमी, सरल, सौम्य, धीरोदात्त प्रकृति पुरुष है। तपोवन में शकुन्तला के प्रति प्रणयाकर्षण के कारण वह अपने हृदय के हाथों विवश है। अपनी प्रेयसी को पत्नी के गौरव से मण्डित करके वह उसे बुलाने का वचन देकर राजधानी जाता है। किन्तु दुर्वासा का शाप उसकी स्मरण शक्ति को लुप्त कर देता है। अपनी इच्छापूर्वक वह अपनी पत्नी का प्रत्याख्यान नहीं करता। धीर,गम्भीर, न्याययुक्त, धर्म सम्मत तथा संयमित आचरण से दुष्यन्त का चरित्र नाटक के पंचम अंक में खूब ही निखरा है। नायक के चरित्र के उत्कर्ष की दृष्टि से ही दुर्वासा शाप की कल्पना की गई है। वस्तुतः तो पाँचवे से सातवें अंक तक सर्वत्र ही कालिदास ने दुष्यन्त के रूप में धीरोदत्त नायक का चरम निदर्शन प्रस्तुत किया है।

मूल कथा में परिवर्तन करके भी कालिदास ने घटना-संयोजन में अपूर्व सौष्ठव बनाए रखा है। प्रत्येक घटना सार्थक भी है और कथानक के विकास में पूर्ण योग भी देती है। स्थल-स्थल पर आए हुए संक्षिप्त वर्णन स्वाभाविक हैं। यथा प्रथम अंक में मृग की तीव्रगति, द्वितीय अंक में मृगया से परिश्रान्त विदूषक का आत्मकथन, चतुर्थ अंक में शकुन्तला की विदाई का दृश्य, षष्ठ अंक में दुष्यन्त की विरहकातरता आदि।

अभिज्ञानशाकुन्तल शृंगाररस प्रधान नाटक है जिसमें शृंगार के सभी पक्ष सुन्दरतया उपनिबद्ध किए गए हैं। प्रथम अंक में ही नायक एवं नायिका के पारस्परिक दर्शन में पूर्वराग का दृढ़ बन्धन प्रदर्शित हो गया है। द्वितीय अंक राजा की अधीरता, व्याकुलता, चिन्ता आदि के रूप में अयोग शृंगार की विभिन्न अवस्थाओं को सुन्दर रूप में प्रस्तुत करता है। तृतीय अंक संयोग शृंगार की कमनीयता को प्रगट करता है। षष्ठ अंक में शकुन्तला के विरह में दग्ध होते दुष्यन्त के चित्रण में विप्रलम्भ शृंगार निष्पन्न हुआ है। और नायक नायिका के पुनर्मिलन से यह नाटक संयोग शृंगार की पूर्णतासहित समाप्त हो गया है। अयोग, संयोग एवं वियोग की सभी विभिन्न दशाओं और भावों के चित्रण से इस नाटक में शृंगार रस अपने सम्पूर्ण रसराजत्व सहित प्रगट हुआ है। इस अंगी रस के साथ साथ वीर, वात्सल्य, हास्य, अद्‍भुत, भयानक आदि रस अंग रूप में प्रस्तुत हुए है। चतुर्थ अंक में पुत्री के विदाई प्रसंग का सम्पूर्ण ही परिवेश वात्सल्य विप्रलम्भ के चित्रण के कारण अत्यन्त सुन्दर किन्तु हृदयद्रावक है। वीर रस के प्रसंगों के द्वारा कवि ने नायक दुष्यन्त के अप्रतिम पराक्रम, साहस तथा युद्धकुशलता आदि गुणों को उजागर किया है, यथा कण्व के आश्रम से सारे ही राक्षसों को भगा देना; षष्ठ अंक में विदूषक को प्रताडित करने वाले अलक्ष्य जीव से भयभीत न होकर युद्धोद्योग करना और मातलि की प्रार्थना पर असुरों से युद्ध करने के लिए तत्काल सन्नद्ध हो जाना आदि। हास्य रस के अधिकांश प्रसंग विदूषक के कारण उद्‍घाटित हो सके हैं। विभिन्न स्थलों पर विदूषक अपनी वाग्चातुरी के द्वारा वातावरण को हास्य की छटा से उज्ज्वल बना देता है। अभिज्ञान शाकुन्तल में

अद्‌भुत रस के भी अनेक प्रसंग हैं जो कथा में विस्मय तत्त्व के कारण नाटक के आकर्षण में वृद्धि करते हैं यथा आकाशवाणी के द्वारा दुष्यन्त शकुन्तला के गान्धर्व विवाह की कण्व को सूचना; वृक्षों में अलक्ष्य वनदेवियों के द्वारा शकुन्तला के लिए वस्त्र, लाक्षारस, आभूषण आदि देना तथा मारीचाश्रम का वर्णन आदि। सप्तम अंक में दिव्यलोक के वर्णन में शान्तरस भी प्राप्त होता है। अन्य रसों की स्थिति इस नाटक में या है ही नहीं अथवा नगण्य है।

अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अंक के चार श्लोक—श्लोकचतुष्टय—पण्डित समाज और रसिकवृन्द में एक से समादृत रहे हैं।[43] इन श्लोकों की विशेषता यह भी है कि ये चारों ही श्लोक कण्व ऋषि के द्वारा पुत्री शकुन्तला की विदाई के अवसर पर कहे गए हैं।[44] एक श्लोक में पिता कण्व की मानसिक दशा का मार्मिक चित्रण है। दूसरे श्लोक में पृथ्वीपालक राजा दुष्यन्त के लिए आदर्श सन्देश-कथन है। तीसरे श्लोक में पुत्री को पतिगृह के लिए ऐसी आदर्श शिक्षा दी गई है जिससे भारतीय संस्कृति का समुज्ज्वल रूप अनायास ही स्पष्ट हो जाता है। और चौथे श्लोक में व्याकुल पुत्री को हार्दिक सान्त्वना है।

अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास के अन्य नाटकों की अपेक्षा कवि की भाषा और शैली भी अधिक परिष्कृत एवं परिमार्जित है। कालिदास ने कथोपकथन में सर्वत्र पात्रानुकूल भाषा का ही प्रयोग किया है। संवाद संक्षिप्त, सरल और रोचक हैं।

नाट्यकला वैशिष्ट्य—जैसा अभी वर्णन किया जा चुका है, महाकवि कालिदास के तीनों रूपकों में नाट्यकला क्रमशः परिष्कृत होती हुई विकसित होती चली गई है। अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास की नाट्यकला का चरम विकास दीख पड़ता है। तीन में से दो नाटकों का कथानक पौराणिक अर्थात् प्रख्यात कोटि का है। मालविकाग्निमित्र का कथानक तो प्रख्यात नहीं है किन्तु उसके पात्र अग्निमित्र आदि अवश्य इतिहासप्रसिद्ध हैं। तीनों ही नाटकों की कथा को कालिदास ने अपनी कल्पना के मंजुल सम्मिश्रण से अत्यन्त कमनीय बना दिया है। नाटकीय शिल्प के अनुकूल ही तीनों नाटकों में अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं, सन्धियों और अर्थोपक्षेकों के सुन्दर प्रयोग से कथावस्तु संश्लिष्ट, गतिशील एवं रोचकता पूर्ण हो गई है।

कालिदास के नाटकों में रसोन्मेष की क्षमता भी अद्वितीय है। उन्होंने सारे ही रसों में शृंगार रस का विशेष मण्डन किया है। मालविकाग्निमित्र में अयोग (विवाहपूर्व) शृंगार की व्याकुलता थी, तो विक्रमोर्वशीय में संयोग की सुखद शीतल ज्योत्सना तथा वियोग के शुष्क तप्त मरुस्थल—दोनों का चरम वर्णन था। अभिज्ञानशाकुन्तल तो शृंगार रस के सभी पक्षों को दर्शकों के सम्मुख कमनीयता पूर्वक निरावृत्त करता जाता है। विक्रमोर्वशीय में

---

43. काव्येषु नाटक रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि चतुर्थोऽङ्क तत्र श्लोक चतुष्टयम्॥

44. 4/6—यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं........
4/17—अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनान्.......
4/18—शुश्रू षस्व गुरून कुरु प्रियसखीवृर्तिं........
4/19—अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता.........

संयोग शृंगार का एक सुन्दर चित्र देखिए। प्रिया उर्वशी को पाकर राजा पुरूरवा के सारे सन्ताप नष्ट हो गए हैं। चन्द्रमा की किरणें, काम के बाण आदि जो वस्तुएँ प्रिया के विरह में रूखी और कठोर लगती थी, वे सभी उर्वशी के मिल जाने पर मनोहर और प्रिय हो गई।

पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं
बाणास्त एवं मदनस्य मनोऽनुकूलाः ॥
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि यद्यदासीत्
त्वत्संगमेन मम तत्तदिवानुनीतम् ॥ (विक्रमोर्वशीय 3/20)

संयोग शृंगार की भाँति ही विप्रलम्भ शृंगार का भी एक सुन्दर चित्र द्रष्टव्य है। प्रिया के वियोग में राजा दुष्यन्त की विह्वल एवं सन्तापदुर्बल दशा का अत्यन्त सुन्दर वर्णन करते हुए कंचुकी कह रहा है—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्या-प्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एवं क्षपाः।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तः पुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ॥ (अभिज्ञान शाकुन्तल 6/5)

अर्थात् '(प्रिया शकुन्तला के विरह में) राजा सुन्दर वस्तुओं से द्वेष करने लगा है; पहले की भाँति प्रतिदिन प्रजाओं आदि से सेवा-सत्कार ग्रहण नहीं करता। शय्या के किनारों पर करवट बदलते-बदलते बिना सोए ही सारी रात्रियाँ व्यतीत हो रही हैं। कभी उदारता के कारण अन्तःपुर की रानियों से यदि वार्तालाप भी करता है तो रानियों के नाम के स्थान पर 'शकुन्तला' कह कर देर तक लज्जित रहता है।'

शृंगाररस के साथ-साथ कालिदास ने अपने नाट्यों में अन्य रसों का भी अंगरूप में सफल निर्वाह किया है। शाकुन्तल का सम्पूर्ण चतुर्थ अंक वात्सल्यविप्रलम्भ का सुन्दर निदर्शन है। शकुन्तला पतिगृह को जा रही है। उसके बिछोह में पशु-पक्षी, लताएँ सभी शोकविह्वल हैं। पिता कण्व की दशा तो अवर्णनीय है। कालिदास ने पतिगृह जाती हुई पुत्री के पिता का जो चित्र आँका है वह प्रत्येक सहृदय को हठात् साश्रु-नयन कर देता है—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ (अभिज्ञानशाकुन्तल 4/6)

कालिदास के तीनों नाटकों में रौद्र एवं वीभत्स रसों के लिए तो कहीं अवकाश नहीं था, किन्तु वीर, अद्भुत, हास्य आदि रस यथावसर पर्याप्त रूप से वर्णित हैं। शिष्ट एवं परिष्कृत हास्य कालिदास के नाटकों में सर्वत्र व्याप्त है।

महाकवि कालिदास के नाटकों में प्रकृति का सम्पूर्ण अतुलनीय वैभव और चिरनूतन विलास सर्वत्र स्पन्दित दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति को सजीव और मानवीय भावनाओं से परिपूर्ण करके कालिदास ने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया है। कालिदास के नाट्यराज्य में मनुष्य और प्रकृति एक दूसरे से पूरक हैं। मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा

विक्रमोर्वशीय में और सबसे बढ़कर अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास का सूक्ष्म प्रकृति-चित्रण तथा अन्तः प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति का सुन्दर समन्वित रूप दृष्टिगोचर होता है। तपोवन से शकुन्तला की विदाई के अवसर पर सभी ऋषि आदि तो दुखी हैं ही, पशु-पक्षी-वृक्ष तक व्याकुल हो गए हैं, हरिणियों ने कुशाओं के ग्रास उगल दिए, मयूरों ने नृत्य करना बन्द कर दिया और पीले पत्ते गिराने वाली लताएं मानों आंसू बहाने लगीं।

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥ (4/11)

मानवीय भावों की तीव्रता और यथार्थता के अभिव्यंजन के लिए भी कालिदास ने प्रकृति का आश्रय लिया है। जो घटना मानव के मन में घट रही है; जैसा सुख-दुख मानव हृदय को आलोडित कर रहा है वैसी ही घटना, वैसा ही सुख-दुख प्रकृति में भी घटित तथा स्पन्दित होता चलता है। प्रिया शकुन्तला के वियोग में राजा दुष्यन्त शोकाकुल एवं पश्चात्ताप-दग्ध हैं, तो बाह्य प्रकृति में भी वसन्त ऋतु आ जाने पर भी आनन्द और उल्लास का वातावरण नहीं छा पाया। आमों में बौर नहीं आ रहा, कोयल की कूक बन्द है और कुरबक आदि पुष्प भी नहीं खिल रहे—

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका वध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शंके संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्॥ (6/4)

कवि के तीनों ही नाटकों की पृष्ठभूमि प्रेमतत्त्व पर उभरी है। मालविकाग्निमित्र में राजकीय अन्तःपुर में विकसित होने वाले यौवन सुलभ प्रेम का चित्रण है, किन्तु इस नाटक में निरूपित प्रेमभावना में औदार्य का विशेष महत्त्व नहीं है। इसीलिए अग्निमित्र हमें उदात्त दक्षिण नायक की अपेक्षा कामी पुरुष रूप में अधिक दीख पड़ता है। विक्रमोर्वशीय में कालिदास ने प्रेम के स्थिर, धीर, गम्भीर रूप के अपेक्षा उद्दाम वासना युक्त स्वरूप को ही अधिक उभारा। पुरुरवा—उर्वशी का प्रेम सार्थक अवश्य हुआ है किन्तु इस सार्थकता में दैवी शक्ति ही प्रमुख कारण है। यह सार्थकता पारस्परिक चरम निष्ठा से उत्पन्न नहीं हो सकी है। अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास ने प्रणय का वास्तविक सम्मान किया है। प्रेम की चरम सार्थकता का परिपाक इसी नाटक में हुआ। यौवन के सहज आवेग में बह कर दुष्यन्त एवं शकुन्तला वासनादिग्ध हो कर गान्धर्वविवाह कर लेते हैं, उनके इस प्रणय में महनीयता एवं उदात्तता का कोई अंश दीख नहीं पड़ता। इसीलिए कालिदास ने प्रणय को आदर्श के उच्च धरातल पर स्थित कर देने के लिए दुर्वासा-शाप की कल्पना की है। विस्मरणयुक्त पति से अपमानित शकुन्तला मारीच आश्रम में तपस्या द्वारा अपने प्रेम के कलुष को शुद्ध करती है और अंगूठी देखने से हठात् ही शकुन्तलावृतान्त को पुनः स्मरण करने वाला दुष्यन्त पश्चाताप और विरह की अग्नि में दग्ध हो कर प्रणय के उदात्त रूप से सम्पन्न होता है। एक दूसरे के अहर्निश चिन्तन में सर्वात्मना खोकर ही दुष्यन्त शकुन्तला पुनः एक दूसरे से मिल पाए हैं। प्रेम की दुर्निवार शक्ति और आकर्षण को कालिदास ने

अस्वीकार नहीं किया, किन्तु वासनाभरित प्रेम के हाथों आत्मसमर्पण भी नहीं किया है।

प्रणय-वर्णन के सदृश ही कालिदास ने सौन्दर्य के चित्रण में भी अपनी असामान्य प्रतिभा का परिचय दिया है। कालिदास के तीनों ही रूपकों में सौन्दर्य तत्त्व का अद्‌भुत उन्मेष दृष्टिगोचर होता है। तीनों ही नायिकाएँ रूपवती तथा अलौकिक शोभा सम्पन्न हैं। नृत्यप्रतियोगिता के लिए उपस्थित होती हुई मालविका का वर्णन देखें—

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितोऽमितं च जघनं पादावुदग्रांगुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि क्लिष्टं तथास्या वपुः॥ (2/3)

अर्थात् 'दीर्घ आयत नेत्र, शारदीय चन्द्रमा की कान्ति से युक्त मुख, कन्धों पर तनिक झुकी सी भुजाएँ निविड एवं उन्नत स्तनों से सुसज्जित वक्षस्थल, प्रमृष्ट के सदृश श्लक्ष्ण पार्श्वभाग, क्षीण कटि, पृथुल जघन तथा उभरी हुई पैरों की उंगलियां—ऐसा प्रतीत होता है कि इस (मालविका) के शरीर की रचना इसके नृत्यगुरु (गणदास) की इच्छानुसार हुई हो।'

विक्रमोर्वशीय में उर्वशी तो अप्सरा है ही, उसके सौन्दर्यदर्शन से भ्रमित चित्त राजा पुरुरवा को तो उर्वशी की सृष्टि करने में समर्थ व्यक्ति ही नहीं दीख पड़ता। निरन्तर वेदाभ्यास से रसहीन चित्त वाले ब्रह्मा तो निश्चय ही उर्वशी जैसे रूप का निर्माण नहीं कर सकते। हो सकता है शृंगार रस अथवा कान्तिप्रद चन्द्रमा अथवा स्वयं कामदेव अथवा वसन्त ऋतु ने ही इतने सुन्दर रूप का निर्माण किया हो—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ (1/10)

अभिज्ञानशाकुनतल में कालिदास शकुन्तला के रूप वर्णन से विरत होना ही नहीं चाहते। शकुन्तला की कमनीयता, देहलता, अंगप्रत्यंग—सभी के सौन्दर्य के बार-बार वर्णन करने पर भी कालिदास की लेखनी विश्रान्त नहीं होना चाहती। तापस कन्या शकुन्तला के रूप में वाह्य प्रसाधन की तो कोई अपेक्षा नहीं ही है, वल्कल पहन कर भी उसका रूप निखरा ही पड़ रहा है जैसे सेवार से घिर कर कमल की शोभा बढ़ती है अथवा कलंक से युक्त होकर चन्द्रमा की कान्ति—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी॥
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम॥ (1/17)

वास्तविक सौन्दर्य तो सभी अवस्थाओं में मनोरम एवं रमणीय होता है 'अहो, सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्।'

कालिदास का चरित्रचित्रण स्वाभाविक एवं सजीव होकर भी आदर्शोन्मुख है। उनकी चरित्रचित्रण कला भी अन्य दो नाटकों की अपेक्षा अभिज्ञानशाकुन्तल में बहुत अधिक निखरी है। दुष्यन्त के चरित्र को कालिदास ने किस प्रकार सँवार कर उत्कृष्ट बना दिया है, इसका वर्णन किया जा चुका है। अन्य सभी पात्र भी कालिदास की कला के स्पर्श से अपनी वैयक्तिक विशेषताओं से युक्त होकर नेत्रों के सम्मुख मानों साक्षात् उपस्थित हो जाते हैं। प्रणयोन्मत्त उर्वशी; गम्भीर एवं प्रतिष्ठित धारिणी; ईर्ष्या एवं असूया में सुलगती इरावती; यौवन सुलभ प्रथम प्रणय में चपल मालविका; चुलबुली स्नेहशीला सखी प्रियम्वदा; लोकव्यवहार निष्णात, नितान्त मर्यादायुक्त आचरणसम्पन्न अनुसूया तथा पहले प्रेमविह्वल, तदुपरान्त प्रत्याख्यान से अपमानित होकर तेजस्विनी और पुनः पति के स्मरण में ही प्रोषतपतिका बन कर जीवन काटती शकुन्तला—कालिदास के सभी स्त्री पात्र अविस्मरणीय हैं। इसी प्रकार विरहाकुल पुरुरवा, धीरोदात्त दुष्यन्त, महर्षि कण्व, नर्मसचिव विदूषक आदि प्रमुख पुरुष पात्रों का चरित्र तो उत्कृष्टतया वर्णित है ही, शार्ंगरव, शारद्वत, मातलि, धीवर आदि गौण पात्र भी सजीव से दीख पड़ते हैं।

कालिदास ने अपने काव्य को विभिन्न प्रकार के अलंकारों से भलीभाँति सज्जित किया है। कालिदास के अलंकार प्रयोग में कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। उपमा तो उनकी प्रसिद्ध है ही—'उपमा कालिदासस्य'—कालिदास ने प्रायः सभी अलंकारों का प्रयोग अपने नाट्यों में किया। शकुन्तला के सौन्दर्य के लिए एक साथ अनेक उपमानों से सजे इस सुन्दर श्लोक को देखें—(2/10)

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वदितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः (2/10)

कालिदास की भाषा का परिष्कार, प्राञ्जलता, तथा लालित्य अन्य कवियों में दुर्लभ है। कालिदास की भाषा में क्लिष्टता कहीं नहीं है। वे प्रत्येक स्थान पर ऐसे शब्दों का ही प्रयोग करते है, जो उस स्थान पर सर्वाधिक समीचीन एवं सार्थक हों। कालिदास का शब्दकोश अगाध है। भाषा एवं शब्दकोश पर अधिकार होने के कारण कालिदास की भाषा असाधारण रूप से मनोरम और प्रवाहयुक्त बन गई है। उन्होंने प्रत्येक पात्र के मुख से उसके अनुरूप ही कथोपकथन की योजना की है। कालिदास की शैली वैदर्भी हैं। शब्दों का सुकुमार विन्यास, विभिन्न प्रयुक्त छन्दों का स्वर माधुर्य तथा व्यंजना की प्रधानता—कालिदास की शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं। अभिव्यंजना प्रधान शैली होने के कारण कालिदास की भाषा में सूक्तियों का बहुल प्रयोग हुआ है। कालिदास के नाटकों में अर्थान्तरन्यास अलंकार के प्रयोग के द्वारा सूक्तियों के प्रस्तुतीकरण से ही कालिदास इस अलंकार प्रयोग में सिद्धहस्त माने गए—'अर्थान्तन्यास-विन्यासे कालिदासो विशिष्यते।' कतिपय सूक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। 'भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र', 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः', 'पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते', 'कामी स्वतां पश्यति',

'पूर्वावधीरितं श्रेयो दुखं हि परिवर्तते', 'मनोरथाः नाम तटप्रपाताः', 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं',—आदि सूक्तियाँ एक ओर तो कालिदास के गहन लोकव्यवहार नैपुण्य को प्रदर्शित करती हैं तो दूसरी ओर उनके नाटकों में व्यंजना वृत्ति की भी स्थापना करती हैं। इसी गुण से चमत्कृत किसी सहृदय ने कहा—

अमृतेनेव संसिक्ताः चन्दनेनेव चर्चिताः।
चन्द्रांशुभिरिवोद्घृष्टाः कालिदासस्य सूक्तयः॥

कालिदास के सर्वाधिक रमणीय नाटक अभिज्ञानशकुन्तल के अनुवाद मात्र को पढ़कर जर्मन कवि गेटे के मुख से जो हृदयोद्गार निकले थे, उनका डॉ. मिराशी कृत पद्यानुवाद द्रष्टव्य है—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चानन्यमनसो रसायनमतः सन्तर्पणां मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम॥

विशाखदत्त

कथावस्तु की विशिष्टता तथा शैली की उदात्त गम्भीरता से युक्त मुदाराक्षस नाटक संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। इसके रचयिता विशाखदत्त हैं। मुद्राराक्षस की प्रस्तावना से विशाखदत्त का यत्किंचित परिचय प्राप्त होता है।[45] इनके पिता भास्करदत्त अथवा पृथु ने महाराज की पदवी धारण की थी और पितामह वटेश्वरदत्त अथवा वत्सराज कोई सामन्त थे। महाराज और सामन्त शब्दों से ज्ञात होता है कि विशाखदत्त के पूर्वज कोई छोटे राजा रहे होंगे। वंशपरम्परा से प्राप्त विशाखदत्त का राजनीतिवैशारद्य मुद्राराक्षस के जटिल कथा-संयोजन में खूब ही प्रगट हुआ है। मुद्राराक्षस के अनुशीलन से विशाखदत्त का विविध पाण्डित्य एवं बहुज्ञता पदे पदे स्पष्ट होती है। वे न्याय, बौद्ध एवं जैन दर्शन के गम्भीर अध्येता थे। अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, गणित, राजनीति तथा ज्योतिष का उन्होंने गहन अध्ययन किया था। किन्तु विशाखदत्त का स्थितिकाल क्या था? इस विषय पर उनकी रचना से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। नाटक के भरतवाक्य में[46] आए हुए एक राजा के नाम के भिन्न-भिन्न पाठ (चन्द्रगुप्त, दन्तिवर्मा, अवन्तिवर्मा) मिलने के कारण समय निर्धारण में बहुत कठिनाई है और विभिन्न विद्वानों ने इन्हीं नामों को आधार बनाकर भिन्न भिन्न समय में विशाखदत्त का स्थितिकाल निश्चित करने का प्रयास किया है।

भरतवाक्य में राजा का नाम चन्द्रगुप्त स्वीकार करने वाले डॉ. जायसवाल, प्रो. शारदारंजन राय आदि के अनुसार विशाखदत्त ने अपने नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य के वर्णन के

---

45. मुद्राराक्षस—प्रस्तावना—अद्य सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजपदभाक्पृथुसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिः मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यम्।

46. म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः।
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥

द्वारा प्रकारान्तर से अपने आश्रयदाता चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-413 ई.) की ओर संकेत किया है। विशाखदत्त ने पाटलिपुत्र को अत्यन्त समृद्ध नगर चित्रित किया है। छठी शती में हर्षवर्धन के समय तक पाटलिपुत्र भग्नावशेष हो गया था। इसके अतिरिक्त नाटक में बौद्धधर्म का जो संकेत (7/5) है, उससे ज्ञात होता है कि वह समय बौद्ध धर्म के पुन: अभ्युदय का समय था। इन आधारों पर विशाखदत्त का समय पाँचवीं शती का आरम्भ होना चाहिए।

भरतवाक्य में राजा का नाम दन्तिवर्मा मानने पर उसका समय आठवीं शती होना चाहिए, क्योंकि दक्षिण में पल्लवनरेश दन्तिवर्मा लगभग 720 ई. में राज्य करते थे। किन्तु दक्षिण में उस समय किन्ही भी म्लेच्छ आक्रमणकारियों के कारण उद्वेग नहीं फैला था, जिसका भरतवाक्य में ही स्पष्ट उल्लेख है। दूसरा कारण यह है कि पल्लव राजा शैव थे किन्तु भरतवाक्य में राजा की तुलना विष्णु से की गई है। अत: यह मत मान्य नहीं हैं।

तीसरे पाठ के अनुसार प्राप्त अवन्तिवर्मा नाम के दो राजा हुए हैं। एक काश्मीर के राजा थे जो 855 से 883 ई. तक रहे। प्रो. याकोबी ने विचित्र तर्कों द्वारा इन्हीं काश्मीरराज के समय में विशाखदत्त की स्थिति मानी है किन्तु काश्मीरराजा के राज्य में विशाखदत्त के स्थितिकाल का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

दूसरे राजा अवन्तिवर्मा मौखरिवंशीय कन्नौज के नरेश थे। इन्हीं अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा से हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री का विवाह हुआ था। इन राजा अवन्तिवर्मा का समय छठी शती का अन्त एवं सातवीं शती का प्रारम्भ है। विशाखदत्त के नाटक के भरतवाक्य में इन्हीं राजा अवन्तिवर्मा का निर्देश ऐतिहासिक दृष्टि से भी प्रमाणित होता है। छठी शती के अन्त में पश्चिमोत्तर भारत में हूणों का आतंक विशेषतया प्रबल था। राजा अवन्तिवर्मा ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की सहायता से हूणों को पराजित किया था। यह घटना 582 ईस्वी के लगभग की है। इन आधारों पर विशाखदत्त का समय छठी शती के अन्त में माना जा सकता है। प्रो. ध्रुव का भी यही मत है।

मुद्राराक्षस अपने ढंग का अनूठा ही नाटक है। इसमें 7 अंक है। नाटककार ने प्रणय आदि को अपनी कथावस्तु का आधार न बनकर पूर्णतया कूटनीति पर ही सम्पूर्ण नाटक को आधारित किया है। इस नाटक में सात अंक है। कथावस्तु ऐतिहासिक पात्रों— चाणक्य, चन्द्रगुप्त मौर्य, नन्दमन्त्री राक्षस आदि पात्रों से युक्त है। नन्दवंश का नाश करके चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य को राजसिंहासन पर बैठा तो दिया है, किन्तु चाणक्य नन्द के स्वामिभक्त मन्त्री राक्षस को भी वशीभूत करके उसे चन्द्रगुप्त मौर्य का मन्त्री बना देना चाहता है। राक्षस अपनी स्वामिभक्ति से विचलित नहीं हो रहा। इसी बुद्धिसंघर्ष में चाणक्य की कूटनीतिकुशलता ही नाटक का मूल मन्त्र है। राक्षस कुसुमपुर से बाहर जाकर मलयकेतु आदि राजाओं की सहायता से पाटलिपुत्र पर आक्रमण और चन्द्रगुप्त मौर्य को पराजित करने का उद्योग कर रहा है। राक्षस और उसके मित्रों के विभिन्न षड्यन्त्रों को चाणक्य अपने बुद्धि कौशल से विफल करता जाता है। भाग्यवशात् चाणक्य को राक्षस की पत्नी के हाथ से गिरी हुई राक्षस की नामांकित मुद्रा अपने गुप्तचर के द्वारा प्राप्त हो जाती है। इसी

मुद्रा के सहारे चाणक्य एक कूट लेख लिखवाकर अन्त में राक्षस के सारे ही प्रयत्नों को विफल कर देता है। राक्षस का मित्र मलयकेतु अपने सहयोगी राजाओं सहित पकड़ा जाता है। विफल मनोरथ, भग्नहृदय राक्षस कुसुमपुर में अपने मित्रों का समाचार जानने के लिए छिपकर कुसुमपुर लौटता है जहाँ एक पुरुष से उसे यह सूचना मिलती है कि राक्षस का पता न बताने के अपराध में चाणक्य ने सेठ चन्दनदास को प्राणदण्ड सुनाया है। अपने मित्र को विपत्ति से बचाने के लिए राक्षस बधस्थल पर चाणक्य के सामने प्रगट हो जाता है। चाणक्य इस शर्त पर चन्दनदास को छोड़ने के लिए तैयार होता है कि राक्षस चन्द्रगुप्त का अमात्य-पद स्वीकार कर ले। विवश राक्षस राजा चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनना स्वीकार कर लेता है। पूर्ण-प्रतिज्ञ चाणक्य अपनी चोटी बाँधता है। यही मुद्राराक्षस के कथानक का संक्षिप्त सार है।

नाट्यकला-वैशिष्ट्य—विशाखदत्त ने इस नाटक की रचना नाट्यशास्त्र के नियमों के सर्वथा अनुकूल तो नहीं की है, किन्तु फिर भी यह संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में परिगणित किया जाता है। विशाखदत्त को नाट्य के क्षेत्र में प्रगतिवादी नाटककार कहा जा सकता है। ऐसे ही क्षमता-सम्पन्न कवि नई परम्परा और नई दिशाओं का सृजन किया करते हैं। विशाखदत्त में नवीनता भी है और मौलिकता भी तथा उनकी यह दोनों विशेषताएँ मुद्राराक्षस में सम्पूर्ण शक्तिमत्ता के साथ प्रस्फुटित हुई हैं। इसी कारण विशाखदत्त नाट्यशास्त्र सम्बन्धी परम्परागत रूढ़ियों का परित्याग करके भी संस्कृत साहित्य के नाट्य क्षेत्र में अपना अद्वितीय स्थान बना सके हैं।

कथावस्तु—मुद्राराक्षस नाटक के सात अंकों में ग्रथित कथावस्तु की पृष्ठभूमि तो ऐतिहासिक है क्योंकि उसमें चाणक्य, चन्द्रगुप्त, राक्षस आदि ऐतिहासिक पात्र हैं किन्तु सम्पूर्ण कथा में असंख्य घटनाओं का सम्पूर्ण कूटजाल विशाखदत्त की प्रतिभा एवं कल्पनाशक्ति की दूरगामिता का सम्मिलित परिणाम है।

विशाखदत्त का राजनीति-पाण्डित्य इस नाटक से भली भाँति ज्ञात हो जाता है। राजनीति किंवा कूटनीति की परिधि में रचे गए इस नाटक का कथानक घटनाओं की विविधता तथा बहुलता से जितना संश्लिष्ट था, नाटककार विशाखदत्त ने उतनी ही एकाग्रता और सूक्ष्मता से सम्पूर्ण कथानक का निर्वाह किया। मुद्राराक्षस में नाट्यव्यापार सर्वत्र ही तीव्र गत्यात्मक है। कथा में कहीं भी न तो गतिरोध है और न ही गतिभंग। सम्पूर्ण घटनाचक्र में एक भी अनावश्यक प्रसंग नहीं आने पाया है। कथानक की तीव्र गति में दर्शक एवं श्रोता की रुचि एवं उत्सुकता अन्त तक बनी रहती है। मुद्राराक्षस में अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं और सन्धियों आदि नाट्य-तत्त्वों का यथास्थान समुचित प्रयोग हुआ है।

संस्कृत नाटकों की आत्मा रस है। यह रस तत्त्व नाट्य में सर्वातिशायी होता है। प्रत्येक नाटक रस को केन्द्र बना कर उसकी परिधि में ही गतिशील होता है। किन्तु मुद्राराक्षस शुद्ध घटनाप्रधान नाटक है। प्रत्येक घटना का चित्रण वास्तविक एवं सजीव है। घटनाओं की विविधता और एकाग्रता दर्शनीय बन पड़ी है। सारी घटनाएं एक दूसरी में इस प्रकार गुँथी हुई हैं कि छोटी से छोटी किसी नगण्य-सी घटना को हटा देने पर भी कार्य-

सिद्धि असम्भव हो जाएगी। इस दृष्टि से सम्पूर्ण नाटक में कार्य की अन्विति बहुत सफल बन पड़ी है। विशाखदत्त ने इस जटिल तथा विविध घटना-बहुल इतिवृत्त का निर्वाह जिस कुशलता से किया है वह एक राजनीतिज्ञ के कार्य के सदृश ही श्रमसाध्य था। नाटककार ने इसीलिए स्वयं राक्षस के मुख से यह कहला दिया है।

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।
कुर्वन् बुद्धया विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा॥ (मुद्राराक्षस 4/3)

अर्थात् 'सबसे पहले अत्यन्त संक्षिप्त रूप में कार्य को प्रस्तुत करना होता है (जैसे मुख सन्धि में नाट्य के बीज का उपक्षेप होता है): उसके पश्चात् उस कार्य को फैलाने की कामना होती है (प्रतिमुख सन्धि में नाट्य बीज का लक्ष्यालक्ष्य उद्भेद होता है); तदनन्तर प्रारम्भ किए गए कार्यों के गम्भीर फल का उद्भेदन करना होता है (जैसे गर्भसन्धि में पुनः पुनः कार्य के बीजान्वेषण की प्रक्रिया चलती रहती है)। फिर अत्यन्त बुद्धिपूर्वक प्रयोजन प्राप्ति के प्रति निश्चय किया जाता है (विमर्श सन्धि), और समस्त फैले हुए कार्यों को एकाग्र फल के लिए उपसंहृत कर लिया जाता है (निर्वहण सन्धि)। निश्चय ही हम (राक्षस) जैसे राजनीतिज्ञों तथा नाटक रचयिताओं को ऐसे क्लेश का अनुभव करना ही पड़ता है।'

वस्तुतः 'मुद्राराक्षस' नाटक की कथावस्तु में राजनीति एवं कूटनीति की अत्यन्त सूक्ष्म, सुश्लिष्ट एवं प्राक्कलित तथा सुसम्बद्ध घटना श्रृंखला प्रस्तुत हुई है। डॉ. रामजी उपाध्याय ने अपनी पुस्तक में इस नाटक की विभिन्न घटनाओं एवं अर्थशास्त्र ग्रन्थ के अनेक सूत्रों की पारस्परिक संगति भी बैठाई है और मुद्राराक्षस को अर्थशास्त्र से बढ़कर कूटनीति-युक्त सिद्ध किया है।[47] कथावस्तु की दृष्टि से विशाखदत्त की अन्यतम विशेषता यह है कि उन्होंने प्रणय अनुराग आदि विषयों को ग्रहण न करके एक सर्वथा नवीन क्षेत्र से नाटक की कथावस्तु का चयन किया और और उसका आद्यन्त सफल निर्वाह भी किया।

चरित्रचित्रण—घटनाओं के निर्वाह की ही भाँति विशाखदत्त ने पात्रों के चरित्रचित्रण में भी विशेष कौशल प्रदर्शित किया है। 'मुद्राराक्षस' नाटक में प्रमुख तथा गौण-कुल मिलाकर 29 पात्र है। नाटक की कथावस्तु में प्रणय की तो गन्ध भी नहीं है अतः तदनुकूल ही स्त्री पात्र अत्यल्प—तीन ही है।

विशाखदत्त ने अपने नाटक के प्रमुख पात्रों का मानों प्रतिद्वन्द्वी युगल अथवा तुलनात्मक रूप प्रस्तुत किया है। चाणक्य एवं राक्षस, चन्द्रगुप्त तथा मलयकेतु इसी प्रकार के तुलनात्मक पात्र हैं। एक ओर चाणक्य है जो नितान्त स्थिचित्त, दृढ़व्रत, प्रतिक्षण जागरूक एवं सावधान, लक्ष्यसिद्धि के प्रति कठोर, कूटनीति चतुर एवं बुद्धितत्त्व प्रधान चरित्र है। अपनी प्रखर एवं दूरावगाहिनी बुद्धि को वह सहस्रों सेनाओं से श्रेष्ठ मानता है—

47. उपाध्याय, रामजी—संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—द्वितीय भाग–पृष्ठ 209-212

एका केवलमेव साधनविधौ सेना शतेभ्योऽधिका।
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम॥ (मुद्राराक्षस 1/26)

सम्पूर्ण आत्मविश्वास के साथ चाणक्य कूटनीति के विभिन्न उपाय रचता है और प्रत्येक उपाय से फलप्राप्ति की ओर अग्रसर होता जाता है। किन्तु दूसरी ओर प्रतिपक्षी मन्त्री राक्षस है, जो अत्यन्त अस्थिर चित्त, विस्मरणशील, असावधान, उदारहृदय, मित्रवत्सल एवं हृदयतत्त्व प्रधान चरित्र है। राक्षस में आत्मविश्वास का अभाव है।[48] और वह मनुष्य के पराक्रम से भी अधिक प्रबलता भाग्य को देता है—

तस्यैव बुद्धिविशिखेन भिनद्मि मर्म,
वर्मी भवेद् यदि न दैवमदृश्यरूपम्'' (मुद्राराक्षस 2/8)

राक्षस के हृदय का औदार्य एवं कोमलता उस समय निश्चय ही पाठक-दर्शक के हृदय का स्पर्श कर लेते है जब अपने परलोकगत स्वामी के प्रति की गई प्रतिज्ञा को भूल कर राक्षस अपने मित्र चन्दनदास के प्राणों को बचाने के लिए शीघ्रता से वध्यस्थल पर पहुँचता है। चाणक्य में ऐसी कोई दुर्बलता अथवा कोमलता नहीं है। किन्तु चाणक्य भी राक्षस के इस मित्रवात्सल्य एवं स्वामिभक्ति से ही आकृष्ट होकर राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाने के लिए कटिबद्ध है।

चन्द्रगुप्त तथा मलयकेतु में भी इसी प्रकार का तुलनात्मक चरित्र-चित्रण दृष्टिगोचर होता है। चन्द्रगुप्त युद्धवीर तथा अनुभवी शासक है। अपने गुरु चाणक्य के कार्यों के प्रति उसमें अटूट आस्था तथा गुरु में अनन्य भक्ति है; किन्तु मलयकेतु अत्यन्त ही अयोग्य, बुद्धिहीन तथा मित्र-शत्रु को पहचानने की क्षमता से रहित है। राक्षस की वास्तविक सद्भावना एवं सदुद्योग पर वह अपनी मूर्खता के कारण विश्वास नहीं करता। इन चार पात्रों के अतिरिक्त सेठ चन्दनदास, शकटदास, सिद्धार्थक, भागुरायण, निपुणक आदि सभी पात्रों का चरित्र विशाखदत्त ने बड़ी कुशलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। नाटक में मुख्य अथवा गौण-किसी भी प्रकार की भूमिका में अवतरित होते हुए ये पात्र अपनी वैयक्तिक विशेषताओं से मण्डित हैं। ''नाटककार के चित्रकार की कूँची ने उनमें जीवन रस भर दिया है। विशाखदत्त के चरित्र मृच्छकटिक की भाँति जीवन्त चरित्र हैं, किसी हद तक मृच्छकटिक के चरित्रों से भी अधिक स्पष्ट, अधिक सशक्त, अधिक यथार्थ।''[49]

जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि मुद्राराक्षस नाटक में स्त्री चरित्र का अंकन अत्यल्प एवं नगण्य है। तीन स्त्री पात्रों में दो तो प्रतिहारिणियाँ है—चन्द्रगुप्त की प्रतिहारी शोणोत्तरा एवं मलयकेतु की प्रतिहारी विजय। तीसरी स्त्री पात्र सेठ चन्दनदास की पत्नी है। इस स्त्री पात्र का रंगमंच पर प्रवेश क्षण भर के लिए है किन्तु कथानक की गति अथवा विकास में उसका कोई योगदान नहीं है। दृश्य की प्रभावोत्पादकता को बढ़ाने मात्र के लिए उसका प्रयोग किया गया है। विशाखदत्त ने विदूषक पात्र की भी अवतारणा नहीं

48. मुद्राराक्षस 2/4— चिन्तावेशसमाकुलेन मनसा रात्रिन्दिवं जाग्रतः।
सैवेयं मम चित्रकर्मरचना भित्ति विना वर्तते॥

49. व्यास, भोलाशंकर—संस्कृत कवि दर्शन—पृष्ठ 374

की है, और इसीलिए पूरे नाटक में एकाधिक पात्रों के श्लिष्ट वाक्यों अथवा संवादों में तो स्मित हास्य प्राप्त होता है किन्तु हास्योल्लास की कहीं कोई योजना नहीं दिखाई देती। नाटक का वातावरण आद्यन्त गम्भीर है। किन्तु स्त्रीपात्र की न्यूनता अथवा विदूषक न होने अथवा गम्भीरता होने से नाटक की रोचकता में रंचमात्र भी कमी नहीं आने पाई है। नाटककार ने पूरे नाटक में आकर्षण एवं रोचकता को बनाए रखा है।

'मुद्राराक्षस' नाटक का नायक चाणक्य है अथवा चन्द्रगुप्त-इस विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत प्राप्त होते हैं।[50] नाट्यशास्त्रीय विधान की दृष्टि से भी परस्पर विरोधी तर्क ग्रहण किए जा सकते हैं। किन्तु सम्पूर्ण नाटक में जिस एक पात्र की सर्वव्यापी उपस्थिति एवं प्रभाव का बोध निरन्तर ही पाठक एवं दर्शक को होता रहता है वह केवल चाणक्य ही है। चन्द्रगुप्त का राज्य निष्कंटक बना देने के लिए अमात्य राक्षस रूपी फलागम भी चाणक्य को ही होता है। वस्तुत: चन्द्रगुप्त का चरित्र चाणक्य के सम्मुख उभर ही नहीं पाया है, फिर उसे ऐसे सफल नाटक का नायक कैसे माना जा सकता है? विशाखदत्त ने चाणक्य के चरित्र को जितने दीप्त एवं प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत किया है; उससे प्रतीत होता है कि स्वयं विशाखदत्त भी चाणक्य को ही नायक रूप दे रहे थे। छठे अंक के प्रारम्भ में कृष्ण एवं आर्य चाणक्य की नीति की विपुल प्रशंसा इसका प्रमाण है—

जयति जलदनील: केशव: केशिघाती
जयति सृजनदृष्टिश्चन्द्रमाश्चन्द्रगुप्त: ।
जयति जयनसज्जं या अकृत्वा च सैन्यं
प्रतिहतप्रतिपक्षा आर्यचाणक्यनीति: ॥

रस परिपाक—घटनाप्रधान 'मुद्राराक्षस' नाटक का प्रधान रस वीररस है। वीररस का स्थायी भाव-उत्साह-प्राय: सभी पात्रों में दृष्टिगोचर होता है। सम्पूर्ण कथानक एवं लगभग सारे ही पात्र जिस पौरुषातिरेक, उत्साह और ऊर्जस्विता से ओतप्रोत हैं, वह इस घटना प्रधान नाटक के उपयुक्त ही था। वीररस की इस तीव्र अभिव्यंजना में एक अपूर्व वैशिष्ट्य और है। सामान्यतया ओजस्वी वचनों, उत्तेजक कथोपकथनों, युद्धभूमि वर्णन, वीरों की वीरता का वर्णन आदि के द्वारा वीररस का उद्रेक होता है। किन्तु 'मुद्राराक्षस' नाटक में साक्षात् युद्ध तो कहीं हुआ ही नहीं है। केवल चाणक्य के बुद्धिचातुर्य के चमत्कार से ही सम्पूर्ण नाटक में वीररस की सृष्टि कर दी गई है। नाटक में चन्द्रगुप्त का यह कथन सर्वथा उचित ही है कि बिना युद्ध के ही आर्य चाणक्य ने दुर्जेय शत्रुसेना को पराजित कर दिया—"विनैव युद्धादार्येव जितं दुर्जयं परबलमिति।"

वस्तुत: चाणक्य को खड्ग उठने अथवा प्रयोग करने की कहीं आवश्यकता ही नहीं

---

50. (i) विण्टरनित्स—हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर—वाल्यूम III पृष्ठ 234
The Hero of the Drema is Chanakya.
(ii) काले, एम,आर—मुद्राराक्षस–व्याख्या भूमिका पृष्ठ XXIII
The Hero is Chandragupta, possessed of the qualities of the Dhirodatta.
(iii) कुन्हनराजा—सर्वे ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ 179

पड़ी है। उसकी ओजस्विनी वाणी मात्र ही वीररस के उद्बोध के लिए पर्याप्त से अधिक है—

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाच्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्॥ (मुद्राराक्षस 1/8)

मुद्राराक्षस नाटक के वीररस की निष्पत्ति को भली प्रकार हृदयगंम कर लेने के लिए वीररस तथा तदनुकूल नाट्यवृत्ति का तनिक सा शास्त्रीय विवेचन भी कर लेना अप्रसांगिक न होगा। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से प्रताप, विनय, कार्यकुशलता, बल, मोह, अविषाद, नय, विस्मय तथा शौर्यादि विभावों से विभावित एवं अनुकूल संचारादि भावों से पुष्ट होकर उत्साह स्थायी भाव ही वीररस के रूप में निष्पन्न होता है।[51] वीर रस के प्रसंग में नायक या पात्र का आचरण सात्वती वृत्ति के अन्तर्गत आता है,[52] और इस वृत्ति में शोकहीनता, सत्व, शौर्य, त्याग, दया, ऋजुता आदि भावों की स्थिति पाई जाती है।[53] इन शास्त्रीय परिभाषाओं की पृष्ठभूमि में यदि मुद्राराक्षस नाटक को देखें, तो विभिन्न पात्रों में वीर रसोचित विभिन्न भावों की सुन्दर स्थिति दिखाई देती है और सात्वती वृत्ति के चार अंगों में से विशेषतः संलापक और सांघात्यक का पुनःपुनः प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। एक और वैशिष्ट्य यह भी है कि वीररस के जो चार भेद-दानवीर, दयावीर, युद्धवीर और धर्मवीर—कहे गए थे, उन चारों में से कोई भी भेद मुद्राराक्षस मे प्राप्त नहीं होता। फिर भी सर्वत्र वीररस का विस्तार प्रशंसनीय है। डॉ. रामजी उपाध्याय ने इसे नयवीर की संज्ञा दी है।[54] वीररस के इस सम्भार को अद्भुत रस ने अंग रस के रूप में पर्याप्त सहायता दी है। चाणक्य की कुशल बुद्धि से संचालित कूटनीतिक चालें पाठक अथवा दर्शक को निरन्तर ही विस्मयान्वित करती रहती हैं।

जैसा इंगित किया जा चुका है कि विशाखदत्त की वीररस योजना में श्रृंगार रस के ललित चित्रों के लिए कोई अवकाश नहीं था, किन्तु मुद्राराक्षस में एकाधिक स्थलों पर प्रकारान्तर से श्रृंगार के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं। राक्षस के पराक्रम, शौर्य और बुद्धिमत्ता को स्पष्ट करने के लिए व्याज से एक सुन्दर श्रृंगारिक श्लोक प्रस्तुत हुआ है—

वामां बाहुलतां निवेश्य शिथिलं कण्ठे निवृत्तानना
स्कन्धे दक्षिणया बलान्निहितयाऽप्यंके पतन्त्या मुहुः।
गाढालिंगनसंगपीडितसुखं यस्मोद्यमाशंकिनी
मौर्यस्योरसि नाधुनाऽपि कुरुते वामेतरं श्रीः स्तनम्॥ (मुद्राराक्षस 2/12)

---

51. दशरूपक 4/72—वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्वमोहाविषाद नयविस्मयविक्रमाद्यैः।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः॥
52. दशरूपक 2/62—श्रृंगारे कौशिकी, वीरे सात्त्वती....।
53. दशरूपक 2/53— विशोका सात्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।
संलापोत्थापकावस्यां सांघात्यः परिवर्तकः॥
54. उपाध्याय, रामजी—संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास–द्वितीय भाग—पृष्ठ 222

इसी प्रकार तृतीय अंक में चाणक्य के द्वारा कौमुदी महोत्सव को उल्लास पूर्वक मनाने का निषेध हो जाने पर चन्द्रगुप्त आदि के खिन्न उद्गारों में भी शृंगार रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

प्रकृति वर्णन—मुद्राराक्षस में स्थल स्थल पर विशाखदत्त के प्रकृति प्रेम एवं वर्णन-चातुर्य का परिचय मिलता चलता है। तृतीय अंक में शरद् ऋतु वर्णन, चतुर्थ अंक में सन्ध्या वर्णन एवं छठे अंक में जीर्णोद्यान का वर्णन इसके प्रमाण हैं। सारे ही वर्णन संक्षिप्त हैं। अतः अधिक प्रभावशाली भी हैं और नाटकीयता में भी बाधा उत्पन्न नहीं करते हैं। सन्ध्या के वर्णन में नाटककार ने वृक्षों और भृत्यों की सुन्दर तुलना की है। वृक्ष प्रातः काल होने पर उदीयमान सूर्य का शीघ्रता से प्रत्युद्गमन करते हैं और सन्ध्यता हो जाने पर सूर्य की ओर से उसी प्रकार निवृत्त हो जाते हैं, जिस प्रकार स्वामी के धनरहित हो जाने पर सेवारत भृत्य अपने स्वामी को त्याग देते हैं—

आविर्भूतानुरागाः क्षणमुदयगिरेरुज्जिहानस्य भानोः
पत्रच्छायैः पुरस्तादुपवनतरवो दूरमाश्वेव गत्वा।
एते तस्मान्निवृत्ताः पुनरपरककुप्प्रान्तपर्यस्तबिम्बे
प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेवमानाः॥ (मुद्राराक्षस 4/22)

भाषा-शैली—विशाखदत्त की शैली की भी एक अपूर्व विशेषता है। उन्होंने नाटक में नाटक की ही शैली रहने दी है। काव्यात्मकता के दोष से उसे बचा लिया है। सम्पूर्ण नाटक में विशाखदत्त की शैली ओजस्विनी एवं प्रवाह पूर्ण है। भाषा सरल है तथा माधुर्य एवं प्रसाद गुण की प्रचुरता है। दीर्घ समास भी अत्यल्प हैं, अतः सम्पूर्ण नाटक में वैदर्भी रीति की ही प्रमुखता है। एक श्लोक द्रष्टव्य है—

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद् भक्तियुक्तेन कः
प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात् फलम्।
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च॥ (मुद्राराक्षस 1/15)

किन्तु वीररस आदि के उदात्त वर्णनों के समय विशाखदत्त की भाषा में ओजगुण पर्याप्त समाविष्ट हो गया है जिससे उनकी रीति गौड़ी बन गई है। प्रायः ही चाणक्य कथित श्लोकों में ओजगुण का निर्वाह दर्शनीय है—

आरुह्यारूढकोपस्फुरणविषमिताग्रङ्गुलीमुक्तचूडां
लोकप्रत्यक्षमुग्रां सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घां प्रतिज्ञाम्।
केनान्येनावलिप्ता नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वरास्ते
नन्दाः पर्यायभूताः पशव इव हताः पश्यतो राक्षसस्य॥ (मुद्राराक्षस 3/27)

विशाखदत्त ने अलंकारों का प्रयोग कम किया है। किन्तु फिर भी उनके रूपक, श्लेष, उपमा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार प्रयोग सुन्दर बन पड़े हैं। कथोपकथन में भी श्लोक की अपेक्षा गद्य का अधिक प्रयोग होने से स्वाभाविकता और सहजता बढ़ गई है। विशाखदत्त की कतिपय सूक्तियाँ सुभाषित के रूप में प्रचलित हैं यथा—''दैवमविद्वांसः

प्रमाणयन्ति'', 'अत्यादरः शंकनीयः', 'अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः', 'शिरसि भयमतिदूरे तत्प्रतीकारः', 'भव्यं रक्षति भवितव्यता' आदि।

विशाखदत्त लिखित दो और नाटकों का उल्लेख साहित्यशास्त्रियों ने किया था। (1) देवी-चन्द्रगुप्त तथा (2) अभिसारिकावंचितक। इनमें से दूसरा तो अनुपलब्ध है। देवी-चन्द्रगुप्त के जो अंश प्राप्त हुए हैं, उनसे यह नाटक प्रेमाख्यान संवलित होने पर भी राजनीति प्रधान जान पड़ता है। किन्तु इन दोनों ही नाटकों के कर्तृत्व की प्रामाणिकता अद्यावधि अनिर्णीत ही हैं।

हर्षवर्धन

हर्षवर्धन का नाम भारतीय इतिहास में पराक्रमी और परम दानी राजा के रूप में विख्यात है, और संस्कृत-जगत् में ये विशिष्ट संस्कृतानुरागी और कमनीय काव्य के रचयिता के रूप में भी लब्धप्रतिष्ठ हैं। इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तित्व होने के कारण इनके वंशपरिचय या समय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। हर्षवर्धन के पिता स्थाणीश्वर व कन्नौज के राजा प्रभाकरवर्धन थे और माता यशोमती थीं। बड़े भाई राज्यवर्धन की आकस्मिक मृत्यु के उपरान्त हर्षवर्धन स्थाणीश्वर (थानेश्वर) के राज्यसिंहान पर अभिषिक्त हुए। इनका समृद्ध राज्यकाल 606 से 648 ईस्वी तक रहा। महाकवि बाणभट्ट हर्षवर्धन की राजसभा में आश्रित कवि रहे, और हर्षवर्धन को नायक बनाकर ही बाण ने 'हर्ष चरित' की रचना की थी।

हर्ष के लिखे हुए तीन रूपक प्राप्त होते हैं (1) प्रियदर्शिका, (2) रत्नावली एवं (3) नागानन्द। रचनाक्रम में नाटिका प्रियदर्शिका हर्ष की प्रथम रचना जान पड़ती है, क्योंकि इसमें नाट्यकला का स्वरूप कम परिष्कृत दीख पड़ता है। दूसरी रचना रत्नावली भी नाटिका ही है, जो संस्कृत नाट्यशास्त्रकारों में और रसिक-समाज में एक-सी लोकप्रिय रही। नागानन्द नामक नाटक हर्ष की अन्तिम रचना होनी चाहिए। क्योंकि अपने जीवन के उत्तरार्ध में हर्ष बौद्ध आदर्शों की ओर उन्मुख हो गया था और नागानन्द में करुणा, परोपकार, अहिंसा आदि भावों का साम्राज्य है।

डॉ. हॉल तथा डॉ. व्यूहलर आदि कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने हर्ष को इन रूपकों का रचयिता न स्वीकार करके इन तीनों नाट्यों को किसी अन्य कवि की रचना माना है। इस आरोप का कारण आचार्य मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' की विभिन्न प्रतियों में प्राप्त पाठभेद है। मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों का वर्णन करते हुए[55] अर्थप्राप्ति को भी काव्य का एक प्रयोजन कहा था। इस अर्थप्राप्ति रूप प्रयोजन को समझाते हुए मम्मट ने उदाहरण दिया—'यथा श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्' अर्थात् जैसे श्रीहर्ष आदि से धावक आदि को धन (मिला)। काव्यप्रकाश की 'निदर्शना' टीका में 'धावक' के स्थान पर 'बाण' पाठ मिलता है। इसी पाठ के आधार पर इन तीनों रूपकों—विशेषतया रत्नावली—का रचयिता हर्ष के स्थान पर बाण को घोषित कर दिया गया है।

55. काव्यप्रकाश 1/2— काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

किन्तु यह आरोप अनिश्चित एवं भ्रामक कल्पना-मात्र है। व्याख्याकारों ने काव्यप्रकाश की पँक्ति को अनावश्यक और असंगत तूल दे दिया। मम्मट के कथन से यह अभिप्राय नहीं निकलता कि धावक अथवा बाण ने स्वयं नाट्यरचना करके हर्ष को बेच दीं। उसका सामान्य आशय यही है कि धावक अथवा बाण को अपनी काव्यकुशलता के कारण हर्ष से धन प्राप्त हुआ। लोक में अनेक और ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं; जहाँ किसी राजा अथवा धनी व्यक्ति ने किसी कवि के काव्य से प्रसन्न और सन्तुष्ट होकर लाखों रुपए भेंट में दे दिए। अत: काव्यप्रकाश की पंक्ति की भ्रामक व्याख्या करके हर्ष के कर्तृत्व को नकारा नहीं जा सकता। संस्कृत साहित्य के विभिन्न कवियों एवं भारतयात्रा के संस्मरण लिखने वालों ने निरन्तर ही हर्ष को सुन्दर एवं रसपूर्ण काव्य के रचयिता के रूप में बारम्बार स्मरण किया है।

(1) नाटककार जयदेव (बारहवीं शती ईस्वी) ने 'प्रसन्नराघव' नाटक में हर्ष को कविता-कामिनी का हर्ष कहा हैं।[56]

(2) सोड्ढल (ग्यारहवीं शती ईस्वी) ने उदयसुन्दरी कथा में सरस्वती को हर्ष प्रदान करने वाले हर्ष को 'गीर्हर्षः' कहा हैं।[57]

(3) दामोदर गुप्त (आठवीं शती ईस्वी) ने अपने 'कुट्टनीमतम्' ग्रन्थ में किन्हीं राजा हर्ष द्वारा रचित रत्नावली का उल्लेख करते हुए उनके काव्यचातुर्य की प्रशंसा की है और रत्नावली से उद्धरण भी प्रस्तुत किए हैं।

(4) चीनी यात्री इत्सिंग भारत में 671 से 695 ईस्वी तक रहा। उसने अपने यात्रावर्णन ग्रन्थ में 'नागानन्द' नाटक का रचयिता स्पष्टतया हर्ष को कहा है जिसने रंगमंच पर भी इस नाटक का अभिनय कराया था।

(5) हर्ष के सभाकवि बाणभट्ट ने भी स्वयं ही अपने हर्षचरित ग्रन्थ में राजा हर्ष की काव्यप्रतिभा एवं व्याकरण-पांडित्य की अनेकशः प्रशंसा की है।[58]

(6) प्रियदर्शिका आदि तीनों नाट्यों की प्रस्तावना में इनका लेखक राजा श्री हर्षदेव बताया गया है।[59] प्रियदर्शिका और रत्नावली में प्रस्तावना के अन्तर्गत प्ररोचना का श्लोक 'श्रीहर्षो निपुणः कविः...' एक ही हैं।

इन सारे प्रमाणों के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों का आरोप स्वयमेव निरस्त हो

---

56. प्रसन्नराघव 1/22—हर्षो हर्षः हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः।
57. श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु, नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
    गीर्हर्ष एव निजसंसदि येन राज्ञा, संपूजितः कनककोटिशतेन बाणः॥
58. हर्षचरित—पृष्ठ 71—काव्यकथास्वापीतममृतमुद्वमन्तम्.....
    पृष्ठ 74—विग्रहिणीमिव मुखनिवासिनीं सरस्वतीं दधानम्.......
    पृष्ठ 76—सर्वविद्यासंगीतगृहमिव सरस्वत्या........
    पृष्ठ 78—प्रज्ञायाः शास्त्राणि, कवित्वस्य वाच.........
59. प्रियदर्शिका—श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालंकृता प्रियदर्शिका नाम नाटिका कृता।
    रत्नावली—श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालंकृता रत्नावली नाम नाटिका कृत।
    नागानन्द—श्रीहर्षदेवेनापूर्वरचनालंकृतं विद्याधरजातकप्रतिनिबद्धं नागानन्दं नाम नाटकं कृतम्।

जाता है। अतः यह सुनिश्चित है कि हर्ष ने ही इन तीनों रूपकों की रचना की।

हर्ष के तीनों रूपकों का अन्तरंग अनुशीलन उनके एक-कर्तृत्व को उद्घोषित करता है। तीनों नाट्यों में परस्पर अत्यन्त निकट साम्य है। जैसा कहा जा चुका है, तीनों रूपकों की प्रस्तावना में एक ही लेखक हर्ष का नामोल्लेख हुआ है। तीनों रूपकों की विभिन्न घटनाओं, श्लोकांशों, शैली तथा वचोभंगी में आश्चर्यजनक समानता है। अनेक पद्य परस्पर एक दूसरे में उद्धृत किए गए हैं। अतः इन तीनों का रचयिता एक व्यक्ति ही है, और वह हर्ष हैं; इसमें सन्देह के लिए कहीं अवकाश नहीं है। लोक प्रसिद्धि भी स्वतः प्रमाण मानी जाती है।

प्रियदर्शिका—नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से यह 'नाटिका' नामक उपरूपक या संकीर्ण रूपक की कोटि में आती है। इसमें चार अंक हैं। कथानक उत्पाद्य (कविकल्पित) है, जिसमें राजा उदयन तथा आरण्यिका (प्रियदर्शिका) के अनुराग और विवाह का वर्णन है। संक्षेप में इसका कथासार इस प्रकार है। **अंक 1**—अंगदेश के राजा दृढ़वर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका को राजा उदयन का सेनापति विजयसेन राजसभा में लाता है। राजा उदयन उसे आरण्यकाधिपति विन्ध्यकेतु की पुत्री समझ कर अपनी पत्नी वासवदत्ता की देखरेख में सौंप देता है और वह राजकन्या अपरिचय के कारण आरण्यका नाम से उदयन के अन्तःपुर में ही रहने लगती है। **अंक 2**—प्रमदवन में आरण्यिका को एक भ्रमर पीड़ित कर रहा है। अचानक वहाँ पहुँचा हुआ राजा भ्रमर से आरण्यिका को बचाता है, और दोनों में ही एक दूसरे के प्रति प्रणय अंकुरित हो जाता है। **अंक 3**—वासवदत्ता के मनोरंजन के लिए अन्तःपुर में एक नाटक के अभिनय का आयोजन होता है, जिसमें आरण्यिका को वासवदत्ता का और उसकी सखी मनोरमा को उदयन का अभिनय करना था। किन्तु मनोरमा के स्थान पर चुपचाप स्वयं उदयन ही अभिनय करने लगते हैं। क्षुब्ध वासवदत्ता आरण्यिका से क्रुद्ध होकर उसे कारागृह में डलवा देती है। **अंक 4**—अपमानित तथा निराश आरण्यिका कारागृह में विषपान कर लेती है। यह ज्ञात होते ही वासवदत्ता आरण्यिका को राजा के सम्मुख बुला लेती है क्योंकि राजा उदयन को विष उतारने की कला आती थी। उसी समय वहाँ दृढ़वर्मा का कंचुकी आ पहुँचता है जो आरण्यिका को प्रियदर्शिका के रूप में पहचान लेता है। आरण्यिका को अपनी बहन जानकर वासवदत्ता पश्चात्ताप करती है। उदयन आरण्यिका का विष उतार देता है और वासवदत्ता दोनों का विवाह करा देती है।

प्रियदर्शिका हर्ष की प्रथम रचना है अतः नाट्यकला का पूर्ण विकास इसमें नहीं दीख पड़ता। इस नाटिका की कथा एवं घटना-संयोजन पर अभिज्ञान शाकुन्तल तथा मालविकाग्निमित्र का भी स्पष्ट प्रभाव है। किन्तु तृतीय अंक में गर्भांक अथवा गर्भनाटक की योजना अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है।

रत्नावली—यह भी चार अंकों की नटिका है। इसकी कथा भी कल्पित है जिसमें नायक उदयन तथा सागरिका (रत्नावली) के अनुराग और विवाह का वर्णन है। इसका संक्षिप्त कथासार इस प्रकार है। **अंक 1**—उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण की योजना के द्वारा सिंहल देश के राजा अपनी पुत्री रत्नावली को कंचुकी के साथ उदयन के देश भिजवा

देते हैं, जिससे उदयन के साथ रत्नावली का विवाह हो सके। समुद्री दुर्घटना में यानभंग हो जाने पर किसी प्रकार बचाई गई रत्नावली उदय की पत्नी वासवदत्ता के ही पास अनाम रूप से पहुँचती है तथा सागरिका नाम से उसकी दासी बन कर रहती है। सागरिका के सौन्दर्य से सशंक रानी वासवदत्ता उसे राजा के दृष्टिपथ से बचाए ही रखती है। मदनमहोत्सव में सागरिका छिप कर उदयन को देख लेती है, और उसमें प्रणय अंकुरित हो जाता है। **अंक 2**—सागरिका कदलीगृह में बैठ कर राजा का चित्र बनाती है। वहीं सागरिका अपनी सखी सुसंगता के पूछने पर अपनी मनोदशा बता देती है, जिसे मैना (पक्षी) सुन लेती है। सुसंगता राजा के चित्र के पार्श्व में सागरिका का चित्र भी आँक देती है। इतने में एक बन्दर के द्वारा पिंजरा खोल देने से मैना उड़ जाती है। घबराहट में चित्रफलक वहीं छोड़ कर दोनों सखियाँ मैना को पकड़ने निकलती हैं। राजा और विदूषक प्रमदवन में पहुँचते हैं। वृक्ष पर बैठी हुई मैना दोनों सखियों का वार्तालाप दोहरा रही है। वहाँ चित्रफलक में सागरिका का चित्र देख कर राजा मुग्ध हो जाता हैं। सुसंगता के प्रयत्न से कदलीगृह में सागरिका और राजा परस्पर मिलते हैं, किन्तु रानी के भय के दोनों सखियाँ तुरन्त ही वहाँ से चल पड़ती हैं। वासवदत्ता कदलीगृह में पहुँचती है और सागरिका का चित्र देखकर क्षुब्ध तथा क्रुद्ध हो जाती है। राजा उसे अनेक प्रकार से मनाता है, किन्तु रानी क्रुद्ध हो कर चली जाती है। **अंक 3**—राजा की प्रणयोन्मत्त मनस्थिति जानकर विदूषक और सुसंगता मिल कर राजा और सागरिका के मिलन का आयोजन रचते हैं। इस अभिसन्धि को जानकर रानी वासवदत्ता स्वयं वहाँ पहुँच जाती है। राजा उसे सागरिका समझ कर प्रणयालाप करता है और रानी पुनः क्रुद्ध होकर चली जाती है। सारी परिस्थिति जान कर सागरिका फाँसी लगाने का प्रयत्न करती है किन्तु विदूषक के चिल्लाने पर राजा आकर उसे बचा लेता है। राजा अनेक प्रकार से सागरिका से प्रणयसम्भाषण करता है और वासवदत्ता के प्रति कुछ कटुवचन भी कहता है। राजा को मनाने आई हुई वासवदत्ता सब कुछ सुन लेती है और सागरिका तथा विदूषक को बन्दी बना कर अपने महल में ले जाती है। **अंक 4**—एक ऐन्द्रजालिक आ कर राजसभा में अपना आश्चर्यजनक प्रदर्शन करता है। उसके चले जाने पर अन्तःपुर में आग लग जाने का समाचार मिलता है (यह अग्नि भी ऐन्द्रजालिक का ही भ्रामक खेल है)। वासवदत्ता की प्रार्थना पर राजा शृंखलाबद्ध सागरिका को अग्नि से बचा लाता है। तभी सिंहल देश का कंचुकी भी वहाँ आ पहुँचता है और सागरिका को रत्नावली के रूप में पहचान लेता है। वासवदत्ता अपने मामा की लड़की (रत्नावली) को जानकर प्रसन्न होती है और स्वयं ही उदयन तथा रत्नावली का विवाह करा देती है।

इस नाटिका में हर्ष की नाट्यकला का चरम विकास दृष्टिगोचर होता है। भाव-प्रौढ़ि, भाषा-सौष्ठव, उर्वर कल्पना-शक्ति, तथा उत्कृष्ट चरित्रचित्रण—सभी दृष्टियों से रत्नावली निदर्शन रूप है। नाट्यशास्त्रकारों ने कथावस्तु, नाटकीय तत्त्वों, नायक, नायिका आदि के लिए विभिन्न उदाहरण रत्नावली से अनेकशः ग्रहण किए हैं। शृंगार रस के कमनीय उन्मेष के कारण यह सहृदय-समाज में भी पर्याप्त समादृत रही है।

नागानन्द—यह पाँच अंकों का एक नाटक है। इसमें जीमूतवाहन नामक विद्याधर-राजपुत्र और मलयवती नामक सिद्ध-राजकन्या के प्रणय और विवाह की कथा तथा जीमूत-वाहन के द्वारा अपने प्राणों की बलि से शंखचूड़ नामक नाग के जीवन को बचाने का प्रयत्न वर्णित है। इसकी संक्षिप्त कथावस्तु इस प्रकार है। **अंक 1**—जीमूतवाहन देवी के मन्दिर में गीत गाती हुई मलयवती पर आसक्त हो जाता है। मलयवती पहले ही स्वप्न में जीमूतवाहन के देखकर उस पर आसक्त हो चुकी है। **अंक 2**—जीमूतवाहन और मलयवती परस्पर प्रणायाकर्षण से व्याकुल हैं। मलयवती के भाई मित्रावसु के प्रयत्नों से दोनों का विवाह हो जाता है। **अंक 3**—नायक तथा नायिका के विविध विहार का चित्रण है। **अंक 4**—जीमूतवाहन समुद्रतट पर अस्थियों का एक समूह देखता है। मित्रावसु उसे बताता है कि ये गरुड़ के द्वारा प्रतिदिन खाए गए नागों की अस्थियाँ हैं। एक स्त्री का विलाप सुनकर जीमूतवाहन उसके पास जाता है। पूछने पर वह स्त्री बताती है आज उसके पुत्र शंखचूड़ की गरुड़ का आहार बनने की बारी है। जीमूतवाहन स्त्री को सान्त्वना देता है और स्वयं लाल वस्त्र पहन कर शंखचूड़ के स्थान पर वध्यशिला पर जाकर बैठ जाता है। गरुड़ आकर उसे उठा ले जाता है। **अंक 5**—गरुड़ की चोंच से बार-बार देह के घायल तथा रक्तस्नात होने पर भी जीमूतवाहन शान्त तथा निश्चल रहता है। गरुड़ यह देखकर आश्चर्यचकित होता है, और वास्तविक स्थिति जानकर अत्यन्त पश्चात्ताप करता है। जीमूतवाहन के माता पिता एवं पत्नी भी उसी स्थल पर पहुँच कर जीमूतवाहन की दशा देखकर करुण विलाप करते हैं। मलयवती की हृदयद्रावक प्रार्थना से द्रवित होकर गौरी प्रगट होकर मृतप्राय जीमूतवाहन को पुनः जीवित कर देती हैं। जीमूतवाहन के त्याग एवं परोपकार की भावना से अभिभूत होकर गरुड़ अमृतवर्षा करके सर्पों को भी पुनः जीवित कर देता है और भविष्य में सर्पों को न खाने की प्रतिज्ञा करता है। और यहीं नाटक समाप्त हो जाता है।

हर्ष के इस नाटक पर बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। वस्तुतः इसका कथानक किसी बौद्ध अवदान पर ही आश्रित है। दया, परोपकार, त्याग, आत्मोत्सर्ग आदि उत्कृष्ट मानवीय भावों का इसमें श्रेष्ठ चित्रण है। इस नाटक में श्रृंगार रस प्रमुख है अथवा दयावीर अथवा शान्त रस; इसका नायक धीरोदात्त है या धीरशान्त-इन प्रश्नों को लेकर विद्वानों और साहित्य-शास्त्रियों में पर्याप्त विवाद रहा है।

नाट्यकला वैशिष्ट्य—हर्ष के नाट्यों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि हर्ष एक सफल नाट्यकार रहे। नाट्यकला का सुन्दर स्वरूप हर्ष की इन रचनाओं में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। हर्ष को एक सुसमृद्ध नाट्यपरम्परा का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था जिसमें भास, शूद्रक एवं कालिदास जैसे नाट्यकारों की समादृत रचनाएँ थीं। पूर्ववर्ती लेखकों में से भास एवं कालिदास का तो स्पष्ट प्रभाव हर्ष की रचनाओं-विशेषतः दोनों नाटिकाओं पर पड़ा है। मालविकाग्निमित्र की अनेक नाट्यरूढ़ियाँ एवं शिल्प प्रियदर्शिका एवं रत्नावली में भी प्राप्त होते हैं। किन्तु इस सादृश्य में भी हर्ष की मौलिकता एवं कल्पना ने एक कमनीय चमत्कार की सृष्टि कर दी है। पूर्ववर्ती कवियों की रचना चातुरी को आत्मसात् करके भी

हर्ष की नैसर्गिक प्रतिभा ने मौलिक रचनाओं का प्रणयन कर दिखाया।

कथावस्तु—हर्ष की दो नाटिकाओं में अन्तः पुर का प्रणय ही कथा के रूप में विकसित हुआ है एवं नागानन्द नाटक में कवि ने प्रणयकथा के साथ साथ नायक की दयावीरता की कथा भी गूँथ दी है, भले ही उससे कथा की संश्लिष्टता शिथिल हो गई।

नाटिका की कथा उत्पाद्य-काल्पनिक कोटि की होनी चाहिए।[60] तदनुरूप ही प्रियदर्शिका एवं रत्नावली का कथानक लोकसंश्रित कल्पना पर आधारित है। मूल वृहत्कथा में उदयन की कथा थी अथवा नहीं, किन्तु कथासरित्सागर (2/1..6;3/1-2) एवं वृहत्क्थामंजरी (2/3) में उदयन की कथा अवश्य प्राप्त होती है। लोककथाओं में उदयन की कथाएँ विशेषतः प्रचलित थीं, इसका प्रमाण कालिदास के मेघदूत (पूर्वमेघ 30) से भी प्राप्त होता है। स्वयं हर्ष ने भी रत्नावली की प्रस्तावना में सूत्रधार के द्वारा उदयन सम्बन्धी कथानक की मनोहारिता का उल्लेख कराया-है–'लोके हारि च वत्सराजचरितम्'। ऐसे प्रणयसम्बन्धी कथानक से युक्त नाट्य के लिए जितने भी उपादेय एवं कमनीय साधन हो सकते हैं, उन सभी का उपयोग हर्ष ने अपनी नाटिकाओं में किया है। फिर भी प्रियदर्शिका नाटिका में हर्ष की कल्पना का उतना सुन्दर विभ्रम-विलास नहीं दीख पड़ता, जितना रत्नावली नाटिका में है। प्रियदर्शिका के कथानक में तनिक शिथिलता रह गई है किन्तु रत्नावली का कथासंयोजन अत्यन्त रुचिर एवं संश्लिष्ट है।

नागानन्द नाटक की कथावस्तु का संयोजन दोनों नाटिकाओं से भिन्न रूपात्मक है। हर्ष ने इस नाटक की प्रस्तावना में कहा है कि 'विद्याधरजातक से इसकी कथा ग्रहण की गई है।'[61] किन्तु इस नाम का कोई जातक उपलब्ध नहीं होता। दोनों नाटिकाओं की ही भाँति जीमूतवाहन की कथा भी परवर्ती कथासरित्सागर (22/16..51,171.257), वृहत्कथामंजरी (4/50..61 84..108) एवं वेतालपंचविंशतिका (15) में प्राप्त होती हैं। हर्ष ने अपने नाटक की कथा का सूत्र भले ही कहीं से भी ग्रहण किया हो, किन्तु उसका संयोजन वे सुष्ठुतया नहीं कर सके। नाटक के पाँच अंकों में प्रथम तीन अंकों में नायिका का अनुराग एवं विवाह चित्रित हैं। तीसरे अंक की समाप्ति पर यह प्रणयकथा पूर्ण हो जाती हैं। अन्तिम दो अंकों में नायक की दयावीरता से सम्बद्ध एक अन्य कथा का संयोजन है, जिसका तनिक सा भी सम्बन्ध पूर्व प्रणयकथा से दृष्टिगोचर नहीं होता। एक ही नाट्य में दो भिन्न कथाओं का ऐसा शिथिल एवं असम्बद्ध प्रस्तुतीकरण न तो शास्त्रीय दृष्टि से समीचीन है और न ही सहृदय सामाजिक को पूर्ण सन्तोष दे पाता है।

चरित्रचित्रण—हर्ष की दोनों नाटिकाओं के प्रमुख तीन चार पात्र व्यक्तिगत वैशिष्ट्य की अपेक्षा एक निश्चित साँचे में ढले हुए से जान पड़ते हैं। नायक उदयन धीरललित कोटि का नायक है जिसके राज्यकार्य की चिन्ता तो मन्त्रीगण करते हैं और वह स्वयं विविध कलाओं और नवीन प्रणयों में आसक्त रहता है। नायक की विभिन्न प्रणयकथाओं में विदूषक सर्वाधिक साहाय्य करता है और किसी न किसी अभिसन्धि के द्वारा नायक के

60. साहित्यदर्पण 6/269—नाटिका क्लृप्तवृत्त स्यात्.....

61. नागानन्द-प्रस्तावना—विद्याधरजातकप्रतिबद्धं नागानन्दं नाम नाटकम्।

अन्य नायिका से मिलन के उपाय रचता रहता है। नायक की पत्नी वासवदत्ता प्रगल्भा कोटि की ज्येष्ठा नायिका है जो नायक के प्रणय व्यापार में पुनःपुन विघ्न डालती रहती है किन्तु अन्त में स्वयं ही मिलन भी करा देती है। मुख्य नायिका आरण्यका एवं सागरिका अत्यधिक रूपवती एवं मुग्धा कोटि की है। वे यह तो जानती हैं कि उनके पिता नायक को ही उनका पति बनाना चाहते थे, किन्तु परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण वे स्वयं को प्रगट नहीं करतीं। इस प्रकार ये चारों ही चरित्र 'टाइप' के सदृश जान पड़ते हैं। किन्तु फिर भी प्रियदर्शिका की अपेक्षा रत्नावली के पात्रों का चरित्र आधिक मनोवैज्ञानिक भित्ति पर प्रतिष्ठित हुआ है। मुग्धा नायिका के कुछ अत्यन्त सुन्दर चित्र इनमें प्राप्त होते हैं। प्रणय की प्रथम कोमल अनुभूति के सबको ज्ञात हो जाने की सम्भावना की लज्जा, खिन्नता, ग्लानि, शंका आदि भावों से परिव्याप्त यह श्लोक द्रष्टव्य है—

ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वालापं कलयति कथामात्मविषयाम्।
सखीषु स्मेरासु प्रगटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातंकविधुरा॥ (रत्नावली 3/4)

इसी नाटिका की प्रस्तावना में नवविवाहिता पार्वती का पति के समीप प्रथम बार जाने का वर्णन भी मुग्धा नायिका का सुन्दर स्वरूप प्रदर्शित करता है—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्टाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः॥ (रत्नावली प्रस्तावना 2)

अर्थात् 'प्रथम मिलन के समय उत्सुकता के कारण शीघ्रतायुक्त किन्तु स्वाभाविक लज्जा के कारण पुनःलौटती हुई, उन सभी बान्धवियों के कथनों से पुनः पति की ओर भेजी जाती हुई, सम्मुख पति को देखकर भयभीत होती हुई, हँसते हुए शिव से आलिङ्गित एवं पुलकित पार्वती आपका कल्याण करें।'

नागानन्द में भी एक ऐसा ही सुन्दर चित्र है। प्रथम समागम में नितान्तलजाधुर, मुग्धा नवोढा प्रिया मलयवती का यह मनोहर वर्णन नायक जीमूतवाहन के शब्दों में ही द्रष्टव्य है—

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिंगिता वेपते।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते
जाता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया॥ (नागानन्द 3/4)

नागानन्द के पात्रों में जीमूतवाहन का चरित्र संस्कृत परम्परा में सर्वाधिक विवेच्य रहा है। संस्कृत नाट्य परम्परा में जीमूतवाहन जैसा दूसरा आदर्श नायक प्राप्त नहीं होता, जिसमें उत्तमोत्तम गुणों का ऐसा समवाय हो। यह नायक धीर प्रशान्त है अथवा धीरोदात्त- इस सम्बन्ध में भी आचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा। दशरूपक के वृत्तिकार धनिक ने इस

विषय की पर्याप्त विवेचना करके जीमूतवाहन को धीरोदात्त नायक सिद्ध किया है।

रस—नाटिका में श्रृंगार रस अपने सम्पूर्ण वैभव सहित उपस्थित होता है।[62] तदनुरूप ही हर्ष की दोनों नाटिकाओं में अंगी रस शृंगार की भी विभिन्न दशाओं में से हर्ष ने पूर्वराग अथवा अयोग शृंगार का ही अधिक वर्णन किया है। शृंगार रस के विभिन्न विभावों, अनुभावों एवं व्याभिचारी भावों के अनेक सुन्दर वर्णन दोनों ही नाटिकाओं में प्राप्त होते हैं। शृंगार के अतिरिक्त अन्य रस भी सुन्दरतया उपनिबद्ध हुए हैं। रत्नावली में विदूषक एवं चेटियों के वार्तालाप में हास्य, वानर छूट जाने की घटना के द्वारा भय, कोसलेन्द्र विजय में वीर एवं रौद्र तथा ऐन्द्रजालिक द्वारा देव दर्शन में अद्‌भुत रस निष्पन्न हुआ है। इसी प्रकार के प्रसंग प्रियदर्शिका में भी प्राप्त होते हैं।

नागानन्द नाटक का अंगीरस दानवीर एवं दयावीर है। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने नागानन्द के रस पर पर्याप्त विचार किया है। इन नाटक का अंग रस मुख्यरूपेण शृंगार है। 'शान्त एवं शृंगार का विरोध भी कहाँ तक परिहरणीय हैं' इसका भी बहुत विवेचन प्राप्त होता है। इन नाटक में अन्य रस भी यथास्थान सन्निवेशित हुए हैं। गरुड़ के प्रहार से मृत जीमूतवाहन को देखकर उसके पिता का हाहाकार करुण रस का उत्तम निदर्शन है—

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह विरता दानपरता।
हतं सत्यं सत्यं व्रजतु च कृपा क्वाद्य कृपणा
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय लोकान्तरगते॥ (नागानन्द 5/30)

रूप वर्णन—काव्य की सामान्य परिपाटी यही है कि काव्यों, नाट्यों आदि में नायिका अत्यन्त सुन्दर होती है, जिसको एक बार देख लेने मात्र से नायक के हृदय में प्रणयावेश जाग्रत हो जाता है। हर्ष की नायिकाएं भी अत्यधिक रूपवती हैं। तीनों ही नाट्यों में हर्ष ने अपनी नायिकाओं का पर्याप्त रूप वर्णन किया है किन्तु उनमें भी रत्नावली नाटिका की नायिका सागरिका का सौन्दर्य तो अनुपम है। त्रिलोकी की सौन्दर्य सारभूत सागरिका को रच लेने के बाद तो उसे देख कर स्वयं विधाता के सुन्दर नेत्र आश्चर्य से फैल गए होंगे, चारों मुखों से एक साथ ही साधुवाद निकल पड़ा होगा और आश्चर्य के आधिक्य से उनके सारे शिर एक साथ ही हिलने लगे होंगे—

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विष
श्चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखैः समं व्याहतम्।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसा
विधाय ललनां जगलयललामभूतामिमाम्॥ (रत्नावली 2/[illegible])

सागरिका के ही रूपवर्णन का एक और श्लोक द्रष्टव्य है जहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार ने अद्‌भुत व्यंग्यार्थ की भावसृष्टि कर दी है—

62. दशरूपक 3/44—शृंगारोऽङ्गी सलक्षणः।

विधायापूर्वपूर्णेन्दुमस्या मुखमभूद ध्रुवम्।
धाता निजासनम्भोजविनिमीलनदुः स्थितः॥ (रत्नावली 2/10)

अर्थात् 'इस कन्या के अद्भुत पूर्णचन्द्र-रूप मुख का निर्माण करके ब्रह्मा एक बारगी ही अपने आसनभूत कमल के संकुचित हो जाने से उलझन में पड़ गए होंगे।'

नागानन्द में कवि ने नायिका के मुख को नन्दनकानन ही बना डाला है—

एतत्ते भ्रूलतोद् भासि पाटलाधरपल्लवम्।
मुखं नन्दनमुद्यानमतोऽन्यत् केवलं वनम्॥ (नागानन्द 3/11)

प्रकृति वर्णन—हर्ष अपने पात्रों में प्रणय की प्रथम अनुभूति प्रायःप्रकृति के मधुर एवं कोमल परिवेश में कराते हैं। प्रकृति सर्वत्र ही सहायिका बन कर सदैव उपस्थित रहती है। इसी कारण प्रणय एवं प्रकृति के वर्णन में हर्ष की कला विशेष रूप से निखरी है। नागानन्द में कुसुमाकर उद्यान की अद्भुत शोभा शृंगार की उद्दीपन बन जाती है—

निष्यन्दश्चन्दनानां शिशिरयति लतामण्डपे कुट्टिमान्ता
नाराद धारागृहाणां ध्वनिमनु तनुते ताण्डवं नीलकण्ठः।
यन्त्रोन्मुक्तश्च वेगाद् चलति विटपिनां पूरयन्नालवाला
नापातोत्पीडहेलाहृतकुसुमरजः पिंजरोऽयं जलौघः॥ (नागानन्द 3/7)

रत्नावली नाटिका के वसन्त ऋतु वर्णन में सम्पूर्ण वृक्ष समूह ही मानों मधुपान करके मदमत्त की भाँति आचरण करने लगा है—

उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः किसलयैस्ताम्रां त्विषं बिभ्रतो
भृंगालीविरुतैः कलैरविशदव्याहारलीलाभृतः।
घूर्णन्तो मलयानिलाहतिचलैः शाखासमूहै र्मुहु-
र्भ्रान्ति प्राप्य मधुप्रसंगमधुना मत्ता इवामी द्रुमाः॥ (रत्नावली 1/18)

प्रकृति और विरहिणी नायिका का उपमानोपमेय भाव देखिए—

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ् निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी॥ (रत्नावली1/24)

हर्ष ने सूर्योदय, सूर्यास्त, वन, पर्वत, प्रासाद, ऋतु आदि का अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण किया है। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य किरणों के तीव्र सन्ताप का यह सुन्दर दृश्य अत्यन्त मनोहर है—

आभात्यर्कांशुतापक्वथिदिव शफरोद्वर्तनैर्दीर्घिकाम्भ-
श्छत्राभं नृत्तलीलाशिथिलमपि शिखी बर्हभारं तनोति।
छायाचक्रं तरूणां हरिणशिशुरुपैत्यालवालाम्बुलुब्धः
सद्यस्त्यक्त्वा कपोलं विशति मधुकरः कर्णपालीं गजस्य॥ (प्रियदर्शिका 1/12)

अर्थात् 'मछलियों के उद्वर्तन से हिलता हुआ सरोवरों का जल सूर्य किरणों से खौला दिए गए के सदृश सुशोभित हो रहा है। तीव्र ताप से बचने के लिए मयूर नृत्यलीला में शिथिल अपने पंखों को छत्ररूप में फैला रहा है, क्यारियों का जल पीने का इच्छुक मृगशावक वृक्षों के छायाचक्र में चला गया है और (गजकपोल पर मदपान करता हुआ)

भ्रमर हाथी के कपोल को तुरन्त त्याग कर उसके कान में प्रविष्ट हो गया है।'

सन्ध्या के समय पूर्व दिशा से प्रारम्भ करके अन्य दिशाओं में क्रमशः फैल कर नेत्रदृष्टि को व्यर्थ कर देने वाले अन्धकार समूह का स्वाभाविक एवं सुन्दर वर्णन मानों उस सम्पूर्ण प्राकृतिक दृश्य का बिम्ब ही उपस्थित कर देता है—

पुरः पूर्वामेव स्थगयति ततोऽन्यामपि दिशं
क्रमात्क्रामन्नद्रिद्रुमपुरविभागांस्तिरयति।
उपेतः पीनत्वं तदनु भुवनस्येक्षणफलं
तमः संघातोऽयं हरति हरकण्ठद्युतिहरः॥ (रत्नावली 3/7)

भाषा-शैली—हर्ष की शैली प्रासादिक, सहज, कोमल तथा प्रवाहमयी है। सुन्दर वैदर्भी रीति का परिष्कृत स्वरूप हर्ष के नाट्यों में उपलब्ध होता है। प्रसाद और माधुर्य गुणों के सामंजस्य पूर्वक भाषा का सरल प्रवाह अत्यन्त मनोहर है। भावों और वर्ण्य विषयों के अनुरूप ही हर्ष की भाषा एवं शैली का संयोजन भिन्न रूप धारण कर लेता है। नायिका के रूप से अभिभूत नायक की इस उक्ति में वैदर्भी की मंजुलता और भाषा की कोमलता का समन्वय देखिए—

लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः।
मानसमुपैति केयं चित्रगता राजहंसीव॥ (रत्नावली 2/9)

हर्ष की यह सरल प्रासादिक शैली युद्ध के वर्णन में कितनी भिन्न पदयोजना के साथ प्रस्तुत होती है, यह भी द्रष्टव्य है—

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमांगे क्षणं
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्वलद्वह्निनि।
आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भग्नप्रतीपीभव
न्नेकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः॥ (रत्नावली 4/6)

जैसा स्पष्ट किया जा चुका है कि वैदर्भी रीति का ही अधिकांश प्रयोग हर्ष ने किया, किन्तु वस्तुतः उनकी शैली वर्ण्यविषयानुरूप प्रसारित हुई है। कोमल रसों में कोमल, समास रहित पदशय्या एवं दीप्त रसों में समासबहुल शैली-इसी नियम के अनुसार हर्ष चले हैं। नागानन्द के श्मशान वर्णन में अत्यन्त सुन्दर गौड़ी रीति का उपनिबन्धन करके हर्ष ने अपनी रचना चातुरी एवं पाण्डित्य का प्रमाण दे दिया है—

चंचच्चञ्च्वग्रच्युकृत्तच्युतपिशितलवग्राससंवृद्धगर्धैः
गृध्रैराबद्धपक्षद्वितयविधुतिभिर्बद्धसान्द्रान्धकारे।
वक्त्रोद्वान्ताः पतन्त्यः शमितशिखिशिखाश्रेणयोऽस्मिन् शिवानाम्
अस्रास्रोतस्यजस्रस्रुतिबहुलवसावासविस्रे स्वनन्ति॥ (नागानन्द 4/17)

काव्य में शोभावृद्धि कर देने वाले विभिन्न अलंकार हर्ष की भाषाशैली में स्वतः ही प्रवाहित होते गए हैं। हर्ष ने कहीं भी अलंकारों का श्रमसाध्य प्रयोग नहीं किया। अनेक अलंकारों से सुसज्जित निम्नलिखित श्लोक का काव्यमाधुर्य देखिए—

किं पद्मस्य रुचं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गतो
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्येवास्ति बिम्बाधरे॥ (रत्नावली 3/13)

प्रतीप, श्लेष, रूपक एवं उपमा अलंकारों का यह एकत्र प्रयोग हर्ष के काव्यनैपुण्य का सम्यक् परिचायक है।

अभिनेयता—हर्ष के नाट्यों की अभिनेयता उनके महत्त्व को और द्विगुणित कर देती है। किसी भी नाट्य के अभिनय के समय ही उसका वास्तविक आकलन हो पता है। नाट्य के लघुविस्तार, संवादों की सरलता, मार्मिकता एवं लघुता, कथा का सुश्लिष्ट विकास तथा सरल मंचीय विधान के कारण ही नाट्य का सुन्दर अभिनय प्रस्तुत हो पाता है और ये सारी ही विशेषताएँ हर्ष के नाट्यों में उपलब्ध होती हैं।

हर्ष की सुन्दर नाट्यप्रतिभा के कारण ही उन्हें 'गीर्हर्षः' अथवा 'हर्षो हर्षः' कहा गया। हर्ष के तीन नाट्यों में भी रत्नावली नाटिका अत्यधिक चर्चित एवं प्रशंसित रही। अतः कुट्टनीमतम् के रचयिता दामोदर गुप्त की यह उक्ति सर्वथा सत्य है—

सुश्लिष्टसन्धिबन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम्।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम्॥

रत्नावली नाटिका का शास्त्रीय स्वरूप—हर्ष के पश्चाद्भावी सभी नाट्यशास्त्रकारों ने नाट्यवस्तु की विवेचना करते समय अर्थ प्रकृतियों, सन्धियों, सन्ध्यंगों आदि के विभिन्न उदाहरण 'रत्नावली' नाटिका से ही ग्रहण किये। इसी कारण यह प्रसिद्ध हो गया कि रत्नावली नाटिका की रचना नाट्यशास्त्र के नियमों के सर्वथा अनुकूल हुई है। इस प्रसिद्धि में कोई अतिशयोक्ति भी नहीं हैं। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'रत्नावली' नाटिका की रचना के समय तक केवल भरत-नाट्यशास्त्र की ही रचना हुई थी। धनञ्जय, विश्वनाथ आदि के द्वारा प्रस्तुत नाटिका के लक्षणों में मूल नाट्यतत्त्वों से तो कोई वास्तविक अन्तर नहीं है; किन्तु धनञ्जय आदि के लक्षणों में जो विस्तार दृष्टिगोचर होता है, उस विस्तार के मूल में रत्नावली का प्रभाव सुनिश्चित है। रत्नावली नाटिका के महत्त्व का एक प्रमुख आधायक तत्त्व यह है कि इस नाटिका से प्रभावित होकर परवर्ती लक्षणग्रन्थों में अनेक लक्षणों का निर्माण कर दिया गया। भरत एवं धनञ्जय के नाटिका सम्बन्धी लक्षणों से यह स्पष्ट हो जाएगा।

भरत के अनुसार 'नाटक और प्रकरण के मिश्रण से 'नाटिका' नामक एक अन्य प्रकार भी प्रयोक्ताओं को मान्य है । नाटिका की कथावस्तु उत्पाद्य होती है, नायक राजा होता है और अन्तःपुर के कार्य एवं संगीत कला आदि से सम्बन्ध कन्या नाटिका की नायिका होती है। नाटिका स्त्रीपात्र बहुल, चार अंकों, ललित अभिनय एवं व्यवस्थित सन्ध्यंगों से सम्पन्न होती है तथा इसमें अनेक नृत्य, गीत, पाठ्य तथा प्रणयकेलियाँ होती हैं। नाटिका में राजा के उपयुक्त आचार-व्यवहार, क्रोध, प्रसादन, दम्भ आदि पाया जाता

है तथा नायक की पट्टमहिषी, दूती, परिजन आदि अनेक पात्र होते हैं।'[63]

दशरूपक में नाटिका के लक्षण इस प्रकार हैं—'नाटिका की कथावस्तु प्रकरण से ली जाती है अर्थात् कविकल्पित होती है। इसका नायक नाटक से गृहीत होता है। वह प्रख्यातवंशी एवं धीरललित कोटि का राजा होता है। इसका अंगीरस श्रृंगार होता है। नाटिका में दो नायिकाएँ होती हैं। राजवंशोत्पन्न एवं प्रगल्भा प्रकृति की महारानी ज्येष्ठ नायिका होती है जो मानिनी एवं गम्भीर स्वभाव की होती है। नायक का कनिष्ठा नायिका से मिलन बहुत कठिनाई से एवं ज्येष्ठा नायिका के ही अधीन होता है। कनिष्ठा नायिका भी राजवंशोत्पन्न, अत्यन्त सुन्दर एवं मुग्धा प्रकृति की होती है। अन्तःपुर आदि के सम्बन्ध के कारण यह कनिष्ठा नायिका राजा के श्रुतिपथ अथवा दृष्टिपथ में आ जाती है। इसके प्रति राजा का प्रेम आरम्भ में नवीन होता है और क्रमशः बढ़ता ही जाता है। अपने इस प्रणय में राजा सदा ही महारानी से शंकित होकर आचरण करता है। नाटिका में कैशिकी वृत्ति के चारों अंग—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट एवं नर्मगर्भ प्रस्तुत होते है तथा तदुपयुक्त चार अंकों की योजना की जाती है।'[64] साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने धनञ्जय का ही अनुसरण किया है।[65]

भरत एवं धनञ्जय की परिभाषाओं से स्पषट होता है कि दोनों में कथावस्तु, नेता एवं रस तत्त्व तो समान हैं किन्तु नायक का आचरण, ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा नायिका का व्यवहार तथा कैशिकी वृत्ति के चारों अंगों की योजना आदि सारा भाग धनञ्जय में नवीन है एवं निश्चित रूप से इस पर रत्नावली का ही प्रभाव है।

---

63. भरत, नाट्यशास्त्र 18/57—60— अनयोश्च बन्धयोगादन्यो भेदः प्रयोक्तृभिः कार्यः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटकयोगे प्रकरणे वा॥
प्रकरणनाटकभेदादुत्पाद्यं वस्तु नायकं नृपम्॥
अन्तः पुरसंगीतककन्यामधिकृत्य कर्तव्या॥
स्त्रीप्राया चतुरङ्का ललिताभिनयात्मिका सुविहिताङ्गी।
बहुनृत्यगीतापाठ्या रतिसम्भोगत्मिका चैव॥
राजोपचारयुक्ता प्रसादन - क्रोधदम्भसंयुक्ता।
नायकदेवीदूतीसपरिजना नाटिका ज्ञेया॥

64. धनञ्जय, दशरूपक 3/43----48—तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः।
प्रख्यातो धीरललितः श्रृंगारोऽङ्गी सलक्षणः॥
देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा॥
गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसंगमः।
नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा॥
अन्तः पुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः॥
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम्॥
नेता तत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शंकितः।
कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका॥

65. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण 6/269-272.

हर्ष के नाट्यों में नाट्यकला वैशिष्ट्य के विवेचन के समय ही रत्नावली के विभिन्न नाट्यतत्त्वों की सोदाहरण समीक्षा की जा चुकी है अतः पिष्टपेषण अनावश्यक है। उनके अतिरिक्त भी अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं, सन्धियों एवं सन्ध्यङ्गों का सुन्दर निर्वाह 'रत्नावली' नाटिका में हुआ है। कथा वस्तु में नैरन्तर्य एवं संश्लिष्टता बनाए रखने के लिए हर्ष ने प्रथम अंक से पूर्व विष्कम्भक एवं अन्य तीनों अंकों से पूर्व प्रवेशकों की मनोहर योजना की है। अपनी कथावस्तु की मनोहारिता, प्रस्तुतीकरण की उत्कृष्टता एवं शास्त्रीय पद्धति की निष्कलंकता से सम्पन्न रत्नावली नाटिका युग के लिए आदर्श एवं उपजीव्य बन गई। विद्धशालभंजिका, कर्पूरमंजरी, कर्णसुन्दरी आदि अनेक नाटिकाएँ रत्नावली के आदर्श पर ही रची जाती रहीं। सम्पूर्ण नाट्यसहित्य में रत्नावली नाटिका रत्नमाला ही है, राजशेखर का यह कथन नितान्त समीचीन है—

तस्य रत्नावली नूनं रत्नमालेव राजते।
दशरूपककामिन्या: वक्षस्यत्यन्तशोभना॥

भट्टनारायण

भट्टनारायण रचित वेणीसंहार नाटक संस्कृत साहित्य में विख्यात है। संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने विभिन्न नियमों एवं सिद्धान्तों की पुष्टि में जिन विभिन्न रूपकों से उदाहरण ग्रहण किए, उनमें वेणीसंहार नाटक का स्थान प्रमुख है। किन्तु संस्कृत के अन्यान्य कवियों की भाँति ही भट्टनारायण का समय एवं स्थान अनुमान मात्र का ही विषय है। वेणीसंहार की प्रस्तावना में भट्टनारायण के लिए 'मृगराजलक्ष्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[66] इससे स्पष्ट है कि 'कविमृगेन्द्र' इनकी उपाधि रही होगी। रवीन्द्रनाथ टैगौर (ठाकुर) की वंशावली में भट्टनारायण को इस वंश का आदिपुरुष कहा गया है। प्रसिद्ध जनश्रुति परम्परा के अनुसार भट्टनारायण मूलतया कन्नौज के निवासी थे। बंगाल के प्रसिद्ध सेनवंश की संस्थापना करने वाले राजा आदिशूर या आदिसूर ने बंगाल में वैदिक धर्म का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए कान्याकुब्ज (कन्नौज) से पाँच ब्राह्मण परिवारों को आमन्त्रित किया था। भट्टनारायण भी उन पाँच ब्राह्मण परिवारों में से एक थे, जो आदिसूर के आमन्त्रण पर बंगाल में जाकर बस गए। प्रख्यात इतिहासविदों के अनुसार सेनवंश का राज्यकाल 650 ईस्वी से 1108 ईस्वी तक रहा। सेनवंश की स्थापना ही आदिसूर ने की, तो आदिसूर का समय 650 ईस्वी निश्चित होता है। यदि इस जनश्रुति को प्रामाणिक न भी माना जाए, तो भी अन्य अनेक बाह्य प्रमाण प्राप्त होते हैं। संस्कृत के जिन अन्य अनेक ग्रन्थों में वेणीसंहार से उद्धरण दिए गए हैं, उन ग्रन्थों या लेखकों के समय को देखने से भी यही निष्कर्ष निकलता है। मम्मट (1100 ईस्वी) ने काव्यप्रकाश में, भोज (1170 ईस्वी) ने सरस्वतीकण्ठाभरण में धनंजय (1000 ईस्वी) ने दशरूपक में, आनन्दवर्धन (850 ईस्वी) ने ध्वन्यालोक में तथा वामन (800 ईस्वी) ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में वेणीसंहार के विभिन्न स्थलों से

66. वेणीसंहार—प्रस्तावना—श्लोक 5 के पश्चात्—यदिदं कवेर्मृगराजलक्ष्मो भट्ट नारायणस्य कृति वेणीसंहारनामनाटकं प्रयोक्तुमुद्यता वयम्।

अनेक उद्धरण दिए है। वामन से पूर्व किसी ग्रन्थ में वेणीसंहार से उद्धरण अद्यावधि तो उपलब्ध नहीं है। संस्कृत के इन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में समादर पूर्वक स्थान पाने के लिए ग्रन्थ को लगभग सौ वर्ष का अन्तराल तो चाहिए ही। अत: भट्टनारायण का समय वामन से सौ वर्ष पूर्व—सातवीं शती का उत्तरार्द्ध ही निश्चित होता है।

भट्टनारायण ब्राह्मण थे। उन्होंने अपने नाटक में कृष्ण की परमात्मा विष्णु के रूप में स्तुति की है अत: वे वैष्णव जान पड़ते हैं।[67] वेणीसंहार नाटक के अनुशीलन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भट्टनारायण काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्याकरण आदि में विशेषतया निष्णात थे।

भट्टनारायण का एक ही नाटक वेणीसंहार उपलब्ध होता है। इसमें छह अंक है। नाटक की कथावस्तु संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है। **अंक 1**—दुर्योधन की राजसभा में श्रीकृष्ण के दूतरूप में जाने की सूचना से नाटक प्रारम्भ होता है। इस सन्धिप्रस्ताव से क्षुब्ध भीमसेन प्रतिज्ञा करते हैं कि वे युद्ध में दु:शासन का रक्तपान करेंगे और दुर्योधन के रक्त से रंगे हाथों के द्वारा द्रौपदी के केश बाँधेगे। तभी दुन्दुभिनाद के द्वारा श्रीकृष्ण के दौत्य की असफलता और युद्ध प्रारम्भ की घोषणा ज्ञात होती है। **अंक 2**—युद्ध में अभिमन्यु का वध हो चुका है। युद्ध की विभषिका के बीच दुर्योधन अपनी पत्नी भानुमती के साथ महल में श्रृंगारिक संवाद में व्यस्त है। जयद्रथ की माता वहाँ आकर अभिमन्यु के वध से सन्तप्त अर्जुन की जयद्रथ-वध की भीषण प्रतिज्ञा सुनाती है और दुर्योधन से अपने पुत्र जयद्रथ की प्राणरक्षा की याचना करती है। **अंक 3**—युद्ध में कर्ण घटोत्कच का वध कर चुका है। अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु के झूठे समाचार से शोकविह्वल एवं नि:शस्त्र बैठे द्रोणाचार्य की हत्या धृष्टद्युम्न कर देता है। दुर्योधन के समक्ष अश्वत्थामा एवं कर्ण में अत्यन्त कटु वाक्कलह होता है। अश्वत्थामा अस्त्र त्याग देता है। दुर्योधन कर्ण को सेनापति बनाता है। तभी युद्धभूमि में भीम के द्वारा दु:शासन पर आक्रमण करके उसके वक्षस्थल से रक्तपान करने की सूचना मिलती है। **अंक 4**—इस सम्पूर्ण अंक में कर्ण का सेवक सुन्दरक युद्धभूमि में घटित विभिन्न महत्त्वपूर्ण घटनाएँ सूचना रूपमें सुनाता है। दु:शासन और कर्णपुत्र वृषसेन की मृत्यु का समाचार सुनाकर सुन्दरक युद्धोद्यत कर्ण का रक्त से लिखा पत्र दुर्योधन को देता है। दुर्योधन कर्ण की रक्षा के लिए युद्धभूमि में जाने का उपक्रम करता है किन्तु माता-पिता के वहाँ पहुँच जाने से उसे विलम्ब हो जाता है। **अंक 5**—धृतराष्ट्र एवं गान्धारी दुर्योधन को सन्धि के लिए समझाते हैं किन्तु वह नहीं मानता। तभी कर्ण की मृत्यु का समाचार मिलता है, जिससे दुर्योधन बहुत विलाप करता है। उसी समय भीम एवं अर्जुन युद्ध के लिए दुर्योधन को खोजते हुए वहाँ पहुँच जाते हैं। दुर्योधन एवं भीम में वाग्युद्ध होता है। **अंक 6**—युद्धभूमि में शल्य की भी मृत्यु हो जाती है। भीम

---

67. वेणीसंहार 6/43 से पूर्व
युधिष्ठिर: (वासुदेवं प्रति) कुतस्तस्य विजयादन्यद्यस्य भगवान् पुण्डरीकाक्षो नारायण: स्वयं मंगलान्याशास्ते।

के पराक्रम से बचकर दुर्योधन सरोवर में जाकर छिप जाता है। गुप्तचरों के द्वारा पता चलने पर भीम आदि वहाँ पहुँचते हैं और युद्ध के लिए दुर्योधन को बारम्बार ललकारते हैं। जल से निकल कर दुर्योधन भीम के साथ गदायुद्ध प्रारम्भ कर देता है। यहाँ भट्टनारायण ने अत्यन्त सुन्दर नाटकीय चमत्कार का प्रयोग किा है। युधिष्ठिर पहली बार इसी अंक में रंगमंच पर आते हैं। शत्रुओं के विनाश से प्रसन्न युधिष्ठिर द्रौपदी आदि के साथ आह्लादपूर्वक वार्तालाप कर रहे हैं। उसी समय कौरवों का मित्र चार्वाक नामक राक्षस संन्यासी के वेष में युधिष्ठिर के सम्मुख आता है। वह वाक्चातुरीपूर्वक गदायुद्ध में भीम की मृत्यु का मिथ्या संवाद सुनाता है और कहता है कि अब दुर्योधन का अर्जुन के साथ गदायुद्ध चल रहा है। शोकविह्वल युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ चिताग्नि-प्रवेश को तत्पर होते हैं। तभी दुर्योधन के रक्त से स्नात भीषणाकृति भीम वहाँ आते हैं और द्रौपदी की वेणी बाँधकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करते हैं।

इस नाटक का वेणीसंहार नाम अनेक दृष्टियों से युक्तियुक्त सिद्ध होता है। दुःशासन के हाथों घसीटी गई द्रौपदी की खुली वेणी का दुर्योधन के रक्त से रंग भीम के हाथों बाँधा जाना ही इस नाटक की कार्यसिद्धि है अतः इस नाटक का वेणीसंहार नाम सर्वथा सार्थक है। एक अन्य प्रकार से भी इस नाम को सिद्ध किया जाता है कि वेणी के कारण ही जिसमें कौरवों का संहार प्रदर्शित हो, वह वेणीसंहार है। किन्तु इन दोनों में प्रथम अर्थ ही अधिक उपयुक्त लगता है। क्योंकि नाटक के अन्त में युधिष्ठिर ने इस शब्द का प्रयोग प्रथम अर्थ के रूप में ही किया है।[68]

नाट्यकलावैशिष्ट्य—संस्कृत भाषा में युद्ध को ग्रहण करके रचे गए नाट्यों में वेणीसंहार का विशिष्ट स्थान है। भास ने भी अपने कतिपय नाटकों में युद्ध व्यापार एवं वातावरण को प्रमुखता दी थी। नाट्यशास्त्रकारों ने प्रायः ही नाट्यसिद्धान्तों के उदाहरण वेणीसंहार नाटक से उद्धृत किए है, और अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है।

कथावस्तु—जैसा उल्लेख किया जा चुका है, नाटककारों में भास ने महाभारत की कथा के विभिन्न अंशों को अपने नाटकों की कथावस्तु के रूप में ग्रहण किया। किन्तु भास एवं भट्टनारायण के कथावस्तु ग्रहण में एक विशिष्ट अन्तर है। भास ने महाभारत से छोट-छोटे कथांशों को ग्रहण करके उन्हें कल्पना मिश्रित नाट्य का रूप दिया; किन्तु भट्टनारायण ने महाभारत के युद्ध की सम्पूर्ण प्रमुख घटना को ही अपने नाटक की कथावस्तु के रूप में ग्रहण किया। विभिन्न नाटकीय संविधानों के द्वारा उन्होंने उस युद्ध घटना का नाट्योपयोगी परिष्कार भी किया। यही कारण है कि भास के महाभारताश्रित रूपकों की अपेक्षा भट्टनारायण के नाटक में महाभारत के युद्ध का सम्पूर्ण चित्र अपनी समग्र विशिष्टताओं, वैभव एवं प्रपंच के साथ सजीव हो उठा है। छह अंकों में इतना विस्तृत

68. वेणीसंहार–6/40 के तनिक पश्चात्–युधिष्ठिरः–गच्छतु भवान्। अनुभवतु तपस्विनी वेणी संहारमहोत्सवम्। पुनः 6/42 के उपरान्त—
युधिष्ठिर—एष ते मूर्द्धजानां वेणीसंहारोऽभिनन्द्यते नभस्तलसंचारिणा सिद्धजनेन।

कथानक समेट लेने उसमें घटनाओं की बहुलता हो जाना निश्चित ही नहीं, स्वाभाविक भी था। सारी घटनाओं को रंगमंच पर साक्षात् प्रस्तुत करना सम्भव न होने के कारण भट्टनारायण ने वर्णनात्मक शैली का अवलम्ब लिया है। इसी कारण आलोचक उन पर वर्णनों के आधिक्य का दोष आरोपित करते हैं। सम्पूर्ण चतुर्थ अंक वर्णनात्मक ही है जहाँ कर्ण का सेवक सुन्दरक दुर्योधन को रणभूमि के समाचार देता है। इस वर्णनदीर्घता के कारण चतुर्थ अंक में नाटकीय प्रभाव अवश्य कम हो गया है, किन्तु इतने विस्तृत कथानक को इसी रूप में प्रस्तु त किया जा सकता था। नाट्यशास्त्र के नियमों की दृष्टि से भी युद्ध, वध आदि दृश्यों को रंगमंच पर साक्षात् न दिखाकर सूच्य रूप में ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए।[69] इस दृष्टि से भट्टनारायण ने कथा के संयोजन में अपूर्व दक्षता प्रदर्शित की है। सम्पूर्ण नाटक में भट्टनारायण ने अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं, पंचसन्धियों, अर्थोक्षेपकों और पताकास्थानकों के उचित सन्निवेश के द्वारा नाट्यशास्त्रीय परम्पराओं का विधिवत् पालन किया है। इसी कारण वे परवर्ती शास्त्रकारों को प्रिय रहे।

चरित्र-चित्रण—वेणीसंहार में पात्रों की संख्या पर्याप्त अधिक है। कुल 34 पात्रों में से तीन राक्षस पात्र, इक्कीस मानव पुरुष पात्र एवं दस स्त्री पात्र हैं। कंचुकी, प्रतिहारी आदि गौण पात्रों को छोड़कर सभी प्रमुख पात्र नितान्त प्रसिद्ध एवं ऐतिहासिक पात्र हैं जिनका चरित्रोन्मीलन अत्यन्त सजीवता से हुआ है। वेणीसंहार के कथानक की गतिशीलता में भले ही शिथिलता का आरोप लगता हो; भट्टनारायण ने सभी पात्रों का चरित्रचित्रण मार्मिक एवं स्वाभाविक किया है। भीम का क्रोधी एवं भयंकर स्वभाव तथा अपमान का प्रतिकार लेने की तीव्र, दृढ़ एवं अदम्य इच्छा; कर्ण का स्वाभिमान; दुर्योधन की विलासिता एवं हठवादिता किन्तु मित्रों एवं आश्रितों के प्रति स्नेह; अश्वत्थामा का दलित क्रोध, विवेकहीनता एवं अस्थिरता; द्रौपदी का तीव्र आवेश—सभी इस नाटक में भली भाँति प्रतिबिम्बित हो गए हैं।

वेणीसंहार का नायक—इस नाटक के नायक के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद रहा है। कुछ विद्वान् दुर्योधन को, कुछ युधिष्ठिर को और कुछ भीम को नाटक या नायक मानते हैं और अपने अपने पक्ष को सयुक्तिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर समग्रतया यह सिद्धान्त प्राप्त होता है कि नायक को मुख्य रस, कथा, अंक तथा नाट्यफल से अवश्य सम्बद्ध होना चाहिए। अत: इन्हीं चार बिन्दुओं की कसौटी पर दुर्योधन, युधिष्ठिर एवं भीम को परखने से समुचित उत्तर प्राप्त किया जा सकता है।

युधिष्ठिर

1. रसदृष्टि से विचार करने पर युधिष्ठिर में वेणीसंहार का नायकत्व सिद्ध नहीं होता। इस नाटक का मुख्य रस वीर है; यह वीर रस प्रताप, विनय, अध्यवसाय, मोह, अविषाद, नय, विस्मय, पराक्रम आदि विभावों से परिपुष्ट उत्साह स्थायी भाव में

---

69. दशरूपक 3/34—35 दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्।
.............प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्।

आस्वाद्यमान होता है तथा इसमें मति, गर्व, धृति, प्रहर्ष आदि संचारी भाव होते हैं।[70] वेणीसंहार के युधिष्ठिर में वीर रस का आस्वादन कराने वाले उपर्युक्त भाव प्राप्त ही नहीं होते, अतः युधिष्ठिर नायक नहीं हो सकते।

2. वेणीसंहार की कथा वीररस एवं युद्धादिवर्णनों के कारण औद्धत्यपूर्ण है, किन्तु युधिष्ठिर में कथा के अनुरूप औद्धत्य नहीं है। छठे अंक में युधिष्ठिर यत्र तत्र रोते, बिलखते, मूर्च्छित होते एवं प्राणत्याग के लिए तत्पर होते दिखाई देते है। अतः कथा की भावभूमि के विपरीत होने के कारण युधिष्ठिर नायक नहीं हैं।

3. वेणीसंहार के केवल छठे अंक में युधिष्ठिर रंगमंच पर आते हैं। पहले के अन्य पाँचों अंकों में न तो वे रंगमंच पर आते हैं और न ही युधिष्ठिर से सम्बद्ध क्रियाकलाप रंगमंच पर होता है। नाट्यशास्त्र परम्परा का स्पष्ट निर्देश है कि नायक प्रत्येक अंक में रंगमंच पर हो अथवा प्रत्येक अंक में नायक से सम्बद्ध ही विभिन्न घटनाएं हो।[71] अतः अंकों में उपस्थिति अथवा आसन्नता की दृष्टि से भी युधिष्ठिर का नायकत्व सिद्ध नहीं होता।

4. फलप्राप्ति पर्यन्त कथावस्तु को ले जाने वाला मुख्य पात्र नाटक में नायक कहलाता है और नाट्यफल रूपी अधिकार को प्राप्त करने के कारण उसी को अधिकारी भी कहते हैं।[72] वेणीसंहार नाटक का मुख्य प्रयोजन द्रौपदी का केश संयमन है। यह प्रयोजन अथवा फल युधिष्ठिर को सिद्ध नहीं होता।

वस्तुतः वेणीसंहार नाटक में स्थिति यह है कि यदि युधिष्ठिर पात्र को निकाल दिया जाए तो भी नाट्यदृष्टि से कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः युधिष्ठिर को वेणीसंहार नाटक का नायक नहीं माना जा सकता।

दुर्योधन

1. वेणीसंहार के मुख्य रस—वीररस की दृष्टि से दुर्योधन नायक सिद्ध नहीं होता। वीररस का स्थायी भाव उत्साह, सत्व, आर्जव एवं त्याग से अनुप्राणित होता है। दुर्योधन का उत्साह, कपट, चित्तभ्रम, क्षोभ, आत्मश्लाघा, विषाद एवं अविवेक से युक्त है। अतः नाटक का मुख्य रस दुर्योधन से सम्बद्ध नहीं है।

2. कथा की दृष्टि से दुर्योधन में नायकत्व नहीं माना जा सकता। द्वितीय अंक में दुर्योधन का शृंगारिक आचरण और सम्पूर्ण नाट्य में अपने बन्धुओं और परिजनों की मृत्यु

70. दशरूपक 4/72—वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व–
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्
त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ॥

71. दशरूपक 3/60—प्रत्यक्षनेतृचरितो.......अंको. ....।
दशरूपक 3/36— ....इत्थमासन्ननायकम्।

72. दशरूपक 1/12—अधिकार : फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।

एवं स्वयं की पराजय से संत्रस्त दुर्योधन का भयभीत व्यवहार उसे प्रतिनायक की कोटि में ला खड़ा करता है।

3. नाट्य के मुख्य फल से भी दुर्योधन असम्पृक्त है।

4. नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से नायक अथवा अधिकारी की मृत्यु अथवा वध कभी नहीं दिखाना चाहिए।[73] क्योंकि यदि नायक की ही मृत्यु हो गई तो फल सिद्धि किसे होगी? किन्तु वेणीसंहार के अन्तिम छठे अंक में भीम के गदा प्रहार से जंघा टूट जाने पर दुर्योधन की मृत्यु हो जाती है।

कतिपय विद्वान् दुर्योधन को नायक मानने के आग्रह में वेणीसंहार नाटक को दुःखान्त सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु यह सयुक्तिक नहीं है। दुर्योधन की मृत्यु के उपरान्त भी नाटक के कार्य निर्विघ्न समाप्त होते रहते हैं।

अतः दुर्योधन को वेणीसंहार नाटक का नायक मानना उचित नहीं है। यह वेणीसंहार नाटक का प्रतिनायक अवश्य है।

भीम

वस्तुतः विभिन्न दृष्टियों से भीम ही इस नाटक के नायक सिद्ध होते हैं।

1. नाटक का प्रधान रस वीर है और सारे पात्रों में भीम ही सर्वाधिक वीरता सम्पन्न हैं। नाटक का प्रारम्भ ही भीम की क्रोधयुक्त उत्तेजित वाणी से होता है,[74] तथा सम्पूर्ण नाटक ही भीम की वीर गाथा से आवेष्टित है।

2. दुर्योधन को मार कर द्रौपदी के केश संयमन की भीम की प्रतिज्ञा से यह नाटक प्रारम्भ होता है और सम्पूर्ण कथा में पुनः पुनः इसी बीज का कथन किया गया है। प्रयोजन सिद्धि के इस कथाक्रम में भीम कहीं भी हतोत्साहित अथवा भयभीत दृष्टिगोचर नहीं होते।

3. नाटक के छह अंकों में से तीन अंकों में भीम साक्षात् रूपेण रंगमंच पर उपस्थित होते हैं और शेष तीन अंकों में भी कथा भीम के कार्यों और प्रतिज्ञा की परिधि में ही घूमती रहती है, जिससे दर्शकों को निरन्तर भीम की उपस्थिति का बोध बना रहता है।

4. द्रौपदी के केशसंयमन रूपी प्रयोजन की पूर्ति भीम के द्वारा ही होती है। इससे स्वतः ही भीम का नायकत्व सिद्ध हो जाता है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि युधिष्ठिर एवं दुर्योधन वेणीसंहार नाटक के नायक नहीं हैं अपितु भीम ही नायक हैं।

रसपरिपाक—वेणीसंहार नाटक का प्रमुख रस वीर है। इस प्रधान रस की पुष्टि स्थल स्थल पर रौद्र, करुण, वीभत्स एवं भयानक रसों से हुई है। भीम, अर्जुन, दुर्योधन-सभी पात्रों की उक्तियाँ वीररस से परिपूर्ण है। नाट्य के प्रयोजन का उद्घाटन करती हुई भीम की निम्नलिखित उक्ति ओजगुण एवं वीररस की सुन्दर निदर्शन है—

---

73. दशरूपक 3/36—नाधिकारिवधं क्वापि. ......।

74. वेणीसंहार 1/18. ......स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः।

चंचद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥ (1/21)

इसी प्रकार दुर्योधन के अनेक कथनों में वीररस का सुन्दर परिपाक हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है, जिसमें दुर्योधन आत्मश्लाघा कर रहा है।

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा।
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी।
अस्मिन् वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिरेकद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः॥ (5/30)

निरस्त्र पिता की दारुण हत्या से विक्षुब्ध, क्रुद्ध एवं प्रतिकार ज्वाला में दग्ध होते हुए अश्वत्थामा की निम्नलिखित उक्ति रस की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़ी है—

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्॥ (3/24)

किन्तु वेणीसंहार के द्वितीय अंक में दुर्योधन एवं भानुमती के संयोग शृंगार का विस्तृत वर्णन नितान्त अनुचित एवं विघ्नकारक हुआ है, जिसने दुर्योधन के चरित्र को अत्यन्त पतित कर दिया। युद्ध का तूर्यनाद हो जाने पर एवं प्रतिक्षण वीरों की मृत्यु होने से कुलनाश की ही सम्भावना उपस्थित हो जाने पर किसी भी वीर एवं अभिमानी व्यक्ति का अपनी पत्नी से शृंगारिक वार्तालाप में मग्न रहना औचित्यपूर्ण नहीं है, इसीलिए आचार्य मम्मट ने इस स्थल में अकाण्ड-प्रथन दोष (अनुचित स्थान पर रस विस्तार) कहा है।

कथोपकथन–भट्टनारायण ने पात्रों के कथोपकथन अत्यन्त मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत किए हैं। प्रथम अंक में द्रौपदी एवं भीम तथा पंचम अंक में दुर्योधन, संजय, धृतराष्ट्र आदि के संवाद भावों के प्राचुर्य के कारण अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। तृतीय अंक में कर्ण का अश्वत्थामा से अत्यन्त कटु वाग्युद्ध होता है। अश्वत्थामा अपने ब्राह्मणत्व का अभिमान प्रदर्शित करते हुए कर्ण को सूतपुत्र होने की तुच्छता का भान दिलाता है। उस समय कर्ण ने जो उत्तर दिया है, वह उक्ति तेजस्विता एवं स्वाभिमान का सुन्दर उदाहरण है—

सूतो वा सूतपूत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्॥ (3/37)

कितना सटीक और समुचित उत्तर है। कुल और वंश तो भाग्याधीन हैं, मनुष्य के वश की बात नहीं है। मनुष्य तो पुरुषार्थ ही कर सकता है और कर्ण का पुरुषार्थ या वीरत्व किसी भी अन्य वीर से कम नहीं रहा।

भाषा शैली— वेणीसंहार में कथा एवं रस के अनुकूल ही कवि की भाषा अत्यन्त ओजगुण सम्पन्न है। वीररस के भावों को प्रस्तुत करने में वह सर्वथा सक्षम है। कौरव कुल के नाश की प्रथम भूमिका के रूप में बजी हुई दुन्दुभि के तीव्र नाद में कवि की ओजस्विनी

भाषा एवं गौड़ी रीति का सुन्दर प्रयोग द्रष्टव्य है—

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्ड।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्॥ (1/22)

किन्तु तीव्र भावावेग के समय भट्टनारायण ने सरल एवं प्रसाद-गुण-युक्त भाषा का भी अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है। जब भीम सुनते हैं कि युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को दुर्योधन के पास सन्धि के लिए भेजा है, तो उद्विग्न एवं क्षुब्ध भीम भावावेश में कह उठते हैं, कि भले ही राजा युधिष्ठिर शर्त सहित सन्धि कर लें, पर मैं तो युद्ध करूँगा ही और दुःशासन तथा दुर्योधन का वध करूँगा ही।

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन। (1/15)

वेणीसंहार में भट्टनारायण ने वैदर्भीरीति का भी एकाधिक स्थलों पर सुन्दर प्रयोग किया है। अपनी प्रिया भानुमती से प्रणयसम्भाषण करते समय दुर्योधन की निम्नलिखित उक्ति रसानुकूल वैदर्भी का सुन्दर निदर्शन है—

विकिर धवलदीर्घापाङ्गसंसर्पि चक्षुः
परिजनपथवर्तिन्यत्र किं सम्भ्रमेण।
स्मितमधुरमुदारं देवि मामालपोच्चैः
प्रभवति मम पाण्योरंजलिस्त्वं स्पृशास्मान्॥ (2/16)

किन्तु अधिकांशतया वेणीसंहार में ओज-गुण-युक्त एवं समासबहुल गौड़ी रीति ही है। भट्टनारायण की गौड़ी रीति की प्रशंसा किसी सहृदय ने इस प्रकार की है—

ओजः संसूचकैः शब्दैः युद्धोत्साहप्रकाशकैः।
वेण्यामुज्जृभयन् गौडीं भट्टनारायण बभुः॥

भट्टनारायण की भाषा में अनेक सूक्तियाँ स्वतः ही प्रवाहित होती चली गई हैं, जो मनुष्य के हृद्गत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को पूर्णतया अभिव्यक्त करने में सक्षम हैं। भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे कौरवपक्षीय महावीरों के मारे जाने पर राजा धृतराष्ट्र शल्य से विजय की सम्भावना खोज रहे हैं। क्योंकि आशा तो बहुत बलवती होती हैं—

गते भीष्मे हते द्रोणे कर्णे च विनिपातिते।
आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान्॥ (5/23)

भट्टनारायण रचित इस उत्कृष्ट नाटक में पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक न्यूनताओं किंवा दोषों की भी उद्भावना की है। इन पाश्चात्य विद्वानों की देखा देखी ही कुछ भारतीय विद्वान् भी वेणीसंहार नाटक में अनेक न्यूनताएँ उल्लिखित करते हैं। उनमें विशेष उल्लेखनीय ये हैं— (1) वर्णनों के विस्तार से कार्य व्यापार अवरुद्ध हो गया है। (2) वर्णन दीर्घता

ने रोचकता को नष्ट कर दिया है। (3) शृंगार रस ने नाटक के प्रमुख वीररस का साहाय्य नहीं किया, वरन् वीररस के प्रभाव को क्षीण कर दिया है। (4) नाटक में नाटकीयता की उपेक्षा कवित्व की प्रधानता हो गई है। (5) स्थल-स्थल पर भट्टनारायण ने श्रमसाध्य शैली को अपनाया है जिससे नाटक में दुरूहता बढ़ गई। आदि।

किन्तु विद्वानों द्वारा उद्भावित ये सारी न्यूनताएँ नगण्य ही हैं। वेणीसंहार के नाट्यगुणों के कारण वह सदैव ही एक उच्चकोटि नाटक माना गया है। वीररस का अनुपम वर्णन, ओजमयी तथा शक्तिसम्पन्न भाषा, विभिन्न नाटकीय तत्त्वों का यथास्थान रुचिर सन्निवेश और अत्यन्त दीर्घ एवं घटनाबहुल कथानक को संक्षिप्त रूप में सँजो देने का चमत्कार—इन सभी गुणों के कारण वेणीसंहार निस्सन्देह ही प्रथम श्रेणी का नाटक है।

भवभूति

संस्कृत नाट्य के क्षेत्र में महाकवि भवभूति का स्थान अन्यतम है। नाटककार के रूप में भवभूति का स्थान कालिदास से निम्न कथमपि नहीं हैं। कतिपय आलोचकों ने तो भवभूति को कालिदास की भी अपेक्षा उच्चकोटिक कवि स्वीकार किया है—'कवय: कालिदासाद्या: भवभूतिर्महाकवि:'।

भवभूति ने तीन नाट्यों की रचना की—महावीरचरित, मालतीमाधव तथा उत्तरराम-चरित। अपने तीनों ही नाट्यों की प्रस्तावना में भवभूति ने अपना स्वल्प परिचय दिया है।[75] ये विदर्भ देश के पद्मपुर नामक नगर के निवासी थे। इनका जन्म कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखाध्यायी उदुम्बरवंशीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये काश्यपगोत्रीय थे। इनके पूर्वज पवित्र तथा प्रसिद्ध श्रोत्रिय रहे। इनके पितामह का नाम भट्टगोपाल, पिता का नीलकण्ठ तथा माता का जतुकर्णी था। इनका नाम श्रीकण्ठ तथा शिवोपासक होने के कारण उपाधि भवभूति थी। भवभूति स्वयं भी 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ'—व्याकरण, मीमांसा तथा न्यायशास्त्र के विद्वान थे। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट के ये शिष्य रहे। डॉ. पी. वी काणे ने अपने ग्रन्थ हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र में सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि मीमांसाशास्त्र के उद्भट उम्बेक और भवभूति अभिन्न हैं।

भवभूति के जीवन की अन्य घटनाएँ अभी अन्धाकारावृत हैं। स्वयं उनके ग्रन्थों के अन्त: साक्ष्य से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में इन्हें किसी राजा का आश्रय नहीं मिला था, तथा तत्कालीन विद्वत्समाज ने भी भवभूति को आदर नहीं दिया था। उनके नाटकों का प्रारम्भिक अभिनय राजसभा में न होकर महाकाल यात्रा के समय एकत्रित जनसमूह के समक्ष हुआ था।[76] विद्वानों द्वारा निरादृत होने की सम्भावना भवभूति की एक गर्वोक्ति से

75. महावीरचरित, प्रस्तावना—अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम्।
मालतीमाधव, प्रस्तावना—अस्ति दक्षिणापथे विदर्भेषु पद्मपुरं नाम नगरम्।
उत्तररामचरित, प्रस्तावना—अस्ति खलु तत्रभवान् काश्यप: श्रीकण्ठपदलाञ्छन: पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्र:।
76. उत्तररामचरित, प्रस्तावना—भगवत: कालप्रियानाथस्य यात्रायामार्यमिश्रान् विज्ञापयामि।

उपलक्षित होती है कि 'मेरी अवज्ञा करनेवालों के लिए मेरा यह कार्य नहीं है। निरवधि समय तथा विपुल पृथिवी में कभी भी तो कहीं कोई हृदय कवि उत्पन्न होगा(जो इस रचना को समझ सके), उसी के लिए मेरा यह प्रयत्न है।'[77] किन्तु जीवन के उत्तरार्ध में अवश्य ही भवभूति को राज्याश्रय एवं सम्मान प्राप्त हो गया था। वे कान्यकुब्ज के विद्वान् राजा यशोवर्मा के आश्रय में रहे।

भवभूति के स्थितिकाल के सम्बन्ध में सम्प्रति कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। संस्कृत के अनेक कवियों ने उनकी प्रशंसा की है। मम्मट (1100 ई.) धनंजय (995 ई.), सोमदेव (959 ई.) आदि ने भवभूति के श्लोक उद्धृत किए हैं। राजशेखर (900 ई.) स्वयं को भवभूति का अवतार कहते हैं।[78] वामन ने (800 ई.) उत्तररामचरित से एक श्लोक (इयं गेहे लक्ष्मीः 1/38) उद्धृत किया है। किन्तु बाण (650 ई.) अन्य कवियों के साथ भवभूति का कोई उल्लेख नहीं करते। अतः भवभूति का समय बाणभट्ट के पश्चात् सातवी शती के मध्य से वामन के पूर्व आठवीं शती के मध्य तक रहा होगा। महाकवि कल्हण (1148 ई.) की राजतरंगिणी में भवभूति का उल्लेख स्पष्ट आया है। कल्हण के इस ऐतिहासिक महाकाव्य में ललितादित्य नामक विजयी प्रतापी राजा का वर्णन विस्तार से दिया गया है। इस राजा ललितादित्य का राज्याभिषेक 735 ई. में हुआ था। इसने सुदूर गौड़ देश (बंगाल) तक को जीता था। इन्हीं राजा ललितादित्य ने कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा को भी समरभूमि में हरा दिया, जिन यशोवर्मा की सभा को वाक्पतिराज, भवभूति आदि कवि सुशोभित किया करते थे।[79] वाक्पतिराज ने अपने काव्य गउडवहो (गौड़वध) में भवभूति का उल्लेख किया है जब वे भवभूति रूपी सागर से निकले हुए काव्यामृत-रसकणों की प्रशंसा करते हैं।[80] राजतरंगिणी तथा वाक्पतिराज के इस उल्लेख से भवभूति का समय आठवीं शती ईस्वी का पूर्वार्ध निश्चित हो जाता है।

भवभूति के तीन रूपक उपलब्ध होते हैं। इन तीन में नाट्यकला परिपाक और शैली की प्रौढ़ि की दृष्टि से महावीरचरित प्रथम रचना, मालतीमाधव द्वितीय रचना तथा

---

77. मालतीमाधव— ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

78. बालरामायण 1/19— बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजेशखरः।

79. राजतरंगिणी 4/144— कविर्वाक्पतिराजश्री भवभूत्यादिसेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥

80. वाक्पतिराज-गउडवहो 7/99— भवभूइजलहिनिग्गयकव्वामयरसकणा एव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि विअडेसु कहाणिवेसेसु॥
(भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु॥)

उत्तररामचरित अन्तिम तथा सर्वश्रेष्ट रचना स्वीकार की जाती है।

महावीरचरित—इस नाटक में सात अंक है जिनमें श्रीराम-सीता-विवाह से लेकर रावणवध के उपरान्त अयोध्या में राज्याभिषेक तक की कथा है। संक्षिप्त कथासार इस प्रकार है। **अंक 1**—शिवधनुष भंग करके राम सीता से विवाह करते हैं, इससे रावण अत्यन्त अपमानित अनुभव करता है और राम पर क्रुद्ध हो जाता है। **अंक 2**—रावण की मानसिक अवस्था समझ कर रावण का मन्त्री माल्यवान् परशुराम को राम के विरुद्ध उकसाता है। **अंक 3**—राम एवं परशुराम का वाक्युद्ध और तदुपरान्त वास्तविक युद्ध होता है। **अंक 4**—युद्ध में परशुराम पराजित हो जाते हैं। पुन: माल्यवान् के षड्यन्त्र से शूर्पणखा मन्थरादासी का रूप धारण करके कैकेयी का एक पत्र राम को देती है कि दशरथ के दो वरदानों के अनुसार राम चौदह वर्ष वन में रहें और भरत अयोध्या के राजा हों। **अंक 5**—वनवास, सीता-हरण, जटायु-रावण -युद्ध, विभीषण का आकर राम से मिल जाना आदि वर्णित है। **अंक 6**—राम-रावण का युद्ध होता है और अन्त में रावण मारा जाता है। **अंक 7**—सीता की अग्नि-परीक्षा के उपरान्त राम अयोध्या लौटते हैं और उनका राज्याभिषेक सम्पन्न होता है।

इस कथानक से स्पष्ट है कि भवभूति ने नायक के चरित्र का उत्कर्ष बताने के लिए मूल रामकथा में अनेक परिवर्तन कर दिए है। राम के चरित्र में जो एकाधिक आलोच्य विषय रहे हैं, उन सभी के पीछे प्रतिनायक रावण का कुचक्र बता कर भवभूति ने कथा को अधिक रोचक बनाने का प्रयास किया है। तथा नायक के चरित्र का उत्कर्ष किया है। वीररस प्रधान इस रचना में ओजगुण पर्याप्त है तदनुसार शैली भी गौडी रीति ही है।

मालतीमाधव—यह दस अंकों का प्रकरण नाट्य है। इसका कथानक कवि कल्पना-प्रसूत है, जिसमें माधव और मालती तथा मकरन्द और मदयन्तिका की प्रणयकथा का विस्तार वर्णित है। इसका कथानक संक्षेप में इस प्रकार है। **अंक 1**—पद्मावती नरेश के मन्त्री भूरिवसु अपनी पुत्री मालती का विवाह अपने अभिन्न मित्र विदर्भराज के मन्त्री देवरात के पुत्र माधव से करना चाहते है। पद्मावती-नरेश का साला और नर्मसचिव नन्दन मालती पर आसक्त है और अपने बहनोई राजा की सहायता से मालती से विवाह करना चाहता है। नन्दन की बहन मदयन्तिका मालती की सखी है और माधव के मित्र मकरन्द से प्यार करती है। कामन्दकी नामक संन्यासिनी मालती और माधव के विवाह को निर्विघ्न सम्पन्न होते देखना चाहती है। मदन-उद्यान में मालती एवं माधव एक दूसरे से मिलते हैं और परस्पर प्रणयासक्त हो जाते हैं। **अंक 2**—राजा का आदेश मान कर मन्त्री भूरिवसु अपनी पुत्री मालती का विवाह नन्दन से करने को तैयार हो जाता है। मालती बहुत दुखी होती है। कामन्दकी मालती को माधव से गान्धर्व विवाह करने के लिए तत्पर करा लेती है। **अंक 3**—मालती और माधव शिवालय के कुंज में मिलते हैं। वहीं एक सिंह मदयन्तिका पर आक्रमण करता है। माधव सिंह को मार देता है किन्तु स्वयं घावों से मूर्च्छित हो जाता है। **अंक 4**—मूर्च्छा हटने पर माधव मदयन्तिका को देखकर मुग्ध हो जाता है। इधर राजा अपने साले नन्दन और मालती का विवाह तय कर देता है। यह जान

कर निराश माधव सिद्धि-हेतु श्मशान में जाकर तन्त्रसाधना करता है। **अंक 5**—श्मशान में अघोरघण्ट नामक कापालिक मालती की बलि चढ़ाने वाला ही था कि मालती की चीख सुनकर माधव वहाँ पहँच जाता है। और अघोरघण्ट को मारकर मालती को बचा लेता है। **अंक 6**— राजा नन्दन और मालती का विवाह रचाता है। मकरन्द मालती का वेश धारण करके नन्दन से विवाह करता है और उधर कामंदकी चुपचाप माधव से मालती का विवाह करा देती है। **अंक 7**—प्रथम समागम की रात्रि को मालती-वेशधारी मकरन्द नन्दन का अपमान करता है। मदयन्तिका अपनी भाभी को उपालम्भ देने आती है तो मालती के स्थान पर मकरन्द को देखकर स्वयं उसके साथ निकल भागती है। **अंक 8**—कन्या के अपहरण के अपराध में नगररक्षक मकरन्द को पकड़ लेते हैं। माधव मालती को अकेला छोड़कर आता है और दोनों मित्र नगररक्षकों को परास्त कर देते हैं। किन्तु इसी बीच अघोरघण्ट की शिष्या कपालकुण्डला मालती को पुनः उठा ले जाती है। **अंक 9**—योगिनी कामन्दकी की शिष्या सौदामिनी मालती को बचा लेती है और उसे माधव से मिला देती है। **अंक 10**—मालती की कोई सूचना न मिलने से दुखी एवं शोकसन्तप्त भूरिवसु, मदयन्तिका आदि आत्मघात करने को तत्पर होते हैं, किन्तु तभी सौदामिनी से उन्हें माधव एवं मालती की सकुशलता की सूचना मिलती है। मालती एवं माधव का तो विवाह हो चुका है। राजा की अनुमति से मकरन्द और मदयन्तिका का भी विवाह हो जाता है।

इस प्रकरण में भवभूति ने उन्मादक प्रणय का अत्यन्त रसपूर्ण चित्रण किया है। किन्तु दो प्रणयकथाओं में मुख्य एवं गौण कथा में वे परस्पर उचित समनुपात का निर्वाह नहीं कर पाए। मकरन्द-मदयन्तिका की कथा को बहुत लम्बा कर दिया गया। इसके अतिरिक्त गद्यसन्दर्भ भी अत्यन्त लम्बे हैं। ऐसे गद्यांशों के कारण प्रकरण की नाटकीयता में न्यूनता आ गई। इस प्रकरण की भाषा में माधुर्य, ओजगुण तथा लम्बे समास हैं, अतः भवभूति ने इसमें भी गौड़ी रीति का आश्रय लिया है।

उत्तररामचरित—यह भवभूति का अन्तिम तथा सर्वोत्कृष्ट नाटक है। वस्तुतः तो उत्तररामचरित भवभूति की नाट्यकला का चूडान्त निदर्शन है। इस नाटक में सात अंक हैं। जिनमें राम के जीवन के उत्तरार्ध भाग की कथा कल्पना मिश्रित रूप में कही गई है। इस नाटक की कथावस्तु का संक्षिप्त सार इस प्रकार है। **अंक 1**— राम के राज्याभिषेक के उपरान्त विदेहराज जनक अपने नगर लौट गए हैं। वसिष्ठ, अरुन्धती तथा सारी माताएँ ऋष्यश्रृंग ऋषि के यज्ञ में सम्मिलित होने चले गए हैं। ऐसे में खिन्न बैठी परिपूर्णगर्भा जानकी को राम सान्त्वना देते हैं। लक्ष्मण आकर राम सीता दोनों को चित्रवीथी में ले जाते हैं। जीवन के विभिन्न प्राचीन प्रसंगों को देखकर सीता पुनः वनदर्शन की इच्छा अभिव्यक्त करती हैं। और परिश्रान्त हो कर सो जाती है। तभी गुप्तचर दुर्मुख आकर सीता विषयक जनापवाद की सूचना राम को देता है । मार्मिक वेदना से पीड़त होकर भी राम लोकानुरंजन हेतु सीता की इच्छापूर्ति के बहाने से उन्हें लक्ष्मण के द्वारा वन में निर्वासित कर देते हैं। **अंक 2**—द्वितीय अंक की घटनाएं प्रथम अंक के बारह वर्ष बाद की हैं।

इसमें सीता के लव-कुश दो पुत्रों की उत्पत्ति, वाल्मीकि के द्वारा उनका पालन व अध्यापन, वाल्मीकि द्वारा रामायण लिखने का उपक्रम, राम के द्वारा सीता की स्वर्ण प्रतिमा स्थापित करके अश्वमेध यज्ञ करने तथा शम्बूक नामक शूद्र तपस्वी को दण्ड देने के लिए जनस्थान दण्डकारण्य में आने की सूचना विष्कम्भक के द्वारा प्राप्त होती है। राम जन्मस्थान में आकर शम्बूक का वध करके राजधर्म का पालन करते हैं। और अपने प्राचीन वन को पहचान कर सीता की स्मृति में दुखी होते हैं। **अंक 3**—गंगा आदि की दूरदर्शिता के कारण सीता छाया रूप में अदृश्य होकर पंचवटी में आई हैं। राम पंचवटी में आते है और वहाँ की वनदेवी तथा सीता की सखी वासन्ती के सम्मुख अपने शल्यविद्ध हृदय के गहन दुख का उद्घाटन कर देते हैं। सीता के विरह से उत्पन्न तीव्र मनोव्यथा के कारण वे बार बार सीता को पुकारते हैं, विलाप करते हैं और पुनः पुनः मूर्च्छित हो जाते हैं। अदृश्य सीता अपने कर-स्पर्श से राम को पुनरुज्जीवित करती हैं। रस निर्वाह तथा नाटक के सुखान्त होने की दृष्टि से इस अंक का बहुत महत्त्व हैं। **अंक 4**—चतुर्थ अंक में वाल्मीकि आश्रम में तपस्याक्षीण जनक तथा सीता के दुख से कृश कौशल्यादि परस्पर मिलते हैं। आश्रम में खेलते बालकों में लव को देखकर वार्तालाप करते है। सैनिकों के अभिमानयुक्त वचनों से रुष्ट होकर लव राम के अश्वमेधीय घोड़े को पकड़ लेता है। और राम की सेनाओं से युद्ध करने को तत्पर होता है। **अंक 5**—अश्वरक्षक सेना का भयंकर संहार सुन कर लक्ष्मण का पुत्र सेनापति चन्द्रकेतु युद्ध स्थल पर आता है लव से वार्तालाप करते समय सेनाएँ पुनः पुनः विघ्न डालती हैं तो लव जृम्भकास्त्र को आमन्त्रित करके सेनाओं को स्तब्ध कर देता है। तदुपरान्त सेनापति लक्ष्मणात्मज चन्द्रकेतु से लव का दर्पयुक्त कथोपकथन होता है। **अंक 6**—विद्याधर युगल के वार्तालाप से लव चन्द्रकेतु के पारस्परिक भीषण युद्ध की सूचना प्राप्त होती है। शम्बूक वध करके पंचवटी से लौटते हुए राम के आगमन से युद्ध रुक जाता है। लव को देखकर राम के हृदय में स्नेह उमड़ता है। उसी समय युद्धवार्ता सुन कर कुश भी वहीं आ जाता है। लव और कुश में जनकतनया की आकृति की समता देखकर राम का हृदय क्रमशः हर्ष और विषाद का अनुभव करता है। **अंक 7**—सप्तम अंक में गर्भांक का अद्भुत प्रयोग किया गया है। समस्त सृष्टि के सम्मुख रामायण की कथा के एक अंश का अभिनय किया जाता है। जिसमें सीता परित्याग से कथा प्रारम्भ होती है। अन्ततोगत्वा गंगा, पृथिवी और अरुन्धती सीता को निर्दोष सिद्ध करके राम को पुनः अर्पण कर देती हैं। वाल्मीकि की आज्ञा से कुश लव भी अपनी माँ एवं पिता से मिल जाते है। और नाटक सुखान्त रूप में समाप्त हो जाता है।

भवभूति ने करुण रस को इस नाटक का अंगी रस बनाया । नाट्यशास्त्र की परम्परा के विरुद्ध करुण को नाटक का मुख्य रस बना कर भवभूति ने आद्यन्त उसका निर्वाह अत्यन्त भावपूर्ण रूप में किया है। इस नाटक में कथानक निर्वाह, रसोद्रेक, विस्तृत वर्णन,भाषा एवं रसपूर्ण शैली के कारण ही आलोचक एक मत से कह उठे—'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते' ।

नाट्यकला-वैशिष्ट्य—महाकवि भवभूति संस्कृत साहित्य की विलक्षण विभूति

हैं। उनकी सहज गम्भीर एवं विस्तृत अनुभूति नाट्यों के द्वारा विश्वजनीन बन गई है। दाम्पत्य प्रेम, करुण रस तथा प्रकृति के भयावह एवं कठोर दृश्यों के चित्रण में भवभूति अपने उपमान स्वयं ही है। नाट्यकला की जो विभिन्न विशेषताएँ भवभूति में दृष्टिगोचर होती है। वे अन्य नाटककारों में दुर्लभ ही हैं।

कथावस्तु—भवभूति ने अपने रूपकों की कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण में अपने चरम वैशिष्ट्य को स्थापित कर दिया है। मालतीमाधव की कथा तो उत्पाद्य (कवि-कल्पित) थी ही; उसमें कवि को अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न घटनाओं को संयोजित करने का पर्याप्त अवसर था। किन्तु मालतीमाधव के कथानक में भी दो प्रेम प्रसंगों-मालती एवं माधव तथा मदयन्ति का एवं मकरन्द-को एक साथ एकसी रोचकता और भावप्रवणता से प्रस्तुत कर देना भवभूति का नाट्य-कौशल ही था। अन्य दो रूपकों की कथा प्रख्यात रामकथा है। सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त इस रामकथा में कोई नवीन उद्भावना उत्पन्न करना अद्भुत तो है ही, साहस का कार्य भी है। भवभूति ने यह कर दिखाया। महावीर चरित में राम जीवन के पूर्वार्ध को कथावस्तु के रूप में ग्रहण करके भवभूति ने नायक के चरित्रोत्कर्ष के विपरित प्रतीत होने वाली घटनाओं को अपनी कल्पना द्वारा इस प्रकार मोड़ दिया है कि राम का चरित्र आदर्श धीरोदात्त नायक के रूप में अक्षुण्ण बना रहता है। घटनाओं के संविधान तथा गतियीलता को अत्यन्त ही मनोवैज्ञानिक पद्धति पर प्रदर्शित किया गया है राम के इस उत्तर चरित को सुन्दर नाटकीय रूप देने के लिए भवभूति ने मूल कथा में आद्यन्त अनेक परिवर्तन कर दिए। वाल्मीकि की कथा में जनकतनया राजसभा के समक्ष ही पृथिवी में समा जाती है अत: वाल्मीकि कथा करुण रस में अन्त होती है। किन्तु नाट्य नियमानुकूल अपने नाटक को सुखान्त बनाने के लिए भवभूति ने अन्त में रामसीता का मिलन करा दिया है। नाटक को सुखान्त बना सकने की भूमिका भूवभूति ने तृतीय अंक से ही बाँधी है, जहाँ राम के शोकापूर्ण विलाप एवं प्रलाप को देखकर अदृश्य सीता के हदय से निष्कारण ही निर्वासित होने का काँटा निकल जाता है और वे बरबस कह उठती हैं—'अहो ! निष्कारणपरित्यागशल्यितोऽपि बहुमतो मे जन्मलाभ:'। इसी प्रकार सप्तम अंक में गर्भांक की नवीन कल्पना द्वारा भवभूति ने अद्भुत रस की चामत्कारिक सृष्टि कर दी है।

इनके अतिरिक्त भी उत्तररामचरित के प्रत्येक अंक में भवभूति ने मूल कथा में कुछ-न-कुछ परिवर्तन अथवा परिवर्धन अवश्य किए हैं। प्रथम अंक में चित्रवीथी, द्वितीय अंक में राम का दण्डकारण्य आगमन, तृतीय अंक में पंचवटी में राम की वनदेवी वासन्ती से भेंट तथा छाया सीता,चतुर्थ अंक में वाल्मीकि आश्रम में कौशल्यादि माताओं, जनक, लव आदि का मिलना, पंचम अंक में लव चन्द्रकेतु युद्ध, षष्ठ अंक में कुश और लव से राम का मिलना आदि समस्त घटनाएँ भवभूति की रसपेशल कल्पना का ही मनोहर परिणाम हैं जिनसे कथानक में एक नवीनता आ गई है।

कथानक के निर्वाह में विष्कम्भकों का प्रयोग भवभूति ने अत्यन्त कुशलता से किया। इन अर्थोपक्षेपकों के द्वारा कथासूत्र के लिए अनिवार्य सभी आवश्यक घटनाओं

की सूचना भवभूति दे देते है। इन्हीं अर्थोपक्षेपकों के कुशल प्रयोग के कारण प्रथम एवं द्वितीय अंक के बीच का बारह वर्ष का अन्तराल पता ही नहीं चलने पाता, एवं इस अवधि के बीच कर सारी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ दर्शकों को सहजता से ज्ञात हो जाती हैं। इसी प्रकार नाटकीय सोत्प्रास तथा नाटकीय चमत्कार भी उन्होंने पताकास्थानकों तथा भारती वृति के बहुल प्रयोग द्वारा प्रस्तुत कर दिया। नाट्य अर्थ प्रकृतियों और अवस्थाओं का सुन्दर रूप उत्तररामचरित में द्रष्टव्य है।

चरित्रचित्रण—भवभूति पात्रों के चरित्रचित्रण में भी सिद्धहस्त दीख पड़ते हैं। आदर्शोन्मुख होते हुए भी उनके पात्र वास्तविक तथा सांसारिक हैं। राम का चरित्र उनके दोनो रूपकों में अत्यन्त उदात्त एवं आदर्श रूप में उभरा है। भवभूति के राम जैसा आदर्श राजा अन्य किसी नाट्य में प्रस्तुत नहीं हो पाया, जो अपने प्रजानुरंजन व्रत के लिए अपने समस्त सुख, स्नेह, दया और प्राणाधिका प्रिया पत्नी को भी त्याग दे और अपने दुख को प्रगट न होने दे—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥ (उत्तररामचरित1/12)

राम का चरित्र शील, सत्य, शक्ति और सहृदयता का स्रोत बन कर दर्शकों के सम्मुख अवतरित होता है, जो मरणान्तक वेदना से सन्तप्त होकर भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। सीता भी भारतीय नारी के चरम आदर्श का निदर्शन हैं। पति राम ने निष्कारण ही तथा बिना बताए ही पतिव्रता जानकी का त्याग किया, किन्तु पतिप्रेम में आकण्ठ मग्न सीता की पतिनिष्ठा में कहीं कोई न्यूनता नहीं आती। बारह वर्ष के दीर्घ अन्तराल के बाद अप्रत्याशित हि प्राणाधिक प्रिय को देखकर भी सीता के मन में कोई उपालम्भ नहीं आता। वे तो पति को अत्यन्त कृश देखकर ही मूर्च्छित हो जाती है। मूर्च्छा हटने पर चेतना युक्त होकर भी पति के दुख से ही सीता का हृदय विदीर्ण है। पति पर क्रोध का तो उन्हे ध्यान भी नहीं। राम की करुणापूर्ण अवस्था के लिए वे स्वयं अपने को ही अभागिन कहती हैं—'भगवति ! किमिति वज्रमयी जन्मान्तरेष्वपि पुनरप्यसंभावितदुर्लभ-दर्शनस्य मामेव मन्दभागिनीमुद्दिश्यैवं वत्सलस्यैवंवादिनः आर्यपुत्रस्योपरि निरनुक्रोशा भविष्यामि?'

राम और सीता तो भवभूति के आदर्श पात्र हैं ही, इतर पात्रों का भी चरित्र उन्होंने सुन्दरतया प्रस्तुत किया है। बाली, सुग्रीव, भरत, रावण, माधव, मालती आदि सभी पात्र भवभूति की लेखनी के स्पर्श से जीवन्त हो उठे हैं। भवभूति के नाट्यों में गम्भीरता एवं उदात्तता का जो सूत्र सर्वत्र अनुस्यूत है उसी के कारण भवभूति ने अपने तीनों नाट्यों में से किसी में भी विदूषक की अवतारणा नहीं की।

रस परिपाक—भवभूति ने विभिन्न रसों का सिद्ध निर्वाह किया है। अपने तीन नाट्यों में उन्होंने तीन रसों को मुख्य रस बनाया। महावीर चरित में वीर रस प्रमुख है तो मालतीमाधव में श्रृंगार रस को मुख्य बनाकर भवभूति ने उसकी विभिन्न दशाओं आदि का सुन्दर चित्रण किया। किन्तु सारे ही रसों में से करुण रस की अभिव्यंजना में भवभूति सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुए हैं। उत्तररामचरित नाटक आद्यन्त करुण रस की गम्भीर, हृदयद्रावक

शक्ति से संप्लावित है। उत्तररामचरित के सारे अंकों में स्पष्टतया या प्रकारान्तर से करुण की ही पुष्टि की गई है। शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत सभी रस करुण का ही साहाय्य करते हैं। किन्तु भवभूति का यह करुण दर्शक को उच्चस्वर में विलाप नहीं कराता वरन् अपने मन्द उत्ताप से निरन्तर उसके हृदय को व्यथित बनाए रखता है। राम सीता के मर्मच्छेदनकारी शोक को अनुभव करके भी मानो पुटपाक की भांति तीव्र अन्तर सन्ताप के कारण दर्शक कभी सान्त्वना नहीं पाते—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः॥ (उत्तररामचरित 3/1)

करुण रस को नाटक का मुख्य रस बना कर भवभूति ने नाट्यशास्त्र की उस मर्यादा का उल्लंघन किया था जो वीर अथवा श्रृंगार को ही नाटक का प्रमुख रस बनाए जाने के पक्ष में है[81]—किन्तु भवभूति ने स्वयं ही इस उल्लंघन का कारण भी स्पष्ट कर दिया। उनके अनुसार रस तो एक ही है—करुण। अन्य रस तो निमित्तभेद से करुण के ही भिन्न भिन्न रूप हैं जैसे लहर, बुद्बुद, भँवर आदि वस्तुतः जल ही है।

एको रसः करुण एवं निमित्तभेदाद्
भिन्नःपृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्
आवर्तबुदबुद्तरंगमयान्विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥ (उत्तररामचरित 3/47)

कतिपय आलोचकों ने सम्भवतः नाट्यशास्त्र की मान्यता को ध्यान में रखते हुए उत्तररामचरित में करुण रस न मान कर करुण विप्रलम्भ श्रृंगार रस माना है। किन्तु ऐसे आलोचकों के लिए भवभूति का उपर्युक्त श्लोक ही उत्तर स्वरूप है।'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते'—सदा से प्रसिद्ध रहा है। भवभूति के करुण रस वर्णन के चमत्कार से मुग्ध होकर ही गोवर्धनाचार्य ने आर्यसप्तशती में कहा था—

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥ (1/36)

भवभूति का करुण कभी भी अमर्यादित प्रलाप का रूप धारण नहीं करता, किन्तु हृदय के मर्मस्थल पर आघात कर कर के व्यक्ति को मूर्च्छित सा कर देता है। प्रिय के शोक में हृदय ऐसे जलता है जैसे भूसी की आँच में सुलग रहा हो।

जगज्जीर्णारण्यं भवति च कलत्रे ह्युरते।
कुकूलानां राशौ तद नु हृदयं पच्यत इव॥ (उत्तररामचरित 6/38)

राम ने अपनी प्रिया पत्नी सीता को लोकानुरंजन के लिए वन में निराधार त्याग तो दिया किन्तु बारह वर्ष बाद भी पूर्वानुभूत प्रिय स्थलों को देखकर सीता के स्मरण से उनके हृदय का शोक नवीन होकर सहस्त्र धाराओं में फूट पड़ा। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मानसिक व्यथा और शोकभार का यह वर्णन कितना हृदय द्रावक है—

---

81. दशरूपक 3/33—एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीर शृंगार एव वा।

हा हा देवि ! स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि॥ (उत्तररामचरित 3/38)

अर्थात 'हाय देवि! हृदय फटा जा रहा है देह का बन्धन शिथिल हो रहा है, (तुम्हारे बिना) संसार सूना सा हो रहा है। हृदय निरन्तर सुलग रहा है। दुखी आत्मा गाढ़ अन्धकार में डूबी जा रही है, चारों ओर से मोहमूर्च्छा मुझे घेरे ले रही है। अब मैं अभागा क्या करूँ ?'

करुण रस का प्रसार और निर्वाह तो सभी कवियों ने किया,किन्तु हृदय को शतधा विदीर्ण कर देने वाली करुणा का प्रसार भवभूति से ही हो सका। वस्तुतः वाल्मीकि के दाय का सर्वाधिक एवं सर्वश्रेष्ठ निर्वाह भवभूति ने ही किया है। विभिन्न विरोधी भावों को एकत्र प्रस्तुत करके उन सबसे भी करुण रस को पुष्ट करा सकना भवभूति की ही सामर्थ्य थी—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्
वियोग दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव॥ (उत्तररामचरित 3/13)

यह श्लोक भावशबलता का उत्कृष्ट उदहारण है, जिसमें विभिन्न विरोधी भावों ने मिलकर अनुपम अर्थ रच दिया है।

प्रणयचित्रण—उदात्त एवं गम्भीर प्रणय के भी भवभूति चतुर चितेरे हैं। अपने नाटकों में भवभूति ने जिस प्रणय का चित्रण किया, उसका आदर्श अत्यन्त उच्च है। अंतःपुर के विषयवासना भरित प्रेम को भवभूति ने लक्ष्य नहीं बनाया। वरन् स्त्री-पुरुष के रोम-रोम में गुँथ जाने वाले आत्मिक प्रेम का चित्रण भवभूति कर गए हैं। यह पारस्परिक प्रणय तो अहेतुक है—

"भूयसां जीविनामेव धर्म एष यत्र स्वरसमयी कस्यचित्क्वचित्प्रीतिः,

यत्र लौकिकानामुपचारस्तारामैत्रकं चक्षूराग इति। तदप्रतिसंख्येयनिबन्धनं प्रमाण-मामनन्ति।

अहेतुःपक्षपातो यः तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्भूतानि सुव्यति॥ (उत्तररामचरित 5/17)

भवभूति ने यौवनसुलभ प्रेम का भी चित्रण तो किया[82] किन्तु सर्वत्र उदात्त गाम्भीर्य बनाए रखा, कभी भी कामलिप्सा का संकेत नहीं किया। पारिस्पारिक प्रेम तो कारण रहित होता है। प्रेम किसी बाह्य उपाधि पर आश्रित नहीं रहता। न जाने कौनसा अनिर्वचनीय हेतु दो वस्तु या व्यक्तियों को परस्पर आसज्जित कर दिया करता है। इसीलिए तो प्रकृति भी

82. उत्तररामचरित 1/24. 1/27

ऐसे ही उदाहरण प्रस्तुत करती है। सूर्य के उदित होने से कमल खिल जाते हैं। और चन्द्रमा के उदित होने से चन्द्रकांत मणि द्रवित होने लगती है—

व्यतिषजति पदार्थानन्तरः कोऽपि हेतु—
र्न खलु बहिरूपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥ (उत्तररामचरित 6/12)

दाम्पत्य प्रणय का जो अलौकिक चित्रण भवभूति कर गए हैं वह सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में सर्वश्रेष्ठ है। पति-पत्नी का आदर्श सम्बन्ध अन्य सारे ही सम्बन्ध-सूत्रों को स्वयं में समाहित कर लेता है।

प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुसांमित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥ (मालतीमाधव 6/18)

भवभूति का दाम्पत्य प्रणय दुग्धवत् उज्जवल, मधुर तथा पवित्र है। वह तो जीवन की प्रत्येक स्थिति में साथ चलता है, सदा ही अपरिवर्तित रहता है, उसे हर कोई पा भी नहीं सकता—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्यायात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥ (उत्तररामचरित 1/39)

अर्थात् 'जीवन की सुख-दुःख दशा में तथा प्रत्येक अवस्था में जो अपरिवर्तित रहता है, जिसमें हृदय को अनिर्वचनीय सुख मिलता है, वार्धक्य भी जिसकी सरसता को दूर नहीं कर पाता, समय बीतते जाने पर, संकोच का आवरण हट जाने पर जो प्रगाढ़ एवं परिपक्व प्रणय सार रूप में स्थित हो जाता है, ऐसा कल्याणकारी दाम्पत्य प्रेम किसी-किसी (भाग्यशाली) को ही प्राप्त होता है।

इसी अत्यन्त उच्च एवं उदात्त प्रणयकल्पना के कारण ही भवभूति ने अपने नाट्यों में विदूषकों की सृष्टि नहीं की, जो अपने मित्र नायक को सदैव परकीया प्रेमप्राप्ति में ही साहाय्य दिया करता है। भवभूति की प्रणयस्थिति में तो विदूषक की कहीं आवश्यकता ही नहीं है।

प्रकृतिवर्णन—भवभूति का प्रकृति वर्णन भी संस्कृत साहित्य में विशिष्ट ही है। प्रकृति के प्रति गाढ़ अनुराग उनके तीनों नाट्यों में सर्वत्र परिलक्षित होता है। यद्यपि भवभूति ने प्रकृति के कोमल तथा रम्य एवं कठोर तथा भयंकर—दोनों पक्षों को यथावसर नाट्यों में प्रस्तुत किया है तथापि प्रकृति के रूखे एवं भयावन पक्ष का चित्रण करने में उनका मन अधिक रमा है। मालती माधव के पाँचवें अंक का श्मशानवर्णन तथा नवे अंक का वनवर्णन इसके प्रमाण हैं। उत्तररामचरित में तो यह स्थिति स्वाभाविक ही थी। राम के शोक सन्तप्त दग्ध एवं सूने हृदय का सामंजस्य तो दावाग्नि, मरुस्थल विस्तार तथा वृक्षहीन दीर्घ पृथ्वीविस्तार में प्यास से भटकते जीवों में ही हो सकता था। गहन, अभेद्य दण्डकारण्य

की प्रकृति को प्रस्तुत करते समय भवभूति ने सम्पूर्ण चित्र ही उपस्थित कर दिया है—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित् क्वचदपि प्रोच्चण्डसत्वसवनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।
सीमानःप्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते॥ (उत्तररामचरित 2/16)

इसी प्रकार मध्याह्न का वर्णन पढ़ कर मानों गर्मी की दोपहर की धूप पाठक तक पहुँच जाती है (उत्तररामचरित 2/9)। प्रकृति के साथ भवभूति ने ऐसा तादात्म्य स्थापित कर लिया था कि प्रकृति और मानव एक ही परिवार के अंग बन गए है। नदियाँ भी मनुष्य के साहाय्य में मानवरूप धारण कर रंगमंच पर अवतरित हो जाती हैं। भवभूति ने अपने पात्रों, रस तथा कथावस्तु सभी को प्रकृति के सहयोग द्वारा ही विकसित किया है। इस कार्य में वे किसी का अनुकरण नहीं करते।

भाषा शैली—संस्कृत पर भवभूति ने असाधारण अधिकार सिद्ध किया था। उनकी भाषा नितान्त भावानुरूप, सुललित एवं परिष्कृत है। उत्तररामचरित में सूत्रधार ने भवभूति के लिए जो कहा था 'यं ब्राह्मणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तत' यह कथन शतप्रतिशत सही है भवभुति के इंगित पर भाषा ने वशानुवर्तिनी के सदृश ही आचरण किया है। तीव्र भावावेश, मानसिक व्यथा तथा कोमल भावों की व्यंजना के समय भवभूति की भाषा सरल, सुबोध, प्रांजल और प्रसादगुण युक्त है—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं, त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमंगे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां, तामेव शान्तमथवा किमतः परेण॥
(उत्तररामचरित 3/26)

किन्तु युद्धवर्णन अथवा प्रकृति के कठोर पक्षों के चित्रण के समय भवभूति की वही भाषा विकटवर्ण युक्त, ओजगुणसम्पन्न तथा दीर्घसमासवती हो जाती है। लव के द्वारा सेनाओं के संहार का एक दृश्य द्रष्टव्य है—

आगर्जद्गिरिकुंजरकुंजरघटानिस्तीर्णकर्णज्वर-
ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराध्मातमुज्जृम्भयन्।
वेल्लद्भैरवरुण्डखण्डनिकरैर्वीरो विधत्ते भुवं
तृष्यत्कालकरालवक्त्रविघसव्याकीर्यमाणामिव॥ (उत्तररामचरित 4/26)

सरल और क्लिष्ट, सुबोध और दुर्बोध, समासरहित और समासयुक्त—इन विरोधी विशेषताओं से सम्पन्न भाषा के स्वामी भवभूति ने सर्वत्र प्रत्येक परिस्थिति में उपयुक्त और सार्थक भाषा का ही प्रयोग किया है। प्रौढ़ि,भाषा की उदात्तता एवं अर्थगौरव—ये तीनों एकत्र रूप में ग्रन्थकर्ता के पाण्डित्य एवं विदग्धता की कसौटी हैं, यह स्वयं भवभूति का ही मत था—

यत् प्रौढ़ित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्धयोः॥ (मालतीमाधव 1/10)

अपने द्वारा प्रस्तुत इस कसौटी पर स्वयं भवभुति पूरी तरह खरे उतरे है। भाषा-

प्रयोग में भवभूति के इस पाण्डित्य एवं वैदग्ध्य से मुग्ध होकर तिलकमंजरी में धनपाल अनायास ही कह उठे—

स्पष्टभावरसा चित्रैः पदन्यासैः प्रवर्तिता।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना॥

भवभूति परिपुष्ट, ओजस्विनी तथा उत्कृष्ट गौड़ी के धुरन्धर आचार्य होने पर भी भवभूति ने अनेक स्थलों पर वैदर्भी रीति का भी अत्यन्त मंजुल प्रयोग किया है, जिसका प्रसाद गुण चित्त में सर्वत्र व्याप्त होकर श्लोकार्थ को अनायास ही प्रगट करता जाता है—

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
भवति हि पुनर्भूयान् भेदः फल प्रति तद्यथा
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदाश्चयः॥ (उत्तररामचरित 2/4)

किसी किसी श्लोक में गौड़ी एवं वैदर्भी रीति का सुन्दर एकत्र प्रयोग करके भवभूति ने अद्भुत चमत्कार की सृष्टि कर दी है। उत्तररामचरित का यह श्लोक द्रष्टव्य है जिसके प्रथम दो चरणों में वैदर्भी तथा अन्तिम दो चरणों में गौड़ी रीति का सन्निवेश सुन्दरतया किया गया है—

यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदनी
तथैवास्मिन् दृष्टिर्मम कलहकामः पुनरयम्।
रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनु
र्धृतप्रेमा बाहुर्विकचविकरालव्रणमुखः॥ (5/26)

अलंकार—भवभूति ने अपने नाट्यों में अलंकारो का प्रयोग नितान्त कुशल कलाकार के सदृश किया है। अलंकार-प्रयोग से कहीं भी नाट्यगत काव्यसुषमा एवं सहज शोभा क्लिष्ट नहीं हुई, अपितु वस्तुतः ही अलंकार भवभूति के नाट्यों मे शोभाधायक तत्त्व बन गए। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, स्वभावोक्ति, अनुप्रास, सन्देह, दीपक आदि सभी प्रचलित एवं प्रमुख अलंकारों का भवभूति ने यथौचित्य प्रयोग किया है। अश्वमेध यज्ञ के अश्व के सहज एवं सरल वर्णन में स्वभावोक्ति अलंकार का सौन्दर्य द्रष्टव्य है—

पश्चात् पुच्छं वहति विपुलं तच्च धुनोत्यजस्त्रं
दीर्घग्रीवःस भवति खुरास्तस्य चत्वार एव।
शष्पाण्यत्ति प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान्
किं व्याख्यानैव्रजति पुनर्दूरमेह्येहि यामः॥ (उत्तररामचरित 4/26)

छन्द—भवभूति ने अपने नाट्यों में विषयानुकूल सभी सरस एवं रोचक छन्दों का प्रयोग किया है। उनके नाट्यों में सबसे अधिक संख्या अनुष्टुप् छन्द की है। तदुपरान्त उन्होंने सर्वाधिक प्रयोग शिखरिणी छन्द का किया। करुण, वीर एवं शृंगार रस के लिए शिखरिणी छन्द अधिक उपयुक्त माना जाता है। क्षेमेन्द्र ने भवभूति के शिखरिणी प्रयोग की उचित ही प्रशंसा की है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरंगिणी।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति॥ (सुवृत्ततिलक 3/33)

भवभूति के नाटकों में भाषा का प्रौढत्व, अर्थ गौरव तथा व्यंजनाप्रणाली का औदार्य-सब मिल कर उनकी विदग्धता का भली प्रकार परिचय देते है। भवभूति अपूर्व शब्दशिल्पी और विलक्षण रसोन्मेषकारी, प्रतिभासम्पन्न कवि हैं। उनके नाटकों में मानव हदय का सच्चा प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। कतिपय समालोचक भवभूति में नाट्यशास्त्र की परम्पराओं के उल्लंघन, अभिनेयता की न्यूनता तथा वर्णनों का आधिक्य आदि दोषों की उद्भावना करते है। किन्तु यह दोषदर्शन अनुचित है। भवभूति के वर्णनों में कवित्व का जो उत्कर्ष है; नाटकीय कल्पनाओं में सहृदयों को मुग्ध कर लेने का जो चमत्कार है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है।

उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते—उत्कृष्ट नाटकार भवभूति के सम्बन्ध में प्रस्तुत उक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध रही है। वस्तुत: ही राम के उत्तर चरित को प्रस्तुत करने में भवभूति का क्या कोई वैशिष्ट्य रहा या नहीं—इस को विवेचित कर लेना प्रसंगोपात्त ही है। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से वस्तु, नेता एवं रस—ये तीन नाट्य तत्त्व ही किसी भी नाट्य की विवेचना का मूल आधार बनते है। इनमें से एक-एक तत्त्व की विवेचना उत्तररामचरित नाटक के अनुसार करने पर यह स्वत: स्पष्ट होता जाएगा कि भवभूति ने किस अंश में परम्परा का निर्वाह किया और कितने अंश में क्रान्तदर्शी कवि के अधिकार का भोग किया।

कथावस्तु—उत्तररामचरित एक नाटक है और नाटक में मुख्य कथा प्रख्यात होनी चाहिए; इस नियम को ध्यान में रखकर भवभूति ने अपने नाटक में रामकथा को ग्रहण किया, किन्तु साथ ही अपनी उर्वर कल्पना से उस मुख्य कथा को समग्रतया आमूलचूल परिवर्तित कर दिया। एक तरफ से देखें तो भवभूति के नाटक में राम-सीता पात्र हैं, जनापवाद के कारण सीता का निष्ठुर निर्वासन है और बस; इसके अतिरिक्त सारी ही कथा कवि की कल्पना का चमत्कार है। भवभूति को रामकथा की परम्परा अपने से पूर्व मुख्यतया दो कवियों से प्राप्त हुई थी-एक वाल्मीकि और दूसरे कालिदास। इसमें भी कालिदास ने उस कथा में न कुछ घटाया और न ही बढ़ाया। किन्तु भवभूति के नाटक में कथा के विभिन्न परिर्वतनों के संकेत प्रस्तावना से ही प्राप्त होने लगते है।

प्रस्तावना में सूत्रधार और नट के पारस्परिक वार्तालाप से यह ज्ञात होता है कि ऋष्यश्रृंग के दीर्घ यज्ञ में भाग लेने के लिए के लिए गुरु वसिष्ठ, अरुन्धती एवं राम की सारी माताएँ चली गई हैं और राजधानी में भाईयों सहित राम सीता हैं। साथ ही नट के कथन से यह भी ज्ञात हो जाता है कि सीता का 'परगृहवासदूषण' सम्पूर्ण प्रजा में फैल चुका है। वाल्मीकि रामायण में गुरुजनों के अयोध्या से अन्यत्र चले जाने का कथन नहीं है भवभूति ने इस परिवर्तन के द्वारा सीता निर्वासन की घटना को अधिक प्रशस्त कर दिया है। केवल राम पर ही निर्णय का सारा भार छोड़ दिया है।

प्रथम अंक—की कथा में वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा अनेक परिवर्तन हैं—

1. अष्टावक्र मुनि का आगमन एवं राजधर्म पालन का सन्देश देना नवीन अंश है। भवभूति ने इसके द्वारा राम के चरित्र में लोकाराधन की दृढ़ता को अभिव्यंजित किया है।

2. चित्रवीथी का सम्पूर्ण प्रसंग भवभूति की रसपेशल कल्पना का अपूर्व संसार है जिसके द्वारा कवि ने अनेक प्रयोजन सिद्ध कर दिये हैं। पूर्वानुभूत आचरणों के स्मरण से

(क) राम-सीता के पारस्परिक प्रणय की गहनता तथा वियोग व्यथा की तीव्रता सूचित हुई है।

(ख) भविष्यत्संतति को पिता राम के द्वारा जृम्भकास्त्र का दान किया गया।

(ग) देवी गंगा से निरन्तर सीता के कल्याण की प्रार्थना की गई।

(घ) आगामी करुण की पीठिका प्रस्तुत हो गई।

(ङ) पूर्व विरह के स्मरण मात्र में राम की व्याकुल मनस्थिति का स्वरूप दिखाकर आगामी शोक में राम की करुण स्थिति की एक झलक प्रस्तुत कर दी गई।

3. श्रान्त सीता के द्वारा राम के उरस्थल पर ही सो जाने के अंश से भवभूति ने दाम्पत्य प्रणय का सुन्दर कथन राम के मुख से करा दिया है।(श्लोक 1/39)

4. जनापवाद की सूचना देकर दुर्मुख के चले जाने के पश्चात् व्याकुल राम के उद्गारों मे सीता के चरित्र की शुद्धता पर निष्कपट विश्वास बता कर सीता को तीर्थ के सदृश पवित्र घोषित कर दिया गया (1/43)। वाल्मीकि रामायण के राम में सीता की शुद्धता के प्रति ऐसा निष्कपट विश्वास दृष्टिगोचर नहीं होता।

5. लवणासुर के आतंक का शमन करने के लिए शत्रुघ्न के भेजे जाने का कथांश रामायण के सदृश है किन्तु भवभूति ने उसमें भी विलक्षणता उत्पन्न कर दी है। उन्होंने प्रथम अंक का यह छूटा हुआ सूत्र नाटक के अन्त में शत्रुघ्नविजय के रूप में पुन: ग्रहण किया है। यह कथा परिवर्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वाल्मीकि रामायण में लवण विजय के लिए सेनाएँ एक मास पूर्व चली जाती हैं और सेनापति शत्रुघ्न अकेले ही बाद में जाते हैं। मार्ग में वे वाल्मीकि के आश्रम में रात भर रुकते हैं। उसी रात सीता के युगलपुत्रों का जन्म होता है। शत्रुघ्न भी यह शुभ संवाद सुनते हैं और अपनी भाभी सीता से मिलते भी हैं। किन्तु लवणविजय करके अयोध्या लौटने के बाद भी राम को उनकी पत्नी व पुत्रों के सम्बन्ध में कुछ नहीं बताते। यों भी ऋषियों, संन्यासियों, प्रजाजनों का आना जाना विभिन्न तपोवनों एवं आश्रमों में होता ही रहता था किन्तु किसी को बारह वर्षों तक यह पता नहीं चलता कि सीता वाल्मीकि आश्रम में हैं और उनके दो पुत्र हुए हैं। रामायण का यह सारा प्रसंग अस्वाभाविक एवं परस्पर असंगत सा प्रतीत होता है। भवभूति ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक इस समस्त असंगति का परिहार कर दिया है।

द्वितीय अंक—इसके प्रारम्भ में भवभूति ने आत्रेयी-वासन्ती संवाद के रूप में विष्कम्भक प्रस्तुत किया है। इस मौलिकता के द्वारा उन्होंने प्रथम एवं द्वितीय अंक के मध्य बारह वर्षों के सुदीर्घ अन्तराल को समाप्त कर दिया है तथा अतीत एवं भविष्यत् अनेक कथांशों का आभास भी दे दिया है। इस अंक में शम्बूक का वध एवं राम का अगस्त्याश्रम में जाना तो रामायण कथा के अनुसार है; किन्तु शम्बूक के द्वारा जनस्थान, पंचवटी स्थल का अभिज्ञान कराए जाने पर राम के हृद्गत सीता विषयक शोक का उद्भेद भवभूति की कल्पना है। रामायण में अगस्त्य मुनि राम को दण्डकवन का इतिहास भी

सुनाते है, पर उस समय राम के हृदय में प्रिया सीता की स्मृति का तनिक सा भी उन्मेष न होना अस्वाभाविक ही लगता है। भवभूति ने इस अस्वाभाविकता को दूर कर दिया।

तृतीय अंक—यह अंक उत्तररामचरित नाटक का प्राणभूत है। कल्पना की उर्वरता, भावोन्मेष का चरम परिपाक, नाटकीय संयोजन एवं नाट्यशिल्प-सभी दृष्टियों से यह अंक अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। पाश्चात्य आलोचकों ने यह आक्षेप लगाया है कि तृतीय अंक में रामकथा तनिक भी आगे नहीं बढ़ी है। इस दृष्टि से तो केवल तृतीय अंक ही क्या, छठे अंक के मध्य तक रामकथा तनिक भी अग्रसर नहीं हो सकी है। छठे अंक के अंत में भवभूति कथागति की ओर अग्रसर होते हैं। अत: पाश्चात्य आलोचकों ने भारतीय नाट्य की आत्मा को जाने बिना ही भवभूति पर जो आक्षेप किया था वह निरर्थक एवं असंगत है।

भवभूति ने अपनी कल्पना के द्वारा तृतीय अंक में राम कथा का जो स्वरूप दिया है, उससे अनेक प्रयोजन सिद्ध हो गए हैं।

1. प्रिया सीता के निर्वासन के कारण राम ने अपने हृदय में शोक के जिस दावानल को सबसे छुपा कर रखा था, जिसके कारण वे प्रतिक्षण क्षीण हो रहे थे—वह शोक इस अंक में प्रलाप एवं मूर्च्छा के द्वारा अभिव्यक्त हो गया है। अत: राम का चरित्र अधिक सहज और मानवीय लगने लगता है तथा दर्शक की राम से समानुभूति होती है।

2. छाया के रूप में उपस्थित सीता अपने पति राम की करुण दशा को साक्षात् देखती हैं और उनके मन से निष्कारण परित्याग का शल्य दूर हो जाता हैं—

'उत्खातितमिदानीं मे परित्यागशल्यमार्यपुत्रेण।' रामायण में सीता के मन मे राम के प्रेम एवं निष्कपट विश्वास का प्रत्यय नहीं था, इसी कारण सीता को निर्वासन-शल्य-विद्ध हृदय से ही पृथिवी में समाना पड़ा। किन्तु भवभूति ने सीता के मन मे राम के प्रेम और विश्वास को प्रतिष्ठित किया।

3. तृतीय अंक में ही नाटक के सुखान्त होने की भूमिका बँध पाई।

4. इसी अंक में राम और सीता के पारस्परिक प्रगाढ़ एवं अलौकिक अनुराग का प्रगटीकरण हुआ। ऐसे प्रणय का समापन तो कल्याणमय होना ही चाहिए अन्यथा सृष्टि की लय ही नष्ट हो जाएगी।

5. तृतीय अंक में ही करुण रस का चरमोत्कर्ष प्राप्त होता है।

चतुर्थ एवं पंचम अंक—इन दो अंकों में वाल्मीकि आश्रम में वसिष्ठ, राममाताओं, जनक, लव आदि की सम्मिलन योजना एवं लव चन्द्रकेतु युद्ध आदि सभी घटनाएँ कल्पना प्रसूत अंश हैं। इन नूतन कथांशों की पृष्ठभूमि में अनेक प्रयोजन दृष्टिगोचर होते हैं—

1. राम एवं सीता के अतिरिक्त अन्य पात्रों के आचरणों से करुणोन्मेष कराना एक प्रयोजन जान पड़ता है। पुत्री का स्मरण करके शोक दग्ध जनक का कथन(4/3-5), वधू सीता के लिए व्याकुल कौशल्या (एहि में पुनरपि जाते ! उद्योतयोत्संगम्), राजपरिवार के शोक से व्यथित कंचुकी (4/15), सर्वत्र ही शोक एवं करुण की संवेदना जागृत करने में भवभूति सफल हुए हैं।

2. अरुन्धती जैसी अग्रपूज्या पतिव्रता के द्वारा सीता के पातिव्रत्य की साक्षी भी इन्हीं अंकों में है—'अभिरिति वत्सां प्रति लघून्यक्षराणि। सीतेत्येव पर्याप्तम'

3. रंगमंच पर लव के प्रवेश एवं वार्तालाप के द्वारा प्रप्त्याशा नामक अवस्था सिद्ध हुई है क्योंकि जनक और कौशल्या के मन में आशा का संचार होता है।

4. एक ही वंश के परस्पर अज्ञात दो बालकों—लव और चन्द्रकेतु—के पास्परिक युद्ध में वीर और रौद्र रसों के साहाय्य से करुण रस को पुष्ट किया गया है।

षष्ठ अंक—इसमें बालकों के वीरतापूर्ण युद्ध से दर्शक के करुणरस की ही पुष्टि होती है, तथा लव एवं कुश की आकृति, वीरता, दिव्यास्त्रज्ञान आदि के द्वारा राम के मन में आशानिबन्धन भी होता है और करुण भी पुनः-पुनः निष्पन्न होता है।

सप्तम अंक—उत्तररामचरित का सप्तम अंक पुन: भवभूति की नाट्यकला की उद्घोषणा करता जान पड़ता है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार लव और कुश राम की राजसभा में रामायण का गान करते हैं। विस्मित राजसभा एवं स्वयं राम भी वाल्मीकि से बालकों के सम्बन्ध में पूछते हैं। वाल्मीकि राम को बताते हैं कि वे दोनों सीता से उत्पन्न राम के ही पुत्र हैं, और राम से आग्रह करते हैं कि राम पतिव्रता सीता को पुन: स्वीकार करें। राम कहते हैं कि यदि सीता राजसभा में आकर पातिव्रत्य का प्रमाण दें तो वे सीता को ग्रहण कर लेंगे। अगले दिन सीता राजसभा मे आती हैं और पतिव्रत की शपथपूर्वक पृथिवी में समा जाती हैं। भवभूति के उत्तररामचरित में यह सारा कथांश नहीं है। वाल्मीकि के राम ने सीता को राजसभा में बुलाकर अपने पतिव्रत की घोषणा करने का आग्रह करके सीता का तो चरम अपमान किया ही, पुरुष हृदय की निष्ठुर क्रूरता का भी परिचय दिया। भवभूति के चरित नायक ऐसे नहीं है। भवभूति ने सप्तम अंक में एक सुन्दर गर्भांक की योजना की है जिसका संकेत वे चतुर्थ अंक में ही लव के वार्तालाप में कर देते है। इस गर्भांक के द्वारा ही विभिन्न अंकों में छूटे हुए सारे कथासूत्र एकत्र होते हैं। अरुन्धती के द्वारा समस्त जनसमूह की प्रतारणापूर्वक सीता के विशुद्ध पातिव्रत्य की स्वीकृति से वाल्मीकि के राम की निष्ठुरता भी समाप्त हो जाती है। इसी कारण राम सीता के मिलन पूर्वक नाटक सुखान्त रूप में समाप्त हो जाता है। कैसा आश्चर्य है कि भारत एवं भारत से बाहर भी प्रचलित रामायण की कथा को आद्यन्त परिवर्तित कर देने वाले भवभूति का उत्तररामचरित नाटक कहीं भी असहज नहीं प्रतीत होता। सारी कथा नितान्त सहज और स्वाभाविक ही लगती है।

इन विभिन्न परिवर्तनों से सम्पन्न उत्तररामचरित की कथाविन्यास में वस्तुतः ही भवभूति विशिष्ट सिद्ध होते हैं।

नेता—नाटक में नायक धीरोदात्त कोटि का होना चाहिए और धीरोदात्त नायक अत्यन्त गम्भीर स्वभाव एवं शोक, क्रोध से अनभिभूत अन्तःकरण होता है। उत्तररामचरित नाटक के नायक राम मे उपर्युक्त दोनों गुण पद पद पर स्खलित होते दीखते हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, षष्ठ, सप्तम सभी अंकों में राम प्रलाप करते, मूर्च्छित होते और प्रियाविरह में रुदन करते दृष्टिगोचर होते है। फिर भी क्रूरता की सीमा तक कर्तव्यनिष्ठ राम सर्वोत्तम कोटि के धीरोदात्त नायक ही है। अन्य किसी कोटि में उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

नायक का आचरण ही वृत्ति कहलाता है। धीरोदात्त राम की वृत्ति सात्वती वृत्ति है। सात्त्वती वृत्ति शोकरहित होनी चाहिए। किन्तु भवभूति ने शोक के चरमोत्कर्ष होने पर भी वृत्ति सात्वती ही बनी रहने दी। इस प्रकार नेता एवं वृत्ति की दृष्टि से भी राम के उत्तरचरित में भवभूति विशिष्टतम है।

रस—नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से नाटक का अंगी रस शृंगार अथवा वीर होना चाहिए। भवभूति ने अपने प्रस्तुत नाट्य में इस नियम का भी उल्लंघन करके करुण को अंगीरस रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।(रस सम्बन्धी विवेचन पहले विस्तृत रूप में किया जा चुका है, अतः पुनरावृत्ति अनावश्यक है)

एक तरह से देखें तो उत्तररामचरित नाटक में सीता की व्यथा कथा, निराकरण निर्वासन रूपी शल्योद्धरण एवं राम से पुनर्मिलन होने के कारण यह सीता चरित कहलाने के अधिक योग्य है; अन्यथा राम के जीवन के उत्तर चरित का विशिष्ट परिष्कार तो है ही। इसलिए 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते'—यह उक्ति सर्वथा सार्थक एवं प्रामाणिक है।

भास से प्रारम्भ करके भवभूति तक निरन्तर ही नाट्यकला का परिष्कार एवं विकास होता रहा। आठवीं शती में आलंकारिकों ने काव्यशास्त्र की विभिन्न स्थापनाएँ खण्डन-सिद्धान्त आदि उपस्थित करने प्रारम्भ किए और सम्भवतः उसी के फलस्वरूप नाट्य के क्षेत्र में भी कवित्व का महत्त्व बढ़ने लगा। नाटककार अपने रूपकों में विस्तृत वर्णनों के द्वारा कवित्व की रमणीयता एवं अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन अधिक करने लगे। भट्नारायण एवं भवभूति में भी यह प्रवृत्ति न्यूनाधिक्य रूप में प्राप्त होती है। कवित्व की इस स्थापना के आग्रह से नाट्य की अनिवार्य मर्यादा-अभिनेयता पर सर्वाधिक दुष्प्रभाव पड़ा। चरम सार्थकता अभिनेय होने के कारण ही थी। किन्तु शनैःशनैः परवर्ती युग के नाट्य दृश्य की अपेक्षा पाठ्य अथवा श्रव्य अधिक होने लगे। फिर भी समय-समय पर सहृदय नाट्यकार जिन सुन्दर नाट्यों की रचना करते ही रहे हैं, उन रचनाओं का संक्षिप्त परिचय भी अपेक्षित ही है।

दामोदर मिश्र

दामोदर मिश्र ने हनुमन्नाटक की रचना की अथवा संकलन किया। आनन्दवर्धन (850 ईस्वी) के ध्वन्यालोक में इस नाटक के उद्धरण दिए जाने के कारण इसका समय आठवी शती होना चाहिए।

इस नाटक के दो पाठ प्राप्त होते हैं।—**हनुमन्नाटक**—इसमें चौदह अंक हैं तथा 548 पद्य हैं। इसके अन्तिम पद्य में लेखक का नाम एवं संकलनकर्त्ता का नाम दामोदर मिश्र दिया गया है।[83] दूसरा पाठ **महानाटक** नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें नौ अंक एवं 720

83. हनुमन्नाटक 9/96— रचितमनिलपुत्रेणाथ वाल्मीकिनाब्धौ
निहितममृतबुद्ध्या प्राग् महानाटकं यत्।
सुमतिनृपतिभोजेनोद्धृतं तत् क्रमेण
ग्रथितमवतु विश्वं मिश्रदामोदरेण॥
इति श्री पवनतनयविरचितमिश्रदामोदरसंगृहीतहनुमन्नाटके श्रीरामविजयो नाम चतुर्दशोऽङ्कः समाप्तः।

पद्य हैं। इसमें भी लेखक का नाम हनुमान् ही है पर संकलन कर्ता मधुसूदन मिश्र हैं। संस्कृत का सबसे बड़ा नाटक होने के कारण इसका महानाटक नाम सार्थक ही है। महानाटक में अन्य अनेक ग्रन्थों के श्लोक भी संग्रहीत करदिए गए हैं।

इस नाटक में रामायण की सम्पूर्ण कथावस्तु ग्रहण कर ली गई है। पद्यबहुल इस नाटक में गद्यांश अत्यन्त स्वल्प हैं। कथोपकथन भी विस्तृत श्लोकों में ही प्राप्त होते हैं। प्राकृत भाषा का नितान्त अभाव है। नाटकीय अंशों की न्यूनता के कारण यह दृश्य काव्य की अपेक्षा वर्ण्य काव्य ही अधिक जान पड़ता हैं।

अनंगहर्ष

अनंगहर्ष ने 'तापसवत्सराज' नामक नाटक की रचना की है। इनका अपर नाम मातृराज था। अष्टम शती से परवर्ती सभी प्रसिद्ध आलंकारिकों मम्मट, कुन्तक, भोज, अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन आदि ने इस नाटक के उद्धरण भी दिए हैं और इसके कथानक का समीक्षण भी किया है। अनंगहर्ष ने यद्यपि अपने स्थितिकाल का किसी रूप में उल्लेख नहीं किया तथापि इनके समय निर्धारण में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। आनन्दवर्धन (850 ई.) अनंगहर्ष का एक श्लोक उद्‌धृत करते हैं और अनंगहर्ष ने भवभूति (आठवीं शती पूर्वार्ध) के मालतीमाधव प्रकरण की कामन्दकी के अनुसरण पर ही अपने नाटक में एक बौद्ध भिक्षुणी सांकृत्यायनी की सृष्टि की है। अत: भवभूति और आनन्दवर्धन के मध्य में अनंगहर्ष का समय अष्टम शती का उत्तरार्ध निश्चित होता है।

इस नाटक का कथानक उदयन कथा से सम्बद्ध है। वासवदत्ता के जल जाने के समाचार से शोकविह्वल उदयन तापस बन कर आत्महत्या के लिए तत्पर होता है। किन्तु मन्त्रियों की विभिन्न युक्तियों के कारण उदयन की प्राणरक्षा, वासवदत्ता से मिलन तथा मगधराजपुत्री पद्मावती से विवाह आदि घटनाओं से नाटक परिपूर्ण है। भावाभिव्यंजना एवं काव्यदृष्टि से यह नाटक सुन्दर है। भाषा सरल तथा अलंकृत है।

अनंगहर्ष-मातृराज-का ही मूल नाम मायुराज स्वीकार किया गया है।[84] जिसकी राजशेखर ने परम प्रशंसा की है।[85] मायुराज और अनंगहर्ष को एक व्यक्ति स्वीकार करने पर इनकी दूसरी नाट्यकृति 'उदात्तराघव' है। तापसवत्सजराज के सदृश ही 'उदात्तराघव' नाटक भी बहुचर्चित एवं बहुप्रशंसित रहा। नाटक के नाम के अनुसार ही इसमें वाल्मीकि रामायण की कुछ घटनाओं को इस प्रकार परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे राम का चरित्र और भी उदात्त रूप में ग्रहण किया जा सके।

---

84. उपाध्याय, बलदेव—संस्कृत साहित्य का इतिहास—पृष्ठ 554
85. मायुराज समा जज्ञे नान्य: कलचुरि: कवि:।
उदन्वत: समुत्तस्थु: कति वा तुहिनांशव:॥

मुरारि

इनकी एकमात्र रचना अनर्घराघव प्राप्त होती है। इनके पिता श्री वर्धमानक तथा माता तन्तुमती देवी थीं। ये मौद्गल्य गोत्र में उत्पन्न हुए थे।[86] इनका समय भी निश्चित ही है। रत्नाकर (850 ई.) ने अपने महाकाव्य हरविजय में मुरारि का स्पष्ट संकेत किया है। तथा स्वयं मुरारि ने भवभूति (आठवीं शती पूर्वार्ध) के उत्तररामचरित के दो श्लोकों को अपनी कृति में ग्रहण किया है। अत: मुरारि का स्थिति काल आठवी शती का उत्तरार्ध है।

रामायण के आधार पर लिखे गए नाटकों में मुरारि का अनर्घराव पण्डित समाज में विशेष प्रसिद्ध रहा है। इसमें सात अंक हैं जिनमे ताड़कावध से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की कथा है। कथानक के विकास में अनेक स्थलों पर भवभूति के महावीरचरित नाटक का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। किन्तु मुरारि ने अनेक रोचक परिवर्तनों भी किए हैं। महावीर चरित के राम उत्तेजित होकर परशुराम को कटु उत्तर भी दे बैठते हैं, किन्तु अनर्घराघव के राम परशुराम के सम्मुख विनम्र ही बने रहते हैं। इसी प्रकार इस नाटक में नायक राम को छिपकर बालि का वध करते हुए प्रस्तुत नहीं किया। उत्तेजित बालि स्वयं ही युद्ध में राम को चुनौती देता है जिससे दोनों में युद्ध होता है और उस युद्ध में बालि मारा जाता है। मुरारी ने रामकथा में इस मौलिक परिवर्तन के द्वारा राम के चरित्र को और महनीय बना दिया है।

'अनर्घराघव' नाटक की प्रस्तावना में मुरारि ने गर्वोक्ति की थी कि ''भयानक, वीभत्स तथा रौद्र रस से उद्विग्न दर्शकों को वीर तथा अद्भुत रस सम्पन्न नाटक प्रदान कर रहा हूँ''[87] किन्तु मुरारि की यह गर्वोक्ति उनके नाटक में सफल दृष्टिगोचर नहीं होती। मुरारि का शब्द भण्डार विशाल है, पदशय्या गम्भीर एवं प्रौढ़ है, व्याकरण का ज्ञान उच्चकोटिक है तथा कवित्व भी रमणीय है; किन्तु सम्पूर्ण नाटक में नाटकीयता का ही अभाव है। अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन एवं वर्णन प्रियता के उत्साह में मुरारि ने इस नाटक के कथाप्रवाह को ही स्थल स्थल अवरुद्ध नहीं किया अपितु उसे बोझिल भी बना दिया। प्रथम अंक में दशरथ-विश्वामित्र संवाद, द्वितीय अंक में प्रभात, आश्रम, सन्ध्या तथा चन्द्रोदय वर्णन एवं सप्तम अंक में विमान यात्रा-वर्णन आदि ऐसे ही अनावश्यक प्रसंग हैं। 'अनर्घराघव' के अंकों में श्लोक बाहुल्य एवं दीर्घता भी इसके नाटकीय प्रभाव को क्षुण्ण कर देती है। अत: यह ग्रन्थ नाटक कि अपेक्षा काव्य अधिक जान पड़ता है।

परवर्ती कवियों ने अपनी अपनी मति के अनुसार मुरारि की अत्यन्त प्रशंसा की। एक ने मुरारि को भवभूति से भी श्रेष्ठ माना—

---

86. अस्ति मौद्गल्यगोत्रसम्भवस्य महाकवेर्भट्ट श्रीवर्धमानतनूजन्मनस्तन्तुमतीनन्दनस्य मुरारेः कृतिरभिनवमनर्घराघवं नाम नाटकम्।

87. अनर्घराघव—1/16

मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररी कुरु॥

तो किसी अन्य ने मुरारि ग्रन्थ को भली प्रकार समझने के लिए माघ का प्रारम्भिक ज्ञान आवश्यक घोषित किया—

मुरारिपदचिन्ताचेत्तदा माघे रतिं कुरु।
मुरारिपदचिन्ताचेत् तदा माऽघे रतिं कुरु॥

शक्तिभद्र

शक्तिभद्र रचित 'आश्चर्यचूड़ामणि' नाटक संस्कृत साहित्य का एक अत्यन्त समुज्ज्वल रत्न है जिसने अपने रचयिता को संस्कृत नाटककारों में विशिष्ट स्थान अर्जित कराया। ये केरल देश के कवि थे तथा मालाबार प्रान्त की जनश्रुति के अनुसार आद्य शंकराचार्य (788-820 ई.) के शिष्य थे अतः इनका समय नवम शती माना जाता है। एक अन्य साक्ष्य के आधार पर भी शक्तिभद्र का यही स्थिति काल निश्चित होता है। दसवीं शती मे केरल के राजा कुलशेखर वर्मा हुए जिन्होंने 'तपती संवरण' एवं 'सुभद्रा धनंजय' नामक दो संस्कृत नाटकों की रचना की तथा केरल के रंगमंच को संस्कृत नाट्यशास्त्र की दृष्टि से नवीन रूप दिया। आश्चर्यचूडामणि को दक्षिण देश का सर्वप्रथम नाटक कहा गया है जो मानों आकाश कुसुमवत् है।[88] आश्चर्य चूड़ामणि दक्षिण का सर्वप्रथम संस्कृत नाटक तभी माना जा सकता है जब शक्तिभद्र का समय कुलशेखर वर्मा से पूर्व हो, अतः इन दोनों प्रमाणों के आधार पर शक्ति भद्र की स्थिति नवम शती ईस्वी ही समीचीन ठहरता है।

इस नाटक में सात अंक हैं जिनमें राम के वनवासकाल में शूर्पनखा प्रसंग से लेकर रावणवध, सीता की अग्नि परीक्षा तथा अयोध्या प्रत्यावर्तन तक की कथावस्तु अनेक आश्चर्यजनक चमत्कारों सहित वर्णित है। रावण के द्वारा सीता के बलपूर्वक अपहरण की घटना को शक्तिभद्र ने विचित्र रूप से परिवर्तित करके नाटक में रोचकता और विचित्रता का सम्मिश्रण कर दिया है। नाटककार ने अपने नाटक का नाम भी कथा की मुख्य घटना के आधार पर रखा है जब अनुसूया प्रदत्त चूड़ामणि की विशिष्ट शक्ति के कारण उसके स्पर्श मात्र से रावण के (रामरूपी) कपट वेष का भेद खुल जाता है।

कतिपय अलोचकों ने रामकथा को आधार बना कर लिखे गए नाटकों में 'आश्चर्यचूडामणि' का स्थान भवभूति के 'उत्तररामचरित' के बाद ही माना है। फल संयोजन की दृष्टि से अनेक विज्ञ जन इस नाटक का मुख्य रस वीर रस मानते हैं। किन्तु आरम्भ से अन्त तक विस्मय का परिपोष होने के कारण इसका मुख्य रस अद्‌भत ही माना

---

88. (अ) आश्चर्यचूड़ामणि—प्रस्तावना—

सूत्रधार—आर्ये! दक्षिणपथादगमनमाश्चर्यचूडामणि नाम नाटकमभिनयाम्रेडित सौभाग्यमभिलषाम इत्यार्यमिश्राणां शासनम्।

नटी—आर्य। अत्याहितं खल्वेतत् आकाशं प्रसूते पुष्पम्, सिकताः तैलमुत्पादयन्ति यदि दक्षिणदिशस्याः आगतं नाटकनिबन्धनम्।

जाना चहिए और यही इसकी चरम विशिष्टता है। नाटककार ने इसके सातों अंकों में निरन्तर ही आश्चर्यप्रधान घटनाओं की अत्यन्त रागप्रधान परम्परा ही प्रस्तुत कर दी है, जिनके कारण प्रेक्षक का एकाग्र मन सदैव ही उत्सुकतापूर्ण रहता है। समग्र कथा के विकास में अद्भुत रस ही मुख्य प्रेरक शक्ति है। शक्तिभद्र की शैली सरल, मधुर तथा प्रसादगुणयुक्त वैदर्भी रीति है। न ही कहीं दीर्घ समास अथवा विकटबन्ध है और न ही पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण शब्दों का आडम्बर। छन्द वैविध्य आकर्षक एवं दर्शनीय है। आकार में लघु एवं पात्र संख्या न्यून होने के कारण भी इसका मंचन करना अधिक सरल है। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री ने इस नाटक को 'उत्तररामचरित' नाटक के बाद सर्वोत्कृष्ट राम-नाटक उद्घोषित किया है।

राजशेखर

संस्कृत साहित्य में राजशेखर अपनी विद्वत्ता एवं विविध ग्रन्थ रचना के कारण प्रसिद्ध रहे हैं। पूर्ववर्ती लगभग सभी मुख्य कवियों का उल्लेख इन्होंने अवश्य किया है, अत: प्रत्येक कवि का समय निर्धारण करने में भी राजशेखर को अवश्य स्मरण करना पड़ता है।

अपने नाटकों की प्रस्तावना में राजशेखर ने अपना जीवन विस्तारपूर्वक दिया है। ये महाराष्ट्र की यायावर नामक क्षत्रिय जाति मे उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम दर्दुक तथा माता का नाम शीलवती था। इनके वंश में अनेक यशस्वी कवि हुए थे। राजशेखर की पत्नी चौहानवंशीय अवन्तिसुन्दरी थी। अवन्तिसुन्दरी स्वयं भी संस्कृत भाषा एवं प्राकृत भाषा की परम विदुषी थीं।धन और यश प्राप्ति के लिए राजशेखर कान्यकुब्ज चले गये और प्रतिहारवंशी राजा महेन्द्रपाल के गुरु रूप में समादृत हुए। महेन्द्रपाल का समय शिलालेखों में 903-4 ईस्वी तथा 907-8 ईस्वी निर्दिष्ट है अत: राजशेखर का समय 900 ईस्वी सुनिश्चित है।

अपने नाटक बालरामायण में राजशेखर ने स्वयं को छ: कृतियों का रचयिता कहा है।[89] इनमें से चार—बालरामायण, बालभारत या प्रचण्डपाण्डव, कर्पूरमंजरी तथा विद्धशालभंजिका—रूपक हैं। काव्यमीमांसा अलंकार शास्त्र है। हेमचन्द्र के अनुसार राजशेखर की छठी रचना हरविलास नामक महाकाव्य है। इन छ: कृतियो के अतिरिक्त भी सूक्तिग्रन्थों में अनेक पद्य राजशेखर के नाम से उपलब्ध होते हैं।

कर्पूरमंजरी सट्टक (प्राकृत भाषा में उपनिबद्ध नाटिका) है। यह नृत्यप्रधान है जिसमें राजकुमार चन्द्रपाल तथा कुन्तलदेश की राजकुमारी कर्पूरमंजरी की प्रणयकथा वर्णित है। इस सट्टक पर मालविकाग्निमित्र तथा रत्नावली का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। नाट्यकला की अपेक्षा अन्य विशेषताओं के कारण यह सट्टक महत्त्वपूर्ण है। इसी में रंगमंच के परदे के अर्थ में जवनिका शब्द का प्रथम प्रयोग हुआ है।

विद्धशालभंजिका चार अंकों की नाटिका है जिसमें लाट देश के राजा चन्द्रवर्मा की

---

89. बाल रामायण 1/12-.........विद्धि न: षट्प्रबन्धान्

पुत्री मृगांकवती तथा राजा विद्याधर के गुप्त विवाह की कथावस्तु हैं। इसका कथानक अन्तःपुर के प्रणय सम्बन्धों पर आधृत होने पर भी रोचकतापूर्ण है।

बालभारत अथवा प्रचण्डपाण्डव के केवल दो ही अंक उपलब्ध होते है। जिनमें द्रौपदी स्वयंवर, द्यूतक्रीड़ा तथा द्रौपदी वस्त्रापकर्षण तक की कथावस्तु है।

बाल रामायण रामायण के कथानक पर आश्रित दस अंकों का महानाटक है। राजशेखर ने प्रसिद्ध रामकथा में कतिपय परिवर्तन तो नाटकीय दृष्टि से अवश्य किए, किन्तु उनसे विश्वविख्यात पराक्रमी रावण का चरित्र अत्यन्त दीन एवं पौरुषहीन बन गया। राजशेखर ने कथावस्तु का अनावश्यक विस्तार करके राम की अपेक्षा रावण से सम्बद्ध घटनाओं का अधिक वर्णन किया। सुदीर्घ वर्णनों एवं विशालकाय छन्दों के अत्यधिक प्रयोग के कारण यह नाटक न रहकर महाकाव्य का सा आभास देता है। इस नाटक में स्रग्धरा तथा शार्दूलविक्रीडित छन्दबद्ध 741 पद्य हैं।

राजशेखर ने स्वयं को वाल्मीकि आदि का समकोटिक कवि घोषित किया है—

वभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

(*बाल रामायण 1/16*)

किन्तु नाट्यकला कौशल की दृष्टि से राजशेखर सफल नहीं हो सके हैं। वस्तुतः राजशेखर की प्रतिभा एवं पाण्डित्य नाट्य की अपेक्षा काव्य प्रणयन के लिऐ अधिक उपादेय थे। उनके नाटकों में सूक्ष्म चरित्रचित्रण, कथानक सौष्ठव, रोचक घटनाओं, समानुपातिक वर्णनों, गतिशीलता तथा हास्यरस की कमी स्पष्टतया खटकती है। राजशेखर स्वयं भी अपनी इस त्रुटि से सर्वथा परिचित थे। सम्भवतः इसीलिए वे 'नाट्यगुण' की अपेक्षा 'भणितिगुण' की प्रशंसा करते हूए कहते हैं। कि 'जो मेरे बालरामायण में महान् दोष कहते हैं, उन्हीं से पूछना चाहिए कि उसमें भणितिगुण है अथवा नहीं ! यदि भणितिगुण है तो इसको पढ़ने में रुचि रखो।'[90] इस दृष्टि से राजशेखर का सुन्दर शब्द विन्यास, छन्दकौशल तथा संस्कृत, प्राकृत पैशाची एवं अपभ्रंश में निर्बाध गति निस्सन्देह प्रशंसनीय है।

दिङ्नाग

नाटककार दिड्नाग और बौद्धाचार्य दिङ्नाग परस्पर भिन्न व्यक्ति हैं।इनका नाम धीरनाग अथवा वीरनाग भी उल्लिखित पाया जाता है। संस्कृत साहित्य के रामकथा पर आधारित नाटकों में दिङ्नाग का 'कुन्दमाला' नाटक अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस नाटक पर भवभूति (आठवीं शती पूर्वार्ध) का स्पष्ट एवं पर्याप्त प्रभाव होने के कारण तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र (1100 ई.) के द्वारा इनका सर्वप्रथम उल्लेख किए जाने के कारण दिङ्नाग का समय 1000 ई. के लगभग माना जाता है।

---

90. बाल रामायण 1/12— ब्रूते यः कोऽपिदोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्
प्रष्टव्योऽसौ पटीयान् इह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति।
यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिः.................

कुन्दमाला का कथानक रामायण के उत्तरकाण्ड पर आधरित है। यह छः अंक का नाटक है। इस नाटक पर भवभूति के उत्तररामचरित का प्रभाव अनेकशः परिलक्षित होता है। इसके तृतीय अंक में भी छाया सीता के सदृश जनकतनया कुंज में अलक्षित रह कर राम के शोक परिपूर्ण एवं करुणा विह्वल उद्‌गारों को देखती-सुनती रहती हैं। इसमें भी करुणा रस का परिपाक है। भवभूति की ही भाँति दिङ्नाग ने भी कुन्दमाला नाटक में यथास्थान अवसर पाकर प्रकृति का सुन्दर वर्णन किया है। इसमें भी राम-सीता का मिलन कराके नाटक को सुखान्त बना दिया गया है। नाटक के नामकरण का आधार तृतीय अंक की एक घटना है। नैमिषारण्य में अश्वमेध यज्ञ के लिए तत्पर हो जाने पर राम और लक्ष्मण घूमते समय गोमती की जलधारा में प्रवाहित कुन्द के पुष्पों की एक माला देखते हैं। उस पुष्पमाला को सीता निर्मित समझ कर राम प्रिया के शोक में विह्वल हो जाते हैं और कुन्दमाला एवं अन्य प्रकारों से ही सीता की पहचान हो पाती है; इसी कारण नाटक का नाम कुन्दमाला हुआ। दिङ्नाग की यह रचना भवभूति के नाटक की ऋणी होकर भी उसकी अपेक्षा अधिक सरल एवं गतिशील हैं। भाषा में लम्बे समासों का प्रायः अभाव है, तथा करुण रस की भी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। किन्तु मार्मिकता, भावप्राचुर्य, मानव मनोभावों की सूक्ष्म पहचान एवं भावाभिव्यंजना में दिङ्नाग भवभूति तक नहीं पहुँच सके हैं।

कृष्णमिश्र

कृष्ण मिश्र संस्कृत के एक ऐसे नाटककार हुए जिन्होंने नाटक की सुपरिचित पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके एक नितान्त नवीन प्रकार का नाटक—'प्रबोधचन्द्रोदय-' लिखा। कृष्ण मिश्र का समय 1100 ई. के लगभग है।

'प्रबोधचन्द्रोदय' एक शान्तरस प्रधान रूपक है। नाटककार ने सामान्य संसारी पात्रों का चयन न करके श्रद्धा, ज्ञान, भक्ति, विवेक, मोह, क्रोध, अहंकार आदि मानव मन की अन्तः वृत्तियों अथवा अमूर्त भावों को पात्रों के रूप में चित्रित करके वेदान्त के अद्वैतवाद के रोचक प्रतिपादन का प्रयास किया है। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के साथ वैष्णवभक्ति का सुन्दर सम्मिलन इस नाटक में सफलतया प्राप्त होता है। इस प्रकार यह एक प्रतीकात्मक अथवा रूपात्मक (Allegorical) नाटक का स्वरूप प्रगट करता है।

इस नाटक का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है। राजा मन की दो पत्नियाँ है; प्रवृत्ति से मोह नामक पुत्र है और निवृत्ति से विवेक नामक पुत्र है। राजा मन अपनी पत्नी प्रवृत्ति एवं पुत्र मोह में अधिक आसक्त हैं। मोह के परिवार में हिंसा, अहंकार, लोभ, काम, रति आदि हैं और विवेक के परिवार में सन्तोष, शान्ति, करुणा, क्षमा, मति आदि हैं। दोनों परिवार सदैव ही एक दूसरे का विरोध करते रहते हैं। प्रारम्भ में विवेक एवं उसके परिवार की पराजय होती रहती है। किन्तु विष्णुभक्ति के अनुग्रह से वह विजयी होता है। राजा मन अपनी प्रिय पत्नी एवं पुत्र की पराजय से दुखमग्न होते हैं किन्तु वेदान्त से ज्ञान पाने पर वह शान्त होते है। अन्त में विवेक एवं उपनिषद् के मिलन से प्रबोध का उदय होता है और समस्त भ्रमजाल नष्ट हो जाता हैं। इस प्रकार छह अंकों के इस नाटक में मानव मन

की दुष्ट एवं सात्विक प्रवृत्तियों के निरन्तर संघर्ष की कथा एवं सत्त्व की विजय प्रदर्शित की गई है। अध्यात्म एवं दर्शन के विषय का प्रतिपादन होने पर भी नाटक में नाटकीय तत्त्वों के रुचिर सन्निवेश से पर्याप्त रोचकता बनी रहती है।

कृष्णमिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकरण पर परवर्ती समय में अनेक रूपकों की रचना हुई। यशपाल (तेरहवीं शती) का मोहपराजय अथवा मोहमुद्गर, वेंकटनाथ अथवा वेदान्तदेशिक (चौदहवीं शती) का संकल्पसूर्योदय, सोलहवीं शती में गोकुलनाथ का अमृतोदय, श्रीनिवास दीक्षित का भावना पुरुषोत्तम तथा कर्णपूर का चैतन्यचन्द्रोदय, वेद कवि (सत्रहवीं शती का अन्त एवं अठारहवीं शती का प्रारम्भ) का विद्यापरिणय तथा वरदाचार्य का यतिराजविजय, ऐसे ही उल्लेखनीय प्रतीकात्मक रूपक हैं। केशवदास (16 वीं शती) ने विज्ञानगीता नाम से प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का छन्दोबद्ध अनुवाद किया।

जयदेव

रामकथा को अन्यन्त कोमलकान्त पदावली के द्वारा नाटक रूप में उपस्थित करनेवाले जयदेव का नाटक प्रसन्नराघव संस्कृत साहित्य में चर्चित रहा है। जयदेव का समय 1200 ईस्वी के लगभग है तथा नाटककार जयदेव गीतगोविन्दकार जयदेव से नितान्त भिन्न हैं। नाटककार जयदेव विदर्भ देश के कुण्डिनपुर के निवासी थे तथा इन्होंने न्यायशास्त्र पर आलोक नामक टीका भी लिखी है। प्रसन्नराघव की प्रस्तावना (1/6) में जयदेव ने स्वयं अपने न्यायशास्त्र पाण्डित्य का उल्लेख किया है।

प्रसन्नराघव नाटक में सात अंक हैं। इनमें कवि ने रामायण के सीता स्वयंवर से अन्त तक की कथा को कतिपय मार्मिक एवं रोचक परिवर्तनों के साथ प्रस्तुत किया है। इसमें प्रत्येक अंक का काव्यविलास एवं माधुर्य अत्यन्त रमणीय है।

प्रसन्नराघव नाटक में नाट्यकलाकौशल की अपेक्षा कवित्व प्रचुर मात्रा में है। कवि ने वर्णन के किसी प्रसंग को अपनी कल्पना से अछूता नहीं छोड़ा है। द्वितीय अंक में पुष्पवाटिका में राम सीता का पारस्परिक दर्शन एवं अनुरागोत्पति की मौलिक एवं अपूर्व कल्पना है। संस्कृत भाषा पर जयदेव का अद्वितीय अधिकार था। मसृण, मधुर, रमणीय तथा प्रांजल भाषा के कारण नाटक में अपूर्व रमणीयता आ गई है। उनकी उपाधि पीयूषवर्ष थी, जो सर्वथा वास्तविक ही सिद्ध होती है। जयदेव ने कविता को स्त्री रूप में चित्रित करते हुए विभिन्न कवियों के नामोल्लेख पूर्वक जो पद्य कहा था, वह विद्वत्समाज में अत्यन्त प्रसिद्व हुआ—

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः
हर्षो हर्षः हृदयवसतिः पंचबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय॥

जयदेव की प्रसादमयी कविता के कारण इनके नाटक का नाम प्रसन्नराघव यथार्थ है।

वत्सराज

ये कालंजरनरेश परमार्दिदेव (1163-1203) के मन्त्री थे। इन्होंने विविध प्रकार के रूपकों की रचना करके अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। इनके छः नाट्य उपलब्ध होते हैं—कर्पूरचरित(भाण) हास्यचूड़ामणि (प्रहसन), त्रिपुरदाह (डिम), किरातार्जुनीय (व्यायोग), समुद्रमन्थन (समवकार) तथा रुक्मिणीहरण (ईहामृग)[91]

वत्सराज की शैली सरल एवं सशक्त है। उनके इन छोटे-छोटे नाटकों में घटनाबहुलता और नाटक गतिशीलता रोचक रूप से उपलब्ध होती है। वत्सराज का परम वैशिष्ट्य यही है कि उन्होंने इस प्रकार केरूपक प्रकारों की सुन्दर रचना की, जिनको लक्षण तो नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं, किन्तु जिन रूपक प्रकारों की रचना करनें में अन्य नाटककारों ने विशेष उत्साह नहीं दिखाया।

बारहवीं शती के उपरान्त से बीसवीं शती तक सैकड़ों रूपक रचनाएँ तो होती रही हैं किन्तु उनका व्यापक प्रचार एवं प्रसार नहीं हो सका। संस्कृत नाट्य केवल विद्वत्समाज अथवा पण्डितों के क्षेत्र में सीमित रह गए। रामचन्द्र (1100-75) रचित नलविलास नाटक, निर्भय भीम व्यायोग, सत्यहरिश्चन्द्र नाटक तथा कौमुदीमित्रानन्द प्रकरण; जयसिंह सूरी (1200) रचित हम्मीरमर्दन; वामनभट्ट बाण (1420 ई.) रचित पार्वतीपरिणय नाटक, तथा शृंगारभूषण भाण; जगदीश्वर (1600 ई) रचित हास्यार्णव, रामचन्द्र दीक्षित (1700 ई.) रचित जानकीपरिणय आदि नाट्य प्रसिद्ध हुए। नाटक से भिन्न अन्य कुछ रूपक अपनी विशेषताओं के कारण सामान्य वर्ग में भी लोकप्रिय हुए। मद्रास से 1922 ई. में चतुर्भाणी नामक एक संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें वररुचि का उभयाभिसारिका, शूद्रक का पद्मप्राभृतक, ईश्वरदत्त का धूर्तविट संवाद तथा श्यामिलक का पादताडितक सम्मिलित हैं। समाज के निम्नवर्ग धूर्त, विट, वेश्या आदि का इनमें अत्यन्त सजीव एवं रोचक चित्रण है। सातवीं शती में महेन्द्रविक्रमवर्मा ने 'मत्तविलास' नामक प्रहसन लिखा जिसमें तत्कालीन समाज की पतनोन्मुख दशा का अत्यन्त हास्यपूर्ण चित्रण है। इसी प्रकार प्रथम और चतुर्थ शती के मध्य रचित 'भगवदज्जुकीय' नामक प्रहसन भी उल्लेखनीय है, जिसमें भगवान् नामक भिक्षुक तथा अज्जुका नामक गणिका के माध्यम से बौद्धदर्शन का पर्याप्त उपहास किया गया है।

जैसा उल्लेख किया गया जा चुका है, उपर्युक्त विभिन्न रूपकों और नाट्यकारों के अतिरिक्त भी संस्कृत नाट्यों की एक महती परम्परा प्राप्त होती है। उनमें से कुछ का नामोल्लेख मात्र इस प्रकार है—[92]

नाट्यकार एवं ग्रन्थ निर्देश (इतिहास क्रम से)

नाट्यकार	रूपकनाम	समय
क्षेमेन्द्र	चित्रभारत; कनकजानकी	11 वीं शती ईस्वी
बिल्हण	कर्णसुन्दरी (नाटिका)	11 वीं शती ईस्वी

91. 'रूपक षटक्' नाम से प्रकाशित;—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज संख्या 8, बड़ौदा—1918
92. द्रष्टव्य—द्विवेदी, कपिलदेव—संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास—पृष्ठ 442-453

शंखधर कविराज	लटकमेलक (प्रहसन)	12 वीं शती पूर्वार्ध
विग्रहराजदेव	हरकेलि नाटक	12 वीं शती उत्तरार्ध
सोमदेव	ललित विग्रहराज	12 वीं शती उत्तरार्ध
सुभट	दूताङ्गद (छाया नाटक)	12 वीं शती उत्तरार्ध
मदन	पारिजातमंजरी	13 वीं शती पूवार्ध
विद्यानाथ	प्रतापरुद्रियकल्याण	13 वीं शती
विश्वनाथ	सौगन्धिका हरण	14 वीं शती पूर्वार्ध
रूपगोस्वामी	ललित माधव; विदग्धमाधव	
	दानकेलिकौमुदी	15 वीं शती
कवि कर्णपूर	चैतन्य चन्द्रोदय (प्रतीकात्मक)	16 वीं शती उत्तरार्ध
यज्ञनारायण दीक्षित	रघुनाथ विलास	17 वीं शती पूर्वार्ध
नीलकण्ठ दीक्षित	नलचरित	17 वीं शती उत्तरार्ध
वेंकटाध्वरि	प्रद्युम्नानन्द	17 वीं शती उत्तरार्ध
विश्वेश्वर	रुक्मिणी परिणय; नववाटिका	
	शृंगारमंजरी (सट्टक)	18 वीं शती पूर्वार्ध
रामवर्मन्	रुक्मिणी परिणय शृंगार सुधाकर	18 वीं शती उत्तरार्ध
म.म. शंकरलाल	सावित्री चरित; ध्रुवाभ्युदय	
	पार्वती परिणय आदि	19 वीं शती उत्तरार्ध
मूलशंकर माणिकलाल	छत्रपति साम्राज्य	19 वीं शती उत्तरार्ध
याज्ञिक	प्रताप विजय; संयोगिता स्वयंवर	19 वीं शती उत्तरार्ध
अम्बिकादत्त व्यास	सामवतम्	19 वीं शती उत्तरार्ध
म.म. मथुराप्रसाद दीक्षित	वीर प्रताप	20वीं शती पूर्वार्ध
	शंकर विजय; पृथ्वीराज	
	गांधी विजय; भारत विजय	
	भक्त सुदर्शन	
वेलणकर	यां चिन्तयामि	20 वीं शती उत्तरार्ध
	तमसो मा ज्योतिर्गमय	
	प्राणाहुती	
कपिलदेव द्विवेदी	परिवर्तनम्	20 वीं शती उत्तरार्ध

जैसा उपर्युक्त तालिका से भी किंचित स्पष्ट है, आधुनिक युग में भी संस्कृत नाट्यरचना अबाध गति से चल रही है। डॉ. उषा सत्यव्रत ने बीसवीं शती के नाट्यों पर शोधकार्य करके इस सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध कराई है। एक नवीन नाट्यविधा-रेडियो रूपक का भी शीघ्रता से प्रसार हो रहा है जिसे केवल सुना ही जा सकता है।

❑❑❑

9

संस्कृत अलंकार शास्त्र

लौकिक संस्कृत साहित्य की विभिन्न विधाओं के उद्‌गम और विकास का ऐतिहासिक कालक्रम से विहंगावलोकन कर लेने के पश्चात् संस्कृत के साहित्य शास्त्र किंवा अलंकार शास्त्र किंवा काव्य शास्त्र के सम्बन्ध में भी किंचित् ज्ञान ग्रहण कर लेना समीचीन ही होगा। साहित्यिक अध्ययन के कतिपय पक्ष ऐसे होते हैं जो सभी विधाओं के साहित्य के लिए समान होते हैं। यही पक्ष साहित्यशास्त्र है। इसका एक मात्र प्रयोजन काव्य के अन्तस्तत्व को खोजना है। भारतीय साहित्यशास्त्र की परम्परा में विभिन्न आचार्यों ने काव्य की आधारभूत परम सत्ता को भिन्न-भिन्न रूपों में व्याख्यायित किया। स्वपक्ष आग्रह के कारण इस शास्त्र में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। आचार्य नन्दिकेश्वर और भरत (300 से 100 ईसा पूर्व लगभग) से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ (17 वीं शती ईस्वी) तक काव्यशास्त्र की परम्परा निरन्तर अविच्छिन्न रही। इस सुदीर्घ परम्परा में अनेक वादों, विचारों और सम्प्रदायों का निर्माण एवं निर्वासन हुआ, जिनमें छह सम्प्रदाय सर्वाधिक चर्चित हुए। इन छह सम्प्रदायों के अध्ययन से सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र की प्रमुख प्रवृत्तियों का सम्यक् अध्ययन किया जा सकता है।—

रस सम्प्रदाय	—	नन्दिकेश्वर, भरत,
अलंकार सम्प्रदाय	—	भामह, रुद्रट, उद्‌भट,
रीति सम्प्रदाय	—	दण्डी, वामन
वक्रोक्ति सम्प्रदाय	—	कुन्तक
ध्वनि सम्प्रदाय	—	आनन्दवर्धन, मम्मट,
औचित्य सम्प्रदाय.	—	क्षेमेन्द्र

इन सम्प्रदायों के सम्बन्ध में आचार्य राजानक रुय्यक विरचित 'अलंकार सर्वस्व' के प्रामाणिक टीकाकार समुद्रबन्ध (केरल प्रदेशीय यदुवंशी महाराज के सभापण्डित-13वी शती ईस्वी उत्तरार्ध) ने एक नया ही प्रकाश डाला—
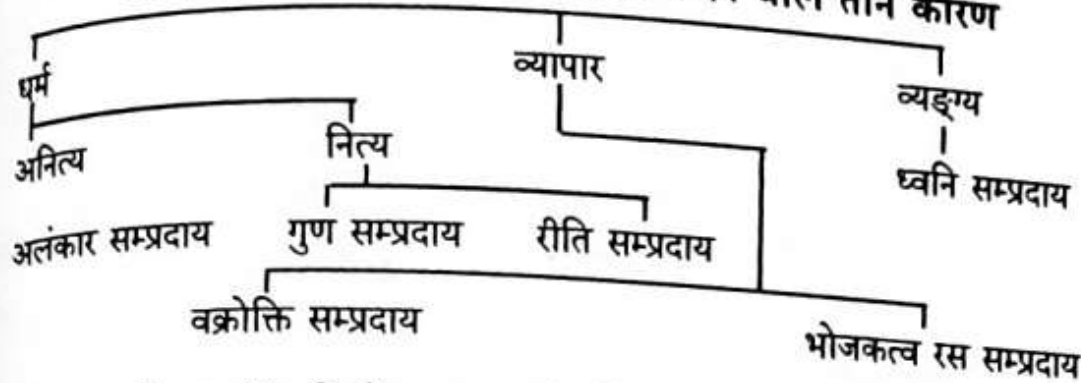
समालोचना की दृष्टि से इस शास्त्र के क्षेत्र में अनेक विषय समाहित हो जाते हैं यथा—काव्य का प्रयोजन, हेतु, लक्षण, भेद, शब्द-अर्थ एवं उनकी वृत्तियाँ, नाट्य तत्त्व, ध्वनि, रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, औचित्य, गुण, दोष आदि। कुछ शास्त्रकारों ने इन सभी तत्त्वों का विवेचन अपने ग्रन्थों में किया, यथा आचार्य विश्वनाथ का साहित्यदर्पण एवं विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण।

कतिपय शास्त्रकारों ने नाट्य को सर्वथा छोड़कर अन्य काव्य तत्त्वों को विवेचित किया यथा—भामह का काव्यालंकार, दण्डी का काव्यादर्श, वामन का काव्यालंकार सूत्र, मम्मट का काव्यप्रकाश, जगन्नाथ का रसगंगाधर आदि।

कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जिन्होने अपने ग्रन्थों में किसी एक विशिष्ट तत्त्व मात्र का विश्लेषण, मण्डन, स्थापन किया। ऐसे कतिपय ग्रन्थ निम्नांकित हैं—

लेखक	ग्रन्थ	विषय
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक	ध्वनि
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवित	वक्रोक्ति
क्षेमेन्द्र	औचित्यविचार चर्चा	औचित्य
मुकुल भट्ट	अभिधावृत्तिमातृका	वृत्तियाँ
भानुदत्त	रस तरंगिणी	रस
भानुदत्त	रस मंजरी	नायक नायिका(किंचित् रस)
रुय्यक	अलंकार सर्वस्व	अलंकार
अप्पय दीक्षित	कुवलयानन्द	अलंकार आदि

जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि काव्य समालोचना के क्षेत्र में अनेक विषय समाहित होते हैं उन सभी विषयों का क्रमशः संक्षिप्त प्रतिपादन इस प्रकार है।

काव्य प्रयोजन

सृष्टि में घटित प्रत्येक कार्य के मूल में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। मूर्ख व्यक्ति भी प्रयोजन को दृष्टिगत करके ही कार्य में प्रवृत्त हुआ करता है—'प्रयोजनमनुद्दिश्य मूर्खोऽपि न प्रवर्तते।' इसी कारण काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने भी काव्यरचना के प्रयोजन पर आरम्भ से ही विचार किया है। प्रमुख आचार्यों का काव्य प्रयोजन सम्बन्धी मत इस प्रकार है।

आचार्य भरत—भरत ने नाट्य के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में जो कथन किया, उसी में नाट्य का प्रयोजन भी सन्निहित है। तदनुसार नाट्य हितकारक, उपदेशप्रद, मनोरञ्जक तथा धर्म-आयु-यश विवर्धक होता है।[1] (यही नाट्य का प्रयोजन है)

भामह—इनके अनुसार चतुर्वर्ग प्राप्ति, कलाओं में विचक्षणता, यश प्राप्ति तथा आनन्द प्राप्ति उत्तमकाव्य रचना के प्रयोजन हैं।[2]

वामन—आचार्य वामन ने यश और आनन्द का काव्य को प्रयोजन प्रतिपादित किया।[3] काव्य का दृष्ट प्रयोजन आनन्द है तथा अदृष्ट प्रयोजन यश है।

रुद्रट—इन्होंने चतुर्वर्ग प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन घोषित किया।[4]

भोज—भोज ने आचार्य वामन का अनुसरण करते हुए यश और आनन्द को काव्य प्रयोजन रूप में स्थापित किया।[5]

कुन्तक—अपने ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित में आचार्य कुन्तक ने चतुर्वर्ग प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान तथा आनन्दानुभूति चमत्कार को काव्यप्रयोजन घोषित किया। इन सबमें भी कुन्तक ने आनन्दानुभूति रूपी चमत्कार को ही प्रधान माना।[6]

मम्मट—काव्यप्रकाश के काव्य प्रयोजनों का विस्तृत वर्णन आगे किया जाएगा। संक्षेपतः मम्मट ने यश, अर्थप्राप्ति, लौकिक व्यवहार ज्ञान, अनिष्ट निवारण, आनन्द प्राप्ति

---

1. नाट्यशास्त्र 1/113-115— उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत्॥
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥
2. काव्यालङ्कार 1/12— धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्ष्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥
3. काव्यालङ्कार 1/1/5—काव्यं सद्दृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।
4. काव्यालङ्कार 12/1—ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
5. सरस्वतीकण्ठाभरण 1/2—निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥
6. वक्रोक्तिजीवित 1/3--5— धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यव्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारी वितन्यते॥

तथा कान्तासम्मित उपदेश—ये छह काव्य प्रयोजन प्रतिपादित किए।[7]

विश्वनाथ—साहित्यदर्पणकार ने चतुर्वर्ग प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन घोषित किया[8] तथा अपने मत की विस्तृत व्याख्या भी प्रस्तुत की। तदनुसार काव्य में भगवान् नारायण आदि की स्तुति होने से धर्म प्राप्त होता है। काव्य से अर्थ प्राप्ति प्रत्यक्षसिद्ध है और धन से काम प्राप्ति हो जाती है। काव्य में मोक्षोपयोगी (उपनिषद्‌ादि) वाक्य होने से मोक्ष प्राप्ति होती है।

जगन्नाथ—पण्डित जगन्नाथ ने अन्यन्त संक्षेप में काव्य प्रयोजनों का कथन किया। तदनुसार कीर्ति,परम आह्लाद तथा गुरु-राजा-देवता की कृपा प्राप्ति आदि काव्य के अनेक प्रयोजन हैं।[9]

सम्पूर्ण काव्यशास्त्र परम्परा में प्रमुख आचार्यों के काव्यप्रयोजनों को देखने पर स्पष्टत: आचार्य मम्मट का मत सर्वाधिक वैज्ञानिक, बुद्धिगम्य एवं व्यावहारिक दृष्टिगत होता है। वस्तुत: मम्मट के मत में ही अन्य सारे आचार्यों के मतों का संग्रहण हो जाता है।

काव्य के हेतु

पाठक, श्रोता अथवा दर्शक वृन्द जिन काव्यों या नाट्यों को पढकर अथवा अभिनय देखकर रसनिमग्न हो जाते है, उन की रचना के मूल में कोई हेतु अवश्य होगा। अत: काव्यशास्त्रकारों ने काव्य रचना के हेतु, कारण या उपादानों पर भी पर्याप्त विचार किया है।

भामह—कदाचित् कोई प्रतिभाशाली ही काव्यरचना कर पाता है[10] इस कथन के अनुसार भामह केवल प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकार करते हैं किन्तु साथ ही उन्होंने शास्त्र एवं कला-अध्ययन, अन्य कवियों की रचनाओं का पठन तथा काव्यविद् गुरु की उपासना से काव्य रचना हो सकना स्वीकार किया।[11]

दण्डी—इनके अनुसार नैसर्गिक प्रतिभा, व्यापक अध्ययन तथा अनवरत अभ्यास—ये तीनों मिलकर काव्य का एक हेतु होते हैं।[12] दण्डी के मत में यदि कवि में जन्मजात प्रतिभा न भी हो, तो भी दृढ विद्याध्ययन एवं निरन्तर अभ्यास से प्रतिभा उत्पन्न भी हो सकती है।[13]

---

7. काव्यप्रकाश 1/2–काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
 सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥
8. साहित्य दर्पण 1/2 चतुर्वर्गफलप्राप्ति सुखादल्पधियामपि।
 काव्यादेव..............
9. रसगंगाधर—तत्र कीर्ति परमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य...
10. काव्यालंकार 1/5-काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावत:।
11. काव्यालंकार 1/9....10
12. काव्यादर्श 1/103— नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
 अमन्दश्चाभियोगोऽस्या कारणं काव्यसम्पद:॥
13. काव्यादर्श 1/104— न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
 श्रुतेन यत्नेन च वागुपसिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

वामन—वामन ने अपने पूर्वाचार्यों के मत को ही अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया और लक्ष्यत्व (काव्यों से परिचय), अभियोग (काव्य रचना का उद्योग), वृद्ध सेवा, अवेक्षण (पदों का आधान एवं उद्धरण), प्रतिभा तथा अवधान (चित्त की एकाग्रता) को काव्य रचना के हेतु स्वीकार किया।[14]

रुद्रट—इनके अनुसार शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास काव्य का हेतु हैं।[15]

मम्मट—शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास-काव्य रचना का एकत्र हेतु है।[16]

उपर्युक्त सभी आचार्यों ने लगभग तीन हेतुओं को सम्मिलित रूप से काव्य रचना का हेतु घोषित किया। तथापि भामह के अस्पष्ट संकेत को आगे बढ़ाते हुए कतिपय अन्य आचार्यों ने केवल प्रतिभा अथवा शक्ति को ही काव्य रचना का हेतु स्वीकार किया तथा अध्ययन एवं अभ्यास को सहायक तत्त्व घोषित किया। ऐसे आचार्यों में आनन्दवर्धन,[17] राजशेखर,[18] जगन्नाथ,[19] वाग्भट,[20] तथा जयदेव,[21] प्रमुख हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण आचार्य परम्परा में प्रतिभा (शक्ति), व्युत्पत्ति (निपुणता) तथा अभ्यास-से तीन ही काव्य के हेतु रूप में स्वीकृत हुए।

प्रतिभा—सभी आचार्यों ने काव्यरचना के उपादानों में प्रतिभा या शक्ति को सर्वप्रथम किंवा सर्वोत्कृष्ट परिगणित किया है। काव्यरचना के लिए कवि में यदि प्रतिभा (शक्ति) नहीं है तो काव्य बन नहीं सकेगा; यदि बन भी गया तो दुष्ट अथवा उपहसनीय होगा।[22]

अधिकांश आचार्यों ने प्रतिभा को पूर्वजन्म के संस्कारों से उत्पन्न अर्थात् जन्मजात माना है। विभिन्न जन्मों में शास्त्राध्ययन, परिष्कृत रुचि, विद्वत्संग आदि के कारण आत्मा पर जो संस्कार पड़ते रहते है; उन्हीं के कारण किसी जन्म में व्यक्ति में प्रतिभा उत्पन्न हो

---

14. काव्यालंकार सूत्र 1/3/12....18.
15. काव्यालंकार 1/14 त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युपत्तिरभ्यासः।
16. काव्यप्रकाश 1/3 शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्
    काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥
17. ध्वन्यालोक 3/6 की वृत्ति— अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कविः।
    यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभासते॥
18. काव्यमीमांसा 6/11-सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः।
19. रसगंगाधर-तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।
20. अलंकारतिलक-पृष्ठ 2— प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्।
    व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एवं संस्कारकौ न तु काव्यहेतू।
21. चन्द्रालोक—प्रतिभैव श्रुताभ्यासहिता कवितां प्रति।
    हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव ॥
22. काव्यप्रकाश 1/3 की वृत्ति—शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कार विशेषः यां विनां काव्यं न प्रसरेद् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।

जाती है। यह प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा का ही पर्याय है[23] इसी से कवि तीनों कालों के अर्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।[24]

व्युत्पत्ति—व्युत्पत्ति को काव्यरचना का द्वितीय हेतु कहा गया है। यदि कवि में व्युत्पत्ति नहीं होगी तो उसके काव्य के विभिन्न वर्णनों में औचित्य एवं सहजता भी नहीं होगी और ऐसा काव्य भी उपहसनीय बन जाएगा।

व्युत्पत्ति का सामान्य अर्थ है लोकव्यवहार, शास्त्र, काव्य आदि का सम्यक् अध्ययन करके उन सभी का ज्ञान प्राप्त कर लेना। व्युत्पत्ति को ही कुछ आचार्यों ने निपुणता नाम दिया। मम्मट ने निपुणता को परिभाषित करते हुए कहा कि 'लोक, शास्त्र, काव्य, आदि के अवेक्षण से निपुणता होती है।'[25] अपने कथन को मम्मट ने भली प्रकार व्याख्यात भी कर दिया है।[26]

अभ्यास—अभ्यास को काव्यरचना का तृतीय हेतु प्रतिपादित किया गया। कुछ आचार्यों ने अभ्यास को प्रतिभा के समकक्ष स्थान दिया, तो अन्य आचार्यों ने अभ्यास को प्रतिभा का सहायक-मात्र स्वीकार किया।

काव्यमर्मज्ञ गुरुजनों की सेवापूर्वक उन्हीं के निर्देशन में काव्यरचना करना अभ्यास है। काव्यज्ञ वृद्धों के उपदेश से कवि विषयानुरूप शब्द तथा अर्थ की योजना करता है और विभिन्न दोषादि को दूर करके काव्य रचता है। इसी ओर पौन: पुन्य प्रवृत्ति को अभ्यास कहा जाता है।[27]

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास परस्पर समकक्ष हैं। किसी एक या दो के अभाव में अन्य हेतु कुण्ठित अथवा धूमिल हो जाते हैं। इसीलिए आचार्य मम्मट ने काव्य के तीन हेतु कह कर भी एक वचन का प्रयोग किया।

काव्य का लक्षण

काव्य किसे कहते हैं? काव्यत्व कहाँ निहित होता है? इस समस्या के निराकरण के लिए प्राय: सभी काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने अपने अपने ग्रन्थ में काव्य की परिभाषा अथवा काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया।

---

23. हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में भट्टतौत के लुप्तग्रन्थ 'काव्यकौतुक' से उद्धृत—
प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
24. महिमभट्ट-व्यक्तिविवेक-पृष्ठ 108-येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकाल्यवर्तिन:।
25. काव्यप्रकाश 1/3 निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणाद्।
26. काव्य प्रकाश 1/3 की वृत्ति—लोकस्य स्थावरजंगमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दो व्याकरणभिधानकोश कलाचतुर्वर्गगजतुरगखंगादि लक्षणग्रन्थानां, काव्यानां महाकविसम्वन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्ति:।
27. काव्यप्रकाश 1/3 की वृत्ति—काव्यं कर्तुं विचारयितुं ये जानन्ति, तदुपदेशेन करणे योजने च पौन: पुन्येन प्रवृत्ति:।

भामह—शब्द और अर्थ एकत्र रूप में काव्य है।[28]

दण्डी—इष्ट अर्थ से सम्पन्न पदावली काव्य है।[29]

रुद्रट—शब्द और अर्थ (दोनों मिलकर) काव्य हैं।[30]

आनन्दवर्धन—सहृद जनों के हृदय को आह्लादित कर देने वाली शब्दार्थमयता ही काव्य का लक्षण है।[31]

भोज—काव्य दोषरहित,गुणसहित, अलंकृत तथा रसान्वित होता है।[32]

मम्मट—दोष रहित, गुणसहित तथा सालंकार शब्दार्थयुगल ही काव्य है कदाचित स्फुट अलंकार न होने पर भी अदोष तथा सगुण शब्दार्थ युगल काव्य ही रहते हैं।[33]

विश्वनाथ—रसात्मक वाक्य काव्य है।[34]

जगन्नाथ—रमणीय अर्थ को प्रतिपन्न करने वाला शब्द काव्य है[35]—

उपर्युक्त सभी काव्यलक्षणों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) भामह, रुद्रट, मम्मट आदि ने विशिष्ट शब्दार्थयुगल को काव्य कहा। यह विशिष्टता दोषराहित्य, गुणसाहित्य तथा सालंकार होने में है।

(ख) दण्डी, जगन्नाथ आदि ने केवल शब्द को काव्य कहा किन्तु यह शब्द भी विशिष्ट अभिमत किंवा रमणीय अर्थ से सम्पन्न होना चाहिए।

(ग) भोज, विश्वनाथ आदि ने शब्द एवं अर्थ को अधिक महत्त्व न देकर रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है।

इन सभी काव्यलक्षणों में मम्मट का काव्यलक्षण सर्वाधिक वैज्ञानिक है। मम्मट कृत लक्षण की प्रतिपद विवेचना से काव्य का सम्पूर्ण स्वरूप भी प्रगट हो जाता है तथा प्रायः अन्य सभी आचार्यों के मत भी विश्लेषित हो जाते हैं।

शब्दार्थौ—मम्मट एवं अन्य आचार्यों ने शब्दार्थयुगल को काव्य कहा है। आचार्य जगन्नाथ ने शब्दार्थों पर प्रहार करते हुए काव्यत्व को शब्दनिष्ठ कहा, किन्तु जगन्नाथ कृत रसगंगाधर के टीकाकार नागेश भट्ट ने ही जगन्नाथ का खंडन कर दिया। क्यों कि स्वयं जगन्नाथ भी केवल शब्द को काव्य न मानकर 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द' को काव्य कहते है। रसास्वादन की अभिव्यंजना करना काव्य का प्रयोजन है और यह शब्द तथा अर्थ में समान रूप से रहता है। अतः शब्दार्थयुगल में काव्यत्व सिद्ध है।

---

28. काव्यालंकार 1/6—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।
29. काव्यादर्श 1/10 शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
30. काव्यालंकार 2/1 शब्दार्थौ काव्यम्।
31. ध्वन्यालोक 1/1 की वृत्ति—सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।
32. सरस्वतीकण्ठाभरण 1/2—निर्दोषं गुणवत्काव्यमलकारैरलंकृतम्। रसासान्वितं...
33. काव्यप्रकाश 1/4—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।
34. साहित्यदर्पण 1/3 वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।
35. रसगंगाधर पृ. 2—रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द काव्यम्।

अदोषौ—काव्य में रस का अपकर्षक तत्त्व दोष कहलाता है।[36] काव्य को किंवा शब्दार्थ को दोषरहित होना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के अदोषौ पद पर अनेक प्रहार करते हुए उसकी अनुपयुक्तता का कथन किया, किन्तु काव्यलक्षण में 'अदोषौ' पद का ग्रहण सर्वथा समुचित है। काव्य दोष दो प्रकार के होते हैं—नित्यदोष एवं अनित्य दोष। नित्य दोष रस का अपकर्षण कर देते हैं। अतः काव्य को नित्यदोषों से रहित होना चाहिए।

सगुणौ—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—इन तीनों गुणों से युक्त शब्दार्थयुगल काव्य है। रस सूक्ष्म एवं अलक्ष्य पदार्थ है, गुण स्थूल एवं लक्ष्य होते हैं। रसाभिव्यक्ति के लिए काव्यगुणों की अनिवार्यता होती है। अतः काव्य सगुण होना चाहिए।

अनलंकृती पुनः क्वापि—काव्य रूपी शब्दार्थयुगल को सालंकार होना चाहिए। किन्तु यदि कदाचित् स्फुटतया अलंकार प्रतीति न हो, तो भी रसवत्ता के कारण वह काव्य ही होगा।

मम्मट ने अपने काव्यलक्षण में द्विवचनान्त 'शब्दार्थौ' पद के लिए 'तत्' एकवचन का प्रयोग भी साभिप्राय किया है। इसका अभिप्राय यही है कि न तो केवल शब्द काव्य है और न केवल अर्थ ही काव्य है। अपितु शब्द और अर्थ सम्मिलित होकर, सहित रहकर ही काव्य कहलाते हैं।

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि काव्य के आत्मतत्त्व की विवेचना की परम्परा में अनेक सम्प्रदायों का निर्माण हुआ, जिनमें छह सम्प्रदाय सर्वाधिक चर्चित रहे। इन्हीं सम्प्रदायों विवेचन अब प्रसंग प्राप्त है।

रस सम्प्रदाय

राजशेखर के काव्यमीमांसा ग्रन्थ के प्रमाण[37] पर रस सिद्धान्त के प्रथम आचार्य नन्दिकेश्वर सिद्ध होते हैं। किन्तु उनका ग्रन्थ अनुपलब्ध है। सम्प्रति आचार्य भरत ही रससिद्धान्त के आद्याचार्य स्वीकृत हैं। भरत ने 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' कहकर रससूत्र का कथन किया;'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ' कह कर रस को काव्य का आत्मरूप घोषित किया और 'अष्टौ नाट्यरसाः' के द्वारा रसों की संख्या भी निर्धारित की। भरत ने विभिन्न रसों के विभावों, अनुभावों और व्यभिचारिभावों का भी विशद् विवेचन अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया। अपने पूर्वाचार्यों की विभिन्न मान्यताओं का सम्यक् उपयोग करते हुए भरत ने अपने रसविषयक मत को प्रौढि प्रदान की। रससम्प्रदाय के सभी आचार्य अपने मत को भरत के रससूत्र के आधार पर ही प्रस्तुत करते हैं।

यों तो रस शब्द का प्रयोग स्वाद, जल, वीर्य, विष, पारद, धातु, मिष्ट-कटु आदि अनेक अर्थों में होता है किन्तु साहित्य में रस शब्द से शृंगारादि रसों का बोध होता है। यह रस रति, शोक, उत्साह आदि स्थायी भावों के रूप में मनुष्य के हृदय में रहता है।

---

36. साहित्यदर्पण 7/1–रसापकर्षकाः दोषाः।
37. काव्यमीमांसा—पृष्ठ 4-5—रसाधिकारकं नन्दिकेश्वरः।

विभावानुभावंसचारी भावों से परिपुष्ट तथा उद्‌बुद्ध होकर स्थायी भाव ही रस रूप में आस्वाद्यमान होते हैं।[38] रस का आस्वादन प्रमाता अथवा प्रेक्षक को ही होता है यद्यपि विभावादि कवि अथवा नट द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। इस सम्प्रेषण की प्रक्रिया क्या है? इसी प्रश्न को लेकर आचार्यों में परस्पर मतवैभिन्य हुआ। प्रमदा आदि आलम्बन विभाव; ज्योत्स्ना, नटी तट, प्राकृतिक दृश्य आदि उद्दीपन विभाव; कटाक्ष, अश्रु, रोमांचादि अनुभाव एवं निर्वेदादि तैंतीस व्यभिचारी भाव सभी आचार्यों ने स्वीकार किए। किन्तु रससूत्र में आए हुए 'संयोगात्' एवं निष्पत्ति—इन दो पदों को लेकर ही मुख्य विप्रतिपत्ति रही। अभिनवगुप्त के समय तक रस सम्बन्धी जितने भी प्रमुख मत प्रचलित थे;उन सभी का संग्रहण करते हुए अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की अपनी अभिनवभारती टीका में तथा ध्वन्यालोक की लोचन टीका में भरत के रससूत्र की अत्यन्त प्रामाणिक एवं बहु सम्मत व्याख्या प्रस्तुत की। तदनुसार रस विषयक चार प्रमुख सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं।

भट्ट लोल्लट का उत्पतिवाद—ये मीमांसक एवं अभिधावादी थे और इसका प्रभाव इनके रसविषयक सिद्धान्त पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। तदनुसार विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव-इन सभी के सम्यक् योग से रस की उत्पत्ति होती है। विभाव उत्पादक हैं एवं रस उत्पाद्य है। अनुभावों से रस प्रतीति योग्य होता है अत: अनुभाव प्रतिपादक हैं तथा रस प्रतिपाद्य है। संचारी भाव पोषक हैं तथा रस पोष्य है क्योंकि संचारी भावों से ही रस पुष्ट होता है। इस प्रकार विभावादि कारण सामग्री से रस रूप कार्य उत्पन्न होता है। यह रस मुख्यत: अनुकार्य रामादि में उत्पन्न होता है। जब कोई नट अपनी योग्यता एवं प्रतिभा के द्वारा अनुकार्य रामादि का अनुकरण करता हुआ अभिनय करता है तो सामाजिक उस नट में रामात्वादि के आरोपण से नट में भी रस मान लेते हैं। इस आरोपण रूप क्षणिक भ्रान्ति से दर्शकों को भी चमत्कारानुभूति होती है जिसे हम रस कहते है।

किन्तु लोल्लट के उपर्युक्त मत में दो मुख्य त्रुटियाँ रही।

1. लोल्लट ने विभावादि को कारण एवं रस को कार्य माना। संसार में कारण के नष्ट हो जाने पर भी कार्य की सत्ता रहती है; यथा कुम्भकारादि कारणों के नष्ट हो जाने पर भी घटादि कार्य विद्यामान रहता है। किन्तु काव्यक्षेत्र में विभावादि कारण सामग्री के नष्ट होने पर रस कार्य भी नष्ट हो जाता है। अत: रस उत्पाद्य या कार्य नहीं हैं।

2. लोल्लट ने रस की वास्तविक स्थिति अनुकार्य रामादि में मानी और नट में भी प्रतीयमान कही; किन्तु सामाजिक में रस की सत्ता न मान कर क्षणिक भ्रान्ति ही मानी। यदि सामाजिक-दर्शक में रस की स्थिति ही नहीं हो, तो वह नाट्य अथवा काव्य की ओर प्रवृत्त ही नहीं होगा।

परवर्ती आचार्यों ने भट्ट लोल्लट के मत का अनेकश: खण्डन कर दिया और

---

38. काव्यप्रकाश 4/27-28— कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे: स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो:॥
विभावा अनुभावास्तत कथ्यन्ते व्यभिचारिण:।
व्यक्त: स तैर्विभावाद्यै: स्थायी भावो रस: स्मृत:॥

रससूत्र की अन्य व्याख्या प्रस्तुत हुई।

भट्ट शंकुक का अनुमितिवाद—ये नैयायिक थे और इन्होंने रस की उत्पत्ति न मान कर रस की अनुमिति मानी। तदनुसार विभावादि अनुमापक होते हैं और रस अनुमाप्य होता है। रंगमंच पर किसी कुशल नट के अभिनय के कारण सामाजिक उस नट को रामादि अनुकार्य पात्र समझ लेता है। नट में राम की यह प्रतीति एक ऐसा विलक्षण ज्ञान है जो सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य-इन चारों प्रकार के ज्ञानों से भिन्न है। यह प्रतीत चित्रतुरगादिवत् है। जिस प्रकार चित्रलिखित तुरग वास्तविक न होने पर भी घोड़ा ही माना जाता है, उसी प्रकार नट अनुकार्य रामादि से भिन्न होने पर भी अभिनय कौशल के कारण राम से अभिन्न मान लिया जाता है। जो रस वस्तुतः रामादि में था, वही अनुमान द्वारा नट में आरोपित हो जाता है। सामाजिक उस नट के कृत्रिम विभावादिकों को कृत्रिम न मानता हुआ उनसे रति आदि स्थायी भावों की अनुमिति कर लेता है। काव्यगत यह अनुमिति शास्त्रोक्त अनुमिति से भिन्न है; क्योकि सामान्य अनुमिति प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित होती है किन्तु काव्यगत अनुमिति परोक्षात्मक है। अतः नट में रत्यादि स्थायी भावों के न होने पर भी सामाजिक अपनी हृदयगत वासना के द्वारा नट में उन भावों की अनुमिति करता हुआ रसास्वादन करता है।

शंकुक का यह रस सम्बन्धी अनुमितिवाद भी सदोष सिद्ध हुआ।

1. शंकुक ने नट में जिन विभावादि को रसानुमिति का हेतु रूप कहा, वे उनके ही अनुसार कृत्रिम एवं कल्पित हैं। ऐसे कृत्रिम विभावादि से सामाजिक को वास्तविक रसानुभूति नहीं हो सकती ।

2. रस का प्रत्यक्ष अनुभव ही चमत्कार जनक होता है अनुमिति नहीं। चन्दन पद के अनुमान मात्र से शीतलता एवं सुगन्ध की प्रतीति नहीं हो सकती ।

इस प्रकार शंकुक का रसानुमितिवाद भी परम्परा में स्वीकृत नहीं हुआ।

भट्टनायक का भुक्तिवाद—इनके मत पर सांख्यदर्शन का प्रभाव है। भट्टनायक के अनुसार रस की स्थिति सहृदय प्रेक्षक में होती है। काव्य के शब्द अन्य शब्दों से विलक्षण होते हैं। रस और विभावादि में भोज्य भोजक सम्बन्ध है। रस भोज्य है और विभावादि भोजक। अपने सिद्धान्त की व्याख्या के लिए भट्टनायक ने अभिधा व्यापार के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व-इन दो अन्य व्यापारों की कल्पना की। सामाजिक या दर्शक सर्वप्रथम शब्द की अभिधाशक्ति के द्वारा काव्य के वाच्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। तदनन्तर भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है अर्थात् रामादि पात्र अपने विशिष्टत्व-ऐतिहासिक एवं व्यक्तिगत निर्देशों को त्याग कर सामान्य प्राणी के रूप में साधारणीकृत हो जाते हैं। इसी साधारणीकरण के कारण ही सामाजिक की भावना का रामादि पात्रों की भावना के साथ तादात्म्य हो जाता है। तब भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक को रस की भुक्ति होती है। इस अवस्था में सामाजिक के चित्र में रजस् एवं तमस् गुणों का प्रभाव नष्ट होकर केवल सत्त्वगुण का अतिशय रहता है। सात्त्विक भाव के इस उद्रेक में ही रस की भुक्ति होती है।

भट्टनायक के मत में दो बिन्दु सर्वस्वीकृत हुए—एक तो सामाजिक में रस की स्थिति और दूसरा साधारणीकरण व्यापार। किन्तु भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों को अप्रमाण माना गया।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—अभिनवगुप्त का रसविषयक व्यंजनावादी मत अपनी दार्शनिक एवं सुदृढ़ मनौवैज्ञानिक आधार भित्ति के कारण सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति किया। यत मत संक्षिप्ततया इस प्रकार है—

(क) सामाजिक के हृदय में स्थायीभाव वासना(धारावाहिनी इच्छा) के रूप में सदैव विद्यमान रहते हैं। सामाजिक के व्यापक अथवा लघु लौकिक अनुभव के आधार पर ही यह वासना भी विस्तृत अथवा संक्षिप्त होती हैं।

(ख) काव्य को पढ़ने अथवा नाट्य को देखने पर शब्द की व्यंजना शक्ति के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है अर्थात् उनका स्वकीयत्व, परकीयत्व तथा उपेक्षणीयत्व नष्ट हो जाता है। यह साधारणीकरण विभाव, अनुभाव,व्यभिचारीभाव सभी का होता है और वे समस्त विभावादि अपने-अपने विशिष्टांश के तिरोहित हो जाने से सामान्यमात्र रह जाते हैं।

(ग) साधारणीकरण हो जाने पर प्रमाता (सामाजिक) की चित्तसीमा भी वन्धन हट जाने से अपरिसीम हो जाती है। इस स्थिति में विभावादि की भाँति प्रमाता भी साधारणीकृत हो जाता है और स्व विशिष्टत्व के लोप के कारण वह'सकलसहृदयसंवादभाक्' वन जाता है।

(घ) इस स्थिति में सामाजिक को रत्यादि स्थायी भाव का रस रूप में आस्वादन होने लगता है। स्थायी भाव ही अभिव्यक्ति दशा में रस है। रस चर्वणा सामाजिक को ही होती है। जब तक विभावादिक स्थित हैं तभी तक रसानुभूति होती है। विभावादि व्यंजक हैं तथा रस सदैव व्यंग्य है। रस का रूप केवल आस्वाद्यमान है। यह रसानुभूति पानकरस के सदृश है। जिस प्रकार इलायची, केसर, मिर्च, मिश्री आदि के मिश्रण से निर्मित पानक में उन सभी वस्तुओं से विलक्षण एक अभिनव स्वाद होता है उसी प्रकार काव्य रस का यह आस्वादन है।

(ड) अलौकिक आनन्द-रूप रस का क्षेत्र अपरिमित है। रस के अलौकिकत्व का यही रहस्य है कि लौकिक संसार में भय, क्रोध आदि भाव दुखात्मक होते हैं और मनुष्य उनकी ओर स्वतः प्रवृत्त नहीं होता। किन्तु काव्य में भय, शोकादि के वे ही वर्णन रसानन्द की अनुभूति कराते हैं। इसीलिए करुण रस सम्पन्न काव्य या नाट्य की ओर रसिक की पुनः पुनः प्रवृत्ति होती है। यह काव्यरस विगलित वेद्यान्तर,ब्रह्मास्वादसहोदर, अखण्ड, स्वप्रकाश तथा चिन्मय कहा गया है।[39]

---

39. साहित्य दर्पण—3/2-3— सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणःकैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

अभिनवगुप्त के रस सम्बन्धी इस सिद्धान्त को परवर्ती आचार्य परम्परा ने सहज ही स्वीकार किया। केवल दशरूपककार धनंजय एवं अवलोककार धनिक ने व्यंजनावृत्ति का खण्डन करके रस निष्पत्ति के लिए तात्पर्यावृत्ति को ही पर्याप्त माना। किन्तु धनंजय का सिद्धान्त पुष्ट नहीं हुआ और अभिनवगुप्त का मत ही बहुसम्मत रहा।

रस संख्या—विभावादि से परिपुष्ट होकर अभिव्यक्त होता स्थायी भाव ही रस कहलाता है; अतः जितने स्थायी भाव होगें, रसों की संख्या भी उतनी ही होगी। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में आठ रस कहे थे।[40] उनकी यह संख्या नाट्यदृष्टि से थी। परवर्ती युग में जब नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र ये दो भिन्न धाराएँ प्रवर्तित हुईं तो काव्यशास्त्रकारों ने एक नवम रस-शान्तरस को और माना तथा आचार्य मम्मट ने निर्वेद को शान्तरस का स्थायी भाव घोषित किया। आचार्य विश्वनाथ ने एक और वत्सलरस भी स्वीकार किया तथा उसका स्थायी भाव वत्सलता माना। आचार्य रूपगोस्वामी ने भगवत् विषयक रति स्थायी भाव से भक्ति रसका प्रतिपादन किया और इस प्रकार काव्यरसों की संख्या 11 हो गई। किन्तु अन्य काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने भरत सम्मत आठ रसों के साथ शान्त रस को भी स्वीकार करके नौ ही रस माने तथा वत्सल एवं भक्ति को रस न मान कर भावमात्र ही माना। आचार्य हेमचन्द्र ने स्नेह, भक्ति एवं वात्सल्य को रति का ही एक भेद मात्र कहा।

रससंख्या के सम्बन्ध में भोज का मत सबसे भिन्न है। उन्होंने शृंगारादि आठ रसों और उनके आठ स्थायी भावों का कथन किया और पुनः चार और रसों का भी प्रतिपादन किया-प्रेयान्, शान्त, उदात्त और उद्धत; तथा इस प्रकार रसों की संख्या बारह तक पहुँचा दी।

किन्तु इतने भिन्न मत मतान्तर होने पर भी अधिकांशतः रस की संख्या आठ या नौ स्वीकार की गई है।

काव्यात्मतत्त्व रस—जिस प्रकार इस पंचमहाभूतात्मक शरीर में आत्मा ही प्रधान तत्त्व है, उसी प्रकार रसवादी अचार्यों की दृष्टि से शब्दार्थ शरीर रूपी काव्य में रस ही एक मात्र आत्मतत्त्व है। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने ही कहा था कि 'काव्य में रस के बिना कोई अर्थ प्रवर्तित नहीं होता।' भरत के बाद भी आचार्यों ने रस को ही काव्य का प्रधान तत्त्व कहा। अग्निपुराण ने भी यही सिद्धान्त पुष्ट किया था कि 'वचन चातुर्य का चमत्कार होने पर भी रस ही काव्य का प्राण है।'

भामह, दण्डी, उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्यों ने यद्यपि काव्य में अलंकारतत्त्व को प्रधानता दी थी तथापि प्रेम, रसवत् आदि अलंकारों में रस का अन्तर्भाव करके भी उसको स्वीकार अवश्य किया। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी प्रकारान्तर से (रसध्वनि के रूप में) रस को ही काव्य की आत्मा माना। परवर्ती समस्त आचार्य सर्वतोभावेन रस का प्राधान्य स्वीकार करते हैं इस प्रकार काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में रस सुप्रतिष्ठित है।

---

40. नाट्यशास्त्र 6/15— शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्सादभुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

अलंकार सम्प्रदाय

आचार्य भरत ने रस को काव्य-नाट्य का आत्मतत्त्व घोषित किया था। भरत के पर्याप्त समय के पश्चात् भामह, दण्डी आदि ने काव्य में अलंकार को मुख्यता प्रदान की और रस को अलंकार का उपकारक तत्त्व मानकर काव्य में रसतत्त्व की गौणता अथवा अंगरूपता प्रतिप्रादित की। इन आचार्यों ने अलंकार सम्प्रदाय की अत्यन्त सुदृढ़ नींव रखी। परिणामत: परवर्ती काल में ध्वनि आदि के सम्प्रदायों के आचार्यों ने भले ही अलंकार को काव्य का आत्मभूत तत्त्व स्वीकार नहीं किया, तथापि अपने अपने ग्रन्थों में अलंकारों का विस्तृत विवेचन अवश्य किया।

अलंकार का सामान्य अर्थ है—आभूषण, शृंगारसाधन, सौन्दर्यविशेषक तत्त्व। जिस प्रकार स्त्री के सहज सौन्दर्य को अधिक निखार देने वाले हार, कुण्डल आदि अलंकार कहलाते हैं, उसी प्रकार शब्दार्थ को अधिक आकर्षक एवं परिष्कृत बना देने वाले काव्य तत्त्व भी अलंकार कहलाते हैं। सामान्य जीवन में वाणी का प्रयोग सहज गति से भी चलता रहता है किन्तु काव्य के क्षेत्र में वाणी का अलंकृत रूप ही मान्य एवं सुशोभित हाता है। अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य में सौन्दर्य, रमणीयता तथा अतिशय का आधान करने वाले सभी तत्त्वों को अलंकार की कोटि में परिगणित कर लिया। दण्डी ने काव्य के शोभाकर धर्मों को अलंकार कहा[41] और वामन ने काव्यक्षेत्र में सौन्दर्य मात्र को अलंकार नाम देते हुए अलंकारों के कारण ही काव्य को ग्राह्य स्वीकार किया।[42]

काव्य शास्त्रीय प्रयोग की दृष्टि से सर्वप्रथम यास्क के निरुक्त में अंलकार शब्द प्राप्त होता है। यास्क ने उपमा पद की विस्तृत व्याख्या करते हुए कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, लुप्तोपमा आदि उपमागत अनेक भेदों को स्पष्ट किया।[43] पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों में उपमान, उपमा, सादृश्य, उपमित आदि[44] पदों के ग्रहण से यह स्पष्ट होता है कि यास्क एवं पाणिनि के मध्यवर्ती काल में अलंकारों का शास्त्रीय विवेचन होने लगा था। कात्यायन ने अपने एक वार्तिक में उपमावाचक 'इव' शब्द के साथ नित्य समास करने का विधान किया था।[45] पतंजलि के महाभाष्य में पाणिनि के सूत्रों में आए हुए उपमा आदि शब्दों का निर्वचन किया गया है।

इससे स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में अत्यन्त प्रारम्भ से ही काव्यगत अलंकारों पर विचार अवश्य होता रहा, किन्तु आचार्य के रूप में भरत ने ही सर्वप्रथम अलंकारों का

---

41. काव्यादर्श 2/1-काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
42. काव्यालंकारसूत्र—1/1/1-2— काव्यं ग्राह्यमलकांरात्।
    सौन्दर्यमलंकार:
43. निरुक्त 3/3/14—उपमा अतत् तत्सदृशम्।
    3/4/11.....18
44. अष्टाध्यायी—2/1/55-56; 2/3/72; 3/1/10; 5/1/115 आदि।
45. अष्टाध्यायी—2/4/71 पर वार्तिक—इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च।

शास्त्रीय विवेचन किया। या यों भी कहा जा सकता है कि अद्यावधि नाट्यशास्त्र ही वह उपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें काव्यालंकारों का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। आचार्य भरत ने केवल उपमा, रूपक, दीपक और यमक-इन चार ही अलंकारों का कथन किया था।[46] उन्हों 36 नाट्यलक्षणों का भी विधान किया था।[47] परवर्ती आचार्यों ने उन नाट्यलक्षणों में से भी संशय, दृष्टान्त, अर्थापत्ति, निदर्शन आदि अनेक लक्षणों को काव्यगत अलंकारों में परिगणित कर लिया। भरत से प्रारम्भ हुआ यह संक्षिप्त अलंकार विवेचन उत्तरोत्तर विस्तृत ही होता गया तथा अलंकारों की संख्या 125 तक पहुँच गई।

आचार्य एवं विकास क्रम—भामह (7 वीं शती ई. पूर्वार्ध) अलंकार सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य के रूप में समादृत हैं जिन्होंने अलंकार को काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। इन्होंने अपने 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ में 38 अलंकार का विवेचन किया है। भामह ने रस और भाव की स्वतन्त्र सत्ता न मानकर उन्हें अलंकारों में ही समाविष्ट किया और अलंकृति अर्थात् चमत्कृति को काव्य का स्वस्व कहा। वक्रता युक्त उक्ति ही अलंकार है।[48] अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति अभिन्न हैं तथा वक्रोक्ति के बिना कोई अलंकार नहीं होता।[49]

अलंकार सम्प्रदाय के दूसरे मूर्धन्य आचार्य दण्डी (7वीं शती ई. उत्तरार्द्ध) ने काव्य के सभी शोभाकर धर्मों को अलंकार की संज्ञा दी[50], और अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में 37 अलंकारों का प्रतिपादन किया। दण्डी ने वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलंकार की आत्मा माना।

आचार्य वामन (8 वीं शती उत्तरार्ध एवं 9 वी शती प्रथम चरण) यद्यपि रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक रहे, तथापि अलंकार क्षेत्र में भी वे महत्वपूर्ण हैं। काव्यात्मक सौन्दर्य को अलंकार नाम देते हुए वामन ने अलंकार के कारण ही काव्य को ग्राह्य माना। वामन के अनुसार काव्य की शोभा गुणों से होती है किन्तु उस शोभा का अतिशय तो अलंकार ही करते हैं।[51] वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसंग्रह' में 31 अलंकारो का वर्णन किया।

आचार्य उद्भट (800 ई.) ने 'अलंकारसारसंग्रह' नामक ग्रन्थ में 41 अलंकारों का विवेचन किया। उद्भट ने भी काव्य में अलंकारों की प्रधानता का प्रतिपादन किया।

---

46. नाट्य शास्त्र 17/43— उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥
47. नाट्यशास्त्र 16 अनुबन्ध/42
48. काव्यालंकार 1/36—वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।
49. काव्यालंकार 2/85— सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यो कोऽलंकारोऽनया विना॥
50. काव्यादर्श 2/1
51. काव्यालंकारसूत्र 3/1/1, 2— काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः॥
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ॥

आचार्य रुद्रट (850 ई.) ध्वनिवादी एवं अलंकारवादी आचार्यों के मध्य एक कड़ी की भाँति हैं। रुद्रट ही ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया तथा अलंकारों को कुछ निश्चित श्रेणियों में विभक्त किया। रुद्रट ने काव्य में रस की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए भी काव्य सौन्दर्य के लिए अलंकारों को ही अधिक महत्त्व दिया।[52] रुद्रट ने कुल 62 अलंकारों का वर्णन किया जिनमें 57 अर्थालंकार हैं। वास्तव, औपम्य, अतिशय एवं श्लेष इन चार के आधार पर रुद्रट ने समस्त अर्थालंकारों का चार भिन्न वर्गों में वर्गीकरण किया।

रुद्रट के ही लगभग समकालीन आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया और काव्य में अलंकारों की प्रधानता पर प्रबल प्रहार किया। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य में अलंकारों का स्थान गौण माना; तदनुसार काव्य में अलंकारों का प्रयोग अंग रूप में होना चाहिए, अंगी रूप में नहीं। आनन्दवर्धन की मान्यता को और विकसित करते हुए आचार्य मम्मट ने काव्य में अलंकारों को गुणों के समकक्ष भी स्थान नहीं दिया। मम्मट के अनुसार काव्य में अलंकारों की स्थिति अनिवार्य नहीं है। वे तो काव्य के अस्थिर धर्म है। किन्तु अलंकारों को काव्य में गौण बना देने वाले रसवादी अथवा ध्वनिवादी आचार्यों ने भी अपने अपने शास्त्रीय ग्रन्थों में अलंकारों का पर्याप्त विस्तृत विवेचन किया। स्वयं मम्मट ने 68 अलंकारों का सोदाहरण वर्णन किया। भोज ने 72 अलंकार परिगणित किए। आचार्य रुय्यक के समय तक 118 अलंकारों की उद्‌भावना हो चुकी थी। उन्होंने विश्लेषण पूर्वक उनमें से 75 को स्वीकार किया एवं 7 अलंकारों की स्वयं उद्‌भावना करके कुल 82 अलंकारों का विवेचन किया। आचार्य रुय्यक के पश्चात् जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों ने रुय्यक की परिपाटी पर ही अलंकारों की समीक्षा की। अलंकार सम्प्रदाय के उत्तरवर्ती आचार्यों में अप्पय दीक्षित (16 वीं शती का अन्त एवं 17 वीं शती का पूर्वार्ध) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके 'चित्रमीमांसा' (अपूर्ण ग्रन्थ) तथा 'कुवलयानन्द' ग्रन्थों में कुल 123 अलंकारों का विवेचन हुआ है। अप्पय दीक्षित ने उपमा को सभी अलंकारों का मूल माना।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अलंकार सम्प्रदाय अपनी उद्‌भावना के समय से लेकर निरन्तर अक्षुण्ण रूप से विवेचित रहा।

रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय भारतीय काव्यशास्त्र का एक महनीय सिद्धान्त है। आचार्य वामन (800 ई. के लगभग) ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित करके इस सम्प्रदाय की स्थापना की। वामन का एक ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है—'काव्यालंकार-सूत्रवृति'। पाँच अधिकरणों के बारह अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। वामन ने काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया। आचार्य वामन के अनुसार 'पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है, और विशेष का अर्थ है गुणों से

52. काव्यालंकार 12 /2

युक्त होना। ये गुण काव्य की शोभा के सम्पादक नित्य धर्म हैं।[53] वामन से पूर्व भामह एवं दण्डी ने भी 'मार्ग' नाम से रीति का प्रतिपादन किया था, किन्तु काव्य की आत्मा के रूप में रीति की स्थापना वामन ने ही की।

विकासक्रम—काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में रीति या मार्ग शब्द का प्रयोग मूलतः भौगोलिक विशेषताओं के लिए प्रवर्तित हुआ था। आचार्य भरत ने रीति के लिए प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग किया जो भारत के विभिन्न भूभागों से सम्बद्ध थी। भरत ने आवन्ती, दक्षिणात्या,पांचाली एवं औड्मागधी-इन चार प्रवृत्तियों का कथन किया है।[54] इन नामों से स्पष्ट होता है कि भरत के समय तक प्रादेशिक भिन्नता के आधार पर भाषा प्रयोग का वैशिष्ट्य भी लोक में बद्धमूल हो चुका था। किन्तु सर्वप्रथम आचार्य भामह ने रीति का विशद विवेचन मार्ग नाम से किया। दण्डी ने भी मार्ग नाम ही ग्रहण किया किन्तु भामह की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। दण्डी के अनुसार 'सूक्ष्मभेद के कारण काव्यरचना के अनन्त मार्ग हैं। मुख्य भेद दो—वैदर्भ एवं गौड़ है। प्रत्येक कवि का मार्ग इन्हीं दो के अन्तर्गत होकर भी परस्पर भिन्न-भिन्न होता है। उन अनन्त भेदों का वर्णन असम्भव है।[55] दण्डी ने दस काव्यगुणों का सम्बन्ध भी मार्ग से स्थापित किया।[56]

दण्डी के पश्चात् आचार्य वामन हुए जिन्होंने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' [57] कह कर रीति सम्प्रदाय स्थापित किया। वामन ने वैदर्भ तथा गौड़ीय मार्ग के अतिरिक्त पांचाली नामक एक और रीति[58] प्रतिपादित करके उनकी संख्या तीन कर दी। वामन ने भी गुणों तथा रीति का नित्य सम्बन्ध माना किन्तु 10 शब्द गुण और 10 अर्थगुण मानकर गुणों की संख्या बीस कर दी। वामन ने रीति को देशविशेष मात्र से न जोड़कर उसे व्यवहार रूप में प्रतिपादित किया।[59]

---

53. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/2/7—विशिष्टा पदसंघटना रीतिः।
1/2/8—विशेषो गुणात्मा।
3/1/1—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।

54. नाट्यशास्त्र—चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पांचाली चौड्मागधी॥

55. काव्यादर्श 1/40— अस्त्यनेको प्रवृत्तिश्व प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
1/10— इति मार्गद्वयं भिन्नं......
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः॥

56. काव्यादर्श 1/41-42— श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि॥

57. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति 1/2/6

58. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/2/9—सो त्रेधा वैदर्भी गौडीया पांचाली चेति।

59. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/2/10 तथा उस पर वृत्ति।

आचार्य रुद्रट ने भी रीति को व्यवहार की परम्परा से ही जोड़ा, तथा लाटी नामक एक और रीति की उद्भावना करके रीतिसंख्या चार कर दी।[60] रुद्रट ने समास के आधार पर चारों रीतियों को विभक्त किया।[61]रुद्रट की एक और विशेषता यह रही कि उन्होंने रीति और रस का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया।[62] और रसौचित्य के अनुकूल ही रीतिसंयोजन की व्यवस्था दी।[63]

राजशेखर (10वीं शती प्रारम्भ) ने रीति का विशद विवेचन किया और वचन विन्यास क्रम को रीति कहा।[64] इन्होंने वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीति को मान्यता दी। साथ ही अपनी नाटिका (सट्टक) कर्पूरमंजरी में मागधी रीति का भी प्रतिपादन किया।

भोज ने रुद्रट कथित चार रीतियों के साथ-साथ आवन्तिका एवं मागधी नामक और दो रीतियों का कथन करके रीतिसंख्या छह कर दी।[65] इन्होंने रीति का आधार गुण व समास दोनों को बनाया।

आचार्य कुन्तक ने रीति को पुन: मार्ग नाम से ही अभिहित किया एवं नवीन पद्धति से उनका विवेचन किया।[66] तदनुसार भौगोलिक प्रदेश से मार्ग का कोई सम्बन्ध नहीं होता;कवि का स्वभाव एवं आन्तरिक गुण ही मार्ग के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। मनुष्य स्वभाव अनन्त होने के कारण मार्ग भी अनन्त हो सकते है किन्तु इनको तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—

1. **सुकुमार मार्ग**—कोमल तथा असमस्त पदों का विन्यास; यथा कालिदास की रचनाएं।

2. **विचित्र मार्ग**—अलंकार प्राधान्य तथा बाह्याडम्बर; यथा भारवि, माघ, बाण एवं भवभूति की रचनाएँ।

3. **मध्यम मार्ग**—उपर्युक्त दोनों मार्गों का सम्मिश्रण; यथा मातृगुप्त आदि की रचनाएँ।

कुन्तक का यह विवेचन परवर्ती कवियों में अधिक मान्य नहीं हुआ तथा वैदर्भी आदि रीति नाम ही प्रचलित हुए।

शारदातनय ने देशविशेष के साथ रीति का सम्बन्ध स्वीकार करते हुए वचनविन्यासक्रम

---

60. काव्यालंकार 1/6—

61. काव्यालंकार 2/4-5—

62. काव्यालंकार 14/37—

63. काव्यालंकार 15/20— वैदर्भीपांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयगौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्।

64. काव्यमीमांसा—वचनविन्यासक्रमो रीतिः।

65. सरस्वती कण्ठाभरण 2/51— वैदर्भी साऽथ पांचाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिः विनिगद्यते॥

66. वक्रोक्विजीवित—प्रथम उन्मेष—24 से 52 कारिका

को रीति कहा और प्राचीन वैदर्भी आदि चार रीतियों के साथ सौराष्ट्री और द्राविड़ी रीति का भी कथन किया।[67] शिंगभूपाल ने पद समास के आधार पर तीन रीतियों का निर्धारण किया- कोमला, कठिना तथा मिश्रा। उन्होंने मिश्रा रीति के अन्तर्गत भौगोलिक स्थिति के अनुसार आन्ध्री, लाटी तथा सौराष्ट्री की भी गणना की।[68]

ध्वनिवादी आचार्यों ने भी रीति पर विचार अवश्य किया। उसके अनुसार पदसंघटना वैशिष्ट्य ही रीति है। माधुर्य आदि गुणों के आश्रय से रीति रस को अभिव्यक्त करती है। परन्तु यह रीति काव्य का बाह्य तत्त्व ही है। इन आचार्यों ने काव्य में रीति का स्थान शरीर में अवयवसंस्थान विशेषवत् माना। आचार्य मम्मट ने तो रीति का समावेश वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत ही कर दिया।

रीति सम्प्रदाय के इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र में वहुत प्रारम्भ से ही रीतितत्त्व पर विचार किया गया था, जिसकी चरम परिणति वामन के 'रीतिरात्मा काव्यस्य' सिद्धान्त में हुई। किन्तु ध्वनिसम्प्रदाय की स्थापना होने पर काव्य में रीति का स्थान अत्यन्त गौण रह गया।

विभिन्न रीतियाँ—भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा रीतियों की संख्या भिन्न भिन्न निर्धारित करने पर भी चार रीतियाँ अधिकांशतः स्वीकृत हुई। साहित्यदर्पणकार के अनुसार इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है।[69]

वैदर्भी—जिस में माधुर्यगुण व्यंजक वर्ण हों, जो समास रहित अथवा अत्यन्त अल्प समास युक्त हो, ऐसी ललित रचना वैदर्भी रीति कहलाती है।

गौड़ी—जिसमें ओज गुण व्यंजक वर्ण हों, वाह्याडम्बर हो तथा जो समास वहुल हो, ऐसी रचना गौड़ी रीति कहलाती है।

पांचाली—माधुर्य एवं ओज गुणों के सम्मिश्रित वर्णोंवाली तथा पाँच छह पदों तक के समास वाली रचना पांचाली रीति कहलाती है।

लाटी—वैदर्भी तथा पांचाली रीति के सम्मिश्रण से सम्पन्न रचना लाटी रीति है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

प्राचीन आचार्यों की मान्याताओं से हट कर आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का आत्मतत्त्व घोषित करके एक नवीन सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया-वक्रोक्ति सम्प्रदाय। आचार्य कुन्तक के अनुसार जब शास्त्र एवं लोकव्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द-अर्थ की रचना से भिन्न मार्ग का अवलम्बन किया जाता है तो इससे काव्य में एक विचित्रता

---

67. भाव प्रकाशन—रीतिर्वचनविन्यासक्रमः साऽपि चतुर्विधा।

68. रसार्णवसुधाकर 1/228—रीतिः स्याद् पदविन्यासभंगी सा नु त्रिधा मता।
कोमला कठिना मिश्रा चेति........
1/241....आन्ध्री लाटी च सौराष्ट्रीत्यादयो मिश्ररीतयः।

69. साहित्यदर्पण—9/2...5

उत्पन्न होकर सौन्दर्य का समावेश होता है। यह विचित्रता ही वक्रोक्ति है।[70] और यही काव्य का प्राणभूत तत्त्व है।

विकास क्रम—लोक एवं साहित्य में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में प्राप्त होता है, किन्तु इसका काव्यशास्त्रीय प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य भामह ने किया। उन्होंने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को अभिन्न माना और अलंकारो के लिए वक्रोक्ति की अनिवार्यता प्रतिपादित की।[71] आचार्य दण्डी का मत भी भामह के लगभग सदृश ही रहा।[72] भामह एवं दण्डी ने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारो का मूल मानकर उसे जो अत्यन्त व्यापक स्वरूप प्रदान किया था, वह परवर्ती युग में मान्य नहीं रहा। वामन एवं रुद्रट ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार अथवा शब्दालंकार मात्र माना।[73] ध्वनिवादी आचार्यों ने भी वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति से अभिन्न मान कर वक्रोक्ति को काव्यसौन्दर्य का अभिव्यंजक कहा।[74]

भोज के समकालीन आचार्य कुन्तक हुए जिन्होंने व्रकोक्ति को काव्यात्मा पद पर प्रतिष्ठित किया। वक्रोक्ति की स्थापना एवं विशद विवेचन हेतु उन्होंने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। कुन्तक के अनुसार विचित्र अभिधा ही वक्रोक्ति है।[75] यह वक्रोक्ति शब्द एवं अर्थ का ऐसा प्रयोग है जो शास्त्र तथा लोक में प्रसिद्ध शब्द अर्थ के प्रयोग से भिन्न भी है और लोक प्रयोग को अतिक्रान्त भी करता है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी काव्य को लोकोत्तर वर्णन में निपुण कविकर्म कहा था।

कुन्तक ने काव्य के सभी तत्त्वों का समावेश वक्रोक्ति में करते हुए अत्यन्त वैज्ञानिक विश्लेषण किया और वक्रोक्ति के अनेक भेदोपभेदों का विवेचन प्रस्तुत किया।[76] वक्रोक्ति के मुख्य छह भेद हैं जिनके नामों से ही वे स्पष्ट हो जाते हैं—

1. **वर्णविन्यासवक्रता**–इसमें अनुप्रास, यमक, तीन वृत्तियाँ एवं सभी रीतियाँ अन्तर्भूत हो जाती हैं।
2. **पदपूर्वार्द्धवक्रता**—इसके नौ उपभेद हैं।
3. **प्रत्यय वक्रता**—इसके छह उपभेद हैं।
4. **वाक्यवक्रता**—इसके दो रूप होते हैं तथा इसमें उपमा, रसवद् आदि सभी अलंकार अन्तर्भूत हो जाते हैं।
5. **प्रकरणवक्रता**—प्रकरण में वक्रता नौ प्रकारों से लाई जा सकती है।

---

70. वक्रोक्तिजीवित 1/10 की वृत्ति—विचित्रैवाभिधा व्रकोक्तिरित्युच्यते।
71. काव्यालंकार 2/85
72. काव्यादर्श 2/7, 2/8, 2/362.
73. काव्यालंकारसूत्र 4/3/8; काव्यालंकर 2/14,16
74. ध्वन्यालोक 3/37 की वृत्ति; लोचनटीका पृष्ठ 208; काव्यप्रकाश 9/78; 10/136 की वृत्ति
75. वक्रोक्तिजीवित 1/1—वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते।
76. वक्रोक्तिजीवित 1/18.......21.

6. **प्रबन्धवक्रता**—इसके छह प्रभेद हैं।

इतना विस्तृत विवेचन करके भी कुन्तक की यही मान्यता थी कि ये सारे भेदोपभेद तो निदर्शन मात्र हैं। वक्रोक्ति के तो अनन्त भेद हैं जिसकी उत्प्रेक्षा शिष्ट सहृदय जनों को स्वयमेव कर लेनी चाहिए।[77]

यह ज्ञातव्य है कि आचार्य कुन्तक के समय तक रस, अलंकार, रीति एवं ध्वनि सम्प्रदायों का प्रवर्तन हो चुका था। कुन्तक ने इन सभी सम्प्रदायों का सम्यक् अनुशीलन करके उन सबका प्रबल खण्डन किया एवं वक्रोक्ति को काव्य के आत्मतत्त्व रूप में स्थापित किया। कुन्तक ने अलंकार, रीति, रस,ध्वनि एवं काव्य के सभी सौन्दर्याधायक तत्त्वों का अन्तर्भाव वक्रोक्ति में कर दिया, क्योंकि वे इन सभी तत्त्वों की अपेक्षा वक्रोक्ति का क्षेत्र बहुत विस्तृत मानते थे। किन्तु वक्रोक्ति का सांगोपांग विवेचन करने पर भी कुन्तक का सिद्धान्त चिरमान्य नहीं हो सका। कुन्तक के परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति को शब्दार्थ-काव्यशरीर से सम्बद्ध मानकर उसे एक शब्दालंकार मात्र सिद्ध किया। इस प्रकार कुन्तक से प्रवर्तित वक्रोक्ति सम्प्रदाय कुन्तक के साथ ही समाप्त हो गया।

औचित्य सम्प्रदाय

लोक में औचित्य का परम महत्त्व है। आचार्य क्षेमेन्द्र काव्यशास्त्र में औचित्य सम्प्रदाय के उन्नायक हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' में औचित्य तत्त्व को काव्य का आत्मस्थानीय तत्त्व घोषित किया। उनके अनुसार रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवित औचित्य ही है। काव्य के रस, अलंकार, गुण, रीति आदि सभी तत्त्व औचित्यपूर्वक विनियोजित होने पर ही रमणीय बन पाते हैं।[78] औचित्य के अभाव से ही रसभंग होकर अरुचि उत्पन्न होती है।

विकासक्रम—क्षेमेन्द्र के द्वारा काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में औचित्य की प्रतिष्ठा किए जाने से पूर्व भी इसकी अनिवार्यता एवं महत्त्व से काव्यशास्त्रीय आचार्य अनभिज्ञ नहीं थे। औचित्य नाम न देकर भी इस तत्त्व की चर्चा भरत, भामह, दण्डी आदि सभी में उपलब्ध होती है। नाट्याभिनय के लिए आचार्य भरत ने जो निर्देश दिए हैं,[79] उनसे औचित्य के क्रियात्मक महत्त्व का समुचित परिज्ञान होता है। भरतमुनि ने लोकवृत्ति, लोकधर्म तथा लोकव्यवहार पर जो पुन:पुन बल दिया है,[80] उससे औचित्य-प्रतिपादन ही ग्रहण होता है।

भामह ने भी प्रकारान्तर से औचित्य पर ही सर्वाधिक बल दिया। उनके अनुसार

---

77. वक्रोक्तिजीवित 1/19 की वृत्ति—एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिता । शिष्टाश्च सहस्रश: सम्भवन्तीति महाकविप्रवाहे स्वयमेवोत्प्रेक्षणीया:

78. औचित्यविचारचर्चा 5— अलंकारास्त्वलंकारा: गुणा: एव गुणा: सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

79. नाट्यशास्त्र 14/68, 23/69; 26/119;

80. नाट्यशास्त्र 26/113— लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते॥

दुष्ट उक्ति भी औचित्यपूर्ण सन्निवेश के कारण वैसे ही सुशोभित होती है जैसे पुष्पमाला के बीच में गुंथा हुआ नीलवर्णी पलाश सुशोभित होता है।[81] दण्डी ने भी भामह की विचारधारा का अनुवर्तन किया। वस्तुतः इन दोनों आचार्यों ने काव्य गुणों एवं दोषों के विवेचन में औचित्य एवं अनौचित्य की हेतुता का प्रतिपादन किया था।[82] केवल औचित्य शब्द मात्र को ग्रहण नहीं किया था।

अलंकारवादी आचार्यों ने काव्यरचना में औचित्य के विशेष महत्त्व को स्वीकार करते हुए औचित्य शब्द का भी ग्रहण किया। रुद्रट ने औचित्य के अनुवर्तन पूर्वक ही अनुप्रास,यमक आदि अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग सम्भव माना।[83] ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने अलंकार, गुण, रीति वृत्ति, संघटना, प्रबन्ध, रस-सभी के औचित्य का प्रतिपादन किया और स्पष्ट कहा कि 'अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई कारण नहीं होता।[84] अभिनवगुप्त के मत में अलंकार्य रस को उचित रूप से शोभायमान कर देने वाले अलंकारों का ही काव्य में औचित्य होता है।[85]

अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के द्वारा ग्रहण एवं स्वीकृत औचित्यतत्त्व को काव्य का आत्मतत्त्व ही घोषित कर दिया। उन्होंने औचित्य का लक्षण इस प्रकार दिया 'जो वस्तु जिसके सदृश (अनुरूप) होती है, उसे आचार्य जन उचित कहते हैं और उचित का भाव औचित्य कहलाता है।[86] काव्यगत यह औचित्य चमत्कारजनक एवं आस्वाद्यता उत्पादक होता है, तथा औचित्य ही रस का भी प्राणभूत तत्त्व है। क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य में प्राणभूत औचित्य के न होने पर अलंकार और गुण भी व्यर्थ हो जाते हैं। अलंकार काव्य के बाह्य उपकरण हैं, गुण अन्तरंग तत्त्व होने पर भी आत्मस्थानीय नहीं हैं। काव्य का स्थिर जीवित तत्त्व औचित्य ही हैं। अलंकारों का अलंकारत्व तथा गुणों का गुणत्व तभी है जब वे औचित्यपूर्वक विनियोजित हों।'

क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य निहित होने के कारण उसके अनन्त भेद होते हैं जिनको गिना ही नहीं जा सकता। क्षेमेन्द्र ने विचारपूर्वक औचित्य के 27 भेदों का विवेचन किया।[87] शेष के लिए उनका कहना है कि अन्य काव्यांगों में औचित्य की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए।[88]

---

81. काव्यालंकार— सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव॥
82. काव्यालंकार 4/14; काव्यादर्श 4/5, 10.
83. रुद्रट-काव्यालंकार 2/32, 3/59
84. ध्वन्यालोक 3/14—अनौचित्यादृत्रते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
85. ध्वन्यालोक 2/6 पर लोचनटीका
86. औचित्यविचारचर्चा 7— उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल तस्य तत्।
उचितस्य च या भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥
87. औचित्यविचारचर्चा 8, 9, 10
88. औचित्यविचारचर्चा 39—अन्येषु काव्याङ्गेष्वनयैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्।

इस समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य क्षेमेन्द्र से पूर्व ही औचित्य तत्त्व की ऐतिहासिक पीठिका पर्याप्त पुष्ट थी। क्षेमेन्द्र ने उसी औचित्य को काव्य का स्थिर आत्मतत्त्व घोषित किया। किन्तु यह औचित्य सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हो सका। काव्य में औचित्य महत्त्वपूर्ण अवश्य है किन्तु वह काव्य की आत्मा नहीं है। काव्य में तो रस ही साध्य है; रस का साधनभूत होने के कारण औचित्य अंग रूप ही है।

ध्वनि सम्प्रदाय

काव्य के अन्तस्तत्त्व के अन्वेषण क्षेत्र में ध्वनि सम्प्रदाय भारतीय काव्यालोचन एवं सौन्दर्यदर्शन का एक अप्रतिम सिद्धान्त है, जिसमें अन्य सभी सिद्धान्तों का समाहार हो गया। काव्य के तात्त्विक विवेचन एवं व्यापक दृष्टि के कारण यह सिद्धान्त सर्वप्रसिद्ध है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इस के विवेचन में तर्कपूर्वक यह सिद्ध कर दिया, कि रस, रीति, अलंकार गुण आदि सभी ध्वनि के सहायक किंवा अंगभूत हैं। काव्य में ध्वनि ही आत्मतत्त्व है, अन्य कोई तत्त्व काव्य की आत्मा नहीं हो सकता। आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के द्वारा इस महनीय सम्प्रदाय की स्थापना की। काव्य में अन्य सब तत्त्वों से भिन्न जो प्रतीयमान अर्थ होता है वही सहृदय को आह्लादित करता है। और उसी को ध्वनि कहते हैं। यही ध्वनि अथवा प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है।[89] ध्वनि सिद्धान्त की महनीयता इसी में है कि ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए भी काव्य के अन्य तत्त्वों की सर्वथा उपेक्षा नहीं की गई।

आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने शब्द, अर्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंजना व्यापार शक्ति एवं काव्य—इन सभी को ध्वनि कहा।[90] तदनुसार ही आचार्य विश्वेश्वर ने ध्वन्यालोक ग्रन्थ की टीका की भूमिका में उपर्युक्त पाँचों में ध्वनित्व की सिद्धि इस प्रकार घटित की है—

1. ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यंजक शब्दः ध्वनिः—वह व्यंजक शब्द, जो ध्वनित करे या कराए, ध्वनि कहलाता हैं।

2. ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यजकोऽर्थः ध्वनिः—वह व्यंङ्ग्य अर्थ, जो ध्वनित करे या कराए, ध्वनि कहलाता हैं।

3. ध्वन्यते इति ध्वनिः—व्यंङ्ग्य अर्थ (रस, अलंकार, वस्तु) ध्वनि है।

4. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाए वह व्यंजना शक्ति ध्वनि है।

5. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः—जिसमें रस, अलंकार वस्तु आदि ध्वनित होते हैं वह काव्य ध्वनि है।

ध्वनिवादी अपने ध्वनि सिद्धान्त के लिए वैयाकरणों के स्फोटवाद के ऋणी हैं। वैयाकरणों ने स्फोटरूप मुख्य अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाले शब्द के लिए 'ध्वनि' पद

---

89. ध्वन्यालोक 1/4—प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
1/5—काव्यस्यात्मा स एवार्थ....

90. ध्वन्यालोक 1/13 की वृत्ति एवं उस पर लोचन टीका

का प्रयोग किया था। आलंकारिकों ने इसी समानता के आधार पर 'ध्वनि' पद को ग्रहण करके उसको अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक बना दिया।

काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि की स्थापना आनन्दवर्धन ने अवश्य की किन्तु काव्य के प्रतीयमान अर्थ के महत्त्व से आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती रीतिवादी एवं अलंकारवादी आचार्य भी सुपरिचित थे, यह स्वयं ध्वनिकार ने स्वीकार किया है।[91] उन्होंने ध्वन्यालोक में ध्वनिविरोधी मतों का उल्लेख करके फिर उनका युक्तिपूर्वक खण्डन भी किया है। इससे स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन से पूर्व ध्वनि सिद्धान्त का प्रचलन अवश्य था, किन्तु इस सिद्धान्त को व्यवस्थित, वैज्ञानिक एवं पुष्ट स्वरूप आनन्दवर्धन ने ही प्रदान किया।

आनन्दवर्धन ने ध्वनिकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी—जहाँ (वाच्य) अर्थ स्वयं को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग ध्वनि (काव्य) कहते हैं।[92] अर्थात् जिस काव्य में शब्द एवं अर्थ स्वयं को अप्रधान बना कर एक अपूर्व व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं वह ध्वनि काव्य कहलाता है। ध्वनि में व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ से महत्त्वपूर्ण होना आवश्यक है। वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अतिशयसम्पन्न होने पर ध्वनिकाव्य होता है; किन्तु यदि व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ ही अधिक रमणीय एवं चारुता सम्पन्न हो तब वह काव्य गुणीभूतव्यंग्य काव्य की श्रेणी में आता है।[93] जिस काव्य में केवल अलंकारों का आडम्बर हो, उसे आनन्दवर्धन ने काव्य के अन्तर्गत ही न मानकर काव्य की अनुकृति मात्र कहा।[94] आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन प्रकार किए-वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि एवं रसध्वनि-तथा इनमें से रस ध्वनि को ही काव्य के परम तत्त्व के रूप में मान्यता दी।

आचार्य आनन्दवर्धन ने जिस ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की, उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रायः उसी को मान्यता दी। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' पर लोचन टीका में इस सिद्धान्त की विस्तार से चर्चा की। उन्होंने ध्वनि विषयक सभी शंकाओं का समाधान किया और ध्वनि के सम्बन्ध में अनेक नवीनताओं के उपन्यास पूर्वक इस सिद्धान्त को दृढ़ बनाया।

ध्वनिसम्प्रदाय में आचार्य मम्मट का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। आनन्दवर्धन के उपरान्त भट्टनायक आदि ने ध्वनि का प्रबल खण्डन किया था। आचार्य मम्मट ने ध्वनिवरोधियों की सभी युक्तियों का प्रबल तर्क पूर्वक खण्डन किया और ध्वनि की महत्ता, उपयोगिता तथा व्यापकता की स्थापना की। इसी कारण मम्मट को 'ध्वनिप्रस्थापन

91. ध्वन्यालोक 1/19; 3/37 की वृत्ति; 3/47 आदि
92. ध्वन्यालोक 1/13— यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
93. ध्वन्यालोक 3/35.
94. ध्वन्यालोक 3/41 की वृत्ति—ततोऽन्यद् रसभावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ।

परमाचार्य ' के नाम से स्मरण किया जाता है।

मम्मट ने आनन्दवर्धन के सदृश ही ध्वनि का लक्षण किया और ध्वनि की प्रधानता-अप्रधानता के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम ये त्रिविध भेद किए।[95] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी ध्वनि सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना की और मम्मट कथित अधम काव्य में काव्यत्व के खण्डन पूर्वक काव्य के दो ही भेद स्वीकार किए।[96] पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने 'रसगंगाधर' ग्रन्थ में ध्वनि सिद्धान्त का तर्कसम्मत प्रबल समर्थन किया। इन्होंने काव्य के उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम एवं अधम ये चार भेद प्रस्तुत किए। वस्तुतः ध्वनि प्रस्थान के अन्तिम प्रौढ़ आचार्य पण्डित राज जगन्नाथ ही हुए।

ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तन, पोषण, पुनर्स्थापना एवं परिपक्वता के साथ ही ध्वनि विरोध की भी एक प्रबल धारा निरन्तर प्रवहमान रही। इसमें मुकुल भट्ट, भट्टनायक, धनंजय एवं धनिक, कुन्तक, महिमभट्ट, प्रतिहारेन्दु आदि प्रमुख आचार्य थे जिन्होंने ध्वनि पर प्रबल आक्षेप किए; किन्तु ध्वनि समर्थक आचार्यों ने उतनी ही प्रबलता से आक्षेपों का खण्डन भी किया और ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में निर्विरोध स्थापित किया।

❑❑❑

95. काव्यप्रकाश 1/4 इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।
1/5—अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यम्।
1/5—शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।

96. साहित्यदर्पण 4/1 —वाच्यादतिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।
4/13—अपरं तु गुणीभूतव्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये।

ग्रन्थकार नामानुक्रमणिका

म

य

र

ल

व

श

ष

स

ह

❑❑❑